LXV (1-4) JANUARY-DECEMBER 2009 ISSN 0377-0575



JOURNAL OF THE GANGANATHA JHA CAMPUS



Rastriya Sanskrit Sansthan
Ganganath Jha Campus
Allahabad

2011

ISSN 0377-0575

JOURNAL OF THE GANGANATHA JHA CAMPUS

LXV (1-4)	JANUARY-DECEMBER 2009

General Editor
Radha Vallabh Tripathi

Editors
Sarvanarayan Jha
Lalit Kumar Tripathi
Aparajita Mishra



Rashtriya Sanskrit Sansthan
(Deemed University)
Ganganatha Jha Campus
Chandrashekhar Azad Park
Allahabad -211 002
2011



Published by
Rashtriya Sanskrit Sansthan
Deemed University
Ganganath Jha Campus
Chandrashekhar Azad Park, Allahabad-2
principal.alld@gmail.com
visit us : www.gnjhacampusrsks.org



गङ्गानाथप्रसृमरयशश्चन्द्रिकाधौतहर्म्यं
कूजद्विद्वद्विहगनिवहानेकगीताभिरामम् ।
काले काले कुसुमितनवान्वेषणाऽऽमोदिताशं
विद्यापीठं जयतु जगतां भूयसे मङ्गलाय।।

Price : Annual Subscription
Indian : ₹ 150/- Foreign : $ 35/-

Page Setting
Brahmanand Mishra
Ashish Kumar Dwivedi

Printed at :
Academy Press
602, Daraganj, Allahabad

Editorial

The Ganganath Jha research Institute (from 1943-1971), The Ganganath Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha (From 1971-2002) and now the Ganganath Jha Campus of Rashtirya Sanskrit Sansthan, Deemed University has been publishing the Journal since last 69 Years. We are extremely happy to produce the 65th volume of the Journal of the Ganganath Jha Campus in a renovated form as it has minor changes in the shape, size and quality etc.

From this volume, the papers are published with an abstract as well. In future we will also publish the abstracts either in Sanskrit or in English. If the paper is written in English the abstract will be in Sanskrit and if the paper is written either in Hindi or in Sanskrit the abstract will be in English for the convenience of our readers. It is our great pleasure to thank all of our learned contributors as it would not have been possible to publish the Journal without their Co-operations. The learned contributors are requested to kindly go through our appeal under the title "To Our Contributors" Published overleaf and cooperate us by contributing accordingly. Since the Journal is being published by the research campus of the Rashtriya Sanskrit Sansthan where about 54000 Manuscripts of Indology are preserved, therefore, we would like to prefer text-based studies i.e. textual criticism, textual appreciation, Book-reviews, Manuscript- related papers etc.

Although the papers have been edited with utmost care even then a few minor mistakes might have crept in, which may kindly be corrected as per the contexts by our learned readers.

Editors

To Our Contributors

The Rashtriya Sanskrit Sansthan, Ganganatha Jha Campus, Allahabad (formerly Ganganatha Jha Research Institute till 1973 and Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha till 2002) under the Ministry of HRD, Government of India, was founded on November 17, 1943 in memory of Mm. Dr. Sir Ganganatha Jha, one of the greatest Orientalists of India. From the very beginning, a number of Indologists and erudite scholars of eminence like Mm. Dr. Gopinatha Kaviraj, Dr. Ishwari Prasad, Mm. Dr. Umesh Mishra, Pt. Kshetresh Chandra Chattopadhyaya and others have been closely associated with this Research Institute which has been conducting higher research in Indology and publishing a research journal of International repute on Sanskrit and Indological subjects since its inception. The Research Journal, in addition to the research papers written by eminent scholars from all over the world, also contains sections on short communications, critical editions of short original Sanskrit texts and reviews of books concerning Indology.

We welcome your kind and invaluable cooperation in the form of your research papers and reviews written either in English or in Hindi or in Sanskrit Languages. The papers must give an evidence of research by discovery of new facts or by that of new interpretation or relationship of known facts and must not be parts or chapters of theses. They should be brief and completely ready for the press with an abstract of maximum 200 words. The absract should be either in Sanskrit or in English. But the language should be other than the language in which the paper is written.

The research papers should be computerised either in Kruti-Dev-10 or in APS Fonts in double space, fully corrected, and with notes and references at the end of the paper numbered consecutively. The writers are requested to follow the standard system of presentation and transliteration. The titles of books and journals as well as important Sanskrit or non-English words or quotations written in Roman script should be in italic and properly marked with diacritical Signs. Titles, authors and places of publications or editions of books and journals referred to for the first time in the paper should be given in full and thereafter, their abbreviations should be used. The postal address of the author with phone No. and email ID should be given at the end of the papers with a brief self introduction.

The contributors will get 25 off-prints of their research papers and one author-copy of the journal. The decision of the Editorial Board is final with regard to the publication of the Research papers.

The papers are preferred by Email or in CD composed in desired fonts along with a hard copy.

Editors

Contents

[Volume LXV, (1-4)]

Book Review

Apendix

कैयटादि भाष्यव्याख्याताओं की उदात्तादिस्वरूप-विषयक महती भ्रान्ति

विजयपालशास्त्री

प्रस्तुत शोधलेख में प्रतिपादित किया है कि उदात्तादि के मुनित्रय-सम्मत स्वरूप को कैयट-नागेशादि भाष्य-व्याख्याताओं ने मूल के विपरीत ही प्रस्तुत कर दिया है तथा उनके द्वारा उखावित यह भ्रान्ति परवर्ती वैयाकरणों में प्ररूढ होकर सिद्धान्तकौमुदी आदि ग्रन्थों के माध्यम से आज सर्वत्र पठन-पाठन व लेखन में व्याप्त हो गई है। यहाँ उसी महती भ्रान्ति का सप्रमाण निराकरण कर उदात्तादि का मुनित्रय-सम्मत मूल स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। वस्तुतः **उच्चैरुदात्तः** *व* **नीचैरनुदात्तः** *के यथाश्रुत अर्थ के अनुसार ऊंचे से अर्थात् जोर लगाकर बोलना ही उदात्त है तथा बिना जोर लगाए धीरे बोलना अनुदात्त है। इस* **उच्चैः** *और* **नीचैः** *का लक्षण तैत्तिरीय प्रातिशाख्य से लेकर भाष्यकार ने प्रस्तुत किया है-* **आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य।** *इस लक्षण में दुर्बल व बलवान् के लिए यह आवश्यक है कि दोनों एक जैसा प्रयत्न करें, जिसे* **समान प्रक्रम** *कहा गया है। ऐसा होने पर श्रवणगोचर बाह्य ध्वनि के विषम होने पर भी लक्षण निर्दुष्ट रहता है। इसे ही कात्यायन ने-* **'सिद्धं तु समानप्रक्रमवचनात्'** *के द्वारा कहा है। यह प्रक्रम विवक्षा के अनुसार नाभितल से वायूत्थानरूप प्रयत्न है। जो मन्द मध्य व तीव्र रूप में होता है। तीव्र प्रयत्न होने पर उदात्त, मन्द प्रयत्न होने पर अनुदात्त व मध्यम प्रयत्न होने पर स्वरित स्वर बनता है। तीव्र प्रयत्न* **शिरःप्रक्रम,** *मन्दप्रयत्न* **उरःप्रक्रम** *तथा मध्यप्रयत्न* **कण्ठप्रक्रम** *के रूप में भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यही स्वरूप आपिशलि पाणिनि व प्रातिशाख्यकारों ने स्पष्ट शब्दों में बताया है। जबकि परवर्ती व्याख्याकारों ने प्रक्रम का अर्थ उच्चारणस्थान मानकर वहां ऊर्ध्वाधोभाग की कल्पना कर ऊर्ध्वभागनिष्पन्न अच् को उदात्त तथा अधोभाग निष्पन्न को अनुदात्त बताया है। उनकी यह काल्पनिक व्याख्या त्रिमुनिविरुद्ध व अनुभवविरुद्ध होने से त्याज्य है। प्रस्तुत लेख में यही तथ्य अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है।*

श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिप्रणीत महाभाष्य की भाषा यद्यपि बहुत सरल, सुललित व सरस है, अतः भाषासौष्ठव से यह आपाततः अति सरल प्रतीत होता है तथापि इसमें गम्भीर अर्थ छिपा है, जिस तक पहुँचना कहीं-कहीं सुधीजनों के लिए भी दुष्कर हो जाता है, अकृतबुद्धियों की तो बात ही क्या है? भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कुछ ऐसा ही कहा है-

अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्।
तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवावास्थित निश्चयः॥[1]

प्रस्तुत शोधलेख में प्रतिपादित किया है कि उदात्तादि के मुनित्रय-सम्मत स्वरूप को कैयट-नागेशादि भाष्यव्याख्याताओं ने मूल के विपरीत ही प्रस्तुत कर दिया है तथा उनके द्वारा उद्भावित वह भ्रान्ति परवर्ती

वैयाकरणों में प्ररूढ होकर सिद्धान्तकौमुदी आदि ग्रन्थों के माध्यम से आज सर्वत्र पठन-पाठन व लेखन में व्याप्त हो गई है। यहाँ उसी महती भ्रान्ति का सप्रमाण निराकरण कर उदात्तादि का मुनित्रय-सम्मत मूल स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पहले हम पस्पशाह्निक से ही आरम्भ करते हैं। व्याकरण के प्रयोजन बताते हुए भाष्यकार **'चत्वारि शृङ्गा'** मन्त्र प्रस्तुत करते हैं-

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश।।[2]

यहाँ **'त्रिधा बद्धः'** की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं- **'त्रिषु स्थानेषु बद्धः, उरसि कण्ठे शिरसीति'**।[3] इसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि शब्दरूप वृषभ उर, कण्ठ और सिर इन तीन स्थानों पर बंधा हुआ है। इन तीन स्थानों पर बंधा होने का भाव यह है कि यह अनुदात्त, स्वरित व उदात्त इन तीन स्वरों से युक्त है, जो प्रातिशाख्य व शिक्षाग्रन्थों में प्रसिद्ध रीति के अनुसार मन्द, मध्य व तीव्र रूप में नाभितल से होने वाले त्रिविध प्रयत्न द्वारा उत्थापित प्राणवायु से उक्त तीन स्वरस्थानों में निष्पन्न होते हैं। त्रैस्वर्य शब्द की एक बड़ी विशेषता है, जिसे यहाँ मन्त्र द्वारा बताना अभीष्ट है। यही तथ्य महाकवि कालिदास ने भी **'न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्'**[4] से सूचित किया है। इस प्रकार यहाँ भाष्यकार का यह अभिप्राय स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा है कि शब्दवृषभ उरः कण्ठ और शिरः इन तीन स्थानों पर बंधा हुआ है अर्थात् इन स्थानों में निष्पन्न होने वाले उदात्त, अनुदात्त व स्वरित इन तीन स्वरों से युक्त है।

भाष्यकार के इस वचन से मिलता-जुलता व इसी अभिप्राय को प्रस्तुत करने वाला वाक्य हमें **उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः**[5] इन सूत्रों के भाष्य में भी मिलता है, जो पस्पशागत इस वाक्य से निकटतया सम्बद्ध है-

सिद्धं तु समानप्रक्रमवचनात्[6]

(भाष्यम्-) **'सिद्धमेतत्, कथं समाने प्रक्रमे इति वक्तव्यम्। कः पुनः प्रक्रमः? उरः कण्ठः शिर इति'**।[7]

यह स्थल स्पष्टतया- **'त्रिधा बद्धः उरसि कण्ठे शिरसीति'** इस कथन की ओर सङ्केत करता हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार यह सर्वथा निर्भ्रान्त रूप से स्पष्ट है कि जिन तीन स्थानों पर शब्दवृषभ को बंधा हुआ बताया है वे **उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः** सूत्रभाष्य में निर्दिष्ट तीन प्रक्रम ही हैं- **उरःप्रक्रम, कण्ठप्रक्रम व शिरःप्रक्रम।** यहाँ हमें प्रक्रम शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिए- **प्रारम्भः क्रमस्य प्रक्रमः,** जैसे- प्रारम्भो दोषायाः प्रदोषः (दोषा= रात्रि का प्रारम्भ प्रदोष सायंकाल/रात्र्यारम्भकाल) उसी प्रकार उच्चारण के लिए क्रम का (प्रयत्न का) जो प्रारम्भ है, वह प्रक्रम है। वह अपने वेग के त्रिविध पर्यवसान-स्थल के कारण उरःप्रक्रम कण्ठप्रक्रम व शिरःप्रक्रम नाम से भाष्य में सूचित किया गया है।

प्रक्रम शब्द आरम्भ अर्थ में प्रसिद्ध है, अमरकोश में भी इसका यही अर्थ दिया है- **'प्रक्रमः स्यादुपक्रमः स्यादभ्यादानमुद्घात आरम्भः'**[8]। यह इसका रूढ अर्थ है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में केवल प्रारम्भ अर्थ नहीं है, प्रत्युत क्रम (प्रयत्न) का प्रारम्भ प्रक्रम है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार प्रक्रम शब्द में प्रादिसमास जानना चाहिए।

यह प्रक्रम विवक्षा (बोलने की इच्छा) के आधार पर बनता है। जैसी विवक्षा होगी वैसा ही प्रक्रम होगा, यदि जोर से बोलने की इच्छा होगी तो शिरःप्रक्रम होगा, बिना जोर लगाए धीरे से बोलने की इच्छा होगी तो उरःप्रक्रम होगा। मध्यम स्वर से बोलने की इच्छा होगी तो कण्ठप्रक्रम होगा। इस प्रकार त्रिविध प्रक्रम

विवक्षा पर निर्भर है। **'आत्मा बुद्ध्या समर्थ्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया'**[9] इत्यादि श्लोकों में भी इसी आशय का कथन है।

इस प्रकार जैसी विवक्षा होगी, उसी के अनुरूप नाभितल से जो वायूत्थानरूप क्रम (प्रयत्न) का मन्द, मध्य या तीव्र रूप में आरम्भ होता है, वह प्रक्रम है। वह अपने वेग के उर: कण्ठ: व शिर: इस त्रिविध स्थान पर पर्यवसित होने के कारण भाष्योक्त त्रिविध प्रक्रम के रूप में ज्ञातव्य है। प्रक्रम का यही स्वरूप आपिशलि व पाणिनि की शिक्षा में स्पष्ट रूप से बताया गया है-

स्थानमिदं करणमिदं प्रयत्न एष द्विधानिल:।
स्थानं पीडयति वृत्तिकार: प्रक्रम एषोऽथ नाभितलात्॥[10]

इसका भाव यह है कि- स्थान, करण, द्विविध प्रयत्न, स्थानपीडन व वृत्तिकार प्रकरण के साथ नाभितल से होने वाला यह प्रक्रम शिक्षाग्रन्थ का अन्तिम (सप्तम) प्रकरण है। इसी प्रकरण में नाभितल से वायु के उत्थानरूप यत्नविशेष (प्रक्रम) से पाणिनि व आपिशलि ने त्रिविध स्वर की निष्पत्ति इस प्रकार बताई है-

तत्र यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति तदा गात्रणां निग्रह: कण्ठबिलस्य चाल्पत्वं स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वात् रौक्ष्यं भवति, तमुदात्तमाचक्षते। यदा मन्द: प्रयत्नो भवति तदा गात्रणां प्रसन्नत्वं कण्ठबिलस्य च महत्त्वं स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति तमनुदात्तमाचक्षते। उदात्तानुदात्तस्वरितसन्निकर्षात् स्वरित इति।[11]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रक्रम प्रकरण में वायु द्वारा निष्पन्न अन्य बाह्य प्रयत्नों के साथ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित का लक्षण वा स्वरूप मुख्यरूप से बताया है, तथा इसी के साथ उपसंहार करते हुए प्रकरण समाप्त किया है।

इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार, वार्तिककार व सूत्रकार, इन तीनों मुनियों की दृष्टि में त्रिविध प्रक्रम से उदात्त, अनुदात्त व स्वरित ये तीन स्वर निष्पन्न होते हैं। यहाँ उच्चारण स्थानों के उर्ध्वाधोभाग में स्वरनिष्पत्ति वाली कल्पना का लेशमात्र भी निर्देश नहीं है। यदि यह कल्पना तथ्यपूर्ण होती तो विस्तारपूर्वक स्वरस्वरूप बताने वाली शिक्षा की उक्त पंक्तियों में क्या आचार्य इसका निर्देश नहीं कर सकते थे? इससे उक्त कल्पना की नि:सारता व हेयता स्पष्ट है।

हम यहाँ पूर्वोद्धृत- **'स्थानमिदं करणमिदं0'**- श्लोक का अर्थ भी प्रसङ्गत: स्पष्ट करना चाहते हैं। इसका अर्थ है कि प्रस्तुत शिक्षा वेदाङ्ग में- स्थान, करण, आभ्यन्तर प्रयत्न, बाह्य प्रयत्न, स्थानपीडन व वृत्तिकार इन छ: प्रकरणों के साथ सातवाँ प्रक्रम प्रकरण है। श्लोक के अन्तिम चरण- **'प्रक्रम एषोऽथ नाभितलात्'** का अन्वय यही है- 'और नाभितल से होने वाला यह प्रक्रम शिक्षाग्रन्थ का सप्तम प्रकरण है'।

इस श्लोक के चतुर्थ चरण के अर्थ में अब तक हुई एक महती भ्रान्ति की ओर सङ्केत करना यहाँ सर्वथा प्रासङ्गिक है। भ्रान्ति यह है कि अन्तिम चरण का अर्थ इस प्रकार किया जाता है- प्रक्रम और नाभितल से होने वाला वायु का उत्थान, इस प्रकार प्रक्रम के बाद एक और प्रकरण गिना है एवं प्रकरणों की संख्या आठ कर दी है। वस्तुत:- **'प्रक्रम एषोऽथ नाभितलात्'** का वास्तविक भाव यही है कि- और नाभितल से होने वाला यह प्रक्रम शिक्षा का सातवाँ प्रकरण है। क्योंकि प्रक्रम को अलग करने पर **एषोऽथ नाभितलात्** का कोई अर्थ नहीं लगता और यह वाक्य साकांक्ष ही रह जाता है। प्रक्रम को साथ

जोड़ने पर ही यह निराकांक्ष किंवा पूर्ण बन पाता है। आपिशलि व पाणिनि की शिक्षा के अन्तिम प्रकरण में त्रैस्वर्य के निष्पादक इस प्रक्रम का ही मुख्यतया वर्णन है। शिक्षा का यही प्रक्रम भाष्य में- **'सिद्धं तु समानप्रक्रमवचनात्'** (वार्तिक-1.2.29-30) की व्याख्या में निर्दिष्ट है।

इस प्रकार नाभितल से होने वाला प्रक्रम शिक्षा के अन्तिम व सातवें प्रकरण का मुख्य प्रतिपाद्य है। अतः अन्तिम प्रकरण प्रक्रम-प्रकरण जानना चाहिए। इसके विपरीत आठ प्रकरण गिनने वाले कुछ विद्वानों ने आठवें प्रकरण को नाभितल प्रकरण नाम से लिखा है। यह सब विसङ्गतिपूर्ण है। इस विषय में हमने एक स्वतन्त्र लेख लिखा है, जो शीघ्र ही प्रकाशित किया जाएगा।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि- यह प्रक्रम विवक्षा के आधार पर नाभितल से प्राणवायूत्थानरूप यत्नविशेष होता है। अतः शिक्षा के इस प्रकरण के आरम्भ में ही प्रकरणान्त में वर्णित किए जाने वाले **आयामो दारुण्यम्** आदि लक्षण वाले प्रक्रम की भूमिका के रूप में वायु के उत्थान की ही चर्चा करते हुए शिक्षाकार स्वयं कहते हैं- **तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुः**[12] **...** नाभितल से प्रयत्नप्रेरित यह प्राणवायु किस प्रकार उदात्त अनुदात्त व स्वरित इन तीन स्वरों को निष्पन्न करता है, यह प्रकरणान्त-गत निम्न वाक्य में स्पष्ट किया है-

तत्र यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति तदा गात्रणां निग्रहः कण्ठबिलस्य चाल्पत्वं स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति, तमुदात्तमाचक्षते।[13] यही शिरःप्रक्रम है। यहाँ नाभिप्रदेश से तीव्र प्रयत्न से प्रेरित वायु शिर (मूर्धा) पर्यन्त तेजी से जाता हुआ इस उदात्त स्वर को बनाता है। आगे शिक्षाकार अनुदात्त का स्वरूप दिखाते हैं, जिसे उरःप्रक्रम निष्पन्न करता है- **यदा मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्रणां प्रसन्नत्वं कण्ठबिलस्य च महत्त्वं स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति तमनुदात्तमाचक्षते।**[14] यह उरःप्रक्रम है। यहाँ मन्दप्रयत्न-पूर्वक प्रेरित वायु उरः (छाती) तक ही अपना वेग रख पाता है, अतः यह उरःप्रक्रम है। यही अनुदात्त स्वर को निष्पन्न करता है।

शिरः और उरः के बीच में कण्ठ है। जब मध्यमप्रयत्न-प्रेरित प्राणवायु नाभितल से उठ कर कण्ठ तक अपना वेग रख पाता है, तब यह कण्ठप्रक्रम होता है। यही स्वरित स्वर को निष्पन्न करता है। इसी के लिए शिक्षाकार कहते हैं- **उदात्तानुदात्तसन्निकर्षात् स्वरित इति।**[15]

श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा में ये तीन प्रक्रम तीन सवनों के रूप में वर्णित हैं-

आत्मा बुद्ध्या समर्थ्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥

मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
प्रातस्सवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम्॥

कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभनुगम्।
तारं तार्ता यसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम्॥[16]

यहाँ स्पष्टतः पूर्वोक्त तीनों प्रक्रमों का ही प्रकारान्तर से वर्णन करते हुए बताया गया है कि ये मन्द्र, मध्य एवं तार स्वरों को किंवा अनुदात्त स्वरित व उदात्त स्वरों को निष्पन्न करते हैं। इसी शिक्षा में आगे इन तीन सवनों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है-

प्रातः पठेन्नित्यमुरःस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन।
मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसङ्कूजितसन्निभेन॥

तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम्।
मयूरहंसाम्बुभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिर:स्थितेन।।[17]

संस्कृत-वाङ्मय के परिचायक प्रपञ्चहृदय नामक प्राचीन ग्रन्थ में भी ऐसा ही भाव प्रकारान्तर से सूचित किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि नाभितल से होने वाले त्रिविध प्रक्रम से ही उदात्त, अनुदात्त व स्वरित स्वर बनते हैं-

तथा स्वर: प्राणप्रयत्नजनित: स्वरवर्णाश्रयो वायवीय:। स तूदात्तानुदात्तस्वरितभेदेन त्रिविध:। तत्कारणमपि भगवता प्रदर्शितम्-

उच्चैरुन्मार्गगो वायुरुदात्तं कुरुते स्वरम्।
नीचैर्गतोऽनुदात्तञ्च स्वरितं तिर्यग्गतस्तथा।।

तद्विकारा: निषादगान्धारादय: सप्त स्वरा:। तत्रोदात्ते निषादगान्धारौ। अनुदात्ते धैवतर्षभौ। स्वरिते षड्जमध्यमपञ्चमा:।[18]

यहाँ प्रपञ्चहृदयकार ने उदात्त, अनुदात्त व स्वरित इन तीन स्वरों की शिक्षोक्त प्राणप्रयत्नजनितता व प्राणप्रयत्न से उर: कण्ठ: व शिर: इन तीन स्वरस्थानों में इनकी निष्पत्ति इतने स्पष्ट शब्दों में कह दी है कि सन्देह का कोई अवसर ही नहीं रहता। उक्त कथन से पाणिनि के **उच्चैरुदात्त:** सूत्र के यथाश्रुत अर्थ की पुष्टि हो रही है। भाष्य में **'सिद्धं तु समानप्रक्रमवचनात्। क: पुन: प्रक्रम:? उर: कण्ठ: शिर इति**[19]**'** द्वारा कात्यायन व पतञ्जलि भी इसी तथ्य की पुष्टि कर रहे हैं।

यहाँ महाभाष्यकार का मन्तव्य विस्तार से दिखाना अपेक्षित है। महाभाष्यकार **उच्चैरुदात्त:** सूत्र में ऊँचे से बोलना उदात्त होता है, इस अर्थ को मानते हुए इसमें आने वाली एक मुख्य विप्रतिपत्ति पहले दिखाते हैं और **आयामो दारुण्यम्** आदि लक्षण से उसका निवारण कर देते हैं। तदनन्तर उक्त लक्षण से बने उच्चै: में अल्पप्राण व महाप्राण का उदाहरण देकर फिर एक अनैकान्तिकता प्रस्तुत करते हैं तथा इस अनैकान्तिकता का- अल्पप्राण व महाप्राण के प्रक्रम के समान होने पर बने उच्चैस्त्व को इस अनैकान्तिकता से मुक्त बताकर **आयामो दारुण्यम्** आदि से बने उच्चै: को व्यवस्थित व उदात्तसंज्ञाभाक् रूप में सिद्ध मानते हैं। हम यहाँ भाष्य का वह पूरा उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं-

उच्चनीचस्यानवस्थितत्वात्संज्ञाऽप्रसिद्धि: (वार्तिकम्)

इदमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्, तदेव हि कञ्चित् प्रत्युच्चैर्भवति कञ्चित्प्रति नीचै:। एवं हि कश्चित् कञ्चिदधीयानमाह- किमुच्चै रोरूयसे शनैर्वर्ततामिति। तमेव तथाऽधीयानमपर आह- किमन्तर्दन्तकेनाधीषे उच्चै- र्वर्ततामिति। एवमुच्चनीच-मनवस्थितपदार्थकम्, तस्यानवस्थितत्वात्संज्ञाया अप्रसिद्धि:। एवं तर्हि लक्षणं करिष्यते- आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चै:कराणि शब्दस्य। आयामो गात्रणां निग्रह:। दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता। अणुता खस्य कण्ठस्य संवृतता। उच्चै:कराणि शब्दस्य।।

अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचै:कराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्रणां शिथिलता। मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता। उरुता खस्य। महत्ता कण्ठस्येति नीचै:कराणि शब्दस्य।।

एतदप्यनैकान्तिकम्। यद्धयल्पप्राणस्य सर्वोच्चैस्तद्धि महाप्राणस्य सर्वनीचै:।। सिद्धं तु समानप्रक्रमवचनात् (वार्तिकम्)**।। सिद्धमेतत्। कथम्? समानप्रक्रमवचनात्। समाने प्रक्रमे इति वक्तव्यम्। क: पुन: प्रक्रम:? उर: कण्ठ: शिर इति।**[20]

भाष्यकार कहते हैं कि **उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः** में कहा उच्च, नीच स्वर अव्यवस्थित, किसी मानदण्ड से अनियन्त्रित है। अतः उच्च स्वर उदात्त संज्ञा वाला होता है, इस प्रकार उदात्त संज्ञा नहीं बन पाएगी। इसी प्रकार नीच स्वर अनुदात्तसंज्ञक होता है, यह अनुदात्त संज्ञा भी नहीं बन पाएगी, क्योंकि उच्च, नीच ये दोनों ही अनिश्चित हैं, अव्यवस्थित हैं। यहाँ व्यवस्था शब्द का अर्थ सीमा या अवधिनियम है। इतने बिन्दु की ऊँचाई वाला स्वर **उच्चैः** माना जाएगा तथा इतने बिन्दु की निम्नता वाला **नीचैः** माना जाएगा, यह व्यवस्था (वि-अवस्था सीमितता, फिक्सेशन) नहीं है। अतः जो एक को ऊँचा लगता है, उसे दूसरा नीचा मानता है, तथा जो किसी एक को नीचा लगता है उसे दूसरा ऊँचा मानता है। इस प्रकार यह उच्च, नीच अव्यवस्थित है, अतः उदात्त, अनुदात्त संज्ञा सिद्ध नहीं हो सकती।

इस समस्या का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि इस अव्यवस्थितता को दूर करने के लिए लक्षण कर देंगे कि- आयाम (अङ्गों का सङ्कोच/खिंचाव) दारुण्य (स्वर की कर्कशता) व कण्ठ की अणुता (सङ्कुचितता) से होने वाला स्वर **उच्चैः** माना जाएगा और वही उदात्त होगा। इसी प्रकार **नीचैः** का भी व्यवस्थितत्व इस लक्षण से कर देंगे कि- गात्रें का अन्ववसर्ग (शैथिल्य) स्वर का मार्दव (मृदुत्व) व कण्ठ की उरुता (खुलापन) से होने वाला निम्न स्वर ही नीचैः माना जाएगा, वही अनुदात्त होगा। तैत्तिरीयप्रातिशाख्य से उद्धृत यह लक्षण भाष्यकार द्वारा पूर्णतया स्वीकृत है। पुरातन वैदिक परम्परा से प्राप्त यह सर्वमान्य लक्षण प्रातिशाख्यकारों, वैदिकों, पाणिनि व कात्यायन को भी अन्तिम रूप से स्वीकार है। भाष्यकार यहाँ इसी की पुष्टि कर रहे हैं।

यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आयाम आदि कारण हैं और उच्चैस्त्व इनका कार्य है। अत एव स्फुटतया इन्हें **उच्चैःकराणि** कहा है। इनसे हुआ यह उच्चैस्त्व सर्वथा व्यवस्थित है। इस प्रकार यहाँ भाष्यकार ने **उच्चैः नीचैः** का अव्यवस्थितपदार्थकत्व निरस्त कर उन्हें सिद्धान्ततः मान्य रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

अब भाष्यकार इसमें भी आपाततः प्रतीयमान एक व्यभिचार को प्रस्तुत कर समान प्रक्रम के आधार पर उसका निराकरण कर इसी **उच्चैस्त्व नीचैस्त्व** को समर्थित करते हुए कहते हैं कि यह उच्चैस्त्व नीचैस्त्व अनैकान्तिक नहीं, अपितु सिद्ध है और यही **उच्चैः नीचैः** उदात्त व अनुदात्त होता है। भाष्यकार ने आपाततः प्रतीयमान इस व्यभिचार का उपस्थापन व निराकरण इस प्रकार किया है-

आयाम आदि से किया उच्चैस्त्व भी अनैकान्तिक (अनिश्चित) है- हम एक अल्पप्राण (दुर्बल) व्यक्ति द्वारा उदात्त के उदाहरणभूत **ये के ते** का आयामादिपूर्वक ऊँचे से उच्चारण करवाते हैं। यह इतना उच्चैस्त्व आपकी दृष्टि में उदात्त है। इतना ही उच्चैस्त्व महाप्राण (बलवान्) व्यक्ति बिना आयामादि के कर देता है। अब आपको दुर्बल के आयामादि से कृत उच्चैस्त्व के बराबर महाप्राण द्वारा बिना आयामादि के किया उच्चैस्त्व मिल गया। इसे भी उदात्त मानना पड़ेगा, जबकि इसमें आयामादि किया ही नहीं गया। और यह आपके द्वारा प्रस्तुत उच्चैस्त्व जितना ही है। इस प्रकार आयामादिकृत उच्चैस्त्व इस उदाहरण में व्यभिचरित हो गया। अतः अनैकान्तिक (अव्यवस्थित) ही रहा।

इसका समाधान करते हुए भाष्यकार कात्यायनीय वार्त्तिक प्रस्तुत कर कहते हैं कि- **'सिद्धं तु समानप्रक्रमवचनात्'**। उच्चैस्त्व का आयामादि वाला पूर्वोक्त लक्षण ही सिद्ध है और इससे बने उच्चैः स्वर की ही उदात्त संज्ञा भी सिद्ध है- **समान प्रक्रम होने पर**- ऐसा सूत्र के साथ कहने से। अर्थात् अल्पप्राण व महाप्राण, इन दोनों के प्रक्रम के समान होने पर इनका जो उच्चैः स्वर होगा वही उदात्तसंज्ञक होगा। पूर्वनिर्दिष्ट व्यभिचारस्थल में महाप्राण का प्रक्रम अल्पप्राण के समान नहीं था, इसलिए व्यभिचार या

अनैकान्तिकता उपस्थित हुई। यदि वहाँ महाप्राण भी दुर्बल के समान आयामादि करके उच्चैः उच्चारण करता तो दोनों का स्वर उच्चैः माना जाता व उदात्तसंज्ञक होता, भले ही दोनों के श्रवणगोचर उच्चैस्त्व में कितना भी अन्तर होता। इससे स्पष्ट हुआ कि यदि दुर्बल व प्रबल का प्रक्रम समान हो तो, ऐसा होने पर जो उच्चैस्त्व होगा वही लक्षणानुसारी उच्चैस्त्व है, वही उदात्त होगा। यही उच्चैरुदात्तः का भाव है। दुर्बल व प्रबल, इन दोनों के एक जैसे आयामादि से निष्पन्न इस उच्चैस्त्व की श्रवणीयता में भले ही अन्तर हो, उसकी कोई चिन्ता नहीं। इस रीति से अनैकान्तिकता नहीं रही।

इस प्रकार- **समानप्रक्रमवचनात्, समाने प्रक्रमे (सति) इति वक्तव्यम्** यह बात जोड़कर पूर्वलक्षण को ही समर्थित किया है, यह भाष्य की शब्दावली से सर्वथा सुव्यक्त है।

भाष्य के प्रायः सभी आधुनिक व्याख्याकार यहीं भटक गए हैं। भाष्यकार ने तो समान प्रक्रम वाली बात को पूर्व लक्षण के साथ जोड़कर उसीका समर्थन किया है, पर ये लोग उस लक्षण को भी अव्यवस्थित समझ कर 'यह उसके विरुद्ध नया समाधान है' ऐसी व्याख्या करते हैं तथा कहते हैं कि भाष्य में आयामादिकृत उच्चैस्त्वलक्षण को अमान्य कर यह उच्चैस्त्व का नया लक्षण बनाया है। वे कहते हैं- यहाँ प्रक्रम का अर्थ ताल्वादि वर्णोच्चारणस्थान हैं, उनमें क्रमशः ऊर्ध्व, अधः व मध्य भागों में निष्पन्न स्वर क्रमशः उदात्त, अनुदात्त व स्वरित होते हैं। इस प्रकार की व्याख्या करने वाले आधुनिक भाष्य-व्याख्याता एतत्स्थलगत भाष्य की पंक्तियों का स्वारस्य तो समझे ही नहीं, प्रत्युत कुछ त्रुटियां भी कर बैठे। एक तो यह कि शिक्षादि में प्रसिद्ध नाभितल से प्राणवायूत्थान रूप प्रक्रम को न समझ कर उसे यौगिकतया व्याख्यात करते हुए वर्णोच्चारणस्थान का वाचक मान बैठे, जो सङ्गत नहीं है। क्योंकि यह शब्द शिक्षानिर्दिष्ट अर्थ में प्रसिद्ध है, और **रूढिर्योगापहारिणी** यह सर्वतन्त्रसम्मत मन्तव्य है। दूसरी त्रुटि यह है कि **प्रक्रमे** में विद्यमान **सति सप्तमी** को आधार सप्तमी मान लिया, जबकि भाष्यगत स्वारस्य से यहाँ- **समाने प्रक्रमे सति** यह अर्थ स्पष्टतया प्रकट हो रहा है तथा प्रसङ्गानुकूल भी यही है कि- 'अल्पप्राण व महाप्राण का प्रक्रम समान होने पर उक्त व्यभिचार न होने से पूर्वोक्त लक्षण ही सिद्ध है'।

यहाँ यदि हम आधुनिक व्याख्याकारों की उक्त व्याख्या मान लें तो भाष्यकार, तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य-प्रोक्त- **'आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य'**[21] इस लक्षण के प्रत्याख्याता होकर ऊर्ध्वाधोभागनिष्पन्नता वाले मत के प्रतिपादक बने दिखाई देते हैं। इन व्याख्याताओं की व्याख्याएं पढ़कर आधुनिक विद्वान् व अध्येता भाष्यकार को स्वरविषयक प्रातिशाख्यमत का विरोधी ही मानते हैं। इससे पाठक के सामने एक विकट सङ्कट प्रकट हो जाता है कि जिससे वह न तो पतञ्जलि के मत का विरोध कर पाता है और दुविधाग्रस्त हुआ न ही प्रातिशाख्य के मत को अपना सकता है। इस प्रकार एक विचित्र उलझन में उलझ कर रह जाता है। इसके लिए हम प्रसिद्ध आधुनिक वैदिक विद्वान् प्रो0 ब्रजविहारी चौबे (होशियारपुर, पञ्जाब) का उदाहरण ले सकते हैं। वे इस सन्देहदोला की अभिव्यक्ति किस प्रकार करते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में देखिए-

''**उदात्त**- उदात्त को उच्च स्वर माना जाता है। पाणिनि ने उच्चैरुदात्तः (पा. 1.2.29), इस सूत्र के द्वारा उदात्त के उच्चारण का विधान किया है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार गात्रों की दीर्घता, स्वर की कठिनता तथा कण्ठविवर की संवृतता ही शब्द या वर्ण के उच्च अर्थात् उदात्त के उच्चारण का कारण होती है। **(आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य- तै. प्रा. 22.9.)** कहने का अभिप्राय यह है कि उदात्त स्वर के उच्चारण में गात्रों को ऊपर खींचा जाता है, ध्वनि को कठोर बनाया जाता है तथा

कण्ठ को दबाकर उच्चारण किया जाता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि को उदात्त स्वर के ये लक्षण स्वीकार्य नहीं। जो लोग उदात्त का उच्च स्वर में उच्चारण करना स्वीकार करते हैं, उनके विरुद्ध महाभाष्यकार का कहना है कि यह उच्च स्वर अनवस्थित है। एक ही स्वर किसी के लिए उच्च हो सकता है और किसी के लिए नीच हो सकता है। इसलिए जो स्वर किसी के लिए नीच है, उसको उच्च कैसे कहा जा सकता है? अगर वह उच्च है, तो उसका उच्चत्व सबके लिए और सदा के लिए होना चाहिए। इसी प्रकार तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के मत को महाभाष्यकार ने अनैकान्तिक माना है। एक कमजोर व्यक्ति जिस ध्वनि का बहुत परिश्रमपूर्वक उच्चारण करता है, उसी ध्वनि का उच्चारण एक बलवान व्यक्ति बहुत सरलता से करता है। महाभाष्यकार का अपना मत है कि पाणिनि ने उच्चैरुदात्तः के द्वारा उदात्त के उच्चारण की जो व्यवस्था दी है, उसका अभिप्राय यह है कि वर्णों के उच्चारण-स्थान के उच्चभाग से जब उच्चारण होता है तो वह उदात्त होता है। वार्तिककार तथा भाष्यकार द्वारा दी गई उदात्त-उच्चारण की इस व्यवस्था को यद्यपि परवर्ती वैयाकरणों ने स्वीकार किया है, किन्तु इसकी स्पष्टता में सबको सन्देह है। वर्णो के उच्चारण-स्थान के ऊर्ध्वभाग से किस प्रकार उच्चारण होता है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता''[22]।

हमारे विचार से वैदिक विद्वान् तो उक्त उलझन से आसानी से बच सकते हैं, क्योंकि मूल वैदिक ग्रन्थों में ऊर्ध्वाधोभागनिष्पन्नता वाली कल्पना का कहीं लेशतः भी उल्लेख नहीं है। परन्तु वैदिक भी क्या करें? जब ये इस प्रसङ्ग में व्याकरण-ग्रन्थों को देखते हैं तो सर्वत्र गड्डलिकाप्रवाहेण प्रातिशाख्यादि-विरोधी स्वरविषयक उक्त काल्पनिक व्याख्यान ही पाते हैं। अतः सन्देहग्रस्त होना सहज ही है। आज इस व्याख्यान के संशोधन की महती आवश्यकता है। हमारा यह प्रयास इसी के लिए है।

हमारे द्वारा उपर्युक्त रीति से उक्तस्थलगत भाष्यपंक्तियों की व्याख्या करने से भाष्यकार यहाँ कात्यायन व पाणिनि का एवम् प्रातिशाख्यगत वैदिकों के परम्परागत मत का समर्थन करते हुए दिखते हैं। इससे उक्त सन्देह निर्मूल हो जाता है। यदि ध्यान से भाष्यपंक्तियों को देखा जाए तो भी हम इस भ्रान्ति से बच सकते हैं, परन्तु यहाँ अध्येताओं पर कैयटादि की दृष्टि इतनी प्रभावी है कि वे उसी से अभिभूत होकर भाष्य को देखते व समझते हैं तथा उसे प्रातिशाख्यमत का विरोधी मान बैठते हैं।

इसके अतिरिक्त **तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्**[23] सूत्र पर भाष्यकार का- **ऊर्ध्वमात्तमिति चात उदात्तम्**[24] कथन भी उदात्त के पूर्वनिर्दिष्ट प्रक्रमानुसारी श्रुतिप्रकर्ष को ही सङ्केतित कर रहा है। **प्रत्यभिवादेऽशूद्रे**[25] **दूराद्धूते च**[26] इत्यादि सूत्रों में जो वाक्य के टिभाग को प्लुत उदात्त किया है, वह भी उदात्त स्वर के श्रवणगत उच्चैस्त्व को सूचित कर रहा है। इन सूत्रों के उदाहरणों में इस प्रकार का श्रुतिप्रकर्ष व्यवहार में स्पष्टतया दिखाई देता है।

आजकल यदा-कदा किए जाने वाले सोमयाग में वैदिकों को जब हम **उच्चैरुदात्तः** के उदाहरण- **ये के ते** का उच्चारण करते हुए देखते हैं तो पाते हैं कि वे प्रायः चिल्लाते हुए से इन्हें बोलते हैं तथा उच्चारणकर्त्ता में आयाम दारुण्य व कण्ठ की अणुता स्पष्टतया अनुभवगोचर होती है। वैदिकों की परम्परा में सुरक्षित यह उच्चारण मुनित्रयसम्मत रूप में आज भी देखा जा सकता है। इसीलिए प्राचीन ग्रन्थों में उदात्तादि स्वरों को स्फुटतया श्रवणविषयक बताया है।

इस पूर्वोक्त विवेचन से यह बात सुतराम् स्पष्ट हो गई है कि जोर लगा कर ऊँचे से बोलने पर उदात्त स्वर बनता है तथा बिना जोर लगाए शरीर को ढीला छोड़कर बोलने से मन्द्र ध्वनि वाला अनुदात्त स्वर बनता है। एवम् इन दोनों के समाहार से स्वरित स्वर बनता है। कोई भी स्थूलबुद्धि व्यक्ति अथवा सुकुमारमति छात्र भी उदात्त अनुदात्त के इस लक्षण को सरलता से समझ सकता है। पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि को

यही लक्षण अभिप्रेत है, यह तथ्य भाष्य के पूर्वोद्धृत स्थल से सर्वथा निर्भ्रान्त रूप में प्रकट हो रहा है।

परन्तु उक्त आर्ष वचनों की व्याख्या के प्रसङ्ग में प्रक्रम का वास्तविक अर्थ न समझकर कैयट व उनके अनुगामी नागेशादि सभी आधुनिक भाष्य-व्याख्याताओं ने ताल्वादि वर्णोच्चारण-स्थानों को प्रक्रम मान लिया और अर्थ का अनर्थ कर दिया, जो आज की पठन-पाठन की परम्परा में आँख मूँद कर आगे बढ़ाया जा रहा है।

इसके विपरीत भाष्य-सम्मत प्रक्रम का स्वरूप प्राचीन शिक्षाग्रन्थों में स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है। हम यहाँ अनेक शिक्षाकारों के उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनसे उक्त मन्तव्य सर्वथा उपोद्बलित होता दिखाई देता है। श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा से इस आशय के उद्धरण पहले ही प्रस्तुत किए जा चुके हैं। याज्ञवल्क्य शिक्षा का वचन इस प्रकार है-

स्वर उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च।
स्वरप्रधानं त्रैस्वर्य्यं व्यञ्जनं तेन सस्वरम्॥[27]

यहाँ स्पष्टतया जोर से बोले गए उच्च स्वर को उदात्त व इसके विपरीत नीच (मन्द) स्वर को अनुदात्त कहा है। मुनित्रय-सम्मत प्रक्रम के स्वरूप का समर्थन करने वाला नारदीय-शिक्षा का निम्न उद्धरण विशेष रूप से अवधेय है-

उरः कण्ठः शिरश्चैव स्थानानि त्रीणि वाङ्मये।
सवनान्याहुरेतानि साम्नि चाप्यधरोत्तरे॥[28]

नारदीय-शिक्षा पर भट्ट यशोभास्कर की टीका भी है। टीकाकार इस श्लोक की अवतरणिका इस प्रकार लिखते हैं- **स्वरस्वरूपं त्रिषु स्थानेष्वभिव्यज्यते इत्युच्यते।** इसके अनन्तर उक्त श्लोक की टीका भी अवधेय है-

नीचमध्यमोत्तम-रया उरसि कण्ठे शिरसि चाभिव्यज्यन्ते। उरसि वक्षःस्थाने शब्दोच्चारणं प्रातःसवनमुच्यते। नीचैरुच्चारितं प्रातःसवन-शब्दस्येत्यर्थः। कण्ठस्थाने मध्यमेन स्वरेणोच्चरणं माध्यन्दिनं सवनम्। शिरोलक्षणे स्थाने उच्चैरभिव्यज्यमानं शब्दजातं तृतीयसवनम्।[29]

नाट्यशास्त्र में भरतमुनि भी ऐसा ही कहते हैं-

शारीरं मन्द्रसम्भूतं छन्दो गायत्रसंज्ञितम्।
कण्ठे माध्यन्दिनं प्रोक्तं त्रैष्टुभं परिकीर्त्यते।
तृतीयसवनं चापि शीर्षण्यं जागतं हि तत्॥[30]

सङ्गीतशास्त्र में मुनित्रय-सम्मत उक्त तीन प्रक्रम तीन स्वरस्थानों के रूप में सुतराम् प्रसिद्ध हैं। सङ्गीत के सात स्वर क्योंकि उदात्त-अनुदात्त-स्वरित से ही बनते हैं, अतः सङ्गीतशास्त्री अपने ग्रन्थों में पहले इन तीन स्वरस्थानों का वर्णन करते हैं। यहाँ कुछ सङ्गीतशास्त्रीय ग्रन्थों के उद्धरण प्रस्तुत हैं-

व्यवहारे त्वसौ नादः प्रोच्यते त्रिविधो बुधैः।
मन्द्रो हृदि स्थितः कण्ठे मध्यस्तारस्तु मूर्द्धनि॥
द्विगुणः किल मानेन पूर्वस्मादुत्तरोत्तरः॥[31]

त्रीणि स्थानानि हृत्कण्ठशिरांसीति समासतः।
एकैकमपि तेषु स्याद् द्वाविंशतिविधायुतम्॥

द्वाविंशतिविधो मन्द्रो ध्वनिः सञ्जायते हृदि।
यथोत्तरमसौ नादो वीणायामधरोत्तरम्॥

स एव द्विगुणो मध्यात्कण्ठस्थाने यथाक्रमम्।
स एव मस्तके तारः स्यान्मध्याद् द्विगुणः क्रमात्॥

इति स्वरगता ज्ञेयाः श्रुतयः स्वरवेदिभिः।
अन्तरस्वरवर्तिन्यो ह्यन्तरश्रुतयो मताः॥[32]

शिक्षाकार भी सात स्वरों की त्रैस्वर्यमूलकता का निर्देश स्फुटतया करते हैं, जैसा कि याज्ञवल्क्य-शिक्षा में कहते हैं-

गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ताः सप्त षड्जादयः स्वराः।
त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादय स्वराः॥

उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः॥[33]

यह है तीन प्रक्रमों अथवा तीन स्वरस्थानों की मुनिपरम्परा से प्राप्त, शिक्षाकारों द्वारा सम्मत व सङ्गीतशास्त्रियों द्वारा समर्थित वास्तविक प्राचीन मान्यता। इसकी ओर ध्यान न देकर इसके विपरीत कैयट आदि विद्वान् **उच्चैरुदात्तः-नीचैरनुदात्तः** सूत्रभाष्य में निर्दिष्ट प्रक्रम का अर्थ वर्णोच्चारण-स्थान मानते हैं-

''सिद्धं त्विति। प्रक्रम्यन्तेऽस्मिन्वर्णा इति प्रक्रमः स्थानमुच्यते, तेनायमर्थः- एकस्मिंस्ताल्वादिके स्थाने ऊर्ध्वभागेनोच्चार्यमाण उदात्तः, अधरभागनिष्पन्नोऽनुदात्तः। एवं चोच्चैरित्यनेनोर्ध्वभागो गृह्यते नीचैरित्यधरभागः। अभ्यास-समधिगम्यश्चायं स्वरविशेषः षड्जादिवद्विज्ञेयः''।[34]

इसी स्थल पर प्रदीपानुसारी उद्योत भी द्रष्टव्य है- **''प्रक्रम्यन्त इति। अधिकरणे घञि नोदात्तोपदेशस्येति वृद्धिप्रतिषेधः ऊर्ध्वभागेनेति ऊर्ध्वभागावच्छिन्नवायुसंयोगेनेत्यर्थः। न चेदं पूर्वं कर्त्तव्यमित्याह एवञ्चेति। करणस्य चाधिकरणत्वविवक्षा बोध्या। कस्योर्ध्वभागे इत्याकाङ्क्षायां योग्यतया स्थानस्येति लभ्यत इति भावः। मन्दं प्रति तु वचनमेवावश्यकमिति बोध्यम्।** भाष्ये- **उरः कण्ठः शिर इति। शिरःपदं ताल्वादीनामुपलक्षणम्''।**[35]

आधुनिक विद्वानों की सभी व्याख्याएं कैयट व नागेश का अनुसरण करने वाली ही हैं। इस श्रेणी में भट्टोजिदीक्षित आदि विद्वानों का बहुत बड़ा वर्ग है। आधुनिक युग के एक प्रकाण्ड पण्डित विश्वेश्वरसूरि ने भी अपनी वैयाकरणसिद्धान्तसुधानिधि में ऐसा ही अर्थ दिया है।

कैयट और नागेश का व्याख्यान पूर्वपरम्परा से विपरीत जाता है, अतः ग्राह्य नहीं हो सकता। ये विद्वान् ताल्वादि भागयुक्त स्थानों में ऊर्ध्व, अधः और मध्य भाग मानते हैं और इन तीनों स्थानों में निष्पन्न स्वर को उदात्त अनुदात्त व स्वरित मानते हैं। साथ ही ये लोग कहते हैं कि स्वर का यह विषय बड़ा ही दुर्विज्ञेय है, इसे बहुत अभ्यास और सावधानी से ही ग्रहण किया जा सकता है, यथावत् उच्चारित किया जा सकता है। इनका यह सब व्याख्यान भाष्य से सर्वथा विपरीत एवं काल्पनिक है। यहाँ प्रक्रम शब्द में अधिकरण में घञ् मानना एवम् आधार सप्तमी मानना भी भाष्याभिप्राय से विरुद्ध है। यहाँ भाव में घञ् एवं सति सप्तमी है, यह भाष्य के वाक्य-स्वारस्य से स्पष्ट है।

अब यह विचारणीय है कि इन विद्वानों के इस प्रकार के व्याख्यान का मूल आधार क्या है? प्राचीन ग्रन्थ देखने से प्रतीत होता है कि लगभग पाँचवीं शताब्दी के आस-पास रची गई काशिकावृत्ति इस प्रकार

का व्याख्यान करने वालों का उपजीव्य है। क्योंकि हमारी दृष्टि में काशिका ही ऐसा प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें ताल्वादि उच्चारणस्थानों को ऊर्ध्व अधः एवं मध्य इन तीन भागों में विभक्त मानते हुए ऊर्ध्वभाग-निष्पन्न अच् को उदात्त, अधोभाग-निष्पन्न अच् को अनुदात्त कहा है- **उच्चैरिति च श्रुतिप्रकर्षो न गृह्यते- उच्चैर्भाषते उच्चैः पठतीति, किं तर्हि? स्थानकृतमुच्चत्वं संज्ञिनो विशेषणम्। ताल्वादिषु हि भागवत्सु स्थानेषु वर्णा निष्पद्यन्ते, तत्र यः समाने स्थाने ऊर्ध्वभागनिष्पन्नोऽच् स उदात्तसंज्ञो भवति।**[36]

परन्तु काशिका में एक विशेष बात यह है कि इस प्रकार के विचित्र सूत्र-व्याख्यान के तुरन्त बाद इस व्याख्यान से विपरीत जाने वाले भाष्य के मन्तव्य को इन शब्दों में उद्धृत किया है- **यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्रणामायामः निग्रहो भवति, रूक्षता अस्निग्धता स्वरस्य, संवृतता कण्ठविवरस्य। ये, ते, के।**[37]

अगले सूत्र **नीचैरनुदात्तः** में भी काशिकाकार का व्याख्यान इसी प्रकार का है- **नीचैरुपलभ्यमानो योऽच् सोऽनुदात्तसंज्ञो भवति। समाने स्थाने नीचभागे निष्पन्नोऽच् अनुदात्तः। यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्रणामन्ववसर्गः मार्दवं भवति, स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, कण्ठविवरस्योरुता महत्ता, त्व-सम-सिम-नेमेत्यनुच्चानि। नमस्ते रुद्र नीलकण्ठ सहस्राक्ष।**[38]

यहाँ यदि काशिकाकार के व्याख्यान को- **समाने प्रक्रमे उच्चैरुच्चार्यमाणोऽच् उदात्तसंज्ञो भवति, यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्रणामायामः निग्रहो भवति, रूक्षता अस्निग्धता स्वरस्य, संवृतता कण्ठविवरस्य** इस रूप में परिवर्तित कर दिया जाए तभी काशिकाकार द्वारा भाष्य-मन्तव्य को उद्धृत किया जाना सङ्गत है, अन्यथा परस्परविरोधिता बनी ही रहती है। काशिका में इस विसङ्गति को देखते हुए शङ्का होती है कि क्या वस्तुतः काशिका का मूल पाठ यही था? अथवा कालान्तर में वर्तमान स्वरूप में बदल दिया गया? न्यास व पदमञ्जरी को देखने से इतना तो स्पष्ट है कि उनके समय तक काशिका का उक्तस्थलगत पाठ ऐसा ही था।

इस विसङ्गति के समाधान का प्रयास करते हुए पदमञ्जरीकार लिखते हैं- **'ऊर्ध्वभागनिष्पत्तेरप्रत्यक्षत्वात् तन्निश्चये लिङ्गमाह- यस्मिन्नति। आयामः इत्यस्य विवरणं निग्रहः। रूक्षतेत्यस्य विवरणं अस्निग्धतेति। संवृततेति अणुता, अत एव वायुः शनैर्निष्क्रामन् गलावयवान् शोषयतीति स्वरस्य रूक्षता भवति'।**[39]

पदमञ्जरीकार का इस प्रकार सङ्गति लगाना गले नहीं उतरता है, क्योंकि यहाँ स्थिति उलटी हो गई है। ऊर्ध्वभागनिष्पन्न अच् में ये स्थितियां बनेंगी, यह समझ में नहीं आता। आयाम दारुण्य आदि को आधार मानकर यदि तदनुसारितया ऊर्ध्वाधोभागनिष्पन्नता कही जाती तो यह काल्पनिक बात सामान्यतया पकड़ में नहीं आती और धुप्पल में चलती रहती, पर ऊर्ध्वभागनिष्पन्नता से आयाम दारुण्य आदि होते हैं, यह सर्वथा अनुभव-विरुद्ध है। इसलिए हमने कहा कि यहाँ उलटी स्थिति हो गई।

इस प्रकार पदमञ्जरी का उक्त कथन भाष्य के विरुद्ध जाता है। भाष्यकार कहते हैं- आयाम दारुण्य से बना उच्च स्वर उदात्त होता है, इसके विपरीत ये कहते हैं- ताल्वादि सभाग स्थानों में ऊर्ध्वभागनिष्पन्नता के लिङ्ग आयाम दारुण्य आदि हैं। इस प्रकार उक्त मन्तव्य की भाष्य-विरुद्धता स्पष्टतः दिख रही है, साथ में अनुभव-विरुद्धता भी है ही। क्योंकि यह इतनी सरलता से प्रतीत होने वाली बात होती तो काशिकानुसारी इस मन्तव्य को मानने वाले कैयटादि ऐसा क्यों लिखते- **अभ्यास-समधिगम्यश्चायं स्वरविशेषः षड्जादिवद्विज्ञेयः।**[40] जबकि आयामादि की स्थिति को मन्दमति भी सहजता से समझ सकता है।

अनन्तरवर्ती वैयाकरणों की परम्परा में भट्टोजिदीक्षित आदि ने काशिकागत सूत्रवृत्ति के पूर्वभाग को अपने ग्रन्थ में लिया और भाष्य-मन्तव्य वाले आगे के भाग को हटा दिया। वर्त्तमान में सिद्धान्तकौमुद्यनुसारी पठन-पाठन की परम्परा में सम्बद्ध सूत्रों पर- **'ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागनिष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात्'**[41] इत्यादि वृत्तिभाग ही शेष रहा दिखता है। इन्होंनें इस वृत्तिभाग के अनन्तर काशिका के समान **यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्रणामायामः** इस भाष्य-मन्तव्य को उद्धृत करना ही प्रायः छोड़ दिया। नव्य व्याकरण पढ़ने वाला आज का वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित की इन्हीं पंक्तियों तक सीमित रह जाता है। वह उक्त भाष्य-मन्तव्य की चर्चा ही नहीं करता। वह निःशङ्क होकर **उच्चैरुदात्तः-नीचैरनुदात्तः** की कौमुदीनिर्दिष्ट वृत्ति बोलकर सूत्रार्थ की परिपूर्णता मान लेता है। जब उससे पूछा जाता है कि उदात्त का उच्चारण कैसे होता है? तो उसका वैयाकरणखसूचित्व ही प्रकट होता है। यही प्रश्न यदि उक्त परम्परा के अध्यापक से किया जाता है तो वह अधिक से अधिक- **अभ्यास-समधगिम्श्चायं स्वरविशेषः षड्जादिवद्विज्ञेयः** इस कैयट वाली बात को कहकर यथाथञ्चित् पीछा छुड़ा लेता है। इस प्रकार उक्त वृत्ति ने उदात्तादि स्वरों का स्वरूप दुर्गम, दुर्विज्ञेय व अन्धकारावृत सा बना दिया है। जबकि मुनित्रय के प्रतिपादन के अनुसार यह सर्वजनगम्य है। शिक्षाकारों द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों के अनुसार तो इसे पशु-पक्षी भी धड़ल्ले से प्रस्तुत करते हैं, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है! तद्यथा-

उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेया षड्जमध्यमपञ्चमाः।।[42]

षड्जे वदति मयूरो गावो रम्भन्ति चर्षभे।
अजा वदति गान्धारे क्रौञ्चनादस्तु मध्यमे।।

पुष्पसाधारणे काले कोकिलः पञ्चमे स्वरे।
अश्वस्तु धैवते प्राह कुञ्जरस्तु निषादवान्।।[43]

अतः सर्वग्राह्य व स्पष्ट उदात्तादि के स्वरूप को भूलभुलैया में डालने वाली उक्त वृत्ति को छोड़ देना उचित है। हमारे विचार से **ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागनिष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः** इत्यादि भाष्यविरुद्ध वृत्ति को इन सूत्रों से हटा देना चाहिए तथा उसके स्थान पर भाष्यानुसारितया- **अल्पप्राण-महाप्राणयोः समाने प्रक्रमे (सति) उच्चैरुच्चार्यमाणोऽजुदात्तसंज्ञो भवति, यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्रणामायामः निग्रहो भवति, रूक्षता अस्निग्धता स्वरस्य, संवृतता कण्ठविवरस्य।।**

अल्पप्राण-महाप्राणयोः समाने प्रक्रमे (सति) नीचैरुच्चार्यमाणोऽजनुदात्तसंज्ञो भवति, यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्रणामन्ववसर्गः मार्दवं भवति, स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, कण्ठविवरस्योरुता महत्ता। इस प्रकार की वृत्ति रखनी चाहिए। काशिका में भी ऐसा ही संशोधन अपेक्षित है।

अब रही यह बात कि जो व्यक्ति काशिकाकार-निर्दिष्ट एवं कैयट, नागेश व भट्टोजिदीक्षित आदि द्वारा प्रचारित उक्त प्रकार की वृत्ति पर ही आग्रह रखते हैं, वे भाष्योक्त लक्षणों को उसी का लिङ्ग बताते हैं। हमारी दृष्टि से उनका ऐसा कथन अग्राह्य है, क्योंकि उन द्वारा प्रतिपादित एक-उच्चारणस्थानगत ऊर्ध्वाधोभागनिष्पन्नता में आयाम दारुण्य आदि का होना असम्भव है। इसलिए इस प्रकार की निष्पन्नता के साथ वे स्वर को दुर्विज्ञेय भी मानते हैं, जबकि आयाम-दारुण्यादि की स्थिति सहजतया सर्वजनसंवेद्य है। अतः एक उच्चारणस्थान में ऊर्ध्वाधोभागनिष्पन्न स्वर के लिङ्ग के रूप में आयाम दारुण्य आदि को उन द्वारा प्रस्तुत करना हमें कथमपि स्वीकार्य नहीं। दुर्जनतोष न्याय से उनका आग्रह थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाए तो भी यह सर्वथा उलटी स्थिति है। मूल लक्षण **आयामो दारुण्यम्** इत्यादि हैं, उनके होने पर

तन्मतानुसारितया कदाचित् ताल्वादि भागवान् स्थानों में ऊर्ध्वाधोभागनिष्पन्नता जैसी कोई स्थिति बनती हो और वह अप्रत्यक्ष रहती हो एवं अभ्यास-समधिगम्य व दुर्विज्ञेय हो, वक्ता व श्रोता की भी पकड़ में भी आनी मुश्किल हो, ऐसी उस गौण स्थिति को मुख्य मानकर आयामो दारुण्यम् आदि मूल लक्षणों को उसका अनुगामी मान लेना कैसे उचित है?

यदि उस आग्रह वाले व्यक्ति अपना आग्रह नहीं छोड़ पाते हैं तो उदात्तादि के भाष्यानुसारी **आयामो दारुण्यम्** आदि मूल लक्षणों को मानते हुए उनके परिणामस्वरूप ऊर्ध्वाधोभागनिष्पन्नता को व्याख्यात करना चाहें तो भी उनको मूलवृत्ति में न रखकर आयामो दारुण्यम् आदि के परिणाम के रूप में मान सकते हैं। यह हम उन्हीं के तोष लिए कह रहे हैं, हमें तो यह कथमपि स्वीकार नहीं है। क्योंकि ताल्वादि स्थानों में ऊर्ध्वाधोभागनिष्पन्नता मूलतः काल्पनिक है। यह उदात्तादि की निष्पत्ति में कोई कारण है ही नहीं।

पहले हमने कहा कि अल्पप्राण व महाप्राण के समान प्रक्रम के साथ **आयामो दारुण्यम्** आदि को मूल लक्षण के रूप में रखकर वे ऊर्ध्वाधोभागनिष्पन्नता को अपने तोष के लिए उसके लिङ्ग के रूप में रखना चाहें तो भले ही रक्खें, पर साम्प्रतिक वैयाकरणपरम्परा में तो सर्वथा विपरीत हो गया है। भाष्यानुसारी मूलवृत्ति को हटाकर ऊर्ध्वाधोभागनिष्पन्नता वाली काल्पनिक वृत्ति ने उसका स्थान ले लिया है। इससे अध्येता व अध्यापक उदात्तादि का वास्तविक स्वरूप न समझकर भ्रान्त हो जाते हैं। जबकि सूत्रकार, वार्तिककार व भाष्यकार का आशय सर्वथा स्पष्ट है कि जोर से बोलना उदात्त व धीरे से बोलना अनुदात्त है, जिसे मन्द व्यक्ति भी समझ सकता है और यह लोक में आबालवृद्ध) द्वारा प्रयुक्त है।

इस प्रकार भाष्यकार के **त्रिधा बद्धः उरसि कण्ठे शिरसीति** की सही व्याख्या इस लेख के आरम्भ में प्रस्तुत की है, वही ग्राह्य है। इसके विपरीत यहाँ नागेशादि ने भाष्य के मूल आशय के विपरीत उरः कण्ठः शिरः को प्रक्रम रूप में नहीं समझा और वर्णोच्चारणस्थान के रूप में मान लिया-

'भाष्ये- उरसीत्यादि। हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम्। उरस्यं तं विजानीयात्। स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषाः इत्युक्तेर्मूर्धैव शिरः॥ कण्ठ इत्यनेन मुखान्तर्गतकण्ठादि स्थानमुपलक्ष्यते'॥[14]

जब उन्हें शङ्का हुई कि उच्चारणस्थान तीन नहीं, आठ हैं, अतः **त्रिधा बद्धः** की जगह **अष्टधा बद्धः** होना चाहिए था, तो इस शङ्का को दूर करने के लिए उन्होनें एक अन्य कल्पना की कि तीन स्थान अन्य उच्चारणस्थानों के उपलक्षण के रूप में निर्दिष्ट किए हैं। जब उनसे कोई पूछे कि उपलक्षण के लिए तो एक ही पर्याप्त था, तीनों का ग्रहण क्यों किया? तो वे इस कल्पना का सहारा लेते हैं कि मुख के अन्दर ऊपर नीचे व मध्य में विद्यमान स्थानों को सूचित करने के लिए इन तीनों को उपलक्षण के रूप में लिया है।

परन्तु वेदमन्त्र व भाष्यकार पतञ्जलि के मूल आशय को न समझने के कारण भ्रान्त हुए लोगों की ये अस्थानगत क्लिष्ट कल्पनाएं हैं। इनमें कोई सार प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि उदात्तादि स्वर वर्णोच्चारणस्थान-जन्य नहीं अपितु वायुजन्य हैं। नाभितल से प्रक्रान्त वायु ही अपने वेगपूर्वक गन्तव्य स्थान के कारण उर कण्ठ व शिर इन तीन प्रक्रमों के माध्यम से स्वरों की निष्पत्ति करता है। अतः इस प्रसङ्ग में वर्णोच्चारणस्थानों की ओर बुद्धि को दौड़ाना व्यर्थ है।

आधुनिक युग के वैदिकशिरोमणि महान् वेदभाष्यकार महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी अपनी **ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका** के 'स्वरव्यवस्थाविषय' में उदात्तादि का स्वरूप पूर्वव्याख्यात भाष्यलक्षणानुसारितया ही माना है। वहां उन्होंने ऊर्ध्वाधोभागनिष्पन्नता का कोई संकेत नहीं किया-

अथ वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते।....तत्रेदात्तादीनां लक्षणानि व्याकरणमहाभाष्यकारपतञ्जलिप्रदर्शितानि लिख्यन्ते-

'स्वयं राजन्त इति स्वराः। आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य। आयामो गात्रणां निग्रहः, दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता, अणुता खस्य, कण्ठस्य संवृतता, उच्चैःकराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्रणां शिथिलता, मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य।..... 'उच्चैरुदात्तः' इत्याद्युपरि'।[45]

आधुनिक युग के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् समीक्षाचक्रवर्ती पण्डित मधुसूदन ओझा ने बहुत पहले इस भ्रान्ति की ओर स्पष्ट शब्दों में संकेत किया था- **'यत्तु कैयटेन प्रक्रमः स्थानमुच्यते, स्थानञ्च ताल्वादिकमूर्ध्वाधरभागयुक्तम् इत्येवं व्याख्यातम्। काशिका- कौमुदीकारादिभिरपि कैयटवर्त्मैवानुसृतम्। तदेतत् सर्वं भगवत्पतञ्जल्यादि- महर्षितात्पर्यविरुद्धत्वादुपेक्ष्यम्। न हीमानि ताल्वादिस्थानानि तथोर्ध्वाधरभागयुक्तानि श्रूयन्ते वा स्मर्यन्ते वानुभूयन्ते वा। तिर्यग्भागैः सभागत्वेऽप्यूर्ध्वाधरभागैः सभागत्वस्य अप्रामाणिकत्वात्। अथ खल्वेकैकस्मिन् स्थाने प्रकल्पितेषु अग्रमध्यमपश्चाद्भागेषु उच्चादीनामभिनिष्पत्तिरिष्यते इति चेत् स्यादेतदेवम्, यदि नाम ताल्वादीनि स्थानानीह विवक्षितानि स्युः। न च तथा विवक्षां पश्यामः। द्विविधानि हि वर्णस्थानानि भवन्ति- सवनस्थानानि च मुखस्थानानि च। तत्रोरःकण्ठ-शिरोरूपैस्त्रिभिः सवनस्थानैरेवैतेषां सम्बन्धः सूत्रवार्तिकभाष्येषु प्रदर्श्यते। तस्मात् ताल्वादिसभागस्थानेषूर्ध्वभागनिष्पन्न उदात्तः। अधोभागनिष्पन्नोऽनुदात्त इत्येवमुक्तिः केषाञ्चिद् अपदार्थत्वादुपेक्ष्येति दिक्'।**[46]

महामहोपाध्याय गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी ने भी उक्त स्थल पर महाभाष्य-व्याख्याताओं के इस प्रमाद का स्पष्टतया उल्लेख किया है-

''एवमेव **उच्चैरुदात्तः'** इति सूत्रेऽपि शब्दोत्पत्तिप्रक्रिया या वैज्ञानिकी महाभाष्यकृतोक्ता, सा व्याख्याकृद्भिरन्यथैव नीता।.... वर्णानां हि द्विविधानि स्थानानि पाणिनीयशिक्षादौ दर्शितानि, सवनस्थानानि , आस्यान्तर्गतस्थानानि च। बुद्ध्यार्थान् समर्थ्यात्मना प्रेरितेन मनसाऽभिहतः कायाग्निर्यदा शारीरं मारुतं प्रेरयति, तदा स वायुः उरसि शरसि कण्ठे वा मनोऽभिप्रायोनुकूलमेव क्वचित्प्रक्रमं करोति , तान्येतानि त्रीणि सवनस्थानानि शिक्षायामारम्भ एव स्पष्टीकृतानि-......। प्रत्यात्ममनुभवसिद्धं चेदम्- स्वसामर्थ्यानुसारं कदाचित्कश्चिदुच्चैर्वदति, कदाचिन्नीचैः, कदाचिच्च समेन स्वरेण इति। सोऽयं भेदः सवनस्थानकृत एव। तान्येतानि सवनस्थानान्येव प्रक्रमशब्देनोक्त्वा भाष्यकारेण उच्चैस्त्वनीचैस्त्वयोरव्यवस्थायाः समाधानं कृतम्, यद्यथाविधो यस्योपक्रमः, तत्र यदुच्चैस्तदुदात्तमिति विज्ञातव्यम्, कामं तदन्यापेक्षया नीचैर्भवतु, न तेनास्माकं प्रयोजनमिति। परं कैयटमहाशयः सवनस्थानानामास्यस्थानानां च भेदमविचार्यैव 'उरः कण्ठः शिरः' इति स्थानत्रयमष्टानामपि स्थनानामुपलक्षणं मत्वा तत्र च प्रत्येकं स्थानेपु काल्पनिकमनुप्वविरुद्धं विन्दुत्रयमुररी -चकारेत्येकदेशितात्रपराध्यति। एवं महाभाष्यस्य गूढा आशया व्याख्याकृतां कृपया अन्यथैव नीता इति निदर्शनमात्रमिदम्''।[47]

भाष्य के आधुनिक व्याख्याकारों में आचार्य चारुदेव शास्त्री, पं. युधिष्ठिर मीमांसक आदि ने कैयटादि के व्याख्यान को ही गतानुगतिकतया स्वीकार कर पुष्ट करने का प्रयास है। अतः उक्त स्थलगत इनकी व्याख्याएं भी संशोधनीय हैं।

कः पुनः प्रत्र मः? उरः कण्ठः शिर इति। यहाँ तीनों के अनन्तर इति शब्द लगाकर भाष्यकार ने स्पष्ट कर दिया है कि ये तीन ही प्रक्रम हैं। अतः यहाँ ये उच्चारणस्थान या उनके उपलक्षण के रूप में कथमपि निर्दिष्ट नहीं मानें जा सकते हैं।

यहाँ भाष्यकार द्वारा बोले गए **'उरः कण्ठः शिर इति'** ये पस्पशोक्त **'त्रिधा बद्धः- त्रिषु स्थानेषु बद्धः, उरसि कण्ठे शिरसीति'** की ओर स्पष्टतः सङ्केत करते दिखाई देते हैं। जब हम पस्पशा के उक्त वाक्य को पढ़ते हैं तो संवादितया- **'कः पुनः प्रक्रमः उरः कण्ठः शिर इति'** यह वाक्य याद आ जाता है तथा जब इसे पढ़ते हैं तो पस्पशागत- **'त्रिषु स्थानेषु बद्धः उरसि कण्ठः शिरसीति'** यह याद आ जाता है। ये दोनों स्थल निःसन्देह शब्द के त्रैस्वर्यरूप वैशिष्ट्य को सूचित कर रहे हैं।

त्रिधा बद्धः वाला पूर्वप्रस्तुत उद्धरण ऋग्वेद से लिया गया है, अतः उक्त वेदमन्त्र द्वारा शब्द के त्रैस्वर्यरूप धर्म को बताना वैदिक भाषा की दृष्टि से तो अतीव महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि यह वैदिक शब्दों की बहुत बड़ी विशेषता है, जो उच्चारण व अर्थनिर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यद्यपि लौकिक संस्कृत में भी स्वर अर्थविशेष का निर्धारण करते हैं, अष्टाध्यायी के षष्ठाध्यायगत द्वितीयपाद में लौकिक भाषा के शब्दों में अर्थविशेष में स्वरविधान विशेषरूप से उपलब्ध है। परन्तु वेदशब्दों में तो यह अतीव महत्त्वपूर्ण है। वेदशब्दों की इसी विशेषता को उक्त मन्त्र में **त्रिधा बद्धः** से प्रकट किया है। महाकवि कालिदास भी इसे देवगण द्वारा की गई ब्रह्मा की स्तुति के प्रसङ्ग में निम्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं-

उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्।।[48]

अर्थ- देवगण ब्रह्माजी की स्तुति करते हुए कहते हैं- हे ब्रह्मन्! जिन वेदवाणियों का आरम्भ प्रणव (ओ३म्) से होता है, जिनका उदीरण (उच्चारण) तीन न्यायों से (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, इन) तीन स्वरों से होता है, जिनका कर्म यज्ञ तथा फल स्वर्ग है, उन वेदवाणियों के प्रभव (उद्गमस्थान) आप ही हैं। यहाँ मल्लिनाथ लिखते हैं- **''नीयन्ते एभिरर्थविशेषा इति न्यायाः स्वराः। उक्तञ्च स्वरविशेषादर्थविशेषप्रतिपत्तिः, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधादिति''।**[49]

इस प्रकार स्पष्ट है कि- **उरः कण्ठः शिरः** ये वर्णोच्चारण स्थान न होकर उदात्त, अनुदात्त व स्वरित इन तीन स्वरों के साधक तीन प्रक्रम हैं। **उच्चैरुदात्तः-नीचैरनुदात्तः** सूत्रभाष्य में भी **उरः कण्ठः शिरः** इन स्वरसाधक प्रक्रमों को न समझकर कैयटादि ने इन्हें उच्चारणस्थान के रूप में मान लिया और काशिका वाली वृत्ति की ओर झुक गए।

मुनित्रय के अभिप्राय के विरुद्ध व्याख्यान करने वाले आधुनिक वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी या लघुसिद्धान्तकौमुदी आदि के व्याख्यान-प्रसङ्ग में कहते हैं कि यदि **उच्चैरुदात्तः** में ऊर्ध्वभागनिष्पन्नता न लेकर ऊँचा स्वर लिया जाए तो उपांशु उच्चारण में उदात्तादि स्वर नहीं हो सकेंगे। इनके इस आशय वाले कथन यहाँ प्रस्तुत हैं-

'नादधर्मविशेषः उच्चैस्त्वं नेह विवक्षितम्, उपांशूच्चार्यमाणे अव्याप्तेः। किन्तूच्चैश्शब्दोऽधिकरण-शक्तिप्रधान ऊर्ध्वभागे इत्यर्थे वर्त्तते'।[50]

'कुछ लोग जो ऊँचे स्वर से बोला जाए वह उदात्त होता है ऐसा अनर्थ किया करते हैं। उनके अनर्गल-प्रलाप से सावधान रहना चाहिए; क्योंकि तब मानसिक जप में उदात्तत्व आदि न माना जा सकेगा, अतः यह अनिष्ट है'।[51]

इन लोगों के इस तर्क का उत्तर यह है कि उपांशु का अर्थ दूर तक न सुनाई देने वाला स्वर है- उप समीपे अश्नुते व्याप्नोतीति उपांशु। आचार्य हेमचन्द्र भी कहते हैं- **'उपाश्नुते उपांशु'**[52]। उपांशु का यही स्वरूप स्मृतियों में भी निर्दिष्ट है-

> **त्रिविधो जपयज्ञः स्यात्तस्य तत्त्वं निबोधत।**
> **वाचिकश्च उपांशुश्च मानसश्च त्रिधाकृतिः॥**
> **शनैरुच्चारयन्मन्त्रं किञ्चिदोष्ठौ प्रचालयेत्।**
> **किञ्चिच्छ्रवणयोग्यः स्यात् स उपांशुजपः स्मृतः॥**[53]

उपांशु उच्चारण में श्रवणगोचर होने वाले बाह्य स्वर को दबाकर भी पाणिन्युक्त मन्द, मध्य व तीव्र इस त्रिविध प्रयत्न से बोला जा सकता है। जैसे कि कोई किसी भयावह स्थिति में प्रियजन को उससे बचाने के लिए बाह्य ध्वनि को दबाकर भी उसके प्रति जोर लगाकर, आयामादि-पूर्वक बोलता है। इस रीति से उपांशु में भी उदात्त स्वर निर्बाध रूप से संभव है। केवल कर्णगोचर बाह्य ध्वनि का तारतम्य (न्यूनाधिकत्व) ही उदात्तत्व आदि का साधक नहीं है, यह तथ्य **'सिद्धं तु समानपप्रक्रममवचनात्'** की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। अतः यह कोई समस्या नहीं है।

सन्दर्भटिप्पणी

1. वाक्यपदीयम्- 2.480;
2. ऋग्वेद- 4.58.3;
3. महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्।
4. कुमारसम्भवम्- 2.12;
5. अष्टाध्यायी-1.2.29-30;
6. वार्तिक-1.2.29-30;
7. महाभाष्यम्- 1.2.29-30;
8. अमरकोश-3.2.26;
9. पाणिनीयशिक्षा श्लोकात्मिका- 6;
10. शिक्षासूत्रणि- पाणिनीयशिक्षा, आरम्भ से तीसरा पद्य
11. शिक्षासूत्रणि- पाणिनीयशिक्षा, नाभितलप्रकरण, सूत्र- 20-23;
12. शिक्षासूत्रणि- पाणिनीयशिक्षा, नाभितलप्रकरण, प्रथम सूत्र।
13. शिक्षासूत्रणि- पाणिनीयशिक्षा, नाभितलप्रकरण, सूत्र 21;
14. शिक्षासूत्रणि- पाणिनीयशिक्षा, नाभितलप्रकरण, सूत्र 22;
15. शिक्षासूत्रणि- पाणिनीयशिक्षा, नाभितलप्रकरण, सूत्र 23;
16. पाणिनीयशिक्षा श्लोकात्मिका-6-8;
17. पाणिनीयशिक्षा श्लोकात्मिका-36-37;
18. प्रपञ्चहृदयम्, पृ.- 22;
19. महाभाष्यम्- 1.2.29-30;
20. महाभाष्यम्- 1.2.29-30;
21. तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम्- 22.9-10;
22. वैदिक-स्वर-बोध, पृ.- 1-2;
23. अष्टाध्यायी- 1.2.32;
24. महाभाष्यम्- 1.2.32;
25. अष्टाध्यायी- 8.2.83;
26. अष्टाध्यायी- 8.2.84;

27. शिक्षासंग्रह:- याज्ञवल्क्यशिक्षा, श्लोक- 118, पृ. 17;
28. शिक्षासंग्रह:- सटीक नारदीयशिक्षा, श्लोक- 7, पृ. 331;
29. शिक्षासंग्रह:- सटीक नारदीयशिक्षा, श्लोक- 7, पृ. 331;
30. नाट्यशास्त्रम्- 14.102-103;
31. सङ्गीतनारायण:- खण्ड-1, परिच्छेद-1, श्लोक-31;
32. सङ्गीतसमयसार (पार्श्वदेवकृत), प्रथमाधिकरणम्-10-13;
33. शिक्षासङ्ग्रह:- याज्ञवल्क्यशिक्षा, श्लोक- 6-7;
34. महाभाष्यप्रदीप- 1.2.29-30;
35. उद्योत- 1.2.29-30;
36. काशिका- 1.2.29;
37. काशिका- 1.2.29;
38. काशिका- 1.2.30;
39. पदमञ्जरी- 1.2.29;
40. महाभाष्यप्रदीप:- 1.2.29;
41. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, संज्ञाप्रकरणम्।
42. शिक्षासंग्रह:- याज्ञवल्क्यशिक्षा, श्लोक- 6;
43. शिक्षासंग्रह:- माण्डूकीशिक्षा, श्लोक- 9-10;
44. पस्पशागत 'चत्वारिशृङ्गा0' पर उद्योत।
45. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वरव्यवस्थाविषय:, पृ.- 340;
46. वर्णसमीक्षा, पृ.- 144;
47. महाभाष्यम्, नवाह्निकम्, गिरिधरशर्मचतुर्वेद-लिखिता भूमिका, पृ.- 33-34;
48. कुमारसम्भवम्- 2.12;
49. कुमारसम्भवम्, मल्लिनाथीया टीका- 2.12;
50. सिद्धान्तकौमुदी- 'उच्चैरुदात्त:' पर बालमनोरमा।
51. लघुसिद्धान्तकौमुदी- 6-7, भैमीव्याख्या, प्रथम भाग, चतुर्थ संस्करण।
52. अभिधानचिन्तामणि स्वोपज्ञवृत्ति-1538;
53. लघुहारीतस्मृति:- 41, 43;

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. वाक्यपदीयम्, सम्पादक- काशिनाथ वासुदेव अभ्यंकर, विष्णु प्रभाकर लिमिये, पुण्यपत्तन-विद्यापीठ, पुणे, 1965 ई.।
2. ऋग्वेदसंहिता- वैदिक यन्त्रालय, केसरगंज, अजमेर (राजस्थान)
3. महाभाष्यम्, प्रदीपोद्योतसहितम्, (गुरुप्रसादशास्त्रिसम्पादितम्) राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, जनकपुरी, नई दिल्ली- 58. पुनर्मुद्रण- 1999 ई.
4. कुमारसम्भवम्- राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, जनकपुरी, नई दिल्ली-58 पुनर्मुद्रण- 2005 ई.
5. अष्टाध्यायी- वैदिक यन्त्रालय, केसरगंज, अजमेर (राजस्थान), 2065 वि.
6. अमरकोश:- राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् जनकपुरी, नई दिल्ली- 58 पुनर्मुद्रण- 2003 ई.
7. पाणिनीयशिक्षा (श्लोकात्मिका, शिक्षासंग्रह के अन्तर्गत) सम्पादक- रामप्रसाद त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी-1989 ई.
8. शिक्षासूत्राणि-सम्पादक- युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली, सोनीपत (हरियाणा)
9. प्रपञ्चहृदयम्, सम्पादक- ति. गणपति शास्त्री, शिवालिक प्रकाशन 27/16 शक्तिनगर दिल्ली- 32, पुनर्मुद्रण- 2002 ई.

10. तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम्- सम्पादक- जमुनाप्रसाद पाठक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी, प्रथम संस्करण 2007 ई.

11. वैदिक-स्वरबोध, लेखक- डा. ब्रजबिहारी चौबे, कात्यायन वैदिक साहित्य प्रकाशन, चतुर्वेद निकेतन, जोधामल मार्ग, गौतमनगर, होशियारपुर (पंजाब), संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण, अक्तूबर, 2004 ई.

12. शिक्षासङ्ग्रहः- याज्ञवल्क्यशिक्षा, नारदीयशिक्षा, माण्डूकी शिक्षा, सम्पादक- रामप्रसाद त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय वाराणसी-1989 ई.

13. नाट्यशास्त्रम् (द्वितीय भाग) सम्पादक- रविशंकर नागर,परिमल प्रकाशन, 27/28 शक्तिनगर, दिल्ली 7, 1995 ई.

14. सङ्गीतनारायणः, सम्पादक- मन्दाक्रान्ता वोस, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कलाकेन्द्र, दिल्ली, 2009 ई.

15. सङ्गीतसमयसार (पार्श्वदेवकृत), सम्पादिका- डा. एम. विजयलक्ष्मी, शिवालिक प्रकाशन, 27/16 शक्तिनगर, दिल्ली- 32. प्रथम संस्करण-2003 ई.

16. काशिका-रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, (सोनीपत) हरियाणा, प्रथम संस्करण- 2054 वि.

17. पदमञ्जरी (प्रथमभागः 1-4 अध्यायाः) संस्कृतपरिषद, उस्मानियाविश्वविद्यालय, हैदराबाद, प्रथमसंस्करणम्-1985 ई.

18. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, सम्पादक- पणशीकर वासुदेव शर्मा, मेहरदास लछमनदास, अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली, 2, पुनर्मुद्रण- 1985 ई.

19. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (महर्षिदयानन्दकृता), वैदिक पुस्तकालय, दयानन्द आश्रम, केसरगंज, अजमेर, त्रयोदश वार, 2008 ई.

20. वर्णसमीक्षा, लेखक- मधुसूदन ओझा, राजस्थान संस्कृत अकादमी, श्रीवीरेश्वर भवन, गणगौरी बाजार, जयपुर (राजस्थान), 2051 वि.

21. महाभाष्यम्, नवाह्निकम्, रुद्रदत्तझाप्रणीत-तत्त्वालोकटीकोपेतम्, गिरिधरशर्मचतुर्वेद-लिखिता भूमिका, प्रकाशक-चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, चतुर्थ संस्करण 1996 ई.

22. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (बालमनोरमासहिता) प्रथम भाग , सम्पादक- गोपालदत्त पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, षष्ठ संस्करण, 1998 ई.

23. लघुसिद्धान्तकौमुदी-भैमीव्याख्या, प्रथमभाग, चतुर्थ संस्करण-2000ई., भीमसेन शास्त्री, भैमी प्रकाशन, 537, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली-110006)

24. अभिधानचिन्तामणि (स्वोपज्ञवृत्तियुत), सम्पादक- हेमचन्द्रविजयगणि, श्रीजैनसाहित्यवर्धकसभा अहमदाबाद, गुजरात, 2032 वि.

25. लघुहारीतस्मृतिः (अष्टादशस्मृति, भाषाटीका सहित, के अन्तर्गत), सम्पादक व अनुवादक- पं0 मिहिरचन्द, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, जनकपुरी, नई दिल्ली- 58. पुनर्मुद्रण- 2005 ई.

डा. विजयपालशास्त्री प्रचेताः (साहित्यविभागाध्यक्षः)
राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम्, वेदव्यास-परिसरः,
बलाहर, निकट-देहरा (कांगड़ा)
हिमाचल-177 101



भाषाकविर्देवोऽस्य शृङ्गारविलासिनी च

विश्वम्भरनाथ गिरिः

सवैयाप्रभृतिभाषाच्छन्दसां संस्कृते विरल प्रयोग उपलभ्यते। रीतिकालिकप्रथितभाषाकविना देवेन नाट्यशास्त्रीयलक्षणग्रन्थस्य निर्माणे कृतस्तत्प्रयोगस्तूत्कण्ठां द्विगुणीकरोति। परन्तु संस्कृतजगति प्रायेण देवोऽपरिचित एव। तदिहैतेन लघुलेखेन देवकवेस्तत्कृतिशृङ्गारविलासिन्याश्च परिचयो यत्किञ्चिद्वैशिष्ट्यञ्च प्रस्तूयते।

हिन्दीसाहित्येतिहासे रीतिकालस्य प्रख्यापकेषु कविषु देवोपनाम्नो महाकवेर्देवदत्तस्य गौरवाधायकं स्थानमस्ति। स्वग्रन्थेष्वेतत्कृतेनोल्लेखेनावगम्यते यदयमुत्तरप्रदेशस्येष्टिकापुरे (इटावा) जनपदे घोसड़ियाद्विजकुले समुत्पन्नोऽभूत्। अस्य जनको वंशीधरो बभूव। शृङ्गारविलासिन्याः पर्यन्ते लिखति देवः –

देवदत्तकविरिष्टिकापुरवासी स चकार।
ग्रन्थमिमं वंशीधरद्विजकुलधुरं बभार॥[1]

देवदत्तस्य स्थितिसमयः 1673–1767 खिस्ताब्दः स्थिरीक्रियते[2]। बहूनां राज्ञां श्रेष्ठिनाञ्चाश्रयमवापासौ सुकविर्येषु – आज़मसाहः (औरङ्गजेबतनयः), भवानीदत्तवैश्यः, फफूँद (इटावा) राज्यशासकः कुशलसिंहः, श्रेष्ठी भोगीलालः, नृप उद्योतसिंहः, पिहानीपतिः अलीअकबरसाहश्चैते प्रमुखा आसन्। अनेकेषामाश्रयदातॄणां प्रभाववशात् स्वकीयाभिरुचेरनुरोधाच्च देवेनानेकेऽनेकविधाश्च गन्था लिखिताः। यद्यप्यैतिह्यविद्भिः प्रायः पञ्चसप्तति (75) गन्थानां कर्तायमभ्युपगम्यते तथापि सम्प्रति समुपलब्धानां प्रकाशिताप्रकाशितानां तेषां तालिका काचिदिह प्रस्तूयते[3] –

कुशलविलास, जातिविलास, भावविलास, भवानीविलास, प्रेमतरंग, अष्टयाम, देवचरित्र, रसविलास, प्रेमचन्द्रिका, सुजानविनोद। काव्यरसायन (शब्दरसायन), सुखसागरतरंग, रागरत्नाकर, देवशतक, देवमायाप्रपञ्च, वृक्षविलास, पावसविलास, राधिकाविलास, सुमित्रविनोद, वैराग्यशतक (जगद्दर्शनपचीसी, आत्मदर्शनपचीसी, प्रेमदर्शनपचीसी एवं तत्त्वदर्शनपचीसी), नीतिशतक, प्रेमदीपिका, प्रेमदर्शन, सुन्दरीसिन्दूरकाव्य, नखशिख, वखतविलास, वखतविनोद, वखतशतक, वृत्तमञ्जरी, माधवगीता, कालिकास्तोत्र, नृसिंहचरित्र, प्रज्ञानशतक, शृङ्गारविलासिनी (संस्कृतग्रन्थः)।

महाकवेर्देवस्य प्रतिष्ठा कविरूपेणाचार्यरूपेण चोभयथा विद्यते। तदीया प्रेमचन्द्रिका प्रेम्णो विविधं स्वरूपं प्रस्तौति तर्हि रागरत्नाकरः संगीतविषयको लक्षणग्रन्थोऽस्ति। देवशतकं, तावदध्यात्मनिरूपकम्। देवचरित्रं पुनः प्रबन्धकाव्यमस्ति। देवमायाप्रपञ्चस्तु प्रसिद्ध संस्कृतनाटकस्य प्रबोधचन्द्रोदयस्य भाषापद्यानुवादरूपो वर्तते। अन्ये ग्रन्थाः प्रायशः काव्याङ्गनिरूपका अलङ्कारशास्त्रीयाः सन्ति। भावविलासो रसस्योनचत्वारिंशदलङ्कारस्य च निरूपणं प्रस्तौति। सम्भवतो देवकवेरयमाद्यो ग्रन्थः यतोऽस्य निर्मितिसमयेऽयं षोडशाब्ददेशीय एवासीत्।

काव्यरसायन ग्रन्थः काव्यलक्षण-गुणलङ्कार-रीति-वृत्तिच्छन्दसां निरूपकोऽस्ति। देवस्य बहवो ग्रन्था नायिकानायकभेदप्रतिपादकाः सन्ति। अलङ्कारशास्त्रीयग्रन्थानां निर्माणार्थमनेन काव्यालङ्कार-काव्यादर्श-काव्यप्रकाश-साहित्यदर्पण-रसमञ्जरी-रसतरङ्गिणी-केशवकविकृत- रसिकप्रियाकविप्रियेत्यादि प्राचीनार्वाचीनग्रन्था आधारभूमीकृताः।

चतुर्नवति (94) वर्षस्य सुदीर्घो जीवनकालो देवस्यासीत्। आषोडशाब्दाद्यावज्जीवनं सततं साहित्य-साधनातत्परोऽसावलोक्यते। विविधग्रन्थकर्तृत्वाद् भाषासमीक्षकाणामिव ''बहुआयामीव्यक्तित्वसम्पन्न देव'' इति वक्तुं युज्यते। तथापि कवित्वदृष्ट्या तदीयाः रचनाः विशेषेण ग्राह्याः। आलङ्कारिकग्रन्थेषु तत्र तत्र प्रदर्शितामात्मीयां रसवादितां रसभावप्रवणैः स्वकाव्यैः प्रमाणयत्येषः। भावाभिव्यक्तिक्षमा तदीया ललिता रचना सर्वथा हृद्या वर्तते। सवैया छन्दसां बाहुल्येन प्रयोगः कृतो देवेन, यत्र लयं प्रति महानाग्रहोऽस्ति। अत एव शब्दानामनवधानतया प्रयोगकरणजान्यो दोषश्च्युतसंस्कृत्याख्यः क्वचित्केन सुलभः। तथाप्यसंशयं रसभावदृष्ट्या सर्वथोत्कृष्टा देवस्य रचना, स च श्रेष्ठः कविः।

शृङ्गारविलासिनी तावल्लघुकायो रसनिबन्धोऽस्ति। अत्र रसराजस्यशृङ्गारस्यात्यावश्यक सामग्रीभूतालम्बनविभावो नायिका नायकभेदः प्रपञ्चितोऽस्ति। तत्रापि प्रामुख्येन नायिकाभेद एव। ग्रन्थारम्भे जगज्जननी गिरिवरसुता स्मर्यते। स्मृता सती सर्वदा शुभफलप्रदा सा प्रारिप्सितप्रतिबन्धकीभूतानज्ञतालस्यादिविघ्नानपसार्यखिल-सदर्थप्रकाशनात्मिकां सुमतिं प्रयच्छतु यया ग्रन्थो निर्विघ्नं परिसमाप्तिमेतु। अनन्तरमनुबन्धचतुष्टयमनुबध्नाति ग्रन्थकृत् -

रसिकमुदेसुविलासिजनमनः परानन्दाय।
शुभशृङ्गारविलासिनी क्रियते सुकविहिताय॥[4]

ग्रन्थनामनिर्देशेनैव तत्प्रतिपाद्यविषयोऽपि सूच्यते। सोऽस्ति नायिकानायकभेदः। विलासप्रियाणां सहृदयानां हृदये परमाह्लादजननं तावत्प्रयोजनम्। काव्यक्रियोन्मुखेभ्यः सुकविजनेभ्यः नायिकादिविषयक-विविधस्वरूपप्रकृतिप्रवृत्तिसम्बन्ध्युपनिबन्धनस्यापदेशरूपमपरमपि प्रयोजनं ज्ञेयम्। तथा च सहृदयो जिज्ञासुः कविश्चेति द्वावप्यधिकारिणौ प्रोक्तौ। ग्रन्थः प्रतिपादकः प्रतिपाद्यविषयश्च नायिकानायकभेद इत्युभ्योः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्ध जिज्ञासुर्बोध्यः बोधकश्च ग्रन्थ इति बोध्यबोधकभावोऽपि सम्बन्धस्तयोर्ज्ञेयः।

भरतादिभिराचार्यैः प्रणीतेषु सत्स्वप्याकरग्रन्थेषु प्रकृतग्रन्थः कथमुपयोगीति जिज्ञासां समादधतो देवस्य विश्वासोऽस्ति - रसालङ्कारसमन्विता तत्कृतिस्सुधीनां परितोषाय भविष्यति, न तूद्वेजनायेति[5]। वस्तुतस्तदुदाहृतानि सवैयाच्छन्दांसि तद्गर्वोक्तौ प्रमाणानि। ग्रन्थस्योपक्रमे प्रायेण सर्वप्राणिसुखकरस्य शृङ्गारस्याभ्यर्हिततत्वात् तन्निष्पत्तेर्मूलकारणस्य नायिकानायकभेदस्य निरूपणौचित्यं प्रस्तौति। यतश्च भेदोपभेदसहितस्य नायिकानायकस्वरूपादेर्यथावसरं सम्यगुपनिबन्धनेनैव हि काव्येषुशृङ्गारः परं परिपोषमेतीति शृङ्गारसामग्री-प्वालम्बनविभावरूपस्य तस्य प्राधान्यम्। संक्षेपोपदेशैकप्रयोजनेन देवकविना कृतं प्रधानस्यैव निरूपणं सर्वथोचितमित्याशयः।

नायिकानायकभेदनिरूपणे देवेन प्राचीनाचार्याणां परम्परैवानुसृता, न तु पृथक्कल्पना कृता। सर्वप्रथमं स्वीया परकीया सामान्या चेति नायिकाविभागः कृतः। तत्र कुलशीलपरायणा पतिव्रता नायिका स्वीयोच्यते। मुग्धामध्याप्रगल्भाभेदात् स्वीया त्रिविधा। मुग्धा पञ्चविधा-मुग्धा, नववधू, नवयौवना, नवानङ्गरहस्या, लज्जाप्रायरतिका चेति। मध्या चतुर्विधा-आरूढयौवना, प्रादुर्भूतमनोभवा, सुप्रगल्भवचना, विचित्रसुरता चेति। प्रगल्भापि चतुर्विधा-लब्धपतिका, समस्तरतिकोविदा, कान्तप्रिया, सविभ्रमा चेति। मध्याप्रगल्भे श्रैङ्गारिकमानदृष्ट्या धीरा-धीरा-धीराधीरेति त्रिधा प्रोक्ते। इमे (मध्याप्रगल्भे) ज्येष्ठाकनिष्ठेऽपि सम्भवतः। सविधिपरिणीता

नायिकात्मीयैरूपादिगुणैर्नवोढेत्येव वा पत्युरधिकं प्रेम्णः पात्रत्वाज्ज्येष्ठोच्यते, न्यूनप्रेमपात्रतया च कनिष्ठेतिज्ञेयः। पतिव्रतधर्मविमुखा परपुरुषानुरागवती स्त्री परकीयोच्यते। इयं कन्या परोढा चेति द्विविधा। कविर्देवो द्वयोरपि परकीययोः सामान्यतः षड्भेदान्प्रदर्शितवान् - गुप्ता, वचनविदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयना, मुदिता चेति। सामान्या स्त्री केवलं धनमिच्छति। तत्कृते कस्यापि पुरुषस्य रूपयौवनादिगुणजातमनुपयोगि। इयमेकविधैव।

स्वीयापरकीयासामान्यासु प्रत्येकं गर्वितान्यरतिदुःखितामानिनीभेदात् त्रिविधाः प्रोक्ताः। प्रियस्यातिशय-प्रेमाधिगतेः स्वरूपातिशयवशाद्वा गर्वद्वहन्ती नायिका गर्वितोच्यते। प्रियेण साकमपरां कान्तां रममाणां वीक्ष्य विज्ञाय वा कथमपि दुःखमनुभवन्ती नायिकान्यरतिदुःखिता ज्ञेया। परस्त्रीविषयकानुरागज्ञानेन मानवती मानिनी मता। श्रृङ्गारिकावस्थादृष्ट्या प्रथिताः प्रोष्यत्पतिकाद्या अष्टौ भेदा अपि सोदाहरणं प्रदर्शिताः देवकविना।

नायकं प्रति नायिकानां प्रेम्णोव्यवहारदृष्ट्यापि कश्चिद्भेदः कृतोऽस्ति उत्तमा, मध्मा, अधमा चेति। तत्र प्रियस्य निश्चलं प्रेमाधिगत्यानधिगत्य वापि स्वभावतस्तत्परायणा तद्धितैषिणी नायिकोत्तमोच्यते। प्रियतमस्य प्रेम्णोऽनुरूपं समाचरन्ती स्त्री मध्यमोक्ता स्वभावतः कुटिलाचारपरा प्रियप्रतिकूलवृत्तरता व्यभिचारिणी नायिकाधमा ज्ञेया। तद्यथा -

अहिते हिते हितोत्तमा हिते हिता मध्या च।
अधमा स्यादहिता हित चलप्रीतिरोषा च॥[6]

इत्थं देवकविः संक्षेपेण नायिकाभेदान् प्रदर्श्य प्रथितांश्चतुरो नायकभेदाननुकूल-दक्ष-धृष्ट-शठाख्यान् सोदाहरणं प्रदर्शितान्। सोऽत्र नायिकानायकयोः प्रमुखान् सहायानपि निरूपयति। नायकस्य श्रृङ्गारिक-व्यापारविधौ त्रयो मुख्याः सहायाः-विट-विदूषक-पीठमर्दाः लक्षिता उदाहृताश्च। एतेषां सत्परामर्शेन प्रणयव्यापारे सफली भवन्ति नायका अतस्तेषां नर्मसचिवा इमे नायिकानामपि मुख्यतया सहकारिण्यौ सखीदूत्यौ चर्चितेऽत्र। पर्यन्ते दम्पत्योरन्योन्यदर्शनस्याभिव्यञ्जिकां सवैयां स्ववंशपरिचयेन सह ग्रन्थकर्तृताबोधिकां दोहां च विलिख्य ग्रन्थं समापयति कविर्देवः।

महाकविना देवेन हिन्दीसाहित्यस्य रीतिकालिकप्रवृत्त्यनुरूपं विलासप्रियसहृदयसमाजस्य प्रीत्यर्थं काव्यक्रियोन्मुखसुकविजनेभ्यः पाठ्यसामग्रीप्रस्तुतिकरणरूपहितकरणार्थञ्चेयं शृङ्गारविलासिनी विनिर्मिता। सेयं विलासिनी भाषायां सुप्रचलितानामष्टोत्तरशत (108) दोहा-सोरठा-छप्पय- सवैयाच्छन्दसां मुक्तामालया समलङ्कृतास्ते। सुललितपदाढ्यानां रसभावसान्द्रानां भाषाच्छन्दसां 300 वर्षपूर्वमैव संस्कृते प्रयोगकर्ता सम्भवतो महाकविर्देव आद्य आचार्योऽस्ति। समस्तानि लक्षणानि दोहाच्छन्दस्सु सर्वाण्युदाहरणानि सवैयाच्छन्दस्सु च लिखितानि। केवलं मङ्गलाचरणे छप्पयच्छन्दसः प्रौढाभेदप्रतिपादनप्रसङ्गे सोरठाच्छन्दसश्च प्रयोगः कृतः। देवेनास्य निर्माणे प्रायेण भानुदत्तप्रणीतो रसमञ्जरीग्रन्थ आदर्शीकृतः। प्रतिपाद्यविषयस्य चयने नायिकानायकभेदोपभेदप्रदर्शने लक्षणानां निरूपणे तदनुरूपोदाहरणप्रसङ्गे च सर्वत्र रसमञ्जर्याः प्रभावः परिलक्ष्यते। भानुकविना शृङ्गारालम्बनत्वेन नायिकाभेदो निरूपितः सोपज्ञोदाहरणानि च प्रस्तुतान्यतो देवेनापि स्वग्रन्थे तथैव कृतम्। भानुना लक्षणानि गद्येन लिखितानि देवेन दोहाच्छन्दसेति विशेषः। परन्तु तथा चातुर्येण यथा संक्षेपोऽपि भवेदभिप्रायश्चाप्यनभिहितो मा स्यादिति।

देवेन नायिका भेदप्रपञ्चप्रदर्शनमपि भानुदत्तानुसारि कृतम्। संक्षिप्तिस्तत्रावश्यं दृग्गोचरी भवति। यत्र भानुनानेके भेदाः कृतास्तत्र प्रमुखा एव देवेन प्रदर्शिताः। अनेकोदाहरणानि विहायैकमेव तत्प्रस्तुतम्। परकीयाभेदभूतगुप्ताया भानुनावृत्त-वर्त्तिष्यमाण-वृत्तवर्त्तिमाणसुरतगोपनेति भेदत्रयं प्रदर्श्योदाहरणत्रयं प्रस्तुतं परन्तु देवेनैको भेदस्तदुदाहरणञ्चाप्येकं कृतम्। भानुदत्तेन नायिकानामवस्थाजन्यानां वासकसज्जादीनां भेदानां प्रत्येकं मुग्धा-मध्या-प्रगल्भा-परकीया-सामान्येति पञ्च पञ्चोदाहरणानि प्रस्तुतानि। देवेन त्वेकोभेद एकमुदाहरणमिति

कृत्वा विस्तराद्विरम्यते।

सम्पूर्णारसमञ्जरी नायिकानायकभेदं प्रस्तौति। पर्यन्ते तत्र संक्षेपेण सात्त्विकानामभिधानं, शृङ्गारस्य लक्षणं, संयोगविप्रलम्भभेदः, विप्रलम्भस्य दशावस्थानां सोदाहरणं निरूपणं च कृतमस्ति। इमा दशावस्थाः प्रियतमदर्शनाभावे सम्भवन्ति दर्शनमपि स्वप्नचित्रसाक्षादिति त्रिविधमुपदिष्टम्। शृङ्गारविलासिन्यां देवस्तु ''दम्पत्योरन्योन्यदर्शनम्'' इति विषयमुदाहरन् सवैयाच्छन्दो लिखति -

चित्रपटेऽतिविचित्ररुचिः पटुरीक्षत एष विलासयुतः।
स्वापगतेन शुभे स्वरुचा बत येन जनो विदुषा विधुतः॥

गच्छति बालतमालतले करपूरितवेणुगभीर रुतः।
सैष युवा घननीलघनद्युतिर्मन्द गतिः सखि! नन्दसुतः॥7

रसमञ्जर्या उपरिचर्चितस्य स्वप्नचित्रसाक्षाद्दर्शनात्मकस्य प्रकरणस्य सारसंक्षेपोऽत्रावश्यमुपलभ्यते। अन्यथा शृङ्गारविलासिन्याः सवैयाच्छन्द इहाप्रासङ्गिकं स्यादिति। बोध्यम्।

शृङ्गारविलासिन्या उदाहरणभागोऽतितरामाकर्षकोऽस्ति। लक्षणानुरूपं निर्मितानि सवैयाच्छन्दांसि वस्तुतः संस्कृतसाहित्यस्य सूक्तिरत्नानि सन्ति। देवकवेरिहत्या सरसा मधुरा रचना हठाद्धरति चेतस्सचेतसाम्। यत्सत्यं प्रतिभाति यन्नायमालङ्कारिको देवः प्रत्युत रससिद्धः कविः, सोऽपि शृङ्गारी। नायिकानायकभेदनिरूपणन्तु पारम्परिकाभिधानमात्रमेव। वस्तुतो देवस्य कवित्वशक्तिप्रकाशिका उदाहरणभूता इमा मौलिकरचनास्तदीयजीवनस्य रागपक्षं प्रकाशयन्ति। अपूर्वमस्ति भावाभिव्यक्तिसामर्थ्यं तस्य अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यैरुपमा रूपकोत्प्रेक्षाद्यलङ्कारैरलङ्कृतया ललितया रचनया कविदेव प्रस्तुता सूक्ष्मातिसूक्ष्ममनोभावाः झटित्येव विशन्ति हृदयं सहृदयानाम्।

आलङ्कारिकग्रन्थेषूदाहृतानां पद्यानामुत्तरकालिकग्रन्थेषु यथावसरमादानस्याथवा स्वरचितोदाहरणप्रसङ्गे ततो भावानुहरणस्यातीवस्वच्छ परम्परोपलभ्यते। भानुदत्तेन रसमञ्जर्यां सोपज्ञोदाहरणानि प्रस्तुतानि तथापि तत्र तत्र पूर्वोदाहरणानां तत्परिगृहीता भावच्छाया स्पष्टमवलोक्यते। सुकविनादेवेनापि परम्परेयमनुसृता। अनुसरणेऽस्मिन् पूर्वदृष्टा अप्यर्था नवा इवाभान्ति। रसमञ्जर्यां रूपसौन्दर्यगर्वितयोः पृथगुदाहरणद्वयं विद्यते ययोर्भावच्छाया देवेनैकेनैव सवैयाच्छन्दसातितरां कौशलेनोपस्थापितास्ते। तद्यथा -

अन्यतरे रचयन्ति सदा निजदारतनौ किल भूषणवृन्दम्।[8]
कर्णयुगे कलयन्ति दृशोः समतां कमलेन सहैव सनन्दम्।
श्रीफलवत्कुचयोर्विसृजन्ति सकेसरसेकमपीदममन्दम्।
हे सखि! मत्तनुं द्रष्टुमना पतिराभरणं न ददाति हि शन्दम्॥[8]

रसमञ्जर्या रूपसौन्दर्यगर्वितयोरुदाहरणे क्रमतो यथा -

वपुषि तव तनोति रत्नभूषां,
प्रभुरिति धन्यतमासि किं ब्रवीमि।
सखि! तनुनयनान्तरालभीरुः,
कलयति नैव विभूषणानि कान्तः।
कलयति कमलोपमानक्ष्णोः,
प्रथयति वाचि सुधारसस्य साम्यम्।
सखि! कथय किमाचरामि कान्तः,
समजनि तत्र सहिष्णुतैव दोषः।[9]

एवमेव पतिमवमत्य पश्चात्परितप्यमानायाः कलहान्तरिवाया उदाहरणे रसमञ्जर्याः प्रभावोऽवलोक्यते। तद्यथा –

परितप्य पुनः पुनरेव धुनोति शिरो हृदि शोक उपाश्रयितः।
कथयत्युदिताश्रुरहो! कथमद्य बताभिमतोऽपि महानयितः।
किमकार्यावमानित ईहित सद्मनि यत्र जनः सततं लयितः।
प्रियवल्लभ एष विनष्टधिया स मया सखि निर्दयया दयितः॥[10]

रसमञ्जर्यां कलहान्तरिता यथा –

अकरोः किमु शोणिभाषां,
किमकार्षीः करपद्मतर्जनं वा।
कलहं किमधाः कुधा रसज्ञे,
हितमर्थं न विदन्ति दैवद्रष्टाः॥[11]

शृङ्गारमञ्जर्यां विदूषकोदाहरणं यथा –

आनयनाय चलन्नयनामचलन्नभिगम्य विनम्य शशास।
चाटुवचोभिरिहानयदाशु च गूढतया शयनाध उवास।
छद्म विधाय सुपद्मसुखीं परिरब्धुमना पतिराकुल आस।
चोर उपागत इत्यभिधाय च तौ सभयौ स निरीक्ष्य जहास॥[12]

रसमञ्जर्यां विदूषको यथा –

आनीय नीरजमुखीं शयनोपकण्ठ –
मुत्कण्ठितोऽस्मि कुचकञ्चुकमोचनाय।
अत्रान्तरे मुहुरकारि विदूषकेन,
प्रातस्तनस्तरुणकुक्कुटकण्ठनादः॥[13]

देवकविना साक्षादपि प्राचीनालङ्कारिकग्रन्थोदाहरणानां क्वचिद्भावच्छाया परिगृहीतास्ते। काव्यप्रकाशादिषु समुदाहृत्तस्यातिप्रसिद्धस्य ''निःशेषच्युतचन्दनमि''त्यादिपद्यस्यातीवरमणीयः संवादः शृङ्गारविलासिन्याः सुरतदुःखितोदाहरणेऽवलोक्यते। तद्यथा –

निर्गतकज्जलनेत्रयुगं परिमृष्टसुरागमुभोष्ठमवेहि।
धौतमहो किलकेसरसेकमुरोजतटे नखराणि निधेहि।
तन्वि! तवैव वपुः प्रतिभाति पुनः पुलकाङ्क्युतञ्च मुदेहि।
तत्कलयामि विगाढमये! सुखदेषु सरस्सु गता किमपेहि॥[14]

एवमेव दशरूपकादावुदाहृत्तेनामरुकशतकीयेन ''कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धनादि'' त्यादिपद्येन संवादं दधती शृङ्गारविलासिन्याः प्रोढोदाहरणभूता सवैया, यथा –

चुम्बनचाटुवचो मुखदानपरा परिरम्भ सप्रेमसदङ्का।
कामकलाकुशला सुरते कलकोमलकोकिलकूजितशङ्का॥
केलिचलद्द्युतिरिन्दुमुखी श्रमविन्दुविराजितचन्दनपङ्का।
मोहमिता न विवेद पुनः क्रियते किमिति क्व च कोऽयमहङ्का॥[15]

तदेवं नानासंवादस्थलानि द्रष्टुं शक्यन्ते परन्तु महाकवेर्देवस्य तत्र तत्राद्‌भुतकवित्वशक्ति संस्पर्शवशादवश्यं नूतनाह्लादकभावस्य दर्शनं जायते। यद्यपि परिमितानि सवैयाच्छन्दांसि देवस्य तथापि तान्येव संस्कृतसाहित्ये तदीयं गौरवं स्थापयितुमलं, नास्त्यत्र संशीतिलेशोऽपि। यत्सत्यन्तु संस्कृतस्यापि देवो महान् कविः।

सन्दर्भटिप्पण्यः

1. शृङ्गारविलासिनी, दोहा-108, विवेकप्रकाशन इलाहाबाद - 2006
2. द्रष्टव्य-भूमिका, हिन्दी साहित्य (द्वितीयखण्ड)
   सम्पादक - धीरेन्द्रवर्मा, ब्रजेश्वरवर्मा
   प्रकाशक - भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग एव हिन्दी साहित्यका इतिहास
   सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, पृ. 326-327
3. अधोऽङ्किता ग्रन्थतालिका क्वचिदेकत्र लिखिता नोपलभ्यते। हिन्दीसाहित्यस्यैतिह्यग्रन्थेभ्यः 72-75 ग्रन्थानां कर्ता देवस्तेषु त्रिंशदधिकाः ग्रन्था उपलभ्यन्तेऽन्ये विलुप्तप्राया इति ज्ञायते। मया पुनर्देवनाम्ना कथमपि तत्र तत्र स्मृतानां ग्रन्थानां संग्रहः कृतः। अत एव समुपलब्धानां प्रकाशिताप्रकाशितानामित्युक्तम्। संग्रहे शृङ्गारविलासिनी संस्कृतग्रन्थ इति निश्चितम्। अन्ये सम्भवतो भाषाग्रन्थाः सन्ति।
4. शृङ्गारविलासिनी दोहा - 4
5. यदि भरतादिनिरूपिताः ग्रन्था सन्त्यपि सन्तु
   सरसचमत्कृति मत्कृतिस्सुधियस्त्विह रसयन्तु।। तत्रैव दोहा - 3
6. तत्रैव दोहा - 100
7. तत्रैव, सवैया - 107
8. तत्रैव, दोहा - 65
9. रसमञ्जरी, उदाहरण संख्या - 34-35
10. शृङ्गार विलासिनी, सवैया - 81
11. रसमञ्जरी, उदाहरण - 51
12. शृङ्गारविलासिनी, सवैया - 99
13. रसमञ्जरी, उदाहरण - 119
14. शृङ्गारविलासिनी, सवैया - 67
15. तत्रैव, सवैया - 33

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. हिन्दीसाहित्य - द्वितीयखण्ड, सम्पा. - धीरेन्द्रवर्मा-ब्रजेश्वरवर्मा प्रकाशक भारतीय साहित्य परिषद्, प्रयाग
2. हिन्दीसाहित्य का इतिहास, सम्पादक - डॉ. नगेन्द्र
3. शृङ्गारविलासिनी - देवदत्त "देव" प्रणीता सम्पादक/अनुवादक - डॉ. विश्वम्भर नाथ गिरि
   विवेकप्रकाशन, इलाहाबाद - 2006
4. रसमञ्जरी With 'PARIMALA' and 'RASAMODA', (Commentaries), Edited by Ram Suresh Tripathi, VIVEKA - Pubications, ALIGARH, First adition - 1981.

डा. विश्वम्भरनाथ गिरिः

प्रवाचकः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम, गंगानाथ-झा-परिसरः, इलाहाबाद



ऋतु-पादप सम्बन्ध
कालिदास-की कृतियों के सन्दर्भ में

बीना मिश्रा

वृक्षों और ऋतुओं का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। वृक्षों को, पुष्पों को देखकर ऋतु का अन्दाजा सहज ही लगाया जा सकता है। किस ऋतु में कौन सा वृक्ष, फल, पुष्पादि उत्पन्न होते है, उन-उन वृक्षों के पर्याय क्या हैं, उनके औषधीय गुणकर्म क्या हैं इन सभी का विवेचन इस शोध-पत्र में किया गया है।

गत्यर्थक 'ऋ' धातु से 'ऋतु' शब्द बनता है। 'ऋतुरर्तेर्गतिकर्मण:' गतिकर्मण: गत्यर्थे वर्तमानस्य अर्ते: 'ऋधातो:' (भ्वा. प.) 'अर्तेश्चेति तुश्चात्कित्त्वम् तेन गुणभाव:'। 'ऋतुर्मासि वसन्तादौ धीरे स्त्रीकुसुमेऽपि च'। इति धरणि:।[1] जिसका सामान्य लक्षण है 'काल'। यह 'ऋतु' संवत्सर रूपी चक्र की 'नाभि' है। सतत् घूमने वाला संवत्सर-चक्र तीन-नाभियों से युक्त है, जिसमें सारा संसार स्थित है-''त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थु:।''[2] घूमने वाले उस बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् और हेमन्त रूपी पाँच आरो वाले संवत्सर-चक्र में यह सारा संसार स्थित है। ब्राह्मणकार का कहना है कि संवत्सर में पाँच ऋतुएँ होती हैं। हेमन्त और शिशिर को मिला देने से छ: ऋतु रूपी आरे हैं-''पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने'' (ऋग्वेद 1.164. 12) इति पञ्चर्तुतया। पञ्चर्तव: संवत्सरस्य। इति च ब्राह्मणम्। हेमन्त-शिशिरयो: समासेन। ''षडर आहुरर्पितम्'' (ऋग्वेद 1. 164. 12) इति षड्ऋतुतया। 'अरा प्रत्यृता नाभौ। षट् पुन: सहते:।'[3] इस संवत्सर-चक्र में बारह मास रूपी बारह आरे जुड़े है-''द्वादशारं''[4] ये बारह मास चन्द्र एवं सूर्य के द्वारा दो अयनों में विभक्त है- 'दक्षिणायन' तथा 'उत्तरायन'। दक्षिणायन में वर्षा, शरद् और हेमन्त तीन ऋतुयें होती हैं। क्योंकि चन्द्र तेज: पुञ्ज हो जाते हैं इसी से अम्ल, लवण और मधुर तीन रसों की औषधि विशेष रूप से उत्पत्र होती है, प्राणिमात्र क्रमश: बलवान् बनने लगते हैं। उत्तरायण में शिशिर, बसन्त और ग्रीष्म का आगमन होता है। क्योंकि सूर्य तेज: पुञ्ज हो जाते हैं इसी से कटु, कषाय और तिक्त तीन रसों का बल बढ़ता है और प्राणियों का पराक्रम क्रमश: घटता है। आयुर्वेदाचार्य सुश्रुत के मतानुसार शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् और हेमन्त छ: ऋतुयें होती है। द्वादश मास के मध्य माघ-फाल्गुन=शिशिर, चैत्र-वैशाख=वसन्त, ज्येष्ठ-आषाढ=ग्रीष्म, श्रावण-भाद्र=वर्षा, आश्विन्-कार्तिक=शरद् तथा अग्रहायण-पौष=हेमन्त हैं।[5]

इन ऋतुओं के परिवर्तन का सीधा प्रभाव प्रकृति पर पड़ता है जिससे वृक्ष-लतादि को देखकर यह सहज की अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय कौन सी ऋतु बीत चुकी है और कौन सी ऋतु विद्यमान है अथवा कौन सी ऋतु आने वाली है। इस प्रकार वृक्षादि ऋतु के आगमन तथा समाप्ति के सच्चे सूचक होते हैं। वृक्षों या लताओं का बढ़ना, पल्लवित होना, पुष्पित होना, फलयुक्त होना, पत्ते झड़ना आदि सभी परिवर्तन ऋतु के अनुसार ही होते हैं। जिस ऋतु में जो वृक्ष या लता होती है वह उस ऋतु के गुणधर्म के अनुरूप ही होती है तथा उन वृक्षों के पत्ते, फूल, फल आदि का उस ऋतु में विशेष महत्व होता

है। ऋतु के अनुसार ही वृक्षों के बीज का वपन, वृक्ष या लतादि का रोपण तथा उनके सिंचन के काल का निर्धारण होता है। हमारे मनीषियों ने ऋतु और पादपों के सम्बन्ध में गहन चिन्तन किया है, जिसका वर्णन हमें संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त होता है। इससे सम्बन्धित कुछ विधानों का वर्णन निम्नलिखित है–

वृक्षारोपण विधान – शार्ङ्धर-पद्धति ग्रन्थ के ''वृक्षायुर्वेदाध्याय'' प्रकरण के अन्तर्गत इस विधान का वर्णन प्राप्त होता है–

''आषाढे श्रावणे मासि बीजावपनरोपणे।
ग्रीष्मादन्यत्र वल्लीनां केचिदिच्छन्ति रोपणम्॥''[6]

अर्थात् बीज वपन आषाढ़ तथा श्रावण मास में करना चाहिये, कुछ लोग लताओं का रोपण ग्रीष्म ऋतु से अन्य ऋतु में करते हैं।

वराहमिहिर के बृहत्संहिता ग्रन्थ के वृक्षायुर्वेदाध्याय प्रकरण के अनुसार–

''अजातशाखान् शिशिरे जातशाखान् हिमागमे।
वर्षागमे च सुस्कन्धान् यथादिक्स्थान्प्ररोपयेत्॥''

अर्थात् – जिस वृक्ष में लता अंकुर न हो उसको शिशिर ऋतु में लगाना चाहिये। जिसमें शाखादि हो उनको हेमन्त ऋतु में लगाना चाहिए। महाशाखा युक्त वृक्षों को वर्षा ऋतु में लगाना चाहिए।

वृक्षों के रोपण में नक्षत्रों की स्थिति पर भी विचार किया गया है–

''ध्रुवमृदुमूलविशाखा गुरुभ श्रवणस्तथाश्विनी हस्तः॥
उक्तानि दिव्यदृग्भिः पादपसंरोपणे भानि॥''[7]

तथा –

लतागुल्मवृक्षरोपो हस्तपुष्याश्विनी ध्रुवैः।
विशाखा-मृग-मूलाह्व-वारूणैश्च प्रशस्यते॥[8]

बृहस्पति के अनुसार –

सोमवारयुते मूले चापलग्ने मताद्रुमान्।
स्थापयेज्जीवलग्ने च रेवत्यां गुरुवासरे॥[9]

निषेचनविधि –

वृक्षों के सिञ्चन में ऋतु के अनुसार काल का निर्धारण किया गया है–

हेमन्ते शिशिरे देयं जलं चैकान्तरे दिने।
वसन्ते प्रत्यहं ग्रीष्मे सायंप्रातर्निषेचनम्॥[10]

वर्षासु च शरत्काले यदा वृष्टिर्न दृश्यते।
तदा देयं तज्ज्ञैरालवाले महीरुहाम्॥[11]

तथा –

''अशोकः कदली जम्बूस्तथा बकुलदाडिमाः।
सायं प्रातस्तु घर्मर्त्तौ शीतकाले दिनान्तरे॥''[12]

वर्षारात्रौ भुवः शोषे सेक्तव्या रोपिता द्रुमाः।[13]

''सायं प्रातस्तु घर्मान्ते शीतकाले दिनान्तरे।
वसन्ते पञ्चमेऽह्नस्तु सेव्या वर्षासु नक्वचित्॥''[14]

ऋतु एवं काल के अनुसार वृक्षों की परिचर्या से वृक्षादि स्वस्थ एवं पत्र, पुष्प, फलादि से युक्त होते हैं क्योंकि ऋतु का प्रभाव वृक्षों पर पड़ता है। शीतवायु तथा धूप से वृक्षों में रोग पैदा होते हैं, वृक्षों के पत्ते पीले पड़ जाते हैं और वे सूखकर झड़ जाते हैं–

''शीतवातातपै रोगो जायते पाण्डुपत्रता।
अवृद्धिश्च प्रवालानां शाखाशोषो रसस्रुतिः॥''[15]

उक्त विधियों के अतिरिक्त भी संस्कृत वाङ्मय ऋतुओं एवं उनमें उत्पन्न होने वाले वृक्षों, लताओं एवं पुष्पादिकों के वर्णन से भरा पड़ा है। महाकवि कालिदास ने अपनी कृति ऋतुसंहार में षड्ऋतुओं (ग्रीष्म, प्रावृट्, शरद्, हेमन्त, शिशिर एवं वसन्त) का बड़ा ही सुन्दर क्रमिक सरल एवं सरस चित्रण छः सर्गों में किया है तथा प्रत्येक ऋतु में उत्पन्न होने वाले वृक्षों, लताओं, पुष्पादिकों का वर्णन एवं दैनिक जीवन में उनके प्रयोगों का वर्णन प्राप्त होता है। ऋतुसंहार के इसी ऋतुक्रम को आधार बनाते हुये कालिदास के अन्य ग्रन्थों में वर्णित वृक्ष, पुष्पादिकों का ऋतुओं से सम्बन्ध का विवेचन संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

ग्रीष्मऋतु

''ग्रीष्मःग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः''।[16] इसमें रस जल सूख जाते हैं अतः ग्रीष्म नाम पड़ा। सूर्य का ताप प्रचण्ड होता है–''प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः........निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये।''[17] वसन्त ऋतु के बाद ग्रीष्म ऋतु आती है जिसमें सूर्य की उपासना का विधान है–''वसन्तानन्तरमुष्णसमये भगवान् सूर्यो मया उपचरितव्यः।''[18] वृक्ष पत्रविहीन हो जाते हैं–''शीर्णपर्णद्रुमस्थः''[19] माधवी लता के पत्र गर्म वायु से मुरझा जाते हैं–''पत्राणमिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी।''[20] रक्त कदम्ब का वृक्ष ग्रीष्म ऋतु की समाप्ति का सूचक है–''रक्तकदम्ब सोऽयं प्रियया घर्मान्तशंसि यस्यैकम्।''[21] धूप में तपे हुये को वृक्ष की छाया विशेष शान्ति देती है–''तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः।''[22] गरमी के कारण वृक्षों की छाया भी छिन्न-भिन्न हो गई है–''ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु''[23]। शिरीष वृक्ष में पुष्प आ जाते हैं–''शिरीषकुसुमानि''[24]। सूर्य के ताप से अत्यन्त व्याकुल शरीर पर उशीर (खस) का लेपन तथा कमलपत्र भी शरीर को शीतलता प्रदान करता है–''उशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि......आतपलङ्घनाद्बलवदस्वस्था शकुन्तला तस्याः शरीर-निर्वापणायेति''[25], उग्र गर्मी में लताकुञ्जों का आश्रय लिया जाता है - ''इमामुग्रातप बेलां..........लतावलयवत्सु'' अरविन्द की सुरभि बेंतो से घिरे लतामण्डप तथा कमलिनीपत्र की हवा सुख प्रदान करती है–''अरविन्द सुरभिः.......वेतसपरिक्षिप्ते लतामण्डपे........कमलिनीपत्रवातः सुखयति।''[26] ग्रीष्म ऋतु का प्रमुख पुष्प शिरीष एवं शाल्मली वृक्ष का उल्लेख कालिदास ने ऋतुसंहार में किया है।

शिरीष – इस वृक्ष का पुष्प ग्रीष्म ऋतु में खिलता है। यह सुकुमारता का नमूना समझा जाता है– ''शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः''[27]। तथा ''पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्त्रिणः[28]। शिरीष पुष्प का कर्णाभूषण के लिये प्रयोग किया जाता था–''कर्णे चारु शिरीषम्''[29] इसका वानस्पतिक नाम है Albizzia Lebbeck Benth. तथा हिन्दी में इसे सिरिस भी कहते हैं। धन्वन्तरि निघण्टु में इसके पर्याय तथा गुणकर्म का विवेचन किया गया है–

''शिरीषो मृदुपुष्पश्च भण्डिकः शङ्खिनीफलः।
कपीतनः शुकतरुः श्यामवर्णः शुकप्रियः॥''[30]

यह तिक्त, उष्ण, विषहारी, कुष्ठ तथा श्वासकास को हरता है–

''तिक्तोषणो विषहा वर्ण्यस्त्रिदोषशमनो लघुः।
शिरीषः कुष्ठकण्डूघ्नस्त्वग्दोषश्वासकासहा॥''[31]

शाल्मली – इसका वानस्पतिक नाम Bombax Malabaricum है तथा हिन्दी में सेमर या सेमल कहा जाता है। बहुत गर्मी पड़ने से इसके वृक्षों की डालियों के पत्ते पीले होकर झड़ते जाते है– ''बहुतर इव जातः शाल्मलीनां द्रुमाणां....।''[32] शाल्मली के गुणकर्म निम्न हैं–

''शाल्मली शीतला स्निग्धा शुक्रश्लेष्मविवर्धिनी।
कषायस्तद्रसो ग्राही पुष्पं तद्वत्तथा फलम्॥''[33]

इसके पर्याय निम्न हैं–

''शाल्मली रक्तपुष्पा तु कुक्कुटी चिरजीविका।
पिच्छिला चूलिनी मोचा कण्टकाढ्या सुपूरणी॥''[34]

वर्षाऋतु

''वर्षा वर्षत्यासु पर्जन्यः'' इनमें बादल बरसता है अतः वर्षा नाम पड़ा।[35] इस ऋतु में सूर्य दक्षिणायन होते हैं। पश्चिम दिशा से वायु बहती है जिससे मेघ आकृष्ट होकर आकाशमण्डल को घेरते हैं। पेड़ो और लताओं की सच्ची सखी वर्षा ऋतु है–''तरुविटपलतानां बान्धवो''[36] फूलों के बोझ से झुके हुये पेड़–''कुसुमभरनतानां लासकः पादपानाम्''[37] तथा कमल पत्रपुष्प विहीन ''विपत्रपुष्पां नलिनीं''[38] हो जाते हैं। इस ऋतु का आगमन एक राजा की भाँति होता है–

''ससीकराम्भोधरमत्तकुञ्जरः....... समागतो राजवत्...''[39]। कदम्ब, सर्ज, अर्जुन, केतकी आदि वृक्षों की शोभा इस ऋतु में ही बढ़ती है।

कदम्ब – नये वर्षा के जल से गर्मी दूर हो जाने पर कदम्ब के खिले हुये पुष्पों से सारा जंगल मगन हो जाता है–''कदम्बसर्जार्जुनकेतकीवनं विकम्पयस्तत्कुसुमाधिवासितः। ससीकराम्भोधरसङ्गशीतलः समीरणः कं न करोति सोत्सुकम्।''[40] ''मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः.........नवसलिलनिषेकच्छिन्नतापो वनान्तः॥''[41] बादलों की गरज के साथ इसकी कलियों का खिलना प्रसिद्ध है। कदम्ब के फूलों से कर्णफूल वर्षा काल मानो बना रहा है–''कर्णपूरं वधूनां रचयति जलदौघः।''[42] कदम्ब के नये फूलों की मालायें गूँथकर स्त्रियाँ जूड़ों में बाँध ती है–''मालाः कदम्बः.....शिरसि बिभ्रति योषितोऽद्य।''[43] इस वृक्ष का वानस्पतिक लैटिन नाम Anthocephalus Cadamba है। इसके पर्याय निम्न है–

''कदम्बो वृत्तपुष्पश्च सुरभिर्ललनाप्रियः।
कादम्बर्यः सिन्धुष्पो मदाढ्यः कर्णपूरकः॥''[44]

यह दो प्रकार का होता एक–धाराकदम्ब दूसरा–धूलिकदम्ब। धाराकदम्ब के पर्याय हैं–

''धाराकदम्बः प्रावृष्यः कादम्बर्यो हरिप्रियः।''

तथा धूलिकदम्ब के पर्याय हैं–

''नीपो धूलिकदम्बो सुवासो वृत्तपुष्पकः।''[45]

धाराकदम्ब के पुष्प वर्षाकाल में आते हैं तथा धूलिकदम्ब के पुष्प ग्रीष्म में आते हैं। इसका लैटिन नाम Mitragyna Parviflora है। कदम्ब के गुणकर्म इस प्रकार हैं–

कदम्ब रस में कषाय, शीतवीर्य, व्रणरोपण, कास, दाह और विष को नष्ट करने की क्षमता होती हैं–

''कदम्बस्तु कषायः स्याद् रसे शीतो गुणेऽपि च।
व्रणसंरोहणश्चापि कासदाहविषापहः॥''[46]

धन्वन्तरि निघण्टु में धूलिकदम्ब को ही नीप वृक्ष कहा है जिसका उल्लेख कालिदास ने भी किया है–

''कदम्बकुटजार्जुनसर्जनीपान्।''[47] यहाँ कदम्ब का अर्थ धाराकदम्ब तथा नीप का अर्थ धूलिकदम्ब हो सकता है।

सर्ज – सर्ज वृक्ष के फूलों की सुगन्ध से भरी वायु वर्षाऋतु में ही बहती है। कदम्ब, अर्जुन तथा केतकी के वनों के साथ सर्ज के वृक्षों का उल्लेख किया गया है–

''कदम्बसर्जार्जुनकेतकीवनम्।''[48] इसके पर्याय निम्न हैं–

''सर्जको बस्तकर्णश्च कषायश्चरीपत्रकः।
सस्यसंवरकः शूरः सर्जोऽन्यः शाल उच्यते।''[49]

धन्वन्तरि ने इसके तीन प्रकार गिनाये हैं–

1. सर्ज = Veteria Indica Linn. (हिन्दी में) अजकर्ण।

2. अश्वकर्ण = Dipterocarpus alatus Roxb. (हिन्दी में) गर्जन।

3. शालः = Shorea robusta Gaertn. (हिन्दी में) साखू।

सर्ज के गुणकर्म इस प्रकार हैं–

''कुष्ठकण्डूकृमिश्लेष्मवातपित्तरुजो जयेत्।
सर्जयुग्मं कषायं स्याद् वर्ण्यरूक्षं कफापहम्॥[50]

अर्जुन – इस वृक्ष के फूलों की सुगन्ध वर्षा ऋतु में वायु के साथ सारे वातावरण को सुगन्धित करती है। इसके पुष्पों का प्रयोग तथा मञ्जरियों का प्रयोग कर्णावतंस के रूप में किया जाता है–''कर्णान्तरेषु ककुभद्रुममञ्जरीभिरिच्छानुकूलरचितानवतंसकाँश्च''।[51]

इसका वानस्पतिक नाम Terminialia Arjuna तथा हिन्दी में काहू, कहुआ नाम भी प्रचलित है। धन्वन्तरि निघण्टु में इसके पयार्य इस प्रकार हैं–

''अर्जुनः ककुभः पार्थश्चित्रयोधी धनञ्जयः।
वीरान्तकः किरीटी च नदीसर्जोऽपि पाण्डवः॥[52]

इसके गुणकर्म इस प्रकार हैं–

''ककुभस्तु कषायोष्णः कफघ्नो व्रणनाशनः।
पित्तश्रमतृषार्तिघ्नो मारुतामयकोपनः॥[53]

केतकी – वर्षा ऋतु में केतकी में उजली कलियाँ आ जाती है–''हसितमिव विधत्ते सूचिभिः केतकीनां नवसलिलनिषेकच्छिन्नतापो वनान्तः।''[54] वर्षा के नये जल की फुहारें केतकी के फूलों का पराग लेकर चारों ओर मनभावनी सुगन्ध फैला रही है–

''नवजलकणसङ्गाच्छीततामादधानः कुसुमभरनतानां लासकः पादपानाम्।
जनितरुचिरगन्धः केतकीनां रजोभिः परिहरति नभस्वान्प्रोषितानां मनांसि॥''[55]

कदम्ब, सर्ज, अर्जुन के साथ ही केतकी के वनों के पुष्पों की सुगन्ध को वर्षा ऋतु की हवा चारों ओर फैलाती है–

''कदम्बसर्जार्जुनकेतकीवनं विकम्पयँस्तत्कुसुमाधिवासितः।''[56]

इसके फूलों की मालायें गूँथकर स्त्रियाँ अपने जूड़ों में बाँध रही हैं–

''मालाः कदम्बनवकेसरकेतकीभिरायोजिताः शिरसि बिभ्रति योषितोऽद्य।''[57]

बकुल – इसे हिन्दी में मौलसिरी तथा लैटिन भाषा में Mlmusops elengi कहते हैं। कहा जाता है कि तरुणियों द्वारा मदिरा का गण्डूष छिड़कने पर इसमें मञ्जरी निकल जाती है और पुष्प की सुगन्धि स्त्रियों के मुख की मदिरा के समान ही होती है –

''सुवदनावदनासवसंभृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः।
मुधकरैरकरोन्मधुलोलुपैर्बकुलमाकुलमायतपंक्तिभिः॥[58]

बकुल के पुष्पों की माला का उल्लेख किया है–

''शिरसि बकुलमालां मालतीभिः समेतां विकसितनवपुष्पैर्यूथिकाकुड्मलैश्च''।[59]

इसके पर्याय इस प्रकार हैं–

''बकुलः सीधुगन्धश्च मद्यगन्धो विशारदः।
मधुगन्धो गूढपुष्पः शीर्षकेशरकस्तथा।''[60]

इसके पुष्पों एवं फलों का गुणकर्म इस प्रकार वर्णित है–

''मधुरं च कषायं च स्निग्धं संग्राहि बाकुलम्।
स्थिरीकरं च दन्तानां विशदं तत्फलं गुरु॥''[61]

मालती – वर्षा ऋतु के नवीन जलकणों को प्राप्त कर मालती की कलियाँ स्वस्थ हो जाती हैं–''प्रत्याश्वस्तां सम अभिनवैर्जालकैर्मालतीनां।''[62] मालती के पुष्प श्वेतवर्ण के होते हैं– ''दन्तावभासविशदस्मितचन्द्रकान्तिं ....।''[63] श्वेत पुष्पों से उपवन श्वेतवर्ण का हो जाता है–

''शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः''।[64] इसके पुष्पों की माला को स्त्रियाँ अपने काले बालों में धारण करती हैं–

''केशान्नितान्तघननीलविकुञ्चिताग्रानापूरयन्ति वनिता नवमालतीभिः।''[65] मालती को हिन्दी में चमेली तथा लैटिन भाषा में Jasminum grandiflorum कहते हैं।

मालती के पर्याय निम्न हैं–

''जाती मनोज्ञा सुमना राजपुत्री प्रियंवदा।
मालती हृद्यगन्धा च चेतकी तैलभाविनी॥''[66]

मालती कफ-पित्त, मुखरोग, व्रण तथा कुष्टरोग को नष्ट करती है। इसकी कलिका नेत्र के लिए हितकर है।

> "मालती कफपित्तास्यरुक् पाकव्रणकुष्ठजित्।
> चक्षुष्यो मुकुलस्तस्यास्तत्पुष्पं कफपित्तजित्।।"[67]

शरद्ऋतु

वर्षा ऋतु बीत जाने पर शरद् ऋतु बादलों से चाँदनीं छीन लेती है–"वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दो:"।[68] कालिदास ने शरद् ऋतु को नववधू के समान कहा है–"प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या"।[69] प्रकृति में सर्वत्र शुक्ल वर्ण छा जाता है। वृक्ष फूलों के भार से झुक जाते हैं। "कुसुमभारनतैर्वनान्ता:"[70] कॉस की झाड़ियों से, छतिवन के पुष्पों से, मालती के फूलों से उपवन श्वेत हो गये है–"शुक्लीकृतान्युपवनानि।"[71] कदम्ब, कुटज, अर्जुन, सर्ज और अशोक के वृक्षों की शोभा छतिवन के पेड़ पर चली गई है– "मुक्त्वा कदम्बकुटजार्जुनसर्जनीपान्सप्तच्छदानुपगता कुसुमोद्गमश्री:।"[72] शेफालिका के पुष्पों की सुगन्ध चारों ओर फैली है–"शेफालिकाकुसुमगन्धमनोहराणि"।[73] कह्लार, पद्म तथा कुमुद के पत्रों पर ओस की बूँदे पड़ी रहती है– "कह्लारपद्मकुमुदानि...पत्रान्तलग्नतुहिनाम्बुविधूयमान:।"[74] बेलों की टहनियाँ फलों के बोझ से झुक गई है–"श्यामालता: कुसुमभारनतप्रवाला:" तथा "कंकेलि व मालती के पुष्प खिल गये हैं– "कंकेलिपुष्परुचिरा नवमालती च।"[75] शरद् काल में सूर्य की किरणें प्रखर होती है सम्पूर्ण पृथ्वी सूख जाती है तथा सरोवर में पद्म कुसुमादि खिलते हैं। इस ऋतु के वृक्षों, पुष्पों तथा लताओं का उल्लेख कुछ इस प्रकार प्राप्त होता है–

कुमुद – सफेद कुमुदिनी जिसे कहते हैं कि चन्द्रोदय के समय खिलती है, चन्द्र की किरणों से खिलने वाला कुमुद सूर्य की किरणों से नहीं खिलता – "नोच्छ्वसिति तपनकिरणैश्चन्द्रस्यैवांशुभि: कुमुदम्।"[76] तथा–"कुमुदान्येव शशाङ्क: सविता वोधयति पङ्कजान्येव"[77] श्वेत एवं शीतल कुमुद को छूने से पवन भी शीतल हो गई है–

> "कह्लारपद्मकुमुदानि मुहुर्विधुन्वँस्तत्संगमादधिकशीतलतामुपेत:।
> उत्कण्ठयत्यतितरां पवन: प्रभाते पत्रान्तलग्नतुहिनाम्बुविधूयमान:।।"[78]

धन्वन्तरि निघण्टु में इसके पर्यायों का उल्लेख मिलता है–

> "कुमुदं श्वेतजलमब्जमम्भोजमम्बुजम्।
> पङ्कजं चारविन्दं च कह्लारं च कुशेशयम्।।"[79]

इसके गुणकर्म का उल्लेख भी यहीं किया गया है–

> "कुमुदं शीतलं स्वादु पाके तिक्तं कफापहम्।
> रक्तदोषहरं दाहश्रमपित्तप्रशान्तिकृत्।।"[80]

सप्तच्छद – यह एक घनी छाया वाला वृक्ष है–"प्रच्छाय-शीतलायां सप्तवर्णवेदिकायां"।[81] इसके पुष्प श्वेत वर्ण के होते हैं–"सप्तच्छदै: कुसुमभारनतैर्वनान्ता : शुक्लीकृतान्युपवननि च मालतीभि:"।[82] वर्षाऋतु के वृक्षों के पुष्पों की शोभा सप्रच्छद के पुष्पों में आ जाती है – "सप्तच्छदानुपगता कुसुमोद्गमश्री:।"[83] छितवन के दूध की गन्ध कटु अर्थात् कसैली होती है–"सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहमसह्यमाघ्राय"[84]। इस वृक्ष का वानस्पतिक नाम Alstonia Scholaris तथा हिन्दी में सतौना, सतवन, छतिवन तथा सप्तवर्ण है। इसके अन्य पर्याय निम्न है–

''सप्तवर्णः शुक्तिपर्णच्छत्रपूर्णः सुपर्णकः।
सप्तच्छदो गूढपुष्पस्तथा शाल्मलिपत्रकः॥''[85]

इसके गुणकर्म इस प्रकार हैं–

''त्रिदोषशमनो हृद्यः सुरभिर्दीपनः सरः।
शूलगुल्मकृमीन् कुष्ठं हन्ति शाल्मलिपत्रकः॥''[86]

कोविदार – इस वृक्ष पर पुष्प अधिक मात्रा में खिलते हैं, इसके पुष्प चित्ताकर्षक होते हैं–

''मन्दानिलाकुलितचारुतराग्रशाखः पुष्पोद्गमप्रचयकोमलपल्लवाग्रः।
मत्तद्विरेफपरिपीतमधुप्रसेकश्चित्तं विदारयति कस्य न कोविदारः॥''[87]

इस वृक्ष को हिन्दी में कोइलार तथा कचनार भी कहते हैं। वानस्पतिक नाम है Bauhinia Purpurea। इसके पयार्य हैं–

''कोविदारोऽथ कुद्दालः कुम्भारः कुण्डली कुली।
ताम्रपुष्पश्चमरिको महायमलपत्रकः॥''[88]

इसके गुणकर्म इस प्रकार है–

''कोविदारः कषायस्तु संग्राही व्रणरोपणः।
गण्डमालागुदभ्रंशशमनः कुष्ठकेशहा॥''[89]

शेफालिका – शरद् ऋतु के इस पौधे के पुष्पगन्ध मनोहर होती है–''शेफालिकाकुसुमगन्ध-मनोहराणि।''[90] धन्वन्तरि ने इसे एक प्रकार की निर्गुण्डी कहा है–

''शेफालिकाऽन्या निर्गुण्डी वनजा नीलमञ्जरी।
कृष्णसंज्ञो विषघ्नश्च पवित्रो गिरिसिन्दुकः॥''

शुक्लाऽन्या श्वेतसुरसा भूतकेशी च कथ्यते॥[91]

इस प्रकार शेफालिका कृष्णपुष्पा तथा शुक्लपुष्पा भेद से दो प्रकार की होती है।

हेमन्त-ऋतु

हेमन्तो हिमवान् भवति, हिमयुक्त होने से हेमन्त नाम पड़ा। ''हिमं पुनर्हन्तेर्वा हिनोतेर्वा।'' ''हन्'' धातु से हिम बनता है क्योंकि यह औषध और वनस्पतियों को मारता है– **''हन्तेः हिंसार्थस्य हिमं तदौषधिवनस्पतीन्हन्ति।''[92]** इस ऋतु में उत्तर दिशा से शीतल वायु चलती है। कालिदास ने इस ऋतु का वर्णन इस प्रकार किया है–

''नवप्रवालोद्गमसस्यरम्यः प्रफुल्ललोध्रः परिपक्वशालिः।
विलीनपद्मः प्रपतत्तुषारो हेमन्तकाल : समुपागतोऽयम्॥[93]

तुषार के कारण हिमयुक्त हो जाती है यह ऋतु–

''विनिपतिततुषारः.....हिमयुक्तः काल एषः ....''॥[94]

इस ऋतु में लोध्र के वृक्ष फूलों से लद जाते हैं। प्रियङ्गु की लता पाले के कारण पीली हो जाती है।

लोध्र – लोध्र के वृक्ष फूलों से लद जाते हैं। इस वृक्ष के पुष्प पीत वर्ण के होते हैं–

''लोध्रपाण्डुना''[95] तथा इसके पुष्प के पराग को मुख पर मलकर मुख को गोरा किया जाता है–''नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः''[96]। धन्वन्तरि ने इसके पर्याय निम्न बताये हैं–

''लोध्रो रोध्रः शाबरकस्तिल्वकस्तिलस्तरुः।
तिरीटकः काण्डहीनो भिल्ली शम्बरपादपः॥''[97]

इसके गुण निम्न हैं–

''लोध्रः शीतः कषायश्च हन्ति तृष्णामरोचकम्।
विषविध्वंसनः प्रोक्तो रूक्षो ग्राही कफापहः॥[98]

प्रियङ्गु– यह एक लता है। कहते हैं कि यह लता स्त्रियों के स्पर्श मात्र से खिल उठती है–''स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति।'' तुषार के कारण यह लता पीली पड़ जाती है –

''पाकं व्रजन्ती हिमजात-शीतैराधूयमाना सततं मरुद्भिः।
प्रिये प्रियङ्गुः प्रियविप्रयुक्ता विपाण्डुतां याति विलासिनीव।''[99]

प्रियङ्ग. की लता आम के वृक्ष से लिपटी है–''मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ।''[100] इसका वानस्पतिक नाम (callicarka Macrophylla) है। इसके पर्याय निम्न हैं–

''प्रियङ्गु प्रियवल्ली च फलिनी कङ्गुनी प्रिया।
वृत्ता गोवन्दनी श्यामा कारम्भा वर्णभेदनी॥''[101]

प्रियङ्गु शीतवीर्य, तिक्त है–

''प्रियङ्गु शीतला तिक्ता मोहदाहविनाशिनी।
ज्वरवान्तिहरा रक्तमुद्रिक्तं च प्रसादयेत्॥''[102]

शिशिरऋतु

इस ऋतु में घने तुषार के कारण वृक्षों के पत्र पुष्पादि नष्ट हो जाते हैं। घनी ओस से वायु अत्यधिक शीतल हो जाती है– ''वायवः सान्द्रतुषारशीतला।''[103] इस ऋतु में धान और ईख के खेत लहलहा उठते हैं– ''प्ररूढशालीक्षुचयावृतक्षितिं।''[104] इस ऋतु में होने वाले वृक्षलतादि का वर्णन कालिदास ने अत्यल्प किया है।

वसन्त ऋतु

शिशिर ऋतु के बाद वसन्त ऋतु आती है। वसन्त के आते ही सब वृक्ष फूलों से लद जाते हैं–''द्रुमाः सपुष्पाः''[105], आम की मञ्जरी अपना पराग प्रकट करते हैं तथा कुरबक के वृक्ष में फूल लगते हैं, पलाश के वृक्षों में कलियाँ निकल आती हैं–

''उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके।''[106] वसन्तागमन के क्रम में पहले फूल खिलते हैं, फिर नयी कोपलें फूटती हैं फिर भौरो की गूँज और कोयल की कूक सुनाई पड़ती है–''कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।''[107] वसन्तागमन के सूचक अशोक के वृक्ष–''सर्वाशोकतरूणां प्रथमं सूचितवसन्तविभवानाम्।''[108] कुसुमित नवकुरबक तथा आम्रमञ्जरियों की गंध से वसन्तागमन की सूचना हो जाती है–''प्रथमावतारसुभगानि रक्तकुरबकानि.......नववसन्तावतारः।''[109] कुरबक के पुष्प तथा लाल अशोक के पुष्प बसन्तजन्य शोभा की बाल्यावस्था को तथा आम के पेड़ में नया

बौर (मञ्जरी) युवावस्था को सूचित करती है–

''अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयोः
रक्ताशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति।
ईषद्बद्धरजःकणाग्रकपिशा चूते नवा मञ्जरी
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्री स्थिता।।''[110]

इस ऋतु में दक्षिणी वायु (मलयानिल) बहती है जिससे पेड़ो के पीले पत्ते गिर जाते हैं– ''मलयवातोन्मूलिता पाण्डुपत्रैः...।''[111] आम की मञ्जरियाँ, चम्पा के पुष्प, मल्लिका की खिली हुई कलिका, अशोक के पुष्प, कुरबक के पुष्प, लाल टेसू के फूल, कनेर के फूल तथा उजले-उजले कुन्द के फूलों से संसार को जीतने वाली यह वसन्त ऋतु एक योद्धा की भाँति हैं –''मनांसि भेत्तुं सुरतप्रसंगिनां वसन्तयोद्धा समुपागतः प्रिये''।।[113]

आम्र – वसन्त ऋतु में चलने वाली मलयानिल से आम के वृक्ष के पीले पत्ते गिर जाते हैं और उनमें अङ्कुर दिखाई देने लगते हैं–''किमुतमलयवातोन्मूलिता पाण्डुपत्रैः उपवनसहकारैर्दशितेष्वङ्कुरेषु''।[114] आम की बौर में बसी हुयी गन्ध में मलय वात बसती है ''चूतामोदसुगन्धिमन्दपवनः''।[115] इसी से ज्ञात होता है कि वसन्त आ गया–''अभिजातः खलु वसन्तः''।[116] कुरबक के पुष्प जब झड़ जाते हैं और आम के वृक्ष फलों से लदकर झुक जाते है तब ऐसा लगता है वसन्त ऋतु की प्रौढ़ावस्था आ गई है–

''अग्रे विकीर्णकुरबकफलजालकभिद्यमानसहकारम्।
परिणामाभिमुखमृतोरुत्सुकयति यौवनं चेतः।।[117]

आम्र के पर्याय इस प्रकार वर्णित है–

''आम्रश्चूतो रसालश्च कीरेष्टः मदिरासखः।
कामाङ्गः सहकारश्च परपुष्टो मदोद्भवः।।[118]

आम के कच्चे कोमल फल कषाय-कटु-अम्ल, रूक्ष, वात-विकार तथा रक्तपित्तकारी होते हैं। प्रौढ़ खट्टे फल, कफवर्धक तथा मीठे फल हितकारी होते हैं–

''बालं कषायं कट्वम्लं रूक्षं वातास्रपित्तकृत्।
सम्पूर्णमाममम्लं च रक्तपित्तकफप्रदम्।
हृद्यं वर्णकरं रुच्यं रक्तमांसबलप्रदम्।
काषायानुरसं स्वादु वातघ्नं बृंहणं गुरु।।''[119]

वानस्पतिक भाषा में आम्र को (Mangifera Indica) कहते हैं।

चम्पक – चम्पा नामक इस पौधे में पीले सुगन्धियुक्त फूल लगते हैं–''सुवासितं चारुशिरश्च चम्पकैः''।[120] इसका वानस्पतिक नाम Michelia Champaca तथा हिन्दी में चम्पा नाम है। इसके पर्याय हैं–

''चम्पकः सुकुमारश्च सुरभिः शीतलश्च सः।
चाम्पेयो हेमपुष्पश्च काचनः षट्पदातिथिः।''[121]

इसके गुणकर्म इस प्रकार है–

''चम्पकः कथितः शीतो वीर्येऽति कटुको रसे।
हृद्यः सुगन्धिर्विषहा कफपित्तविनाशनः।।''[122]

कर्णिकार – इस वृक्ष के पुष्प वसन्त ऋतु में खिलते हैं। यद्यपि इसका पुष्प सुन्दर रंग का होता है लेकिन गन्ध न होने के कारण कोई पसन्द नहीं करता–

"वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः।"[123]

लाल टेसू के पुष्पों के साथ कर्णिकार के पुष्प भी खिलते हैं–'किं किंशुकैः...किं कर्णिकारकुसुमैः।"[124] वसन्त ऋतु में दिन के आधा व्यतीत होने के बाद गर्मी से घबराकर भौरें कर्णिकार की कलियों में छिप जाते हैं– "निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः।"[125] कर्णिकार के पुष्प कर्णावतंस के योग्य होते हैं–

"कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं"।[126] इसके पर्यायों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है–

"कर्णिकारो राजवृक्षः प्रग्रहः कृतमालकः।
आरोग्यशिम्बी शम्पाको व्याधिघातो व्यथान्तकः॥"[127]

कर्णिकार का फल मधुर, बलवर्धक, वातपित्तहा, आम-शोधन तथा सारक होता है–

"कृतमालो लघुः शीतः पित्तघ्नो मधुरः रसः।
तत्फलं मधुरं बल्यं वातपित्तामजित्सरम्॥"[128]

किंशुक – बसन्त ऋतु के आते ही किंशुक के वृक्षों में कलियाँ निकल आती हैं – "उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके।"[129] किंशुक पुष्प तोते की चोंच के समान लाल रंग के होते हैं – "किं किंशुकैः शुकमुखच्छविभिर्न भिन्नं।"[130] इसके पुष्पों से ढकी पृथ्वी ऐसी लगती है मानो लाल साड़ी पहने हुये कोई वधू हो–

"आदीप्तवह्निसदृशैर्मरुताऽवधूतैः सर्वत्र किंशुकवनैः कसुमावनम्रैः।
सद्यो वसन्तसमयेन समाचितेयं रक्तांशुका नववधूरिव भाति भूमिः।"[131]

किंशुक का पुष्प देंखने में अति सुन्दर होता है किन्तु निर्गन्ध होता है–"निर्गन्धा इव किंशुकाः।" इसे लैटिन भाषा में Butea frondosa Kean तथा हिन्दी भाषा में ढाक, पलाश तथा टेसू कहते हैं। इसके पर्यायों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है–

"किंशुको वातपोथश्च रक्तपुष्पोऽथ याज्ञिकः।
त्रिपर्णो रक्तपुष्पश्च पूतद्रुर्ब्रह्मवृक्षकः॥"

क्षारश्रेष्ठः पलाशश्च बीजस्नेहः समिद्वरः।[132]
क्षारश्रेष्ठः कृमिघ्नश्च संग्राही दीपनः सरः।

प्लीहगुल्मग्रहण्यर्शोवातश्लेष्मविनाशनः॥[133]

धन्वन्तरि निघण्टु में किंशुक के पुष्प को सुगन्धित एवं मधुर कहा गया है–

"किंशुकस्यापि कुसुमं सुगन्धि मधुरं च यत्।
बीजं तु कटुकं स्निग्धमुष्णं कृमिबलासजित्॥"[134]

किंशुक के पुष्प को कामदेव का धनुष कहा है–

"सत्किंशुकं यद्धनुः ..... ।"[135]

कुरबक – वसन्त ऋतु में कुरबक वृक्ष की मञ्जरियों की शोभा अद्भुत होती है–**"शोभां परां कुरबकद्रुममञ्जरीणाम्।"**[136] कुरबक का पुष्प श्याम और श्वेत व लाल वर्ण का होता है–**"अग्रेस्त्रीनखपाटलं**

कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयोः।''[137] ''कुरबकं श्यामावदातारुणम्''।[138] शिशिर ऋतु के बीत जाने के बाद ही कुरबक की कलियाँ खिलती हैं – ''संनद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया।''[139] कुरबक के पुष्प जब झड़ कर पृथ्वी में बिखर जाते हैं तब वसन्त ऋतु की प्रौढ़ावस्था का प्रभाव दिखाई देता है– ''विकीर्णकुरबकफलजालक. .....परिणामाभिमुखमृतोः।''[140] कुरबक के पुष्पों से केशसज्जा की जाती है– ''नवकुरबकपूर्णः केशपाशो मनोज्ञः''[141] तथा ''चूडापाशे नवकुरबकं'' [142]। धन्वन्तरि निघण्टु के अनुसार यह कटसरैया की जाति का वृक्ष है जिसका वानस्पतिक नाम Barleria Cristala तथा हिन्दी में पियावासा तथा कटसरैया कहते हैं। इसके पर्यायों का उल्लेख भी किया गया है–

''सैरेयकः सहचरः सैरेयश्च सहाचरः।
पीतोऽथ नीलश्च कुसुमैस्तं विभावयेत्।
पीतः कुरण्टको ज्ञेयो रक्तः कुरबकं स्मृतः।।[143]

कुन्द – कुन्द के पुष्प श्वेत वर्ण के होते हैं–''कुन्दैः सविभ्रमवधूहसितावदातैरुद्द्योतितान्युपवनानि मनोहराणि''।[144] कुन्द के फूलों की चमक स्त्रियों की मुस्कान पर चमक उठने वाली दाँतों की चमक से ज्यादा श्वेत होती है– ''स्मितदशनमयूखान्कुन्दपुष्पप्रभाभिः।[145] वसन्त ऋतु की दक्षिणानिल कुन्द की लता को नचाती है–''निषिञ्चन्माधवीं लक्ष्मीं लतां कौन्दीं च लासयन्।''[146] इसका पुष्प रात को खिलता है और दिन में मुरझा जाता है–''प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं।''[147] इसके पुष्पों से केशों का श्रृङ्गार किया जाता है–''अलके बालकुन्दानुविद्धम्''[148]। वसन्त ऋतु में इसके पीले पत्ते गिर जाते हैं तथा पुष्पों की संख्या कम हो जाती है–''माधवपरिणतपत्रा कतिपयकुसुमेव कुन्दलता।''[149] इसका लैटिन नाम Jasminum Pubesecns willd है। धन्वन्तरि निघण्टु में इसके पर्याय निम्नवत् बताये गये हैं–

''कुन्दः सुमकरन्दः सदापुष्पो मनोहरः।
अट्टहासो भृङ्गसुहृच्छुक्लः शाल्योदनोपमः।।''[150]

मल्लिका – वसन्त ऋतु में मल्लिका की कलियाँ खिल जाती है–''पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः।''[151] मल्लिका के पुष्प सायंकाल में खिलते हैं तथा सुगन्ध से वातावरण को भर देते हैं–''वनेषु सायंतनमल्लिकानां विजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु।''[152] सायंकाल में खिलने वाले इसके पुष्पों को केशों में सजाते हैं – ''विन्यस्तसायंतनमल्लिकेषु...केशेषु लेभे...।''[153] इसके पर्याय इस प्रकार हैं–

''मल्लिका शीतभीरुश्च मदयन्ती प्रमोदिनी।
मदनीया गवाक्षी च भूपद्यष्टपदी तथा।''[154]

यह मुखरोगों तथा नेत्ररोंगो की नाशक है–

''मल्लिकोष्णा कटुः स्वादुदरियत्यास्यजान्गदान्।
संत्रासयति नेत्रोत्थरुजः पित्तसमीरजित्।।''[155]

मल्लिका को लैटिन भाषा में Jasminum Sambac Ait कहा गया है।

अशोक – वसन्तागमन की सूचना अशोक वृक्षों में खिलने वाले पुष्पों से हो जाती है। वसन्तागम के साथ ही अशोक के वृक्ष में कोपलें निकल जाती हैं तथा वृक्ष में नीचे से ऊपर तक मूँगे के समान लाल-लाल पुष्प खिल जाते हैं–''आमूलतो विद्रुमरागताम्रं सपल्लवाः पुष्पचयं दधानाः।''[156] वसन्त ऋतु में लाल अशोक का फल ऐसा लगता है मानो खिलने ही वाला है–''रक्ताशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति।''[157]

लाल अशोक के फूलों से केशों का श्रृंगार किया जाता है–''चलेपु नीलेष्वलकेष्वशोकं।''[159] इस वृक्ष को लैटिन भाषा में Saraca Indica hinn कहा जाता है।

इसके पर्यायों का वर्णन भी मिलता है–

''अशोकः शोकनाशश्च विचित्रः कर्णपूरकः।
विशोको रक्तको रागी चित्रः षट्पदमञ्जरी।।''[160]

यह शीतवीर्य, अर्श, कृमि, अपची तथा व्रण का नाशक है–

''अशोकः शीतलाश्चार्शः कृमीन् हन्ति प्रयोजितः।
अपचीं नाशयत्येव सर्वव्रणविनाशनः।।
अशोको मधुरो हृद्यः सन्धानीयः सुगन्धिकः।।''[161]

अकुसुमित अशोक के पेड़ पर सुन्दरी के चरण स्पर्श दोहद का कार्य करते हैं। दोहद को वृक्षादि का पोषक कहा जाता है–''वृक्षादिपोषकं दोहदं''। अशोक के जिन वृक्षों में सुन्दरी का चरण प्रहार होता है वह पुष्पित होता है–''कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति।।[162] तथा ''नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला. ... अकुसुमितअशोकं दोहदापेक्षया।''[163] अशोक का वृक्ष स्त्रियों के वामपाद के प्रहार का अभिलाषी होता है–''रक्ताशोक... वामपादाभिलाषी।।''[164] कुछ विशेष वृक्ष विशेष प्रकार के दोहद के अभिलाषी होते हैं–

पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्यां
स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति बकुलःसीधुगण्डूषसेकात्।
मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवातात्।
चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरोनर्तनात् कर्णिकारः।।

उक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वृक्ष और ऋतु का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। ऋतुओं के आगमन, ठहराव एवं गमन की सूचना पृथक-पृथक वृक्षों में होने वाले परिवर्तन से सहज ही प्राप्त हो जाती है। वृक्षों का अंकुरण, पल्लवित होना, पुष्पित होना, फलित होना तथा पत्रपुष्पफलादि से विहीन होना ऋतुओं पर पूर्णतया आधारित होता है। वृक्षों की अवस्था से ऋतु की बाल्या, यौवना तथा प्रोढ़ावस्था का अनुमान भी किया जा सकता है। पादपों के नित्य पुष्पित होने का भी उल्लेख कालिदास ने किया है–''पादपा नित्यपुष्पा'' तथा ''नित्यपद्मा नलिन्यः।''[165] अलकापुरी की कुलवधुओं का कमल, कुन्द, लोध्र, कुरवक, सिरस कदम्बादि के पुष्पों से अलंकृत रहने का उल्लेख है–

''हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीतालोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्।।''[166]

एक ही ऋतु में सभी पुष्पों के उत्पन्न होने का विज्ञान भी संभवतः हमारे प्राचीन मनीषियों को ज्ञात था। एक ऋतु के पुष्पफलादि को दूसरे ऋतु में उत्पन्न करने तथा वृक्षों के पुष्पफलादि को दूसरे ऋतु में उत्पन्न करने तथा वृक्षों के पुष्पफलादि में विचित्रीकरण से सम्बन्धित क्रियाओं के उल्लेख संस्कृत के ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। मनुष्यों की भाँति वृक्षादि भी सजीव होते हैं जिस प्रकार ऋतुकाल तथा स्नेह व प्रेमादिपूर्ण कृत्यों का प्रभाव प्राणियों पर पड़ता है उसी प्रकार वृक्षादि पर भी ऋतुओं के प्रभाव के साथ-साथ मानव द्वारा दिये गये भावात्मक संवेगों का प्रभाव भी निःसंदेह पड़ता है जो उनके उत्तम विकास में पूर्ण सहायक होता है।

सन्दर्भटिप्पणी

1. निरुक्त 2.7.24
2. ऋग्वेद 1.164.2
3. निरुक्त 4.1.27
4. ऋग्वेद 1.164.11
5. हिन्दी विश्वकोश भाग तीन पृष्ठ 437
6. शार्ङ्धरपद्धति श्लोक सं.-2144
7. बृहद्वास्तुमाला श्लोक सं.-31
8. बृहद्वास्तुमाला श्लोक सं.-38
9. बृहद्वास्तुमाला श्लोक सं.-40
10. शार्ङ्धरपद्धति श्लोक सं.-2153
11. शार्ङ्धरपद्धति श्लोक सं.-2154
12. अग्निपुराण श्लोक सं.-282.7
13. अग्निपुराण श्लोक सं.-282.8
14. शुक्रनीति-4.4.53
15. बृहत्संहिता-155/14
16. निरुक्त 4.4.27
17. ऋतुसंहार-1.1
18. विक्रमोर्वशीय-(अंक 3), पृ. सं. 190
19. ऋतुसंहार-1.23
20. अभिज्ञानशा.-3.18
21. विक्रमोर्वशीय-4.61
22. विक्रमोर्वशीय-3.21
23. अभिज्ञानशा.-(अंक 2) पृ.सं. 24
24. अभिज्ञानशा.-1.4
25. अभिज्ञानशा.- (अंक 3) पृ.सं. 38
26. अभिज्ञानशा.- (अंक 3) पृ.सं. 40
27. कुमारसंभव - 1.41
28. कुमारसंभव-5.4
29. मेघदूत उ. श्लोक सं. 2
30. धन्वन्तरिनिघण्टु-5/47/102
31. धन्वन्तरिनिघण्टु-5/47/103
32. ऋतुसंहार-1.26
33. धन्वन्तरि नि.-5/54/118
34. धन्वन्तरि नि.-5/54/116
35. निरुक्त 4.4.27
36. ऋतुसंहार-2.29
37. ऋतुसंहार-2.27
38. ऋतुसंहार-2.14
39. ऋतुसंहार-2.1
40. ऋतुसंहार-2.17
41. ऋतुसंहार-2.24
42. ऋतुसंहार-2.25
43. ऋतुसंहार-2.21
44. धन्वन्तरि नि.-5/43/94
45. धन्वन्तरि नि.-5/43/95
46. धन्वन्तरि नि.-5/43/96
47. ऋतुसंहार-3.13
48. ऋतुसंहार-2.17
49. धन्वन्तरि नि.-5/52/113
50. धन्वन्तरि नि. 5/52/114
51. ऋतुसंहार-2.21
52. धन्वन्तरि नि. 5/48/104
53. धन्वन्तरि नि. 5/48/105
54. ऋतुसंहार-2.24
55. ऋतुसंहार-2.27
56. ऋतुसंहार-2.17
57. ऋतुसंहार-2.21
58. रघुवंश-9.30
59. ऋतुसंहार-2.25
60. धन्वन्तरि नि.-5/70/142
61. धन्वन्तरि नि.-5/70/143
62. मेघदूत- उ. 40
63. ऋतुसंहार-3.18
64. ऋतुसंहार-3.2
65. ऋतुसंहार-3.19
66. धन्वन्तरि नि.-5/60/126
67. धन्वन्तरि नि.-5/60/127
68. रघुवंश, 13/77
69. ऋतुसंहार-3/1
70. वही, 3/2
71. वही, 3/2
72. वही, 3/13
73. वही. 3/14
74. वही, 3/15
75. वही, 3/18
76. विक्रमोर्वशीय, 3.16
77. अभिज्ञान शा.-5/28
78. ऋतुसंहार, 3/15

79. धन्वन्तरि, नि., 4/69/136
80. वही, 4/69/137
81. अभिज्ञानशा., प्रथम अंक, पृ. 16
82. ऋतुसंहार, 3.2
83. वही, 3.13
84. रघुवंश, 5.48
85. धन्वन्तरि नि., 3/40/79
86. वही, 3/40/80
87. ऋतुसंहार, 3.6
88. धन्वन्तरि नि., 1/87/194
89. वही, नि., 1/87/195
90. ऋतुसंहार, 3.14
91. धन्वन्तरि नि., 4/36/75
92. निरुक्त 4.27
93. ऋतुसंहार, 4.1
94. वही, 4.19
95. रघुवंश, 3.2
96. उत्तरमेघदूत, 2
97. धन्वन्तरि नि., 3/77/155
98. वही नि., 3/77/156
99. ऋतुसंहार, 4.11
100. रघुवंश, 8.61
101. धन्वन्तरि नि., 3/8/15
102. वही नि., 3/8/16
103. ऋतुसंहार, 5.3
104. ऋतुसंहार, 5.1
105. वही, 6.2
106. रघुवंश, 9.31
107. वही, 9.26
108. मालविकाग्निमित्रम्, 5.5
109. वही, तीसरा अंक, पृ.सं. 270
110. विक्रमोर्वशीयम्, 2.7
111. वही, 2.6
113. ऋतुसंहार, 6.1
114. विक्रमोर्वशीयम्, 2.6
115. ऋतुसंहार, 6.36
116. मालविकाग्नि., तीसरा अंक, पृ.सं. 271
117. वही, 5.4
118. धन्वन्तरि नि., 5.1.1
119. वही, 5.1.2-3
120. ऋतुसंहार, 6.3
121. धन्वन्तरि नि. 5/63/131
122. वही नि. 5/63/132
123. कुमारसंभव, 3.28
124. ऋतुसंहार, 6.22
125. विक्रमोर्वशीय, 2.22
126. ऋतुसंहार, 6.6
127. धन्वन्तरि नि. 1/96/217
128. वही, 1/96/218
129. रघुवंश, 9.31
130. ऋतुसंहार, 6.22
131. वही, 6.21
132. धन्वन्तरि नि., 5/74/148
133. वही, 5/74/149
134. वही, 5/74/150
135. ऋतुसंहार, 6.38
136. वही, 6.20
137. विक्रमोर्वशीयम्, 2.7
138. मालविकाग्निमि., 3.5
139. अभिज्ञानशा. छठा अंक, पृ. 95
140. मालविकाग्निमि., 5.4
141. ऋतुसंहार, 6.33
142. उत्तरमेघदूत, श्लोक सं. 2
143. धन्वन्तरि नि. 1/120/268-269
144. ऋतुसंहार, 6.25
145. ऋतुसंहार, 6.31
146. विक्रमोर्वशीय, 2.4
147. मेघदूत उ., श्लो.सं. 56
148. मेघदूत उ., श्लो.सं. 2
149. मालविकाग्निमित्रम्, 3.8
150. धन्वन्तरि नि., 5/67/138
151. ऋतुसंहार, 6.6
152. रघुवंश, 16.47
153. वही, 16.50
154. धन्वन्तरि नि., 5/58/123
155. वही नि., 5/58/124
156. ऋतुसंहार, 6.18
157. विक्रमोर्वशीय, 2.7
159. ऋतुसंहार, 6.6

160. धन्वन्तरि नि., 5/73/146
161. वही, 5/73/147
162. रघुवंश, 8.62
163. मालविकाग्निमित्रम्, 3.12
164. मेघदूत उ., 18
165. वही, उ. 3
166. मेघदूत उ., 2

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. निरुक्तम् - यास्कप्रणीतम्, कश्यप प्रजापतिकृत निघण्टुभाष्यरूपम्, श्रीमद् दुर्गाचार्यकृत-ऋज्वर्थाख्य-व्याख्यानुसारिण्या, सम्पा. मुकुन्द झा बक्षी, प्रकाशक : पाणिनी, 4225-ए, स्ट्रीट नं. 1, 1 अन्सारी रोड, दरियागंज, नई-दिल्ली-2, सन् 1982।
2. अग्निपुराण (भूमिका एवं पाठ संशोधन) डॉ. राजेन्द्र शर्मा, नाग पब्लिशर्स, नई दिल्ली 1985
3. हिन्दी विश्वकोश, भाग-तीन, सम्पादक - नागेन्द्र वसु, बी.आर. पब्लिशर्स कार्पोरेशन, दिल्ली, वर्ष 1986
4. शाङ्र्गधरपद्धति, सम्पादक - डॉ. पीटर पीटरसन, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली 1987, व्रजजीवन प्राच्य भारती ग्रन्थमाला -25
5. बृहत्संहिता हरिदाससंस्कृत सीरीज 369 सम्पा.-व्याख्याकार - डॉ. सुरकान्त झा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
6. शुक्रनीति, काशी संस्कृत सीरीज - 185, सम्पादक -पं. श्री ब्रह्माशंकर मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1987
7. कालिदास-ग्रन्थावली, चौखम्बा सुरभारती-ग्रन्थमाला-55, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
8. ऋग्वेदसंहिता कृष्णदास संस्कृत सीरीज 37, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी 1983
9. वृहद्वास्तुमाला (हिन्दी टीका सहित), चौखम्बा सीरीज साहित्य, वाराणसी
10. धन्वन्तरि-निघण्टु (हिन्दी टीका सहित), प्रो. झारखण्डे ओझा, व्रजजीवन प्राच्य भारती ग्रन्थमाला, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

डॉ. (श्रीमती) बीना मिश्रा

संग्रहालयाध्यक्ष, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, गंगानाथ झा परिसर, इलाहाबाद



कलाओं के सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत पुराण : एक विहंगम अवलोकन

शैलकुमारी मिश्र

भारतीय परम्परा में श्रीमद्भागवतमहापुराण साक्षात् भगवान् का श्री विग्रह माना जाता है। यह पुराण विद्या का महार्णव है। एक ओर यह पुराण वैष्णव संस्कृति और साधना का गम्भीर ग्रन्थ है, तो दूसरी ओर सौन्दर्यबोध कराने वाले काव्यगत वैशिष्ट्यों एवं समस्त कलाओं से पाठकों को मुग्ध करता है। कला के अनेक अर्थ होते हैं। इनकी संख्याओं में भी पयोप्त भेद हैं। उपनिषद्, तन्त्रशास्त्र भरतनाट्य शास्त्र तथा वात्स्यायन कामसूत्र में कलाओं के विषय में पर्याप्त चर्चा की गई है। भारतीय संस्कृत साहित्य में सबसे अधिक कलाओं की परिगणना आचार्य वात्स्यायनोक्त कामसूत्र मे की गई है। ये कलायें व्यावहारिक एवं जीवनोपयोगी भी हैं। श्रीमद्भागवत पुराण कल्पतरु की भाँति है, अतः जिस किसी दृष्टि से अन्वेषण किया जाये, तद् विषयक पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। कलाओं के सन्दर्भ में भी यही स्थिति है, समस्त कलाओं का यह आकर ग्रन्थ है। गहन अध्ययन करने पर इस महापुराण में आचार्य भरत द्वारा निर्दिष्ट एवं वात्स्यायन प्रोक्त समस्त कलाओं के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। यहाँ श्रीमद्भागवत महा पुराण में प्राप्त कलाओं का दिग्दर्शन मात्र कराने की चेष्टा की गई है।

''पादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त''[1]

महर्षि व्यास प्रणीत समस्त पुराणों में अन्यतम एवं उत्कृष्टतम पुराण श्रीमद्भागवत महापुराण माना जाता है। यह पुराणों का मुकुटमणि है। यह अपने विषय-वस्तु और वर्णन शैली के कारण अन्य पुराणों से भिन्न एवं महनीय है। महर्षि वेदव्यास की यह चरम रचना मानी जाती है। यद्यपि इसके पूर्व उनके द्वारा वेदों का चतुर्धा विभाजन, पुराणों का ग्रथन, महाभारत तथा ब्रह्मसूत्रों का प्रणयन हो चुका था, तथापि महर्षि का मन अशान्त था। वे अपनी अब तक की रचनाओं से पूर्ण संतुष्ट नहीं थे। तभी देवर्षि नारद ने सरस, सरल एवं भक्तिप्रवाहयुक्त रचना के लिए उन्हें प्रेरित किया-

विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितु विभो-
रनन्तपारस्य निवृत्ततः सुखम्।
प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मन-
स्ततो भवान्दर्शय चेष्टितं विभोः।।[2]

जिसकी परिणति भागवत के रूप में हुई। श्रीमद्भागवत पुराण श्रीकृष्णं के भक्तिरस का सागर है, यह समस्त श्रुतियों का सार है। यह पुराण साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण का श्री विग्रह माना जाता है। स्वयं भगवान् ने कहा है-

यत्र-तत्र भवेत् पुण्यं शास्त्रं भागवतं कलौ।
तत्र-तत्र सदैवाहं भवामि त्रिदशैः सह।।

भागवत पुराण विद्या का महार्णव है, इसीलिए इसके विषय में कहा जाता है– **'विद्यावतां भागवते परीक्षा'** बड़े-बड़े शास्त्र मर्मज्ञ विद्वान् भी इसके गूढार्थ को आत्मसात् करने में असमर्थ रहते हैं। यह पुराण एक ओर तो वैष्णव संस्कृति और साधना का ज्ञान गम्भीर ग्रन्थ है, तो दूसरी ओर सौन्दर्य बोध कराने वाले काव्यगत वैशिष्ट्यों से भी पाठकों को ओत-प्रोत करता है।

श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण को 'नटवरवपुः' कहा गया है (नटवत् वरं वपुः बिभ्रत् कृष्णः) नटवर वहीं हो सकता है जो समस्त कलाओं में प्रवीण हो। भागवत में कहा गया है–सभी अवतार अंश तथा कला रूप से हैं किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण सर्व अंश, समस्त कलाओं एवं सभी ऐश्वर्यों से परिपूर्ण है–**''एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्''**[3]। कला के अनेक अर्थ होते हैं। पारिजातकोष में चन्द्रमा की अमृता, पुष्टि, तुष्टि, रति, धृति आदि षोडश कलाओं का उल्लेख है।

अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टीरतिधृतिः।
शशिनी चन्द्रिका कान्ति ज्योंत्स्ना श्रीः प्रीतिरङ्गदा,
पूर्णा पूणामृता कामदायिन्यः स्वरजाः कलाः।।[4]

वाचस्पत्यम् में सोममण्डल की 16 सूर्यमण्डल की 12 तथा वह्निमण्डल की 10 कलाओं का उल्लेख है।[5] छान्दोग्योपनिषद्[6], बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कलाओं का वर्णन मिलता है।

षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदशकला।
ध्रवैवास्य षोडशीकला स रात्रिभिरेव च पूर्यतेऽपक्षीयते।।[7]

तन्त्र शास्त्र के सुभगोदय एवं नित्याषोडशिकार्णव ग्रन्थों में षोडश कलाओं की चर्चा है। षोडशी कला सच्चिदानन्द स्वरूपिणी है, तन्त्रोक्त इन सभी कलाओं का भगवती ललिता के साथ तादात्म्य है।

उक्त कलाएँ दार्शनिक दृष्टि से सही होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से अपूर्ण प्रतीत होती हैं क्योंकि संसार की समस्त कलाएँ इनमें परिगणित नहीं हो सकती। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियों ने भी कला को परिभाषित किया है। इनके अनुसार सौन्दर्य की कुशलतापूर्वक अभिव्यक्ति ही कला है। यह कला की समष्टि रूपात्मक परिभाषा हो सकती है। किन्तु इस परिभाषा के अन्तर्गत वे कलाएँ नहीं आ सकती जिनका वर्णन वात्स्यायन ने अपने ग्रन्थ कामसूत्र में किया है। वात्स्यायन के कामसूत्र में चौंसठ ललित कलाओं के साथ ही वास्तुविद्या, तक्षण, क्रीडा शकुन विचार मण्डनादि कलाओं की भी चर्चा है, जो व्यावहारिक एवं जीवनोपयोगी भी हैं। भारतीय संस्कृत साहित्य में वात्स्यायनोक्त चौंसठ कलाओं में से कतिपय कलाओं का उल्लेख पर्याप्त एवं कुछ अल्प मात्रा में उपलब्ध होता है किन्तु श्रीकृष्ण का विग्रहभूतपुराण श्रीमद्भागवत में शोधपरक दृष्टि से अध्ययन करने पर सभी चौंसठ कलाओं का सन्दर्भ प्राप्त होता है।

व्याकरण, ज्योतिष, दर्शन आदि शास्त्र भी कला की परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं किन्तु ये बौद्धिक विकास करते हैं, जबकि ललित कलायें बौद्धिक विकास के साथ ही व्यावहारिक एवं मानसिक विकास भी करती हैं, तथा मनुष्य को जीने की कला सिखाती है। इसीलिए विद्वानों ने कला को इन नामों से अभिहित किया है –

नन्दिनी सुभगा सिद्धा सुभगङ्करणीति च।
नारीप्रियेति चाचार्यैः शास्त्रेष्वेषा निरूच्यते।।

कलाओं की भिन्न प्रकृतियाँ हैं। अतः विद्वानों ने प्रकृति के आधार पर समस्त कलाओं को पाँच वर्गों में बांटा है–चारू, कारू, औपनिषदिक, बुद्धि वैक्षण्य तथा क्रीडा कौतुक। आचार्य वात्स्यायन ने कामसूत्र में कलाओं की उपादेयता के सन्दर्भ में कहा है–

कलानां ग्रहणादेव सौभाग्यमुपजायते।
देशकालौ त्वपेक्ष्यासां प्रयोगः संभवेन्न वा।।[8]

कलाओं का मानव जीवन में बड़ी उपादेयता है। कलाएँ मनुष्य के स्वस्थ, सामाजिक एवं उनके सर्वाङ्गीण विकास में सहायक होती है।

भागवत में उपलब्ध कलाओं को सुविधा की दृष्टि से छः वर्गों में विभक्त करते हैं–1. ललित कला, 2. भवन सज्जा कला (वास्तुकला), 3. काव्य विषयक कला, 4. मण्डनादिक कला, 5. क्रीडा सम्बन्धित कला, 6. विविध प्रकीर्ण कला।

प्रथम कला के अन्तर्गत गीत, वाद्य तथा नृत्य के पर्याप्त अवसर उपलब्ध होते हैं। ललित कलाओं में सबसे श्रेष्ठ कला है संगीत। संगीत-नृत्य, गीत एवं वाद्य तीनों का सम्मिश्रित रूप है। गीत के साथ चलता है वाद्य और वाद्य का अनुकरण करता है नृत्य। भारतीय मनीषियों ने जिस किसी भी शास्त्र का प्रणयन किया है, उसके अन्तस्तल तक प्रविष्ट होकर अशेष रूप से निरूपित किया है। कोई भी पक्ष अनालोचित नहीं छोड़ा। सभी शास्त्रों का लक्ष्य एकमात्र पुरूषार्थ चतुष्ट्य के द्वारा आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति ही है। इसी प्रकार ललित कला के सभी विधाओं पर पृथक्-पृथक् सुविस्तृत शास्त्र निर्मित हैं। लेख अत्यधिक विस्तृत न हो जाए अतः इन कलाओं के मुख्य विधाओं का श्रीमद्भागवत में दिग्दर्शन मात्र कराना ही उचित होगा।

सर्वप्रथम ललित कला के अन्तर्गत संगीत कला के सन्दर्भों की चर्चा करते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण में अनेक ऐसे स्थल आए हैं जहाँ वर्णित गीत चित्त को अनायास आकृष्ट कर लेते हैं। इनमें गोपीगीत, वेणुगीत, युगलगीत एवं भ्रमरगीत प्रशस्त हैं। इनको सुनने मात्र से–'पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः' इस श्लोक की यथार्थता समझ में आ जाती है।

भारतीय परम्परा में संगीत विद्या गान्धर्व विद्या भी कही जाती है, जो सामवेद का उपवेद है। संगीत में स्वरों का बहुत महत्त्व है। सप्तस्वरों की नीव पर ही संगीत शास्त्ररूपी भवन निर्भर है। ये सप्त स्वर ही संगीत शास्त्र के मूल आधार है। स्वरों की चर्चा भागवत में भी आई है–

उष्माणमिन्द्रियाण्याहुरन्तःस्था बलमात्मनः।
स्वराः सप्तविहारेण भवन्ति स्म प्रजापतेः।।[9]

संगीत में गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों का समावेश है। आचार्य भरत ने नाट्य शास्त्र में 28 वें से 34वें अध्याय तक गीत तथा वाद्य का विस्तार से वर्णन किया है। नाट्य प्रयोग की दृष्टि से गीत, वाद्यों का संतुलित प्रयोग अति महत्त्वपूर्ण होता है। आचार्य भरत ने गीत, वाद्य तथा नाट्य के एकीभाव को 'अलात चक्र' कहा है

एवं गीतञ्च वाद्यञ्च नाट्यञ्च विविधाश्रयम्।
अलातचक्रं प्रतिमं कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः।।[10]

भागवत भी इसका उल्लेख करता है।

स्तवनै र्जयशब्दैश्च तद्वीर्यमहिमाङ्कितैः।
नृत्यवादित्रगीतैश्च शङ्खदुन्दुभिनिस्वनैः।।[11]

भागवत पुराण के दशमस्कन्ध में इन तीनों का सम्यक् सामञ्जस्य दर्शाया गया है। इसमें शास्त्रीय संगीत के साथ लोकगीतों का भी प्रचुर वर्णन मिलता है। गोपियों के भाव एवं रसपूर्ण गीतों साथ ही गन्धर्व, किन्नर, अप्सरा, वन्दी एवं वैतालिक गीतों का भी पदे-पदे दर्शन होता है। भागवत में संगीत के अनेक ऐसे प्रसंग प्राप्त होते हैं, जो हठात् मन्त्र मुग्ध कर देते हैं। इनमें गोपीगीत सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। वहीं वेणुगीत, युगलगीत, भ्रमर गीत भी उच्चकोटी के गीत हैं, जो मानव को ही नहीं अपितु पशु, पक्षी, वृक्ष, नदी आदि जीवमात्र को मुग्ध करते हैं। वेणुगीत को सुनकर गोपाङ्गनायें। चित्रवत् विगलित वेद्यान्तरा हो जाती हैं। ये श्रीकृष्ण के एक-एक शब्द को संगीत की तरह अनुभव करती हैं –

'मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया वुधमनोज्ञया पुष्करेक्षणा।
विधिकरीरिमा वीरमुह्यतीरधरसीधुनाऽऽप्यायस्वनः।।[12]

गोपीयाँ गायनकला की प्रत्येक विधा से सुपरिचित थीं। वे गायन के साथ नृत्य कला में भी प्रवीण थी। गोपियों के गीत की स्वयं श्रीकृष्ण ने भी सराहना की है –

काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधुसाध्विति।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदात्।[13]

वाद्य- याज्ञवल्क्य स्मृति में वादन कला के महत्त्व को दर्शाते हुए वाद्य को मोक्षप्राप्ति में साधन वतलाया गया है।

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्ग च गच्छति।।[14]

अमरकोष में अनेक प्रकार के वाद्य समूह के समवेत वादन को 'आतोद्य' कहा गया है -

''चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम्।
यत्तु तन्त्रीकृतं प्रोक्तं नानातोद्य समाश्रयम्।।''[15]

यही आतोद्य जब स्वर, ताल और पदों का आश्रय लेता है, तब गान्धर्व कहा जाता है।

''गान्धर्वमिति तज्ज्ञेयं स्वरतालपदाश्रयम्।''[16]

गान्धर्व शास्त्र में अनेक प्रकार के वाद्यों के भेद-प्रभेद प्राप्त होते हैं। पृथक्-पृथक् वादकों की वीणायें भी भिन्न-भिन्न नामों से जानी जाती थीं। वीणा के मुख्यतः 19 नाम प्राप्त होते हैं। भागवत पुराण में भी अनेक वाद्यों की चर्चा आई है। किसी भी माङ्गलिक अवसरों पर या युद्ध के लिए प्रस्थान करने पर अथवा रण से विजयी होकर घर लौटने पर मंगल वाद्य बजाये जाते थे। भागवत में मृदङ्ग, मुरज, पणव, दुन्दुभि, शंख, तूर्य, भेरी, वीणा तथा वेणु आदि वाद्यों का उल्लेख बहुशः हुआ है।

मृदङ्गशंखभेर्यश्च वीणापणवगोमुखाः।
धुन्धुर्यानकघण्टाद्या नेदुर्दुन्दुभयः समम्।।[17]

भगवान् श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव पर देवताओं ने दुन्दुभि वादन किया था।[18] भगवान् स्वयं कुशल वेणु वादक थे। जिसकी अभिव्यक्ति इस पद्य में होती है –

विविधगोपचरणेषु विदग्धे–
वेणुवाद्य उरूधा निजशिक्षाः।
तवसुतः सति यदाधरबिम्बे
दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः॥[19]

नृत्य– भागवत पुराण में अनेक स्थलों पर नृत्य का अद्भुत प्रदर्शन हुआ है। भागवत के दशम स्कन्ध में महारास का वर्णन पाँच अध्यायों में है, जिसको रासपञ्चाध्यायी कहते हैं। रासपञ्चाध्यायी को अनेक सन्तों, मनीषियों ने व्याख्यायित किया है। स्वामी करपात्री जी महाराज का भी रासपञ्चाध्यायी पर 'रास रहस्य' नामक अति गम्भीर प्रवचन प्रकाशित हुआ है। भागवत में शास्त्रीय एवं देशी अनेक प्रकार के नृत्य का प्रसंग मिलता है। महारास में भगवान् ने गोपियों के साथ कभी मण्डलाकार बनाकर नृत्य किया है, कभी पृथक् होकर तो कभी एक-एक गोपी के साथ एक-एक कृष्ण होकर संयुक्त रूप से विभिन्न मुद्राओं के साथ नृत्य किया है। वृन्दावन में गोचारण करते समय गोपबालकों के साथ भी नृत्य का प्रसंग आता है। सबसे अद्भुत नृत्य भगवान् ने यमुना में कालिया नाग के मानमर्दन के अवसर पर किया है। इस स्थल पर महर्षि व्यास ने श्रीकृष्ण के लिए लिखा है– **''पादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त''**[20] कृष्ण को अखिल कलाओं का आदिगुरु माना है।

भागवत का दशम स्कन्ध यों तो संगीत कला से ओत-प्रोत है, तथापि इसके 75वें अध्याय के नवम एवं दशम श्लोक में वाद्य, गीत एवं नृत्य तीनों का एक साथ वर्णन है। अवसर है राजसूय यज्ञोपरान्त राधा युधिष्ठिर के अवभृथ स्नान का –

'मृदङ्गशङ्खपणवधुन्धुर्यानक गोमुखाः।
वादित्राणि विचित्राणि नेदुररावभृथोत्सवे॥
नर्तक्यो ननृतुर्हृष्टा गायका यूथशो जगुः।
वीणावेणुतलोन्नादस्तेषां सा दिवमस्पृशत्॥[21]

संगीत कला के बाद दूसरे वर्ग में वास्तु विद्या, पुष्पास्तरण, तण्डुलकुसुमबलिविकार, मणिभूमिकाकर्म, शयन रचना, तक्षण, तक्षक कर्म, धातुवाद, वृक्षायुर्वेद, आलेख्य आदि को रखा गया है। गम्भीरता से अध्ययन करने का भागवत में इन कलाओं का भूरिशः उल्लेख मिलता है। सभी प्रसंगों को उद्धृत नहीं किया जा सकता। अतः स्थल संकेत मात्र ही हो सकता है। वास्तुकला का परिचय भागवत के दशम स्कन्ध में प्राप्त होता है, जब मय द्वारा निर्मित युधिष्ठिर के भवन को देखकर दुर्योधन भ्रमित हो जाता है।

स्थलेऽभ्यगृह्णात् वस्त्रान्तं जलं मत्वा स्थलेऽपपत्।
जले च स्थलवद् भ्रान्त्या मयमायाविमोहितः॥[22]

इसी प्रकार मथुरा नगरी का निर्माण, द्वारिका पुरी का निर्माण वास्तुकला की उत्कृष्टता को व्यक्त करते हैं। इन स्थलों को भागवत के 10/75/37, 10/4/21, 22, 23 में देखा जा सकता है।

तण्डुलकुसुम बलिविकार–कामसूत्र की यशोधरा टीका में लिखा है–अक्षत को विभिन्न रंगों में रंगकर उनसे मणिनिर्मित भवन, आंगन, द्वार या देहली पर विभिन्न आकृतियाँ बनाकर सुसज्जित किया जाता है। आज भी यह कला दक्षिण भारत में रङ्गवल्ली, उत्तर भारत में रंगोली नाम से प्रसिद्ध है, विवाहादि माङ्गलिक अवसरों पर इनका प्रयोग होता है। यह कला अत्यन्त लोकप्रिय है। भागवत में अनेक मांगलिक अवसरों पर इस कला का प्रदर्शन हुआ है। ऐसा ही एक प्रसंग भागवत में ध्रुव के नगर आगमन पर मिलता

है, जहाँ नागरिकों ने ध्रुव के स्वागतार्थ राजमार्ग, चत्वरों एवं वीथियों को चन्दन, अक्षत पुष्प आदि के द्वारा अलंकृत किया है।

मृष्टचत्वाररथ्याट्टमार्गे चन्दनचर्चितम्।
लाजाक्षतैः पुष्पफलैस्तण्डुलैर्बलिभिर्युतम्।।[23]

पुष्पास्तरण कला एवं शयन रचना कला– विविध पुष्पों एवं सुकोमल पल्लवों के संयोजन से शय्या की रचना पुष्पास्तरण कला कही जाती है। इसका प्रयोग विरही जनों के कामसंताप को दूर करने एवं शीतलता प्रदान करने हेतु किया जाता है। इस कला का सन्दर्भ कवि जयदेव की रचना में पर्याप्त प्राप्त होता है। भागवत में भी यथावसर इस कला के उदाहरण मिलते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण वन में गोपबालकों के साथ अनेक क्रीड़ा करते हुए परिश्रान्त होकर पल्लवनिर्मित शय्या पर विश्राम करते हैं–

क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्शितः।
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः।।[24]

इसके अतिरिक्त शयनरचना भी एक कला है, जिसकी मानव जीवन में बड़ी उपयोगिता है। मृदु, कोमल, शुभ्र-शय्या रचना के विविध प्रकार का उल्लेख मिलता है। शय्या ऐसी होनी चाहिये, जहाँ आते ही मनुष्य अपने समस्त संतापों को भूलकर अत्यन्त सुख और शान्ति का अनुभव करे। भागवत में इस कला के उदाहरण स्वरूप महात्मा ध्रुव का प्रसंग लेते हैं। जब बालक ध्रुव वन से नगर को लौटते हैं, तो उनके लिए शय्या की रचना कुछ इसी प्रकार की गई थी –

पयः फेन निभाः शय्या दान्तारूक्मपरिच्छदाः।[25]

पट्टिकावानवेत्रविक्ल्प, तक्षण, तक्षक, मणिभूमिकाकर्म धातुवाद आदि कलायें भी इस पुराण में कुशलता पूर्वक वर्णित है। उपर्युक्त प्रसंग में ही आगे पर्याप्त वर्णन मिलता है। भवनों में या राजसभा में बैठने के लिए जो आसन्दिकायें या पीठासन होते थे, उनका निर्माण बेंत, बाँस अथवा विविध प्रकार के मणियों पर नक्काशी कर किया जाता था। नक्काशी को ही सम्भवतः तक्षक कला कहा जाता है। इस प्रकार पीठासनों, सिंहासनों के निर्माण में उक्त कलाओं का प्रयोग होता था। ध्रुव के प्रसंग में इन कलाओं का दर्शन मिलता है–

आसनानि महार्हाणि यत्र रौक्मा उपस्कराः।
यत्र स्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च
मणिप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः।[26]

देवी रूक्मिणी के प्रासाद निर्माण में इन कलाओं का उत्कृष्टतम रूप लक्षित होता है। अनेक प्रकार के धातुओं के सम्मिश्रण से भवनों के गवाक्ष, स्तम्भ, भित्ति तथा प्राङ्गण निर्मित किए जाते थे।[27]

वृक्ष आयुर्वेद कला का परिज्ञान तो भागवत में पदे-पदे दृष्टिगोचर होता है। भागवत में वृन्दावन नाम से ही मानस पटल पर एक वन, उपवन, यमुना-कूल-संयुक्त हरी-भरी प्राकृतिक छटा उपस्थित हो जाती है। महर्षि व्यास इनके वर्णन में अत्यन्त सचेष्ट दिखते हैं। भागवत में इन प्रसंगों के लिए 1/7/3, 1/11/2, 3/23/40 आदि स्थल देखे जा सकते हैं।

आलेख्य कला – द्वार देश की भित्ति पर अथवा काष्ठ या धातु निर्मित फलक पर चित्रित आकृतियाँ आलेख्य कला कही जाती है। इस कला का आश्चर्यचकित करने वाला पूर्ण विकसित रूप बाणासुर की पुत्री उषा के सन्दर्भ में प्राप्त होता है। उषा की सखी चित्रलेखा आलेख्य कला में पूर्ण पारंगता थी। उसमें

अद्भुत प्रतिभा थी। वह विना किसी साक्ष्य के अपने सम सामयिक सभी राजाओं के चित्र बनाने में सक्षम थी। उसने उषा के लिए श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरूद्ध का चित्र बनाया था। इसका उल्लेख भागवत के-10/62/18,19 में आया है।

यद्यपि भागवत पुराण इतिहास एवं पुराण के साथ ही एक उत्कृष्टतम काव्यग्रन्थ भी है। इसमें रस की निर्झरिणी तो प्रवाहित होती ही है, छन्दों एवं अलंकारों की योजना भी साहित्यिकों को बलात् आकृष्ट करती है। तथापि काव्यकला के उदाहरणस्वरूप इसमें स्पष्ट स्थल दृग्गोचर नहीं होते। श्रीमद्भागवत माहात्म्य में पुस्तक वाचन एवं वाचक का साङ्गोपाङ्ग निर्देश है। वक्ता और श्रोता को कैसा होना चाहिये, इसका उल्लेख पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में श्रीमद्भागवत माहात्म्य के अन्तर्गत किया गया है। भागवत पुराण के वाचक को इन दोषों से रहित होना चाहिये-

अनेकधर्मविभ्रान्ताः स्त्रैणाः पाखण्डवादिनः।
शुकशास्त्रकथोच्चारे त्याज्यास्ते यदि पण्डिताः॥

इन गुणों से युक्त होना चाहिये-

विरक्तो वैष्णवो विप्रो वेदशास्त्रविशुद्धिकृत्।
दृष्टान्तकुशलो धीरो वक्ता कार्योऽतिनिस्पृहः॥[28]

संपाठ्य कला के उदाहरण भागवत में अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं। इस कला में मुख्य रूप से वाक् शक्ति का परिचय मिलता है। वैदिकों द्वारा यज्ञानुष्ठान में, जन्मविवाहादि संस्कारों में, गुरुगृह में उच्चरित होने वाले वेद पाठ के रूप में इस कला को देखा जा सकता है। तत्कालीन समाज में सूत, मागध एवं वैतालिकों द्वारा भी सस्वर पाठ किया जाता था।

नटनर्तकगन्धर्वाः सूतमागधवन्दिनः।
गायन्ति चोत्तमश्लोकचरितान्यद्भुतानि च॥

भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावन में गोप बालकों के साथ विविध लीला करते हुए कभी कुछ विशिष्ट जनों के चरित्र का अनुकरण, कभी प्रकृति के साहचर्य में आनन्द के साथ भ्रमर, कोकिल, मयूर, हंस, मण्डूक की गति का अनुकरण करते हुए सुशोभित होते हैं।

मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां
रङ्गो यथा नटवरौ क्व च गायमानौ।[29]

इस श्लोक में नाट्य या अभिनय कला की अभिव्यक्ति होती है। इसी स्थल पर आगे भी इस प्रकार के अनेकों उदाहरण मिलते हैं जिनमें अभिनय कला का प्रदर्शन हुआ है-

क्वचिच्च दर्दुरप्लावैर्विविधैरुपहासकैः।
कदाचित् स्पन्दोलिकया कर्हिचिन्नृपचेष्टया॥[30]

भागवत पुराण सरस आख्यानों के उदाहरणों से भरा पड़ा है-ध्रुवाख्यान, पुरञ्जनोपाख्यान, अम्बरीषोपाख्यान आदि के वर्णन भागवत में क्रमशः 4/4/71, 4/8/23, 4/25/22, 9/4/18 इन स्थलों में मिलते हैं।

छन्दो योजना कला - यद्यपि लौकिक छन्दों में रचना के लिए महर्षि वाल्मीकि आदि कवि के रूप में जाने जाते हैं, किन्तु वाल्मीकि के अनन्तर महर्षि व्यास रचित भागवत ही सामने आता है, जिसमें विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है। सभी प्रसिद्ध छन्दों के साथ ही कुछ उत्कृष्ट एवं अभूत पूर्व छन्दों में भी रचित पद्य हैं। यथा गोपीगीत का यह पद्य-

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।।[31]

इस पद्य में कनकमञ्जरी छन्द का प्रयोग हुआ है, जो पूर्व के काव्यों में दृष्टिगत नहीं होता। अतः छन्दोविधान कला में भी भागवत अप्रतिम है। भागवत महापुराण में काव्यगत सभी कलाओं का समाहार है। विस्तारभय से प्रत्येक का पृथक-पृथक् उदाहरण नहीं दिया जा रहा है। **अक्षरमुष्टिका** कला के अन्तर्गत किसी कथा के संकेत से शिक्षाप्रद तथ्यों से अवगत कराना होता है। भागवत के चौथे स्कन्ध में पृथु के गोदोहन की कथा से अनेक शास्त्रों के प्रयोग विधि का संकेत किया गया है। इसी प्रकार भागवत में विविध वर्णनों के द्वारा प्रायः सभी रसों का आस्वादन होता है, जिसका अनुभव रसिक, सहृदय भावुक जन किया करते हैं।

देश, भाषा, विज्ञान-कला- भागवत में कुछ प्रसंग ऐसे प्राप्त होते हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि भारत का अनेक देशों के साथ व्यवहार था। अतः यहाँ के राजाओं को दूसरे देशों की भाषाओं का भी ज्ञान था 10/50/54 में यवन राजा का उल्लेख हुआ है। अतः यह स्पष्ट है कि परस्पर राजनैतिक सम्बन्धों के अन्तर्गत आदान-प्रदान हेतु भाषा सम्बन्धी कला भी अवश्य विकसित थी।

दुर्वाचक योग - पद्यों में क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग 'दुर्वाचक योग' कला कही जाती है। इसका प्रयोग विद्वानों में परस्पर काव्य क्रीडार्थ किया जाता था। इन श्लोकों में श्रुति कटु दोष तो होता है, किन्तु पाण्डित्य प्रदर्शन भी होता है। ऐसे पद्यों की प्रस्तुति अनेक स्थलों पर भागवत में हुई है। यथा-

स्फीताञ्जनपदांस्तत्र पुरग्रामव्रजाकरान्।
खेटखर्वटवाटीश्च वनान्युपवनानि च।।[32]

कलाओं के चतुर्थ वर्ग में मण्डनादिक विशिष्ट कलाएँ आती है। जिनमें माल्यग्रथन, शेखरकापीडयोजना, गन्धयुक्ति, आभूषणयोजना, कर्णपत्र-भङ्ग, सूचीकर्म, रत्नपरीक्षा, मणि रागाकार ज्ञान, अङ्गराज, नेपथ्य योग, कौचुमार योग, वस्त्रगोपन, पुष्पशकटिका, केश ग्रथन, संवाहन आदि पन्द्रह कलाएँ परिगणित है।

भागवत महापुराण में उक्त कलाओं में कुछ का तो सुस्पष्ट वर्णन मिलता है कुछ के उदाहरण सांकेतिक रूप से जाने जा सकते हैं, जिनकी प्रतीति प्रतिपद अध्ययन से होती है। जिनकी स्पष्टतया प्रतीति होती है, उनमें माल्य ग्रथन, शेखरकापीड, कर्णपत्र भंग, भूषण योग, वस्त्र गोपन, केश गुम्फन, वसनयोजन, अंगराग, सूचीकर्म का प्रयोग तो आपाततः दृष्टिगोचर हो जाता है। सुन्दर वस्तु के प्रति मनुष्य का आकर्षण सहज स्वभाव है। सुन्दर वस्तु किसको नहीं आकृष्ट करती। अलंकृत या सुसज्जित करने की कला ही मण्डनादिक कला के अन्तर्गत आती है। भगवान् श्रीकृष्ण में उपर्युक्त समस्त कलाएँ विद्यमान हैं। भगवान् ने महारास के समय मल्लिकापुष्पगुच्छों से गोपियों के केशपाश को मण्डित किया है-

केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम्।
तानि चूडतया कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम्।।[33]

भागवत पुराण रत्नाकर की भाँति अगाध एवं सुदुस्तर है। जिस किसी भी विषय के परिप्रेक्ष्य में इसका अध्ययन किया जाये उसका इति नहीं होता। कलाओं के सन्दर्भ में भी यही स्थिति है। सूक्ष्म अध्ययन करने पर अनेक ऐसी कलाओं का प्रसंग उपलब्ध होता है, जिनका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। संभवतः इसलिए कलाओं की संख्या के सन्दर्भ में आचार्यों में मतभेद है। भागवत महापुराण में उपलब्ध समस्त कलाओं का सन्दर्भ एक लेख में देना असंभव प्रतीत होता है क्योंकि यह तो शुकमुख के अमृतद्रव से संस्पृष्ट, रस से परिपूर्ण, निगम कल्पतरु का परिपक्व फल है, जितना भी पान किया जाय कम नहीं होगा।

सन्दर्भटिप्पणी

1. भा.पु. 10/16/26 द्वि.भा. श्रीराममूर्तिशास्त्री, प्र.सं. 1990 पौ.का., वाराणसी
2. भा.पु. 1/5/16 प्र.भा. प्र.सं. 1999
3. भा.पु. 1/3/28 प्र.भा. प्र.सं. 1999 तथैव
4. परि.को. पृ. 944 प्र.सं. 2004
5. वाच. भाग 3 1962 चौ. प्र., वाराणसी
6. छान्दो. 6/7/3 प्र.सं., हठ सा.सं., रोहतक
7. बृहदा. 1/5/14,15 प्र.सं. 2004 प.प्र., दिल्ली
8. वा.का.सू. 1/3 जयमंगलाटीका, 1891 नि.सा.प्रेस, मुम्बई
9. भा.पु. 3/12/47 प्र.भा. तथैव
10. भ.ना.शा 28/7 सं पा. बाबूलालशुक्ल, प्र.सं., 1985, चौ.वा.
11. भा.पु. 8/11/17 प्र.भा. तथैव
12. भा.पु. 10/13/8 द्वि.भा. तथैव
13. भा.पु. 10/13/9-10 द्वि.भा. तथैव
14. याज.स्मृति अ. 3,पृ.465, श्लो. 115 प्र.सं., 1967, चो. प्र. व्या. उमेशचन्द्र पाण्डेय वाराणसी
15. अ.को. प्र.का. नाट्यवर्ग रामाश्रमी, द्वि.सं. चौ.प्र., वाराणसी
16. भ.ना.शा. 28/8 सं पा. बाबूलाल शुक्ल, प्र. सं., 1985 चौ.प्र., वाराणसी
17. भा.पु. 1/10/15 प्र.भा. तथैव
18. भा.पु. 10/3/5 द्वि.भा. तथैव
19. भा.पु. 10/35/14 द्वि.भा. तथैव
20. भा.पु. 10/16/26 द्वि.भा. तथैव
21. भा.पु. 10/75/9,10 द्वि.भा. तथैव
22. भा.पु. 10/75/37 द्वि.भा. तथैव
23. भा.पु. 4/9/57 प्र.भा. तथैव
24. भा.पु. 10/15/16 द्वि.भा. तथैव
25. भा.पु. 4/9/62 प्र.भा. तथैव
26. भा.पु. 4/9/63 प्र.भा. तथैव
27. भा.पु. 10/60/3,4,5 द्वि.भा. तथैव
28. भा.पु. माहात्म्य 10/60/3,4,5 द्वि.भा. तथैव
29. भा.पु. 10/2/18 द्वि.भा. तथैव
30. भा.पु. 10/18/15 द्वि.भा. तथैव
31. भा.पु. 10/3/1 द्वि.भा. तथैव
32. भा.पु. 1/6/11 प्र.भा. तथैव
33. भा.पु. 10/30/35 द्वि.भा. तथैव

संकेत

अ.को	अमर कोष
चौ. प्र.	चौखम्भा प्रकाशन
छान्दो.	छान्दोग्योनिषद्

द्वि.भा.	द्वितीय भाग
द्वि.सं.	द्वितीय संस्करण
नि.सा.प्रे.	निर्णय सागर प्रेस
परि.प्र.	परिमल प्रकाशन
पारि.को.	पारिजात कोष
पृ.	पृष्ठ
पौ.का.	पौराणिक कार्यालय
प्र.भा.	प्र.भा.
बृहदा.	बृहदारण्यकोपनिषद्
भ.ना.शा.	भरत नाट्य शास्त्र
भा.पु.	भागवत पुराण
या.स्मृति	याज्ञवल्क्य स्मृति
वा.का.सू.	वात्स्यायन कामसूत्र
व्या.	व्याख्याकार
संपा.	संपादक
ह.सा.सं.	हरियाणा साहित्य संस्थान रोहतक

प्रो. शैलकुमारी मिश्र
आचार्या-साहित्य
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, गंगानाथ झा परिसर, इलाहाबाद



Disciplines of वास्तु as discussed in the Orissan Text : वास्तुसूत्रोपनिषद्

Banamali Biswal

The present paper deals with the six disciplines of वास्तु (i.e.art and architecture) as discussed in the वास्तुसूत्रेपनिषद् (VSU) which is an important Orissan text from architectural point of view. In fact, it is an important treatise on वास्तु-शास्त्र as well as शिल्प-शास्त्र both as it deals with the science of architecture and sculpture.

0.1 वास्तुशास्त्र or वास्तुवेद : At a glance : वास्तुशास्त्र in itself is a complete science and complete technology which was developed in the remote past in order to provide shelter to the humanity. The word is derived from the root वस् with उणादि- suffix तुण् with the addition of णिच् by the rule वसेरगारे णिच्च (उणादि-1.70). Thus, it may be etymologically analysed as : वसन्ति प्राणिनो यत्र. According to अमरकोश, वास्तु refers to वेश्मभू: meaning गृहकरणयोग्यभूमि: According to जटाधार, वास्तु denotes वाटी and पोत whereas शब्दरत्नावली says it refers to वाटिका and गृहपोतक (वास्त्वस्त्री वेश्मभूर्वाटी वाटिका गृहपोतक:) meaning home and home-land respectively. It has been rightly called वास्तुवेद in VSU in several contexts[1]. Since the paper is related to वास्तुशास्त्र or वास्तुवेद it will not be out of context to discuss, at the outset, about the contents of वास्तुशास्त्र in general which include the topics like भू-परीक्षाए दिग्-बन्धा, वास्तुपद-विन्यास, नगर-रचना, अधिष्ठान-रचना, द्रव्यासंग्रहण, शिल्पी-लक्षण, वास्त्वङ्ग, गर्भन्यास, द्वारविधान, प्रस्तरविधान, स्तम्भ-निर्माण, विमान-निर्माण, स्तूपविधान, प्रासाद-पुरुष-कल्पन, प्रासाद-प्रकार (such as एकशाला-विधान, द्विशाला-विधान, त्रिशाला-विधान and चतु:शाला-विधान), भद्रवर्णन, अलिन्द-वर्णन, गजस्तम्भ-वर्णन, गोपुरवर्णन, सहस्र-स्तम्भ-मण्डप-वर्णन, परिवारालयवर्णन, विथिवर्णन, प्रकार-वर्णन, अधिष्ठान-वर्गनिर्माण-कौशल (i.e. पदवर्ग, प्रस्तरवर्ग, स्कन्धवर्ग, विमानवर्ग) etc. The constructional activities as described in वास्तुशास्त्र practically covers the range of civil engineering beginning from प्रथमेष्टकविधान preceded by कोणशिलान्यास and culminates in मूर्धेष्टक. All these activities are supplemented by appropriate rituals and the rituals are necessarily supported by the astronomical calculations translated into astrological results favourable or unfavourable.

0.2 The tradition of शिल्पशास्त्र : The tradition of शिल्पशास्त्र (also known as स्थापकविद्या in this text) continues as under : First of all, it was originated from प्रजापति in the beginning of creation. Again from प्रजापति it was passed to नारद, from नारद to मय, from मय to वैश्रवण and from वैश्रवण to पिप्पलाद. Finally, the sage पिप्पलाद spoke this knowledge in the original style of

प्रजापति : स प्राजापत्य-मार्गेण पिप्पलाद उवाच [2].

0.3 Atharvaveda (AV) vis-ā-vis शिल्प-वास्तु-शास्त्र : Besides वास्तु-शास्त्र there are evidences of the existence of a शिल्प-वास्तु-शास्त्र based on the AV. The भागवतपुराण[3] (9th century A.D) mentions architecture as an *upaveda* of the AV. The commentators श्रीधरस्वामिन् (14th century) and महीदास (16th century) also do support the view. AV has plenty of direct and allied materials for being regarded as the original source of the science of architecture. Exact terms for the house, the establishment, building material and a lot of related materials appear for the first time in AV. The importance of the building is a characteristic feature of the AV-literature and the majority of the *Mantras* prescribed by गृह्यसूत्र for house-building etc. are taken from the AV.

0.4 The position of VSU as Orissan शिल्प-वास्तु-शास्त्र : Orissa is famous for its Art and Architecture. In fact, the name Utkala, used for Orissa in मत्स्य-पुराण and other पुराण-s, owes its origin to the etymological analysis : उत्कृष्टा कला यस्मिन्. A good number of works are available in Orissa which deal with Indian Art and Architecture in general and Orissan in particular. Some of such works are published while a large number of them are still lying unpublished in either manuscript-libraries all over the world or in personal collections of a few possessive people. VSU is one of such works dealing with art and architecture as per the norms of AV. Thus, the VSU can be rightly treated as an अथर्ववेद-शिल्पशास्त्र which serves as a bridge to cover the long gap between the ancient AV-literature with architecture and sculpture. This उपनिषद् based on the AV claims itself to be originated from विश्वकर्मा. It tallies with the traditional accounts of the अथर्ववेद-शिल्पशास्त्र.[4]

0.5 VSU as an उपनिषद् and its Atharva-vediic affiliations : VSU is not found in the उपनिषद्-list of AV. It also varies from their subject matter and presentation. In fact, the recognised उपनिषद् -s came into being in two major stages. Thirteen to fourteen major उपनिषद् -s belonged to the latest phase of the Vedic age and most of them can be accepted as Pre-Buddhistic. Another set of around two hundred minor उपनिषद्-s came into being in the Ist millennium A.D. However, the VSU is different from all of them. Generally the उपनिषद्-s are of theological nature, primarily dealing with religious theory and practice. The VSU, on the other hand, is primarily a शिल्पशास्त्र, a treatise on sculpture and architecture. Thus, its subject matter falls outside the general scope of upanishadic discussion.

In fact, there are internal evidences available in the VSU which prove that in its present form it is much later than the भागवतपुराण. Some of the geometrical terms used in the VSU are of very late origin. The words like सरलरेखा[5], समान्तराल[6] occurring in the VSU are technical terms of रेखागणित, introduced in India through the Arabs. The Arabs came to India in 8th century A.D. The AV comes into being in the Ist millennium BC or even earlier. We hear about the existence of such a literature from about 9th century A.D. which can be given a status of a science of architecture (वास्तुशास्त्र).

The VSU has got two parallel divisions in the form of सूत्र-s and their Explanatory text. According to Dipak Bhattacharya, they do not seem to have common origin, since the

intention of सूत्र and its explanation varies in some cases.

The सूत्र.s are never explicit about their Atharvavedic origin. However, this can be inferred from a few Atharvavedic words used by them. Some of such words are : पर्णमणि[7], आकर्षणी विद्या[8] referring to one of the magical works of the AV. A loose connection between the सूत्र-s and the AV can also be testified by some of the ritual enjoinments in them. For example, in VSU III.1 it is said that one should assume पर्ण-amulets for protection. However, पर्ण-amulets are mostly used for general prosperity.

The explanatory text is more explicit about its AV-affiliation. Its frequent citation of *AV-mantra*, the occurrences of words like जङ्गिड[9], महिलुक[10], तर्द[11] and यातुधान[12] etc. do indicate the involvement of the author and the commentator with the AV.

0.6 Bibliographical details of VSU : The text VSU of पिप्पलाद has been critically edited and translated with Notes by Alice Boner, Sadashiv Rath Sharma and Bettina Baumer, the fourth revised edition of which has been published by Motilal Banarsidass with a commentary written by आचार्य सोमभट्ट, named as either परिशुद्धिः or विषयबोधिनी (सम्पूर्णेयं वास्तुकर्मावतारपिप्पलादस्य आथर्वणीय-वास्तु-सूत्रेपनिषत्-उड्र-देशिकेन आथर्वणोद्गात्रा सोमभट्टेन कृता परिशुद्धिटिप्पणी समाप्ता). Here it is worth-mentioning that the text was first published in 1982 followed by a reprint in 1986. The Third Revised Edition was published in 1996 and the fourth revised edition in 2000.

0.7 The date of VSU : Though the date of the work is not very certain still it has been accepted on the basis of the internal as well as external evidences available that the work is written not earlier than 9th century A.D. (for details, vide Introduction to VSU).

0.8 Justification of the title of VSU : One can find a peculiarity with the very title of the text. As the title appears, the text should have dealt with upanishadic subjects. But interestingly, it deals with Indian art and architecture in general and image-making (प्रतिमानिर्माणविधि) in particular. As rightly pointed out by Alice Boner in her Introduction that it is the first text on शिल्प or वास्तु which is named as an उपनिषद् and it is attributed to पैप्पलाद-कल्प of अथर्ववेद (AV).

0.9 The content analysis of VSU : The work is divided into six प्रपाठकs just as the प्रश्नोपनिषद् of the AV. Here the sage पैप्पलाद replies to the questions of his two disciples : काश्यप and कुवित्स. However, unlike प्रश्नोपनिषद् in VSU the questions are centred around शिल्प and वास्तु covering its various aspects, its origin, its purposes, its principles along with the methods of creation, its very secrets, its functions and its use in human society. The text could have been otherwise named as वास्तुसूत्र or शिल्पसूत्र, because, it deals with the layout as well as the composition of sculpture and not the modelling.

Thus, in the following pages we shall see to what extent the present text having वास्तु in its title, deal with the architectural or sculptural topics: The text mostly uses the term रूप and शिल्प in the sense of sculpture, which frequently refers to the disciplines of art as वास्तुवेद. e.g. एतेन वास्तुवेदविधानेन रेखानुपातेऽङ्गन्यासो विधेयः[13].

0.10 The Textual extent of VSU : The present text वास्तुसूत्रोपनिषद् is divided into six प्रपाठक-s. The first प्रपाठक is titled as षट्शिल्पविचार (i.e. six branches of art), the second प्रपाठक as खिलपञ्जरज्ञानम् (i.e. compositional diagram), the third प्रपाठक as शैल-भेदनम् (i.e. carving of stones), the fourth प्रपाठक as अङ्गप्रयोग (i.e. disposition of the parts of the image), the fifth प्रपाठक as रूपभावनाबोध (i.e. the inner sense of form) and the sixth प्रपाठक is named as सम्बन्ध-प्रबोधनम् (i.e. integration of the composition).

These six प्रपाठक-s contain 137 सूत्र-s in all. The first प्रपाठक contains ten सूत्र-s, the second प्रपाठक contains twenty seven सूत्र-s, third प्रपाठक twenty one सूत्र-s, fourth प्रपाठक twenty nine सूत्र-s, fifth प्रपाठक twenty four सूत्र-s and sixth प्रपाठक contains twenty six सूत्र-s. which are important from the architectural point of view. Let us now analyse the six disciplines of वास्तु as discussed in six प्रपाठक-s of VSU :

1. षट्शिल्पविचार (the six branches of art)

1.1 The definition of Art and Architectures : The term शिल्प is defined as : रूप-वास्तु-षडङ्गं शिल्पं संसिद्धं भवति[14] which explains the relationship of those terms. The text deals with the six lines of art (i.e. शिल्प) and their forms as well as the layout (i.e. रूप-वास्तु). Hence the first प्रपाठक is named as षट्शिल्पविचार.

1.2 The definition of sculptures : The forms of sculptures (i.e.रूप) are made either in stone or in खदिर says the commentator (रूपं शैलेन खदिरेण) on VSU. I.2 (षट्शिल्पाङ्गप्रयोगेण प्रजनयन्ति रूपाणि). In the comm. of VSU I.2 (as per palm leaf ms. obtained from Banki, Cuttack) a verse is quoted where it is said that the images are of four types. They are either made of clay, or stone, or metal, or wood :

मूर्तिश्चतुर्विधा प्रोक्ता मृण्मयी शैली एव च।
धातवी दारवी चैव पूजनार्थे विशेषतः।।

1.3 The process of making a यूप : Thus, यूप is made of खादिर-wood or stone as stated in the वैतानसूत्र of Atharvaveda : स हि यूपः खादिरेण शैलेन वा वैताने उक्तम्[15]. The hand of the यूप is made circular as the whole universe is at the top of the यूप. The trunk of the यूप i.e. the यूप-pillars are of proportionate shaping. The यूप is made by connecting the head and the trunk. He who knows to prepare a यूप is compared with विश्वकर्मा and described as the best of architects : य एवं वेद स हि विश्वकर्मा शिल्पाधिदैवतम्। य एवं जानाति सः पुरुषश्रेष्ठः[16].

1.4 The definition of an architect or स्थापक : A स्थापक is defined as : वृत्तज्ञानं रेखाज्ञानं च यो जानाति स स्थापकः[17] "one who has the knowledge of circles and lines is an architect". He is given the status of a sacrificial priest in VSU as he is also called शिल्पोद्गातृ, शिल्पोद्गीथ, वास्तुहोतृ शिल्पहोतृ etc.

1.5 Steps of वास्तु : Five steps of वास्तु are described in VSU : (i) by शिल्प the images are produced, (ii) by images arises the faith, (iii) from faith firm devotion, (iv) from firm devotion comes the knowledge and (v) the knowledge results in liberation : शिल्पात् प्रतिमाः

जायन्ते, प्रतिमायाः श्रद्धा सञ्चरति, श्रद्धातो निष्ठा, ततश्च ज्ञानम्, तस्मान्मोक्षो भवतीति पञ्च वास्तु-सोपानानि[18].

1.6 The process of Images : From the archetype gradually the knowledge of the principle arises, from the knowledge of the principle (तत्त्वबोध) comes the clear conception (धारणा), from the clear conception sacred songs (गाथा) and myths (कथाs) appear among the people. Finally, from the sacred songs the स्थापक-s desire the images[19].

1.7 Disciplines of art : According to VSU six disciplines of art are essential (वास्तु षडङ्गमिति श्रेष्ठम्)[20]. They are as follows : (i) Knowledge of stones (शैलम्), (ii) Compositional diagrams (खिलपञ्जर) made with a peg i.e. a network of lines for housing the image like a cage in which the limbs of image depend on the vital points (मर्माणि), (iii) the carving of stones (शैलभेदन), (iv) the arrangements of the limbs or parts (अङ्गप्रयोग), (v) the emotional deposition evoked by the composition (न्यासभावना) and (vi) the understanding of the integration of the composition (सम्बन्ध-प्रयोजन).

1.8 Types of stones : Six kinds of stones are also discussed in VSU (षड्धा शैलं ज्ञेयम्)[21]. They are, namely, (i) हिरण्यरेखिका, (ii) समवर्णा, (iii) ताम्रा (very hard stone of copper-red), (iv) धातुपाटिता, (v) वज्रलब्धा and (vi) सैकतालिका (sandstone). By the types of the stone the colours of the images can be known : शैलादङ्गरागज्ञानं प्रसरति[22].

2. खिलपञ्जरज्ञानम् (Compositional diagrams)

2.1 The procedure of making an image : The first सूत्र of this प्रपाठक says : an image should be envisaged in such a way so that it can express a specified meaning or object : निर्दिष्टार्थक-प्रतिमा ग्राह्या[23]. In this प्रपाठक the procedure of making an image is described step by step. The prescribed actions are as follows.

2.2 Lying the stone : After selecting a suitable stone it should be laid on the *darbha*-grass at an auspicious moment and then the stone should be fixed with pegs of उदुम्बर-wood : अनुकूल-शिला अभिजिति संप्राप्ते दर्भेण पातयेत् कारुशालायाम् [24]. This is the first action in this process says the commentator : पातनं प्रथमा क्रिया.

2.3 Polishing the stone : Then the होतृ and the अध्वर्यु together with sculptors should polish the stone meant for making image to make it smooth with the chanting of the following mantra :

दधिक्रावणो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत्प्र ण आयूंषि तारिषत्।।[25]

This polishing is the second action in this process : मर्दनं द्वितीया क्रिया.

2.4 Washing the stone : Then the stone is washed with the milk of महिलुका cow : महिलुकपयसा शिलां क्षालयेत्[26]. A महिलुका cow is described as एकवर्णा कपिला गौः[27]. Then शतकेशी वृष is meditated and invoked with prayers : ओम् शतकेशाय महर्षभाय मे रक्ष रक्ष स्वाहा. This helps to protect from जङ्गीड (demon) and others which results in well-being through mental joy and immortality (एतेन जङ्गिडादयः पलायन्ते, एतेन शुभं भवति)[28]. Then a circle is drawn with a

stick of यजुव - wood (ber tree) attached to a ring and a peg by means of a rope[29].

2.5 Establishing the central hole : The central hole (विल) should be established with the recitation of *mantra* : पुनन्तु मा देवजना: पुनन्तु मनवो धिया। पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमान: पुनातु मा[30]. The hole (which is considered as the central point) is the third action in the process : एषा तृतीया क्रिया.

2.6 Drawing circles (bindu) : On both the sides of a central hole the स्थापक-s draw a double circle from different bindus on a line by joining them in the model of प्रकृति and पुरुष i.e. a twin circle.[31]

2.7 Drawing lines (रेखा) : The lines are to be drawn on the stone and not on earth nor on the brick.[32] The line is the support of the composition, it is like a धारा i.e. a boundary or a stream[33]. The straight lines are as rays of light : तेजांसि सरलरेखा:[34]. The स्थापक-s divide the circle by the lines.[35] The creation of the image starts from the navel : नाभौ रूपकर्म प्रारभ्यते[36]. Following the order of प्रजापति (cosmic laws). VSU says : the circle represents light while the square indicates water[37].

According to VSU, the sacrificer in the यूप and the sculptor in the image proceed in the same way : यथा :is तथा यूपेनुच्छेदान्ता ग्राह्या:[38]. The commentator says : याज्ञिका यूपे स्थापका रूपे समानाश्चरन्ति. In addition to that, in the fourth प्रपाठक also VSU says : यूपाद् रूपं रूपाद् यूप इति स्वभाव: (VSU 4.11). By means of a chisel (खनित्र) the sculptors divide the field of ब्रह्ममण्डल according to the principle of sixteen divisions into sixteen parts.[39]

The plain यूप is meant for ordinary sacrifices, the यूप of eight divisions is for sacrifices to विष्णु, whereas for fulfilling the desires a यूप of sixteen divisions should be considered : यज्ञार्थ सौम्ययूपो, विष्णु यज्ञार्थमष्टांशयूप: काम्य-कर्मार्थं षोडशांश इति ध्येयम्[40]. If the line is drawn following the सूत्र, then it become harmonious : सूत्रायने रेखा: सुभगा: भवन्ति[41]. This knowledge is treated as a secret knowledge and known as खिलविद्या (supplementary science).[42]

2.8 The compositional diagram (खिलपञ्जर) : The knowledge of the compositional diagram (खिलपञ्जर) is the best as the knowers create the essential forms (तत्त्वरूपाणि) as per the principle of form (रूपतत्त्व). Without tracing the lines of the diagram the form becomes deficient (रूपतत्त्वे विना रेखाकरणं रूपं हीनम्)[43].

2.9 Types of lines (रेखा) : The vertical lines (उत्थितरेखा) have the nature of fire, horizontal lines (पार्श्वगा) have the nature of water, diagonal lines (तीर्यक्-रेखा) have the nature of wind. With the different lines the differences of images arise : रेखा-प्रभेदे भाव-प्रभेदा: उपजायन्ते[44]. The lines in the image are like sacrificial offerings[45]. By a harmonious form a meditative mood is inducted : रूपं सौभाग्याद् ध्यानभावो जायते[46]. As from rains many type of grains are produced, similarly various forms arise from the lines : यथा पर्जन्याद् बहुधाऽन्नानि सम्भवन्ति तथा रेखाया रूपाणि[47]. On the vertical lines upright forms are produced : अग्नि-रेखायामुत्तुङ्ग-रूपाणि जायन्ते[48] on the horizontal forms expressing longing are produced :

अब्-रेखायामुत्सुक-रूपाणि जायन्ते[49] whereas on the diagonal (मारुत-रेखा) fiery forms or energetic forms (तैजस-रूपाणि) are produced : मारुत-रेखायां तैजस-रूपाणि[50]. Those who possess all this knowledge, become famous as priests of art (स्थापकोद्गीथ).[51]

3. शैलभेदनम् (carving of the stones)

3.1 Manifesting the character of the image : In this प्रपाठक it is said that the character of the form is essential : रूपस्य भावो मुख्यः[52]. From the character arises the inspiration and from that inspiration the divine vision. In order to manifest the character of the image to the minds of people, the स्थापक-s proceed with great care in the creation[53].

3.2 Two prominent types of images : Amongst the images some are सौम्य i.e. 'peaceful' and some are उग्र i.e. 'fierce'[54]. The layout of the lines (रेखाविधानम्) has to be established according to the character (of the image). One who knows this, has the fundamental knowledge of the centre (i.e. *marman*)[55].

3.3 The work-processes to be accomplished : Many work-processes are to be accomplished by the artists.[56] They cut stones, carve various forms and place limbs according to the lines. They carve narrow incisions (कुटाङ्गानि) between the limbs[57] and so on.

3.4 Appropriate time for setting the stone: For setting the stone (न्यास) proper time should be observed[58]. For example, the best sculptors would not do it in night, nor at new-moon, nor at the junction of sun and moon (eclipse), nor at evening and morning twilight.

3.5 Procedural details for cutting the stones : For fixing the stone for the image they hold it between two pegs of (उदुम्बर) wood for sprinkling it with ghee and then chant the गाथा-s like the (कुन्ताप-सूक्ते) of Atharva-veda in the जटा.order in पर्जन्य-worship. Thus, by reciting, worshipping and by the rules of the science of रस (chemistry) the sages, or masters of the art concerning stones cut the stones[59]. For carving, the chisels must be consecrated with a मन्त्र[60]. The मन्त्र is as follows : ओं उत्तिष्ठ पुरुष किं स्वपिषि भयं मे समुपस्थितम्। यदि शक्यमशक्यं हूँ (दुर्गे) भगवति शमय स्वाहा.[61] Then they should meditate on the following मन्त्र in order to overcome weakness while working with the chisels : ओं चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा। परिपाणमसि परिपाण मे दाः स्वाहा।।[62]

3.6 Types of chisels (खनित्र) : Five types of chisels are considered as best in VSU[63]. They are : लाञ्जी, लाङ्गली, गृध्रदन्ती, सूचीमुखी and वज्रा.[64] These are made of iron and each one is considered as of two types : narrow and broad . The chisel work for cutting the stone is effected by striking it with short and long mallets : मूषलधरुभ and मूषलदण्ड. All instruments are sharpened by dipping them in cows' urine then smearing them with इङ्गिड oil and whetting them on leather[65]. The limbs of the images should be smooth to bring out a clear form.[66] Those who gently carve with the instruments are called शस्त्रीन्[67].

3.7 Types of weapons : Weapons are of two types, namely, द्विमुखी and घुर्णिका. For making circles these two special instruments : द्विमुखी and घुर्णिका are used. द्विमुखी has two

pointed instruments and a compass which have iron points and rods of पलाश-wood, whereas the घुर्णिका has a needle connected with a rope tied on a rod[68].

3.8 Procedure of cutting hard stones : To a query that what instruments do sculptors use to cut hard stones like diamond etc. VSU says : The शिल्पकार-s use the chisel after applying a softening mixture of four substances consisting of shell solvent (शङ्खद्राव), कुष्ठरस, sea salt (सैन्धवखर्पर) and powder of the bark of the उकत्स tree. In order to soften the stone with the substances stated above thy recite a मन्त्र also. Thus, after rubbing the stone for ten days, the स्थापक-s can use the chisels and carve with ease.[69] For protecting themselves during chisel work they wear an amulet called पाठमूलिका. They also wear an amulet called पर्णमणि[70] by reciting the following मन्त्र: ओं शं नो देवी पृश्निपर्ण्यशं निर्ऋत्या अकः। उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सरस्वतीम्।।[71]

3.9 Perfection of limbs : Perfection of limbs can be achieved by carving : भेदनादङ्गसौभगं प्रभवति[72]. As in the human body, the ankles, folds, bellies and other features such as turbans, belts and other ornaments are carved out in a perfect form, so in the body of divinities also[73]. The excellence of form becomes clear in the act of meditation[74]. Therefore, the वास्तुकार-s declare it to be a meditation image[75]. The features of the images are according to their own nature : यथा प्रकृतिस्तथा रूपलक्षणम्[76].

3.10 Protecting the sculptured stones : During the period of carving, the sculptured stone should be sprinkled with शङ्खद्राव and it should be protected from destructive forces.[77] To destroy the obstacles, the sculptor should utter the following मन्त्र in the beginning of carving - ओं होजा होजा शतकेशि वृष मे संरक्षय.[78]

3.11 The ways of carving the limbs : There are four known ways of carving the limbs along with the lines[79]. They are : एकाश्रयी, युगलाश्रयी, खण्डाश्रयी and स्पर्शिता. एकाश्रयी means : the limb is entirely set on the line . When prominent limbs rest on different lines, it is called युगलाश्रयी, when a separate limb of the images touches only with a part of a limb (a sub-divisional line or fundamental line) above or below, is called खण्डाश्रयी. When only a part of limb somehow slightly touches a line it is called स्पर्शिता which is treated inferior[80].

4. अङ्गप्रयोग (disposition of the parts of the image)

In fact, symbols pre-suppose realisation. Therefore, in this प्रपाठक it is said that the symbols (प्रतीक) come from realisation (प्रतीत)[81]. The order in this context is accepted as प्रतीत (realisation), प्रतीक (symbol) and प्रतिमा (image) which are essential to be followed[82]. From the forms of the symbols arise the limbs of the images[83]. The स्थापक-s fashion images in stone for worshipping : स्थापकाः सपर्यार्थं शैले रूपाणि चरन्ति[84].

4.1 The difference between शुल्व and शिल्प : To show the difference and connection between the science of शुल्व and the science of शिल्प, VSU says : - शुल्वं यज्ञस्य साधनम्, शिल्पं रूपस्य साधनम्[85]. That means, शुल्व is the discipline for sacrifice and शिल्प is the discipline for the form-creation (image-making).

4.2 The works of a शुल्वकार : The शुल्वकार-s construct altars (कुण्ड), platforms (स्थण्डिल), sacrificial halls (शाला), female organs (योनि-s), layers of the fire altar (मेखला), यूप-s and other things with a measuring rod and thread[86].

4.3 The parts of the pillars : The side fields should be divided in order to obtain six sub-divisions[87] such as (i) the lowest part (पार्थिवाङ्ग), (ii-iii) two parts above पार्थिवाङ्ग constituting the lower limb for tying the beast for consecration (अधोऽङ्ग), (iv-v) the two parts above that are upper limbs for the life- breath and (vi) one part above that is the top part for fixing the flag (तुङ्गाङ्ग)[88].

These four parts of the pillar become eight parts in the form of the पुरुष in their respective order[89]. They are : (i) पार्थिवाङ्ग (Feet), (ii) कर्माङ्ग (lower parts of the leg), (iii) अधोऽङ्ग (theigh), (iv) प्रजननाङ्ग (procreative parts), (v) उत्तमाङ्ग (belly parts), (vi) प्राणाङ्ग (breath parts), (vii) तुङ्गाङ्ग (neck to eyebrow) and (viii) ज्योतिरङ्ग (from eye-brow to the top of head)[90].

A यूप is set up for sacrifices to the gods[91]. The शूल्वकार-s (altar-builders) make the head and the post in the body of the यूप. The post may be plain, or octagonal or with sixteen angles, according to desire[92]. Those who want to fulfil desires should set up bull pillars for ancestor- worship and मिथुनस्तम्भ-s in होम-ceremonies[93]. On the upper part of broad stone pillars the figure of pairing boars is represented. By its ritual application enemies become paralysed like pillars[94].

4.4 The works of a शिल्पकार : In the complete figure of the पुरुष (human body) the form expressing its character भावरूप arises from the lower compartments of the grid[95]. As men perform ten actions in ten organs, similarly पुरुष becomes visible in the eye of ten compartments like foot, ankle, skin, knee etc.[96]

The significance of the ten sections is the same in both, i.e. the यूप and the human form[97]. Therefore, the sculptors conceive these divisions.[98] From one limb arises the other limb[99]. It is verily this form-creation which is composition. The measured limbs go from below upwards towards the divine hands and feet arising in order[100]. When the limbs in that panel adhere to the lines, they become well proportioned (harmonious)[101] i.e. on vertical lines erect limbs (उत्थिताङ्गानि), on horizontal lines restful and quiet limbs (स्थिराङ्गानि) and on diagonal lines limbs showing speed movement (विगतप्रश्नाङ्गानि). Setting them in this way the forms attract the mind[102]. One should establish the circle of the panel[103]. The स्थापक-s make the grid inside the four border lines. The compositional diagram for images, according to this order, should be considered[104].

5. रूपभावनाबोधा (the inner sense of form)

5.1 Sentiments (रस) as the support of moods (भाव) : In image-making the infusion of feeling or mood (भाव) into the image is enjoined : भावस्यारोपणं रूपकर्मणि विधेयम्[105]. To explain this सूत्र, the commentator says : The science of शूल्व is required for making sacrificial halls and altar. One should know the technique of making the sides of the altar (श्रोणिसाधन),

or dividing the parts etc. and setting the bricks. Similarly in image-making, the geometry which consists of drawing triangle, diagonals and angles on the panel is most important. For this purpose, the understanding of mood (भाव) of the image is necessary[106]. The action bestows the mood and the support of the mood is रस : कर्म भावस्य प्रदायकम्[107], भावस्य आधारो रसः[108]. The रस being the impelling force of the action it is expressed in the body manifesting through speech, mind, eyes, ears, hands, feet and other organs. Thus, रस becomes the defining characteristic of the body.

5.2 The रस-s discussed in VSU : The रस-s of the body come forth establishing the emotional attitude.[109] From the रस, many fluctuations arise in the mind. Forms become manifold due to different रस-s.[110] There are nine रस-s, namely, शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, विभत्स, शान्त and अद्भूत[112] of which at least eight have got due recognition in this text.

5.3 Different lines used for expression of different रस-s : For the expression of nine रस-s different kinds of lines are used[111].

5.3.1 शृङ्गार : शृङ्गार is the first रस[113]. For example, on seeing a woman a desire arises in a man to get united with her due to infatuation. This is the common truth in all living beings. When the feeling of delight (मुदभाव) arises, it takes the form of a love image. For love images (शृङ्गाररूप) horizontal lines should be used[114]. A cheerful countenance is their characteristic feature[115].

5.3.2 हास्य : When desire is fulfilled, the mind rejoices and bursts out into laughter[116]. Thus, the laughter or हास्य is the second रस[117]. Images bestowing the mood of laughter give joy to the heart of men[118]. In fact, by seeing the features of the face, one can know the रस : मुखलक्षणाद् रसं जानन्ति सर्वे ईक्षणेन[119].

5.3.3 करुण : Compassion (or करुण) is the third रस. [120] Half closed eyes are its characteristic features. From affliction the mind becomes inactive. This is called exhaustion and from exhaustion again results depression and from that arises anger (क्रोध).[121]

5.3.4 रौद्र : The furious sentiment रौद्र is the fourth रस.[122] The artists call the furious mood as *ugra* in the image. The mouth (face) is expanded, the eyes are dilated, the hands hold fighting weapons, these are their features[123]. The रौद्र sentiment becomes evident in the oblique lines in the image : तीर्यग्रेखायां रूपाङ्गाभावः प्रकटीभवति[124]. By the furious sentiment the body becomes distorted[125].

5.3.5 वीर : The heroic sentiment (वीरभाव) is the fifth रस.[126] In these figures, the body, face and eyes are assymetrial which is its characteristics. The lines (movement) of their feet are swift. Their face has the expression of heroism. They are as if overwhelmingly terrifying[127].

5.3.6 भयानक : In fact, when the heroic sentiment becomes excessive it becomes terrifying (भयङ्कर) and this is the sixth रस which is different from वीर : वैरभावे उत्कटे भयङ्करो

भवति स वैलक्षण: षष्ठरस:[128].

5.3.7 विभत्स : The deformed figures with their limbs in disarray are placed on diagonal lines. This is the last means of expression and known as the seventh रस called विभत्स[129].

5.3.8 शान्त : Due to realisation one becomes detached[130]. Thus, the eighth rasa arises which is called sentiment of peace (शान्त)[131]. In this way, by the eight transformations of a living being, the eight emotional states (भावा-s) are produced : जीवस्याष्टविकाररूपेणाष्टभावा: सम्पद्यन्ते[132].

5.3.9 अद्भूत : The sentiment of wonder (अद्भुत) is the ninth रस which can be merged in that of fear. May be, therefore, the author is silent about this रस. Thus, in शिल्प, the sentiment of wonder is to be inferred.

5.4 The four main types of the images : In conformity with the sentiment, images are of four main types. All those having a peaceful character depend on vertical lines (अग्नि). All this in sorrowful mood depend on the horizontal (water) lines. Those whose limbs depend on the diagonal lines are expressing anger (रौद्रा:). The angry mixed heroic figures are supported on oblique lines[133]. In this world, mind is the cause of experiencing sentiments[133]. Of humans it is the mental modification (वृत्ति) which is important.[134] From the mental modification arise inactive and active sentiment. This is the way which is the result of actions. With this, the स्थापक-s meditate on form with the knowledge of शिल्प and become ब्राह्मण-s.

5.5 Different traditions as per divinities : In fact, from different divinities arise different traditions: दैवभेदात् मार्गभेदा उपजायन्ते[135]. For example, from विष्णु the वैष्णव-s, from रुद्र the रौद्र-s, from इडा the ऐडा-s, from अम्बा the अम्विन-s and from सविता the सौर[136]. With this differentiation the ब्राह्मण-s worship images. He who knows this, is a knower of forms (य एतद् जानाति स रूपज्ञ:) and those who carve images in stone, are sculptors (ये रूपशैले रूपमाचरन्ति ते रूपकारा:). They create image according to their knowledge of forms (ते रूपबोधे रूपाणि आचरन्ति). For those images (of the divinities) the priests perform sacrifices freely according to their desires (तद्रूपार्थ कामचारा यज्ञं कुर्वन्ति)[137].

6. सम्बन्ध.प्रबोधानम् (integration of the composition)

6.1The conception of the composition : The conception of the composition or न्यासधारणा is most essential. In fact, this conception is creation: सा धारणा सृष्टि:[138]. According to the difference of mental modification (वृत्ति), a difference arises in the conception of divinities. Owing to this differentiation, they conceive the images (प्रतिरूपाणि)[139].

6.2 Elements constituting images : The science of (शिल्प) is to make manifest the divine features[140]. The शिल्पोद्गीथ-s, स्थापक-s and the priests make many types of composition (न्यास) in due order[141]. There are nine elements constituting images in their order. They are : composition (न्यास or रेखान्यास), ornamentation (अलङ्कार), gestures (मुद्रा), weapons (आयुध), postures (बाध्रकक्ष or आसन), vehicles (वाहन), secondary divinities (उपदेव),

enemies (अरि) and devotees (स्तुवक)[142]. These nine elements are not for human images but for divine images.

6.2.1 Composition (न्यास or रेखान्यास) : For obtaining the correct disposition of the limbs, the wise स्थापक-s make lines on the stone. The turban clad sculptors trace the lines on the stone panel with white stone-powder as per the attitude of the god[143]. Three types of lines are essential[144] : (i) Vertical lines are fire-lines like a flame soaring upwards, (ii) Horizontal lines are water-lines like the flow of rivers and (iii) Diagonal lines going to the corners are wind-lines like the transversal motion of the wind. Specifically there are four parts in the figure[145].They are: पार्थिवाङ्गम्, जैवाङ्गम्, प्राणाङ्गम् and देवताङ्गम् (पादान्ताद् गुल्फपर्यन्तं पार्थिवाङ्गम्, गुल्फान्नाभिपर्यन्तं जैवाङ्गम्, नाभेः कण्ठावधि प्राणाङ्गम्, कण्ठाद् ब्रह्मरन्ध्र.पर्यन्तं देवताङ्गम्)[146].

Inside the grid of the image there are two बिन्दु-s. The ब्रह्म-बिन्दु is the central point like ब्रह्मन् and the middle of the upper part is the बिन्दु called सत्य[147]. ब्रह्मन् and सत्य are born in the beginning[148]. When the limbs of the image are depending on the ब्रह्म-बिन्दु they become harmonious[149].

6.2.2 Ornamentation (अलङ्करण) : Ornamentation in this context means the decoration of divine images.[150] By ornamentation an attractive sight is obtained by which worshippers are gladdened. Many kinds of ornaments are to be used, namely, turbans, three tired crowns, hair knots, matted hair for ऋषि-s, ear-ornaments in form of serpents, pendants, rings, necklace with a double knots or gold coins etc. [151] From the ornamentation of the images arises delight, from delight grows contemplation (दर्शन) and from understanding the image, the realization of ब्रह्मन् which is bliss[152].

6.2.3 The hand-gestures (करमुद्रा) : The hand-gestures manifest the emotional attitude of the image [153]. It is instrumental in the sacrifice. The sculptors use these sacrificial मुद्रा-s in the image. There is no difference between the मुद्रा-s made by the priests and the sculptors . The action is reflected in the body of the images. There are five मुद्रा-s famous in this context : तर्जनी, वर, अभय, योग and व्याख्यान[154]. These are treated as principal or best hand-gestures.

6.2.4 The postures (आसन-s) : There are six principal postures (आसन-s) [155]. They are : सुखासन (peaceful attitude), विपमासन (heroic attitude), स्वस्तिकासन (attitude of wisdom), योगासन (attitude of self realisation), कुक्कुटासन (attitude of longing) and सौम्यासन (feeling of firmness) [156]. The postures reveal the action of the figure. The form of the body (its appearance) is of two main types which are distinguished by standing and seated postures. Standing figures are called उत्सर्ग-s and seated figures are आसिक-s in different images. Aspre the actions in sacrifice, thus the postures are represented in stone sculptures [157].

6.2.5Types of images as per गुण-s : There are three types of images according to three गुण [158]. सात्त्विक images are derived from सत्त्वगुण, whereas राजसिक and तामसिकगुण-s are derived from रजोगुण and तमोगुण respectively. Images leading to union with the divinity are

सात्त्विक- images. On the other hand, those who procure bodily satisfaction are राजसिक. Those images meant to give death to an enemy तामसिक. The science of image-making of this वास्तुवेद follows the order of the qualities[159].

6.2.6 The vehicles (वाहन) : The vehicle is a special means for revealing the nature of figure : वाहनं रूपस्य प्रकृतिज्ञापकविशेषः [160]. For example] यम is extracting the life breath, thus, he is mounted on a terrorising bufallow. Some of the vehicles attributed to different deities are as follows : घोरमहिष to यम , मेष to वैश्वानर, एकरथाङ्ध्वरथ to सविता, धार्मवृषभ to रुद्र, हंस to प्रजापति, सुपर्ण to विष्णु and द्विपी to अम्वा.[161]

6.2.7 Attendant divinities (उपदेव) : Attendant divinities are secondary figures. उपदैवतम् प्रतिरूपमिति[162]. The aspects of the main image are known by attendant divinities. Here are some attendant divinities associated with the following principal divinities : इन्द्राणी (pro-creative power) to इन्द्र, वायुनामी (speed) to मारुत, इला (supporting) to सोम, वारुणी (flowing) to वरुण, छाया (depending) and उषा (pretrating) to सूर्य, धृति (bearing) and विधृति (flowing) to शेष, अम्वा and अम्वालिका (generating) to रुद्र, श्री (conferring liberation) and पृथिवी (enduring) to विष्णु, गायत्री (knowledge), सावित्री (intelligence) and सरस्वती (wisdom) to हिरण्यगर्भ and सुन्दरी, मोहिनी (protecting) to दुर्गा (comm. on VSU VI-21). These secondary divinities are created as the consorts (जाया) to main divinities. These शक्ति-s are their attributes. Where there are many qualities, on account of secondary states, the attendant divinities are also many.

6.2.8 The enemies (अरि) : The demons and flesh-eaters coming from lower knowledge like यातुधान, पृष्णिपणि, कण्वजम्भ and others inflict fears to the gods and give them troubles. They destroy the purposes of others like sacrifice etc. according to their different nature.

6.2.9 The devotees (स्तुवक) : The sages or the ऋषि-s are the singers of the praises. They save gods by sacrifices. By worshipping the gods they become spiritual.

6.3 The purpose behind the exposition of वास्तु : The exposition of art (वास्तु) is for the purpose of conferring knowledge : प्रज्ञार्थमेतद् वास्तूपाख्यानम्[163]. This is the वास्तुसूत्रोपनिषद् which is the excellent exposition given by the venerable पिप्पलाद. Whosoever understands it becomes a master of form : रूपाचार्य, or a वास्तूद्गीथ (वास्तुसूत्रोपनिषद् भगवतः पिप्पलादस्य भव्यं व्याख्यानम्, यो जानाति स रूपाचार्यो भवति)[164].

7. Conclusion : As we observed, the text VSU and its commentary विषयबोधिनी or परिशुद्धि depict mainly the following subjects : stones, compositional diagram, carving stones, disposition of the parts of the image, the basic moods (emotions) connected with images, and the total composition of the image panel. The text also deals with the basic symbolism of the compositional diagram, the micro-macrocosmic correspondences in sacred images, the derivation of the original anthropomorphic image from the symbolic pillar of sacrifice and the application of aesthetic experience of रस and भाव to image making. The metaphysical question of the origin of form and its importance for the attainment of spiritual realisation

(or मोक्ष) is central to the text.

The importance and the demand of this text can be inferred from the fact that it has seen at least four revised editions within just eighteen years. Since the present work helps in enriching the branch of scientific literature in general and that of art and architecture (वास्तुशास्त्र) in particular, the modern society will also be benefitted by this important text .

References :

वास्तुसूत्रोपनिषद् (The Essence of Form in Sacred Art) ; Critically edited and translated with Notes by Alice Boner, Sadashiv Rath Sharma and Bettina Baumer; pub. by Motilal Banarsidass Publishers Pvt. Ltd., Delhi ; Fourth Revised Edition 2000; pp. 226 ; price : Rs.350.00 (cloth bound)

1. VSU III. 12 etc.
2. VSU I.6
3. भागवतपुराण - 3.12. 37-39
4. इदम् आथर्वणीय- वास्तुसूत्रोपनिषद् आथर्वणाचार्य. सोमभट्टेन कृत-विषयबोधिनी-टिप्पणी-समेतं लिखितं मया...vide, Colophon 'Ka'-manuscript)
5. VSU. II.9
6. Ibid II.16
7. Ibid III .10
8. Ibid 11.17
9. Ibid 11.3
10. Ibid 11.3
11. Ibid V.17
12. Ibid 11.17
13. Comm. on VSU 3.12
14. Comm. on VSU 1.8
15. वैतानसूत्र of Atharva-veda 13.1.47, Vide Comm. on VSU I.3
16. Comm. on VSU I.3
17. VSU I.4
18. Comm. on VSU I.5
19. VSU I.7
20. VSU I.8
21. VSU I.9
22. VSU I.10
23. VSU II.1
24. Comm. on VSU II.1
25. Comm. on VSU II.3
26. Ibid .
27. AV 10.10.6, also स्वधाप्राणा महीलुका
28. Comm. on VSU II.3
29. Ibid
30. AV 6.19.1
31. Comm. on VSU II.4
32. Comm. on VSU II.8
33. Ibid
34. VSU II.9
35. Comm. on VSU II.9
36. VSU II.10
37. VSU II.11
38. VSU II.18
39. Comm. on VSU II.19
40. Ibid
41. VSU II.20
42. Comm. on VSU II.20
43. Comm. on VSU II.21
44. Comm. on VSU II.22
45. Ibid
46. VSU II.23
47. Comm. on VSU II.23
48. VSU II.24
49. VSU II.25

50. VSU II.26
51. Comm. on VSU II.26
52. VSU III.1
53. Comm. on VSU III.1
54. Ibid
55. VSU III.2
56. VSU III.3
57. Comm. on VSU III.3
58. VSU III.4
59. Comm. on VSU III.4
60. VSU III.5
61. Comm. on VSU III.5
62. AV 2.17.6-7, Comm. on VSU III.5
63. VSU III.6
64. Comm. on VSU III.6
65. Ibid
66. VSU III.7
67. Comm. on VSU III.7
68. Ibid
69. VSU III.8 and Comm. on VSU III.8
70. Comm. on VSU III.8
71. AV. 2.25.1, VSU III.10 and Comm. thereupon
72. VSU III.11
73. Comm. on VSU III.11
74. VSU III.14
75. Comm. on VSU III.14
76. VSU III.15
77. VSU III.18
78. Comm. on VSU III.18
79. VSU III.19
80. Comm. on VSU III.19
81. VSU IV.1
82. Comm. on VSU IV.1
83. VSU IV.2
84. Comm. on VSU IV.3
85. VSU IV.9
86. Comm. on VSU IV.9
87. VSU IV.13
88. Comm. on VSU IV.14
89. VSU IV.14
90. Comm. on VSU IV.14
91. VSU IV.21
92. Comm. on VSU IV.21
93. VSU IV.22
94. Comm. on VSU IV.22
95. VSU IV.24
96. Comm. on VSU IV.24
97. VSU IV.25
98. Comm. on VSU IV.25
99. VSU IV.27
100. Comm. on VSU IV.27
101. VSU IV.28
102. Comm. on VSU IV.28
103. VSU IV.29
104. Comm. on VSU IV.29
105. VSU V.1
106. Comm. on VSU V.1
107. VSU V.2
108. VSU V.3
109. Comm. on VSU V.3
110. VSU V.4
111. VSU V.5
112. Comm. on VSU V.5
113. VSU V.6
114. VSU V.7
115. Comm. on VSU, V.7
116. Ibid
117. VSU IV.8
118. Comm. on VSU, V.8
119. VSU V.9
120. VSU V.10
121. Comm. on VSU V.10
122. VSU V.11

123. Comm. on VSU V.11
124. VSU V.12
125. Comm. on VSU V.12
126. VSU V.13
127. Comm. on VSU V.13
128. Comm. on VSU V.14
129. VSU V.15
130. Comm. on VSU V.15
131. VSU V.16
132. Comm. on VSU V.16
133. VSU V.17
134. Comm. on VSU V.18
135. VSU V.24
136. Comm. on VSU V.24
137. Ibid
138. Comm. on VSU VI.1
139. Comm. on VSU VI.2
140. VSU VI.3
141. Comm. on VSU VI.9
142. VSU VI.4
143. Comm. on VSU VI.4
144. VSU VI.5
145. VSU VI.10
146. Comm. on VSU VI.10
147. Comm. on VSU VI.11
148. VSU VI.12
149. VSU VI.13
150. VSU VI.14
151. Comm. on VSU VI.14
152. Comm. on VSU VI.15
153. VSU VI.16
154. Comm. on VSU VI.16
155. VSU VI.18
156. Comm. on VSU VI.18
157. Ibid
158. VSU VI.19
159. Comm. on VSU VI.19
160. VSU VI.20
161. Comm. on VSU VI.20
162. VSU VI.21
163. VSU VI.26
164. Comm. on VSU VI.26

Dr. Banamali Biswal
Associate Professor, Vyakaran,
Rashtriya Sanskrit Sansthan, Ganganath Jha Campus, Allahabad



विभक्त्यर्थविचारे नागेशभट्टमौनिश्रीकृष्णभट्टयोः मतभेदानुशीलनम्

भारत भूषण त्रिपाठी

संस्कृतवाङ्मये व्याकरणशास्त्रस्य प्राधान्यं सर्वैः स्वीक्रियते। तत्रापि महामुनिपाणिनि-विरचिताष्टाध्यायीग्रन्थो मूर्धन्यः। अष्टाध्यायीमाश्रित्य प्रयोगमभिलक्ष्य श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितः सिद्धान्तकौमुदीग्रन्थं रचयामास। सिद्धान्तकौमुदीमाश्रित्य अनेकैः आचार्यैः बह्व्यः टीकाः रचिताः। तत्र प्रौढमनोरमा, लघुशब्देन्दुशेखरः इतिग्रन्थद्वयमन्यतमं वर्तते। तेषु ग्रन्थेषु बहूनि प्रकरणानि सन्ति। तत्र समागतप्रकरणेषु कारकप्रकरणस्य मुख्यं स्थानं वर्तते। तदुपजीव्य श्रीमता मौनिकृष्णभट्टेन लघुविभक्त्यर्थनिर्णयो इति नामको ग्रन्थो व्यरचि। तस्मिन् ग्रन्थे बहुषु स्थलेषु श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितसिद्धान्ताः श्रीमन्नागेशभट्टसिद्धान्ताश्च कृष्णभट्टेन स्वदृष्ट्या निरूपिताः। यथा "प्रातिपदिकार्थलिङ्परिमाण-वचनमात्रे प्रथमा" इति सूत्रे परिमाणग्रहणस्य सार्थक्यं प्रतिपादयता भट्टोजिदीक्षितेन लिखितं यत् द्रोणो व्रीहिरित्यस्य द्रोणाभिन्नं यत् परिमाणं तत् परिछिन्नो व्रीहिरिति अभीष्टशाब्दबोधाय परिमाणग्रहणं क्रियते। श्रीमन्नागेशभट्टेनोक्तं यत् द्रोणः खारी आढकम् इत्यस्य प्रातिपदिकार्थत्वाभावात् प्रथमायाः अप्राप्तेः प्रथमाविधानार्थं सूत्रे परिमाणग्रहणं क्रियते। विषयेऽस्मिन् मौनिकृष्णभट्टः आह यत् परिमाणग्रहणाभावेऽपि द्रोणो व्रीहिरित्यस्य दीक्षिताभिमताभीष्टशाब्दबोधो भविष्यति। तत्र अयमेव सन्देहो वर्तते, यत् परिमाणग्रहणाभावे द्रोणप्रातिपदिकात् प्रातिपदिकार्थे प्रथमाविधानात् द्रोणपदार्थस्य व्रीहिपदार्थे अभेदान्वयः स्यात्। नामार्थयोरभेदातिरिक्तः सम्बन्धः अव्युत्पन्नः इति नियमात्। तत्र कृष्णभट्टेनोक्तं यत् नास्त्येष नियमः यत् नामार्थयोरेवाभेदान्वय अथवा नामार्थयोरभेदान्वय एव भवति। नामार्थयोः भेदेनापि अन्वयो जायते। वैश्वदेव्यामामिक्षा, स्तोकं पचति, घटश्च पटश्च इत्यादिस्थलेषु कुत्रचित् भेदेन कुत्रचिच्च अभेदेन अन्वयस्य सत्वात्। कल्प्यते यत् यत्र अभेदबोधे उत्थिता आकांक्षा स्यात्, तत्रैव प्रथमा विधेया। अर्थात् सम्भवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यस्यान्याय्यत्वम्। तेन सति प्रयोगे भेदेनान्वयविवक्षायामपि प्रातिपदिकार्थे प्रथमा विधीयते। सन्ति एतादृशानि बहूनि स्थलानि यत्र कृष्णभट्टेन नूतनसिद्धान्ताः विस्फोरिताः। प्रायः तान् मुख्यसिद्धान्तान् शोधानिबन्धेऽस्मिन् प्रस्तोतुं प्रयासो विहितः।

1. परिमाणग्रहणविचारः

''प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा'' इति सूत्रे परिमाणग्रहणविषये अस्ति आचार्याणां मतभेदः तत्र यथाक्रमं निरूप्यते।

1.1 श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितस्य मतम्

श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितेन परिमाणग्रहणविषये प्रतिपादितं यत् द्रोणशब्दात् द्रोणद्रोणत्वपुंस्त्वाद्यर्थस्य नियतोपस्थितिसत्त्वात् प्रातिपदिकार्थे एव प्रथमा सेत्स्यति तदर्थं परिमाणग्रहणं व्यर्थं, अथवा 'स्त्रियामाढकौ'

इति कोशवचनात् अनियतलिङ्गवाचकात् द्रोणप्रतिपदिकात् लिङ्गाधिक्येऽपि प्रथमा विभक्तिः कर्तुं शक्यते तदर्थं (प्रथमाविधानार्थं) सूत्रे परिमाणग्रहणस्य न किञ्चित् प्रयोजनम्। अतः दीक्षितमते 'द्रोणो व्रीहिः' इत्यत्र अभीष्टः शाब्दबोधः यथा स्यात् तदर्थं सूत्रे परिमाणग्रहणं क्रियते। परिमाणग्रहणाभावे प्रातिपदिकार्थे प्रथमां विधाय तस्यापि नामार्थत्वात् पुनः द्रोणपदार्थस्य व्रीहिरूपे नामार्थे अभेदेने अन्वयः प्राप्यते[1], 'नामार्थयोरभेदातिरिक्तः सम्बन्धः अव्युत्पन्नः इति नियमात्। अत्र द्रोणाभिन्नो व्रीहिः इति शाब्दबोधः प्रसक्तः, तन्मा भूत्, अतः सूत्रे परिमाणग्रहणं क्रियते। तत्सत्त्वे तु विशेषपरिमाणार्थवाचकात् द्रोणप्रातिपदिकात् सामान्यपरिमाणार्थे प्रथमा विधीयते, प्रकृत्यर्थस्य विशेषपरिमाणस्य प्रत्ययार्थे सामान्यपरिमाणार्थे अभेदेनान्वयः क्रियते, प्रत्ययार्थपरिमाणस्य परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावसम्बन्धेन व्रीहावन्वयः क्रियते तस्मात् द्रोणाभिन्नं यत् परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरिति शाब्दबोधः सम्पद्यते।[2]

1.2 नागेशभट्टमते परिमाणग्रहणस्य प्रयोजनम्

श्रीमन्नागेशभट्टेन सूत्रे परिमाणग्रहणस्य प्रयोजनम् प्रतिपादयता निरूपितं यत् सूत्रे परिमाणग्रहणाभावे द्रोणशब्दात् प्रथमा न स्यात्। यतो हि द्रोण-प्रातिपदिकात् द्रोणद्रोणत्वयोः परिमाणत्वेन परिमाणरूपार्थस्य च प्रातिपदिकार्थापेक्षया आधिक्यात् प्रवृत्तिनिमित्त- तदाश्रयरूपप्रातिपदिकार्थमात्रस्य अभावात् प्रातिपदिपदिकार्थे प्रथमा न प्राप्नोति। प्रातिपदिकार्थापेक्षया लिङ्गमात्राद्याधिक्येऽपि प्रथमा न प्राप्नोति यतो हि तत्र लिङ्गातिरिक्तपरिमाणत्वेन परिमाणरूपार्थस्य अधिकस्य भानात्, अतः तत्र प्रथमां विधातुं सूत्रे परिमाणग्रहणं क्रियते।[3] तत्सत्त्वे प्रातिपदिकार्थापेक्षया यत्र परिमाणमधिकं भासते ततोऽपि प्रातिपदिकार्थे प्रथमा स्यात्। तदर्थं सूत्रे परिमाणग्रहणम्। श्रीनागेशमते द्रोणः, खारी, आढकमित्येव प्रातिपदिकार्थस्योदाहरणं प्रदत्तम्।

1.3 श्रीमौनिकृष्णमते परिमाणग्रहणस्य खण्डनम्

श्रीमता मौनिकृष्णेन सूत्रे परिमाणग्रहणस्य न किञ्चित् प्रयोजनमिति प्रतिपादितम्।

प्राच्यैः यदुच्यते परिमाणग्रहणाभावे द्रोणो व्रीहिः इत्यस्मात् वाक्यात् द्रोणाभिन्नो व्रीहिरिति अनिष्टशाब्दबोधो भविष्यति तन्माभूत् तदर्थं परिमाणग्रहणं क्रियते। तत्र परिमाणग्रहणात् द्रोणात् परिमाणार्थे प्रथमायाः विधानात् नामार्थयोरभावात् अभेदेनान्वयो न जातः, अपितु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावरूपभेदसंसर्गेण अन्वयः सम्पन्नः। यदि एवं न स्यात् तदा द्रोणो व्रीहिमानय इत्यपि प्रयोगः स्यात्। तत्र मौनिश्रीकृष्णभट्टेनोच्यते यत् वस्तुतः परिमाणग्रहणाभावेऽपि यत्र अभेदसम्बन्धेन अन्वये उत्थिताकाङ्क्षा स्यात् तत्रैव प्रथमा विधेया।[4] यत्र अभेदेन अन्वयस्य आकाङ्क्षा नास्ति तत्र नामार्थयोः भेदेनापि अन्वयः कर्तुं शक्यते। यतो हि नास्ति एष नियमः यत् ''नामार्थयोरेवाभेदान्वय अथवा नामार्थयोरभेदसम्बन्धेनान्वय एव। यथा- 'वैश्वदेव्यामामिक्षा', इत्यत्र प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोः अभेदेनान्वयः क्रियते। 'स्तोकं पचति' इत्यत्र स्तोकपदार्थस्य अभेदसम्बन्धेन धात्वर्थे पाकेऽन्वयः क्रियते। एवमेव घटश्च पटश्च घटरूपनामार्थस्य 'च'-रूपनामार्थे भेदेन अन्वयः क्रियते। अत्र प्रकारद्वयेन अन्वयः क्रियते। चकारार्थसमुच्चयस्य घटे अवयवावयविभावेन अन्वयः क्रियते। तस्य शाब्दबोधो भवति- 'समुच्चितो घटः' अथवा घटरूपनामार्थस्य 'च' इति नामार्थे निरूपितत्वसम्बन्धेन अन्वयः क्रियते। तथा घटविशिष्टसमुच्चयः। अत्र नामार्थयोः भेदेनान्वयो भवति तथैव द्रोणो व्रीहिः' इत्यत्र द्रोणपदार्थस्य अर्थात् द्रोणरूपनामार्थस्य व्रीहिरूपनामार्थे परिच्छेद्य- परिच्छेदकभावरूपभेदसंसर्गेणान्वयविवक्षा वर्तते। तस्मात् एतादृशाकाङ्क्षाबलात् नामार्थयोरपि भेदेनान्वयो भवति। अत एव आचार्येण कृष्णभट्टेनोक्तम् यत् 'सम्भवति सामानाधिकरणे वैयधिकरणस्यान्याय्यत्वम्। भेदापेक्षयाभेदस्यान्तरङ्गत्वात् परिभाषामूलोपन्यासः'।[5] एतादृशान्वयस्वीकारादेव 'द्रोणं व्रीहिम् आनय' इत्यपि प्रयोगो भविष्यति सामानाधिकण्याभावात् अर्थात् सामानार्थकत्वाभावात्। अत्रापि द्रोणपदार्थस्य व्रीहौ परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेनान्वयो भविष्यति। अन्यथा

प्राच्यमतानुसारेण द्रोणात् परिमाणार्थे तु ''प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा''[5] इति सूत्रेण प्रथमा भविष्यति। तस्य परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहान्वयः भविष्यति। किञ्च 'द्रोणं व्रीहिम्' इत्यत्र कथं पूर्वोक्तसम्बन्धेन अन्वयो प्राप्स्यति द्वितीयार्थस्य परिमाणार्थे अविधानात् तत्र तु अभेदेनैव अन्वयो प्राप्स्यति। तद्वारणाय द्रोणपदस्य परिमिते लक्षणा भविष्यति। पश्चात् द्रोणपरिमितस्य अभेदेन व्रीहावन्वयः। अतः एकत्र लक्षणा एकत्र शक्त्या अन्वयः वृत्तिद्वयप्रसङ्गात् गौरवम्। अन्यैः आचार्यैः द्रोणं व्रीहिम् इति प्रयोगस्यैवानभिधानम् इति उच्यते।

1.4 अभेदसम्बन्धविषये श्रीनागेशमतम्

अभेदसम्बन्धविषये श्रीनागेशः आह 'इतरसम्बन्धानवच्छिन्नविशेषणविशेष्यभाव एव अभेदः'।[6] स च कश्चन तदतिरिक्तः अन्यः संसर्गो न। न विद्यते भेदः संसर्गः अवच्छेदकतया यत्र विशेष्यविशेषणभावे। अर्थात् यत्र विशेष्यविशेषणयोः कश्चन नियामकः अन्यः सम्बन्धः न स्यात्, अपितु विशेष्यविशेषणभावमात्रस्यैव प्रतीतिः स्यात्। तत्र विशेष्यविशेषणभाव एव अभेदः। विषमपदवृत्तिकारेणोक्तं[7] यत् अभेदस्य संसर्गत्वे नीलो घटः इत्यादौ विशेषणवाचकात् षष्ठी स्यात्। विशेष्यविशेषणभावे तु न षष्ठी, तस्य बोधसामान्य-सामग्रीलभ्यत्वेनाऽन्यलभ्यत्वात्। 'राहोः शिरः' इत्यत्र औपाधिकभेदेन व्यपदेशिवद्भावेन षष्ठी विधीयते।

1.5 अभेदसम्बन्धविषये श्रीमौनिकृष्णभट्टस्य मतम्

'अभेदः' सम्बन्धः इति विषये आचार्यश्रीकृष्णभट्टाः आहुः यत् सामनाधिकरण्ये सति स्व विशेष्यविरुद्धविभक्तिरहितनामार्थस्य प्रकारतासम्बन्ध एवाभेदसम्बन्धः'।[8]तस्मात् द्रोणो व्रीहिरित्यत्र सामानाधिकरण्याभावात् अर्थात् एकार्थबोधकत्वाभावात् समानविभक्तिकत्वेऽपि न अभेदसम्बन्धः। यैरुच्यते यदि अभेदः सम्बन्धः स्यात् चेत् तदा नीलो घट इत्यत्र नीलघटयोरभेदस्य सत्त्वेन सम्बन्धप्रतियोगिवाचकात् नीलप्रातिपदिकात् षष्ठी स्यात्। तत्र समाधीयते यत् यदि अभेदसम्बन्धे षष्ठी स्यात् तदा ''अनेकमन्यपदार्थे' इत्यनेन अनेकसमानाधिकरण- प्रथमान्ताभावात्समासविधानं व्यर्थं स्यात् तदा वीराः पुरुषाः यस्मिन् इत्यत्र वीराभिन्नपुरुषः, इत्यत्र अभेदसम्बन्धात् वीरपदोत्तरषष्ठीविधानात् वीरस्य पुरुषः इति सत्त्वात् वीरपुरुषयोः अनेकप्रथमान्तसुबन्तत्वाभावात् समासविधानमेव व्यर्थं स्यात्, यद्युच्यते कण्ठेकालः इत्यत्र अवकाशः वर्तते तत्र अनेकप्रथमान्तत्वं नास्ति तत्र सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' इत्यनेन पूर्वनिपातविधानवत् समासोऽपि कर्तुं शक्यते। तस्मात् ज्ञायते यत् अभेदसम्बन्धस्य प्रतियोगिभूतोऽर्थः तद्वाचकात् षष्ठी न विधीयते। अथवा आदौ पृथक् पृथक् पदात् प्रातिपदिकार्थे प्रथमां विधाय पश्चात् उभयो अन्वयः क्रियते। तस्यामवस्थायां प्रातिपदिकार्थे प्रथमाविधानात् कारकप्रातिपदिकार्थ- व्यतिरिक्तशेषत्वाभावात् सम्बन्धबोधाभावाच्च षष्ठ्याः प्राप्तेरभावः। आचार्याः कृष्णभट्टाः आहुः यत् यत्र सम्बन्धः प्रकारतया भासते तत्र षष्ठी विधेया यत्र सम्बन्धः संसर्गतया भासते तत्र प्रथमा विधेया। अत्र अभेदः संसर्गतया भासते तस्मात् प्रथमा विधीयते। वस्तुतः शब्दशक्तिस्वाभावात् सामानाधिकरण्यस्थले षष्ठी न विधीयते। वीराः पुरुषाः यस्मिन् इत्यत्र वीरपदोत्तर षष्ठी क्रियते चेत् तदा समानविभक्त्यभावात् नामार्थयोरभेदान्वयः इति नियमभङ्गो भवति। यदि कथ्यते 'राहोः शिरः' इत्यत्र अभेदेऽपि तत्र षष्ठी विधीयते, तत्र तु व्यपदेशिवद्भावेन षष्ठी प्रतिपाद्यते। यदि अभेदसम्बन्धे षष्ठी स्वतः प्राप्येत तदा व्यपदेशिवद्भावाश्रयणं ततः षष्ठीविधानादिकं व्यर्थं स्यात्। तस्मात् ज्ञायते यत् अभेदे षष्ठी न भवति। अभेदः संसर्गः वर्तते संसर्गे षष्ठी स्यात् इति प्रतिपादयन्तः आचार्याः परास्ताः। यैरुच्यते यत् षष्ठ्यर्थ एव सम्बन्धः[1]। षष्ठ्या प्रतीयमानत्वाभावात् अभेदस्य सम्बन्धत्वं नास्ति इति, तन्न, 'सामीप्यस्य सम्बन्धत्वेऽपि भवखिस्तस्य षष्ठ्यर्थत्वास्वीकारात्। अर्थात् यथा 'अस्तेर्भूः' इत्यत्र सामीप्यवाचकपदाध्याहारात् तस्यार्थस्य बोधः क्रियते' न तु षष्ठ्यर्थत्वेन सामीप्यस्य बोधः क्रियते। तच्च सामीप्यं सम्बन्धः वर्तते। अतः

षष्ठ्यर्थत्वाभावेऽपि सम्बन्धस्य भानं भवति इति मौनिश्रीकृष्णस्याभिप्राय:। अत एव तेनोक्तम् ''तस्माद्विशेषयुक्त्यभावेन सर्वशास्त्रकारविरुद्धमभेदस्य सम्बन्धत्वाभाववचनमयुक्तमिति दिक् इति।[9]

2. अकथितञ्च इति सूत्रार्थविचार:

2.1 प्राचीनमते दुह्यादीनां व्यापारद्वयार्थकत्वपक्षे 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इति सूत्रेणैव गवादीनां कर्मसंज्ञा सिद्धा। यदा क्रियाकारकगतसम्बन्धत्वस्य विवक्षा क्रियते तदा 'शेषे षष्ठी' इति सूत्रेण षष्ठी प्राप्ता, तां बाधितुं सूत्रमिदं क्रियते।

षष्ठ्या अपवादत्वादनेन विधीयमानकर्मसंज्ञाप्रयुक्तकर्मणि द्वितीया इति सूत्रेण विहितद्वितीयाया: सम्बन्धोऽर्थ:। अत: 'गां दोग्धि पय:' इत्यस्य गोसम्बन्धिपय:कर्मकं दोहनम् इति शाब्दबोध:।[10]

यदा एकव्यापारार्थको धातु: तदा अपादानत्वेन अविवक्षितस्य क्रियाकारकगतसम्बन्धस्य विवक्षायां षष्ठी प्राप्ता तदानीमपि षष्ठीं प्रबाध्य अनेन कर्मसंज्ञा विधीयते। तस्माद् द्वितीया जायते।

2.2 नागेशमतम्

व्यापारद्वयार्थकत्वपक्षे ''कर्तुरीप्सिततमं कर्म'' इति सूत्रेणैव कर्मसंज्ञा सिद्धा। पुन: ''अकथितञ्च'' इति सूत्रेण कर्मसंज्ञा विधीयते। तस्मिन् विषये प्राच्यैरुच्यते यद् शेषत्वेन विवक्षायां प्राप्तां षष्ठीं बाधितुम् अनेन कर्मसंज्ञा विधीयते। अत: सूत्रमिदं शेषषष्ठ्या: अपवादभूतम् तत्तु सत्यं किञ्च अपवादत्वाद् द्वितीयाया: सवन्धोऽर्थ: यदुच्यते तन्न समीचीनम्। न हि अपवादमात्रेण द्वितीया: सम्बन्धार्थबोधकत्वं वक्तुं शक्यते, अपितु क्रियाजनकत्वसमानाधिकरण- कर्मत्वशक्तिमत्त्वस्यैव बोधो भवति। अत: 'गां पयो दोग्धि' इत्यस्य गोकर्मकं पर्य:कर्मकं दोहनम् इति शाब्दबोध:।

शेखरे श्रीमता नागेशेन प्रतिपादितं यत् षष्ठ्या अपवादभूता: सर्वा: कारकविभक्तय: यदि कर्तृकर्मादिसंज्ञा- विधायकानि सूत्राणि न स्यु: तत्र सर्वत्र षष्ठी प्रवर्त्तेत, तस्मात् सर्वेषां कर्तृकर्मादीनां षष्ठ्या: अपवादत्वम् सिद्धम्, तर्हि, अपवादमात्रेण नहि सर्वेषां सम्बन्धत्वेन बोध: भवति।

अत एव तेनोक्तं तत्तच्छास्त्राभावे सर्वत्र षष्ठीप्राप्त्या सर्वासां तदपवादत्वेन तदपवादत्वमात्रेण सम्बन्धार्थकत्वं न युक्तम्।[11]

प्राचीनमते- दुह्यादिधातव: न स्वरूपपरा:, अपितु तदर्थपरा:, तत्र भाष्यप्रमाणम्। तत्र 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' इति सूत्रस्थभाष्ये पृच्छिपर्यायस्य चुद्धातोरपि द्विकर्मकत्वे प्रयोगात्।

नागेशभट्टेनोक्तं यद् दुह्यादिधातव: स्वरूपपरा:, यत्र यत्र द्विकर्मत्वं दृश्यते तत्र सर्वत्र धातो: व्यापारद्वयार्थकत्वं स्वीकर्तव्यम्।[12]

2.3 श्रीमौनिकृष्णभट्टमतानुसारेण दुह्यादिधातव: एकव्यापारार्थका: ''द्वयर्थ: पचि:'' इति भाष्यवचनात् ज्ञायते यत् 'पच्' -धातुरेव द्वयर्थ:, न तु अन्ये धातव:।[13] दुह्यादिधातव: एकव्यापारार्थकाश्चेद् 'अपादानमुत्तराणि कारकाणि बाधन्ते' इति भाष्यं कथं संगच्छेत्, तत्र कृष्णभट्टेन समाधीयते यत् तत्र भाष्ये 'गां दोग्धि' इत्येव वाक्यं वर्तते, न तु 'गां पयो दोग्धि', तत्र अवधित्वात् अपादानसंज्ञा प्राप्नोति, फलाश्रयत्वात् गोरित्यस्य ''कर्तुरीप्सिततमं कर्म'' इति सूत्रेण कर्मसंज्ञापि प्राप्नोति, तदा अपादानमुत्तराणि कारकाणि बाधन्ते इति नियमबलेन गोरित्यस्य कर्मसंज्ञा विधीयते। अनेन प्रकारेण भाष्येदं संगतं जातम्।

एकव्यापारार्थपक्षस्वीकारादेव 'गर्गेभ्य: शतं दण्डयति' इत्यत्र 'गर्ग' इत्यस्य सम्प्रदानत्वेन अविवक्षया कर्मत्वेन विवक्षया च 'अकथितञ्च' इति सूत्रेण कर्मसंज्ञा क्रियते। तस्मात् गर्ग इति अप्रधानं कर्म, 'शतमित्यस्य'

''कर्तुरीप्सिततमं कर्म'' इति सूत्रेण कर्मसंज्ञाविधानात् तत् प्रधानं कर्म तस्मात् 'शतम्' इति प्रधानकर्मानुरोधात् गर्गाणामावृत्तिर्न जायते इति भाष्यमपि संगतं भवति।

एवम् 'अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा' इत्यस्मिन् विषये अन्यैः आचार्यैः यद्व्याख्यातं भिक्षयाच्धातोः समानार्थकत्वात् भाष्यकारेण अन्यतरस्यैव ग्रहणं कर्तव्यम्, उभयोः ग्रहणात् इदमेव ज्ञायते अर्थनिबन्धनपक्षः भाष्यकारेण अस्वीकृतः। अत्र मौनिकृष्णभट्टेन उक्तं यत् वस्तुतः भिक्षयाचित्युभौ धातू न समानार्थकौ, अपितु भिन्नार्थकाविमौ। बुद्ध्या निश्चितलाभानुकूलो व्यापारः याचेरर्थः, बुद्ध्या अनिश्चितलाभानुकूलो व्यापारः भिक्षधातोरर्थः।[14] अत एव स्वधनं याचते, इत्यर्थे भिक्षते इत्यस्य प्रयोगः न क्रियते। एतादृशार्थस्वीकारे भाष्यकारेणोक्तं यद् न हि याचनादेव अपायो भवति 'याचितो यदि ददाति तदापायेन युज्यते' इति भाष्यवचनं कथं सगच्छते तत्र आचार्यैः व्याख्यातं यत् भाष्यकारेणोक्तं यत् अथ कारके सति का कर्तव्या। इति पूर्वपक्षमुद्भाव्य 'कारकं चेद् विजानीयाद् यां यां मन्येत् सा भवेत् कारकं चेद् विजानीयाद् या या प्राप्नोति सा सा कर्तव्या। दुह्यते गोः पयः, याचते पौरवात् कम्वलः।[15] इत्यत्र न हि याचनादपायो भवतीति न्यायसत्त्वेऽपि पौरवस्यापादानत्वं सिद्धयति। तद्वत् 'बलेर्गां याचते', इति वाक्ये वलेः' इत्यत्रापि अपादानत्वं वर्तते। तस्मात् बलेर्गां याचते इति प्रयोगोऽपि भवति। अपादानत्वं तु तदा सेत्स्यति यदा निश्चितलाभः। अतः तत्र निश्चितलाभस्य तादृशी बौद्धिकपरिकल्पना क्रियते। अतो ज्ञायते यत् मौनिकृष्णभट्टमतानुसारेण 'बलेः गां याचते' इति न हि अप्राप्तपूर्वकविवक्षायाः उदाहरणम्। तत्र आपादानत्वं पूर्वतः वर्तते। द्विकर्मकत्वं 'अकथितञ्च' इति सूत्रेण विधीयमानकर्मसंज्ञया बोद्धव्यम्, न तु व्यापारद्वयार्थपक्षं स्वीकृत्य ज्ञेयम्।

व्यापारद्वयार्थकत्वं स्वीक्रियते चेद् तदा विभागानुकूलव्यापारानुकूलव्यापारः दुह् धात्वर्थः, कर्तृनिष्ठप्रधानीभूतव्यापारे यस्य फलस्य साक्षादन्वयः क्रियते तस्य फलस्य यो हि आश्रयः तत् प्रधानकर्म। 'गोपः गां पयः दोग्धि' इत्यत्र गोपवृत्तिव्यापारे विभागानुकूलव्यापाररूपफलस्य साक्षादन्वयो भवति। अतः तस्याश्रयः गौः वर्तते। तदेव प्रधानं कर्म। पयः गौणकर्म। गोः प्रधानकर्मत्वे 'प्रधाने नियता षष्ठी गुणे तूभयथा भवेत्' इति भाष्याद् गोरूपे प्रधाने कर्मणि नित्यं षष्ठी स्यात्। तस्मात् 'गां पयसो दोग्धा' इति प्रयोगो न स्यात्। अनुद्देश्यत्वरूपमार्थप्राधान्यमादाय गोरित्यत्र विकल्पेन द्वितीया विधीयते चेत् तर्हि शाब्दप्रधान्यमादाय पयसः षष्ठीविकल्पापत्तौ 'गोः पयो दोग्धा' इत्यपि स्यात्।[16]

3. तृतीयार्थविचारः

3.1 कर्तृकरणयोस्तृतीया[17] इति सूत्रेण विहितकर्तृतृतीयायाः आश्रयोऽर्थः। करणतृतीयायाः व्यापारः आश्रयश्च अर्थः।[18] करणतृतीयायाः व्यापाररूपोऽर्थः कथं लभ्यते इत्याशङ्कायामुच्यते यत् करणसंज्ञाविधायकं 'साधकतमं करणम्'[19] इति सूत्रघटकतमप्' – प्रत्ययस्य प्रकर्षरूपार्थग्रहणात् करणतृतीयाया व्यापाररूपोऽर्थो लभ्यते। प्रकर्षश्च अव्यवधानेन फलजनको यो व्यापारः तद्वत्वेन गृह्यते। शाब्दबोधे उभयविधव्यापारस्य बोधात् कुत्रचित् तयोः शक्तिकल्पना आवश्यकी कर्तृनिष्ठ व्यापारस्य धातौ शक्तिः करणनिष्ठव्यापारस्य कुत्र शक्तिः यतोहि पदार्थत्वमन्तरेण शाब्दविषयतानुपपत्त्या तस्य शक्तिः कस्मिंश्चित् पदे स्वीकर्तव्या अत एव करणतृतीयायाः व्यापारोऽर्थः। साधकतमसूत्रे प्रकर्षः कारकान्तरापेक्षया गृह्यते, न तु करणान्तरापेक्षया, तत्र हेतुर्वर्तते कारकपर्यायवाचकसाधकशब्दस्य पुनः ग्रहणम् तस्मात् तमपो विधानं च। तेन 'देवदत्तः अश्वेन दीपिकया पथा गच्छति' एकस्मिन्नेव वाक्ये अनेककरणस्य प्रयोगात् यदि करणान्तरापेक्षया प्रकर्षः गृह्येत तदा एकस्मिन् स्थले कस्यचिद् एकस्यैव प्रकर्षत्वात् एकस्यैव करणसंज्ञा भविष्यति, न तु अनेकस्य। विषयोऽयं प्रभाटीकायां वर्णितः। करणविषये वाक्यपदीयकारः एवमाह–

क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्
विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत्तदा स्मृतम्।
वस्तुतस्तदनिर्देश्यं नहि वस्तु व्यवस्थितम्
स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यतः।[20]

अत्र क्रियापदेन फलं गृह्यते फलस्योत्पत्तिः यद् व्यापारादनन्तरम् भवति तद् व्यापारवत् करणम्। यथा 'काष्ठैः पचति' इत्यत्र विक्लितिरूपं फलं काष्ठव्यापारानन्तरमेव भवति। अतः काष्ठं करणम्। तस्य शाब्दबोधप्रकारः अत्र प्रदर्श्यते।

काष्ठैः पचति इत्यत्र काष्ठरूपप्रकृत्यर्थस्य प्रत्ययार्थे आश्रये अभेदेनान्वयः क्रियते। आश्रयस्य तृतीययोपस्थितव्यापारे निष्ठत्वसम्बन्धेनान्वयः। फलजनकत्वोपहितः व्यापारः तृतीयार्थः। तृतीयार्थव्यापारस्य अनुकूलत्वसम्बन्धेन धात्वर्थव्यापारेऽन्वयः- तस्मात् शाब्दबोधो भवति- काष्ठाभिन्नाश्रयवृत्तिफलोपहित-व्यापारविशिष्टविक्लित्यनुकूलो व्यापारः। अत्र वैशिष्ट्यं जन्यजनकभावसम्बन्धेन गृह्यते।

अत्र करणनिष्ठव्यापारजन्या विक्लित्तिः वर्तते। अतः तृतीयार्थकरणनिष्ठव्यापारस्य जन्यत्वसम्बन्धेन धात्वर्थफले विक्लित्तौ अन्वयः। तस्य च अनुकूलत्वसम्बन्धेन व्यापारेऽन्वयः। अतः काष्ठाभिन्नाश्रयवृत्तिव्यापारजन्या याः विक्लित्तिः तदनुकूलो व्यापारः।

विषयेऽस्मिन् मौनिश्रीकृष्णभट्ट एवं ब्रूते- 'करणतृतीयायाः अप्याश्रयो व्यापारश्चार्थः इति तन्न'। काष्ठादिकरणनिष्ठव्यापारस्य स्थाल्याद्यधिकरणनिष्ठव्यापारवद्धात्वर्थत्वावश्यकत्वेन पुनस्तृतीयार्थकल्पनस्यानु-चितत्वात्'। इति।

3.2 सहयुक्तेऽप्रधाने[21]

'सहयुक्तेऽप्रधाने' अस्मिन् सूत्रे सह शब्दः न स्वरूपपरः, अपितु अर्थपरः, युक्ते इति पदस्य ग्रहणात्। अन्यथा सह-अप्रधाने इत्येवं ब्रूयात्। तस्मात् सहार्थयोगे अप्रधानवाचकात् तृतीया। अत एव सहशब्दाभावेऽपि ''वृद्धो यूना ...'' इत्यत्र तृतीया जाता।[22] सह-पदार्थः साहित्यम्। तस्य देशकालक्रियया सह योगो जायते।

अत्र नागेशेन व्याख्यातं यद् सिद्धान्तकौमुद्यां अस्योदाहरणम् 'पुत्रेण सह आगतः पिता' इति यद् भट्टोजिदीक्षितेन प्रदत्तम् तत् चिन्तनीयम् यतो हि आगमनक्रियानिरूपितं कर्तृत्वं पुत्रे, पितरि च वर्तते। पितृगतकर्तृत्वं क्तप्रत्ययेनोक्तं पुत्रगतकर्तृत्वस्य, अनुक्तत्वात् अत्र तृतीया ''कर्तृकरणयोः'' इति सूत्रेणैव भविष्यति। तस्मात् अस्योदाहरणम् 'पुत्रेण सह स्थूलः पिता' इति देयम्। अत्र पुत्रनिष्ठं यत् स्थौल्यम् तत्समानस्थूलत्ववान् पिता इति शाब्दबोधः अत्र पुत्रस्य स्थौल्येऽन्वय, न तु अस्-धात्वर्थ। क्रियायाम्। तत्र अन्वयाभावात् तृतीया अप्राप्ता तद्विधानार्थं सूत्रमावश्यकम्।

अत्र किं नाम प्रधानत्वम् किञ्च अप्रधानत्वं च तत्र वरवर्णिन्यां लिखितम्[23] यत् शब्दतः यस्य गुणादिषु अन्वयो जायते तस्य प्राधान्यम्, यस्य शब्दतः गुणादिषु अन्वयो न जायते, तस्य अप्राधान्यम्। यथा 'पुत्रेण सह स्थूलः पिता' इत्यत्र पिता शब्दतः स्थौल्यादिगुणेषु अन्वेति। तस्य प्राधान्यम्, पुत्रादेस्तु स्थूलादिषु अन्वयः आर्थः जायते। अतः तस्य अप्राधान्यम्।

श्रीमतामौनिकृष्णभट्टेण विषयेऽस्मिन् उक्तम् यत् शेखरकारेण यदुच्यते 'पुत्रेण सह स्थूलः पिता' इत्यार्थं सूत्रमावश्यकम्, इति तन्न, कर्तृत्वस्य सम्बन्धत्वेन विवक्षायां क्रियान्वयेऽपि षष्ठी मा भूत् तदर्थं सूत्रामवश्यकम्। सम्बन्धत्वेनाविवक्षायामपि कर्तरि क्तप्रत्यये कृते 'आगत' इत्यत्र क्तप्रत्ययेन कर्तुरुक्तत्वात् तृतीयाऽप्राप्तौ क्रियायोगेऽपि तृतीया स्यात्, तदर्थं सूत्रं कर्तव्यम्। मौनिकृष्णमतस्य एष अभिप्रायः यत् 'पुत्रेण

सह आगतः पिता' इत्यत्र कर्तरि क्तप्रत्ययेन पुत्रपितृगतकर्तृत्वमुक्तम्। अतः यथा पिता इत्यत्र प्रातिपदिकार्थे प्रथमा तथैव पुत्रादपि प्रातिपदिकार्थे प्रथमा स्यात्, तन्मा भूत्, अप्रधानतात् तृतीया स्यात्। तदर्थं सूत्रं क्रियते।

4. चतुर्थीविचारः

4.1 कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम्[24]

सम्यक् प्रदीयतेऽस्मै इति सम्प्रदानम्, इति महासञ्ज्ञया दानम् इति लब्धम्। अत एव सिद्धान्तकौमुद्यां लिखितं दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात्। अर्थात् दानक्रियाकर्मणा कर्ता यमभिप्रैति सः सम्प्रदानसंज्ञकः स्यात् इति चेदुच्यते तदा 'शिष्याय चपेटां ददाति' इत्यादि प्रयोगाः कथं सेत्स्यन्ति। अत एव श्रीमता नागेशेनोक्त[25]मत्र दाधात्वर्थः क्रियामात्रस्योपलक्षणम्। अर्थात् क्रियानिरूपितं यत् कर्म तेन सह यत् सम्बद्धुमिच्छति तत् सम्प्रदानसंज्ञकं स्यात्। अत एव 'शिष्याय चपेटां ददाति', 'विघ्नविघाताय कृतं मङ्गलं शिष्य शिक्षायै निबध्नाति', 'विप्राय गां ददाति' इत्यादिपु पृथक्-पृथग्रूपेण कर्मसम्प्रदानयोः सम्बन्धः वर्तते। 'चपेटां ददाति' इत्यत्र 'चपेटा' इति कर्मणः शिष्येण सह संयोग सम्बन्धः। निबध्नाति इति क्रियामादाय मङ्गलकर्मणः विघ्नविघातस्य च विनाश्यविनाशकभावसम्बन्धः। दानक्रियामादाय गोविप्रयोः स्वस्वामिभावसम्बन्धः। अत्र शङ्क्यते यत् 'अजां ग्रामं नयति' इत्यत्र कर्ता अजारूपकर्मणः ग्रामेण संयोगम् इच्छति तस्मात् ग्रामस्यापि सम्प्रदानसंज्ञा स्यात्, तत्र समाधीयते यमभिप्रैति इत्युक्त्या हि यमिति निर्दिष्टस्य शेषित्वं कर्मणश्च शेषत्वं लभ्यते। ग्रामस्य अजां प्रति शेषित्वं नास्ति। इति प्रौढमनोरमायां लिखितम्। तत्र 'शेषि' इत्यनेन यः परार्थः सः शेषः, यत् प्रधानं तच्छेशि। यथा गौः परार्था: सा शेषः, विप्रः उद्देश्यभूतः। तस्मात् तत्प्रधानम् तच्छेशि। ततः चतुर्थी। 'अजां ग्रामं नयति' इत्यत्र ग्रामरूपकर्मणि परार्थत्वाभावात् शेषत्वं नास्ति, शेषत्वाभावात् तन्निरूपितशेषित्वमपि नास्ति। तस्मात् चतुर्थीविभक्तेः प्रसङ्गोऽपि नास्ति।

भाष्यकारेणोक्तं यत् कर्मणा इत्यत्र क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्। तस्मात् अकर्मकधात्वर्थक्रियानिरूपितोद्देश्यस्य सम्प्रदानसंज्ञायाः सत्त्वात्, 'पत्ये शेते' इत्यत्रापि सम्प्रदानसंज्ञा सेत्स्यति। पुनः 'क्रियाग्रहणं' इति वार्तिकं खण्डयता आचार्येणोक्तं क्रियापि कृत्रिमं कर्म। कर्मणा इत्यस्मादेव 'पत्ये शेते' इत्यत्र पत्ये इत्यस्य सम्प्रदानत्वं भविष्यति। पतिः मच्छयनं पश्यतु इति प्रतीत्या संदर्शनक्रियानिरूपितकर्मता शयने वर्तते तत्शयनक्रियारूपकर्मणा सह पत्युः सम्बन्धःवर्तते। तस्मात् ततोऽपि चतुर्थी जाता। पतिसम्प्रदानकं दर्शनकर्मीभूतं पत्नीकर्तृकं शयनम्, इति 'पत्ये शेते' इत्यस्य शाब्दबोधः क्रियते।

मञ्जूषायाम् श्रीमता नागेशेन दाधात्वर्थः एवं निरूपितः दा धात्वर्थश्च स्वत्वनिवृत्तिपूर्वक-परस्वत्वोत्पत्त्यनुकूलस्त्यागः।[26] अत्र शङ्कितं यत् त्यागात् परस्वत्वं कथम् उत्पत्स्यते यदा ग्रहीता स्वीकरोति तदा परस्वत्वमुत्पद्यते। न तु त्यागादेव परस्वत्वमुत्पद्यते। तत्र सार्वजनीनप्रतीतिरेव प्रमाणम्। यदा कर्ता गां ददाति तदानीमेव त्यक्तायां गवि 'इयं गौः विप्रस्य, न मम' इति व्यवहारः उत्पद्यते। अत एव विदेशस्थपात्रमुद्दिश्य त्यक्तधने यदि विदेशस्थपात्रं तद् धनं न स्वीकरोति आहोस्वित् सः मृतवान् तदानीं तद्धनस्य अधिकारी तस्य पुत्रो भवति चेत् ग्रहीतुः स्वीकृतिः अपेक्ष्यते तदा तदभावे उदासीनैरपि तद् धनम् गृह्येत। अन्येषाम् ग्रहणे प्रत्यवायो (दोषः) न स्यात्।

विषयेऽस्मिन् श्रीमौनिकृष्णभट्टेनोक्त[27] यत् ''अन्योद्देश्यकत्वविशिष्टत्यागस्य गुरुत्वेन प्रतिग्रहीतृनिष्ठ-प्रतिग्रहादेरेव तत्र स्वत्वजनकत्वात्। त्यागस्यैव स्वत्वजनकत्वे तु देवदत्तकर्तृकत्यागोत्तरं स्वत्वोत्पत्त्या प्रतिग्रहाभावेऽपि तत्पुत्रैर्ग्राह्यतापत्तिः, न चेष्टापत्तिः, अरण्यस्थदण्डादेरिव कस्यापि स्वत्वाभावेन सर्वेषां विनियुज्यत्वम् इति सिद्धान्तभङ्गापत्तिः। भवखिरपि स्वत्वं च दानादिनाश्यं प्रतिग्रहादिजन्यमतिरिक्तपदार्थरूपमिति वदद्भिः प्रतिग्रहादेरेव स्वत्वजनकस्योक्तत्वेन पूर्वापरविरोधस्य स्पष्टत्वाच्च।[28]

''कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्'' इति सूत्रघटकं 'कर्मणा' इति पदं न देयम्, यमभिप्रैति स सम्प्रदानमित्येव सूत्रस्वरूपं स्यात् तत्सत्त्वे 'पत्ये शेते' इत्यत्रापि चतुर्थी भविष्यति। तदर्थं क्रियया यमभिप्रैति इति वार्तिकमपि न कर्तव्यं भविष्यति इति चेदुच्यते तन्न, तत्र श्रीमता नागेशेनोक्तं यत् 'कर्मणा' इति पदाभावे कर्मणोऽपि उद्देश्यत्वात् अन्तरङ्गत्वाच्च तस्यैव सम्प्रदान[8]-संज्ञा स्यात् कर्मसंज्ञया तु पर्यायो भविष्यति''[29]

विषयेऽस्मिन् मौनिकृष्णभट्टेनोक्तम् यत् 'पत्ये शेते' इत्यकर्मकस्थले सम्प्रदानसंज्ञैव भविष्यति। न तु कर्मसंज्ञा, यतोहि कर्मसंज्ञा कर्तृवृत्तिव्यापारजन्यफलाश्रयस्यैव भवति। अत्र तु तथाविधं नास्ति। अतः 'विप्राय गां ददाति' इत्यत्र निरवकाशा कर्मसंज्ञा सम्प्रदानसंज्ञां प्रबाध्य गोरित्यस्य कर्मसंज्ञां विधास्यति। अतः कर्मग्रहणं निरर्थकमेव।[30] तस्मात् आचार्येणोक्तं यत् ''तस्मात् कर्मग्रहणं कर्मणश्चतुर्थीनिमित्तत्वप्रदर्शनेन कर्मश्रुत्यपेक्षया चतुर्थीश्रुतेर्बलवत्वबोधनार्थम्। तेन विक्रीते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति इति दण्डप्रदानं न प्रतिपत्तिः, किन्तु द्वितीयापेक्षया बलीयस्या चतुर्थीश्रुत्या मैत्रावरुणसंस्कारकमिति मीमांसकोद्घोषः संगच्छते।

4.2 रुच्यर्थानां प्रीयमाणः[31]

रुच्यर्थकधातुयोगे प्रीयमाणस्य सम्प्रदानसंज्ञा भवति। रुच्-धात्वर्थः कः तद्विषये श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितः आह 'अन्यकर्तृकोऽभिलाषः रूचिः'।[32] 'हरिः भक्तिमभिलपति' इत्यत्र अभिलषति-क्रियायाः कर्ता हरिः। तदपेक्षया भिन्नं कर्म भक्तिः तत्कर्म एव कर्ता यस्य अभिलाषस्य स अभिलाष एव रुच्धातोरर्थः। हरिः भक्तिम् अभिलषति इत्यत्र अभिलषतेः यत्कर्म भक्तिः तदेव रुच्धातोः कर्ता।

प्रौढमनोरमायाम् आचार्येणोक्तं यत् इदं सूत्रं प्राप्तकर्मसंज्ञां प्रबाध्य सम्प्रदानसंज्ञा विदधाति।[33] अतः एतेषां मते रुच् धातुः सकर्मकः, तस्यार्थो भवति समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रीत्यनुकूल प्रीतिव्यधिकरणव्यापारः। समवयासम्बन्धेन प्रीत्याश्रयः हरिः तस्य फलाश्रयत्वात् कर्मसंज्ञा प्राप्नोति। श्रीमता नागेशेनापि शेखरे लिखितम् यत् यत्किञ्चिन्निष्ठप्रीत्यनुकूलः प्रीतिव्यधिकरणो व्यापारः रुच्-धात्वर्थः।[34]

विषयेऽस्मिन् आचार्यमौनिकृष्णभट्टो ब्रूते- यत् रुच्धातुरयमकर्मकः। तस्यार्थः क्रियते विषयतारूफलतावच्छेदसम्बन्धेन प्रीतिसमानाधिकरणो व्यापारः रूच्- धात्वर्थः[35]। अर्थात् 'हरये रोचते भक्तिः' इत्यत्र भक्तिः विषयतासम्बन्धेन प्रीतिरूपफलाश्रयो वर्तते। सैव व्यापाराश्रयोऽपि वर्तते। तस्मात् एकत्रैव फलव्यापारयोः सत्त्वात् अकर्मकत्वं सिध्यति। तदा 'हरि' इत्यस्य कर्मसंज्ञायाः अप्राप्तेः प्राप्तषष्ठीं बाधितुं सूत्रमिदं क्रियते। अत एव अनेन विधीयमानचतुर्थ्याः सम्बन्धोऽर्थः। अत एव तेनोक्तम् ''प्रीञ् तर्पणे इति क्रयादेश्चुरादेर्वाभिलपतेश्चयोगे न, तयोः सकर्मकत्वेन रूच्यर्थत्वाभावात्''।

4.3 स्पृहेरीप्सितः

हेलाराजमतानुसारेण स्पृह्-धातोरर्थद्वयम्। यदा समवायसम्बन्धावच्छिन्न इच्छानुकूलव्यापारः स्पृहधातोरर्थः तदा अकर्मकोऽयं धातुः। यतोहि समवायेन इच्छा कर्तरि तत्रैव समवायेन तदनुकूल आत्ममनःसंयोगरूपव्यापारोऽपि वर्तते। तत्सत्त्वे पुष्प इत्यत्र ''शेषे षष्ठी'' प्राप्ता यदा विषयतारूपफलतावच्छेदकसम्बन्धेन विषयतावच्छिन्नेच्छानुकूलव्यापाररूपार्थः गृह्यते तदा धातुरयं सकर्मकः। तस्मात् ईप्सिततमत्वात् ''कर्तुरीप्सिततमं कर्म''[36] इति सूत्रेण कर्मसंज्ञा प्राप्ता। अतः स्पृहेरीप्सितः सूत्रमिदं कर्मसंज्ञां शेषषष्ठीं च प्रबाध्य निरवकाशत्वात् सम्प्रदानसंज्ञा विदधाति।[37] अत्रैवमाशङ्का जागर्ति यत् कर्मसंज्ञायाः अभावात् सर्वत्र स्पृहधातुयोगे सम्प्रदानसंज्ञाविधानात् स्पृहणीय इत्यत्र कर्मणि अनीयर् कथं सेत्स्यति इति तत्रोच्यते यत् ''कृत्यलुटो बहुलम्'' इति सूत्रेण बाहुकात् कृत्य-प्रत्ययस्य विधानात् यथा दानीय इत्यत्र सम्प्रदाने अनीयर् भवति तद्वत् स्पृह्-धातोरपि सम्प्रदाने अनीयर् सेत्स्यति। अत एवोक्तम्– स्पृहणीय इत्यत्र बाहुलकात् सम्प्रदाने 'अनीयर्' प्रत्ययः क्रियते। कुमार्य इव कान्तस्य.

.. इत्यत्र षष्ठी कथं तत्र चतुर्थी एव स्यात् तदा तैरुच्यते 'कान्ताय' इत्येव बोधः करणीयः? स्पृह्-धातोरयमपि अर्थः क्रियते "विषयतारूपफलावच्छिन्नेच्छो, तत्र अश्रयता- रूपफलतावच्छेदकसम्बन्धेन विषयतारूपफलाश्रयः 'पुष्पम्' इति वर्तते।[38]

सिद्धान्तमञ्जूषायाम् अपरे तु इत्यनेन अन्योऽपि एकः पक्षः प्रतिपादितो वर्तते। तत्र स्पृह्यर्थफलसम्बन्धित्वेन ईप्सितस्य सम्प्रदानसंज्ञा विधीयते। 'पुष्पाणि स्पृहयति' इत्यत्रापि स्पृह्यर्थफलसम्बन्धि पुष्पम् इति वर्तते। तस्य सम्प्रदानसंज्ञा स्यात् तदा समाधीयते यत् पुष्पाणि इति दर्शनादिक्रियायाः कर्म, न तु स्पृहधातोः कर्म तत्र अर्थः क्रियते पुष्पाणि द्रष्टुं स्पृहयति। अनेन ध्वन्यते यत् स्पृहधातुरकर्मकः। शेषत्वविवक्षायां षष्ठी इत्यपि विधीयते।[39]

अत्र नागेशभट्टः आह- स्पृह्धातुयोगे सम्बन्धित्वेन अविवक्षितस्य विषयत्वेन क्रियाजनकत्वरूपकारकस्य ईप्सितस्य सम्प्रदानसंज्ञा भवति। तदानीं प्राप्तां षष्ठीं प्रबाध्य अनेन सम्प्रदानसंज्ञा विधीयते। अस्मिन् पक्षे स्पृह-धातोः इच्छामात्रमर्थः। यदा प्रकर्षविवक्षा क्रियते तदा धातोरर्थः क्रियते फलावच्छिन्नेच्छा। अर्थात् विषयतासम्बन्धावच्छिन्नेच्छानुकूलव्यापारः स्पृह् धातोरर्थः[40]। अत्र विषयतासम्बन्धेन इच्छारूपफलस्याश्रयः 'पुष्पम्' वर्तते तत्र ईप्सिततमत्वं वर्तते, यत् ईप्सिततमं वर्तते तत् ईप्सितमपि भविष्यत्येव इति धिया ईप्सिततमत्वात् कर्मसंज्ञा ईप्सितत्वात् सम्प्रदानसंज्ञा च प्राप्यते। विषयत्वेन क्रियाजनकत्वरूपकारके सम्प्रदानसंज्ञा सावकाशा, तस्मात् परत्वात् कर्मसंज्ञा भविष्यति। विषयतासम्बन्धावच्छिन्नेच्छानुकूलव्यापारार्थस्वीकारादेव धातुरयं सकर्मको वर्तते। तस्मात् स्पृह-धातोः कर्मणि अण् सेत्स्यति। अत एव 'परस्परं स्पृहणीयशोभाम्' इत्यादि प्रयोगाः जायन्ते। यदा कर्मणः शेषत्वेन विवक्षा क्रियते तदा पुष्पाणां स्पृहयति इत्यपि प्रयोगः जायते।

'कुमार्य इव कान्तस्य त्रस्यन्ति स्पृहयन्ति च' इत्यत्र सम्बन्धमात्रविवक्षया षष्ठी भवति, यदा सम्बन्धविधया विवक्षितस्य क्रियजनकत्वरूपेण विवक्षा क्रियते तदानीं चतुर्थी।

अत्र श्रीमौनिकृष्णभट्टः आह धातोः फलव्यापारौ उभौ अर्थौ इति सिद्धान्तरूपेण व्याकरणदर्शने प्रतिपादितौ। तत्र इच्छामात्रवाची स्पृह्-धातुः इति यत् आचार्यनागेशेनोक्तं सः विचारणीयः पक्षः। अत एव मौनिकृष्णभट्टेन स्पृह-धातोः अन्यः अर्थः कृतः इच्छानुकूलमनःसंयोगरूपव्यापारः।[41] यदा इच्छाविषयस्य कर्मत्वेन अविवक्षा क्रियते तदानीं सम्प्रदानसंज्ञाविधानात् चतुर्थी। अस्मिन् पक्षे कर्मत्वेनाविवक्षायां प्राप्तां षष्ठीं बाधितुं सूत्रमिदं क्रियते। 'एकाश्रिता पुष्पसम्बन्धीच्छानुकूला क्रिया' इति शाब्दबोधः। यदा ईप्सिततमत्वेन विवक्षा तदा 'पुष्पाणि स्पृहयति' इति प्रयोगः। ईप्सितस्य ईप्सिततमस्य वा शेषत्वेन विवक्षायां तु षष्ठी।

श्रीमान् नागेशभट्ट एवं प्रतिपादयति यत् ईप्सितमात्रे सम्प्रदानसंज्ञा, प्रकर्षविवक्षायां कर्मसंज्ञा, शेषत्वेन विवक्षायां षष्ठी। तस्मिन् विषये आचार्यमौनिकृष्णेन एवमुच्यते यत् 'तत्र शेषत्वेन विवक्षितत्वातिरिक्तस्येप्सितत्वमात्रस्य दुर्वचत्वात् प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतव्यापारजन्यफलाश्रयस्यैवात्रसत्त्वेन वारयति वैलक्षण्यात्, इक्युक्तं तदप्यसमञ्जसम्। तथाहि 'पुष्पेभ्यः स्पृहयति' इत्यादौ पुष्पवृत्तीच्छानुकूलदेवदत्ताश्रयिकात्ममनःसंयोगरूपक्रिया इत्यर्थविवक्षायां सम्प्रदानत्वं यदा तु अन्येच्छानुकूला विवक्षा तदा षष्ठी।[42]

5. पञ्चमी

5.1 अन्यारादितरर्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते[43] इति सूत्रार्थविचारः

नागेशमतम्

"अन्यारादि0" इति सूत्रे अन्यशब्दः स्वरूपपरः, न तु अर्थपरः। अतः अन्यशब्दयोगे तत्प्रतियोगिवाचकात् पञ्चमी विधीयते, तस्मात् इतरशब्दयोगे अप्राप्तपञ्चमीं विधातुं सूत्रे इतरग्रहणमावश्यकम्। अन्यशब्दार्थः

भेदवान् परः। अत्र शङ्क्यते यदि अन्यशब्दात् तदर्थवाचकशब्दस्य ग्रहणाभावे घटाद् भिन्नः, घटादभेदः पटस्य इत्यादि प्रयोगाः कथं संगच्छन्ते इति। तत्र समाधीयते यत् ''अपादाने पञ्चमी'' इति[44] सूत्रेणैव पञ्चमी विधेया, अपायस्य भेदार्थकत्वात्।[45] यदि भेदार्थे ''अपादाने'' पञ्चमी इत्यनेनैव पञ्चमी विधीयते तदा तु अन्यशब्दस्यापि भेदार्थवाचकात् तत्रापि 'अपादाने पञ्चमी' इत्यनेनैव पञ्चमी स्यात्। सूत्रे अन्यशब्दग्रहणं कथं क्रियते इति शङ्का जायते। ''अपादाने पञ्चमी'' इति सूत्रेण पञ्चमी तत्रैव विधीयते यत्र भेदक्रियावाचक-धातोः प्रयोगः स्यात्। साध्यात्वेनाभिधीयमाना क्रिया यत्र प्रतीयते तत्रैव अपादाने पञ्चमी भवति। सा च धातुनैवाभिधीयते। अतः अन्यशब्दस्य भेदार्थवाचकत्वेऽपि साध्यत्वेनाभिधीयमानाभावात् तद्योगे पञ्चमी अप्राप्ता, ततः पञ्चमीं विधातुं सूत्रे अन्यशब्दग्रहणं क्रियते। 'घटो न पटः' इत्यत्र 'न' शब्दस्य भेदार्थकत्वेऽपि भेदार्थवाचकधातोरभावात् ''अन्यरादि0'' इति सूत्रे अन्यार्थवाचकशब्दस्य अग्रहणाच्च तत्र स्वतः पञ्चम्याः अप्राप्तिः। 'घटादेकः' इत्यत्र अन्यशब्दस्य पर्यायवाचक एकशब्दस्य प्रयोगे पञ्चम्याः अप्राप्तेः घटादेकः इति प्रयोगः कथं सम्पत्स्यते। तत्र शेखरकारेणोक्तं यदस्य प्रयोगः असाधुरेव।

आचार्यमौनिकृष्णमतम्

''अन्यारादित0'' इति सूत्रे अन्यशब्दात् तदर्थवाचकशब्दस्यापि ग्रहणं क्रियते। अत एव अन्यशब्दः न स्वरूपपरः अपितु अर्थपरः। तस्मात् घटाद् भिन्नः, अन्यः, इतरः इत्यादिप्रयोगाः जायन्ते। अत्र शङ्क्यते यत् अन्यशब्दस्य अन्यार्थबोधकात् इतरशब्दस्यापि तत्र समावेशो भवति तस्मात् अन्यार्थकत्वात् इतरशब्दयोगेऽपि पञ्चमी स्वतः सिद्धा। तदर्थं सूत्रे इतरग्रहणं कथं क्रियते तद् व्यर्थमेवेति शङ्कामुद्भाव्य विषयेऽस्मिन् मौनिश्रीकृष्णभट्टेनोक्तं यत् इतरशब्दः भेदार्थकः अन्यशब्दश्च भेदवान् इत्यर्थबोधकः। अतः भेदवान् इति पदार्थस्य विशेषणीभूतभेदार्थयोगेऽपि पञ्चमी स्यात्। तदर्थं सूत्रे इतरग्रहणं क्रियते।[46] अन्यथा अन्यशब्दस्य 'भेदवान्' इत्यर्थस्य बोधकत्वात् तदर्थवाचकशब्दयोगे एव पञ्चमी सेत्स्यति न तु भेदबोधकशब्दयोगे। इतरार्थवाचकशब्दस्य अग्रहणे 'घटाद् भेदः पटस्य' इत्यादिप्रयोगाः न भविष्यन्ति, प्रयोगश्च जायते तदर्थमितरग्रहणमावश्यकम्। 'घटो न पटः' इत्यत्र 'न' इत्यस्य भेदार्थकत्वेऽपि न हि भेदार्थस्य वाचकः अपितु द्योतकः तस्माद् तत्र पञ्चमी न भवति। अन्यार्थग्रहणे घटादेकः इति प्रयोगोऽपि जायते। षष्ठ्याः अपवादभूतम् सूत्रमिदं। घटस्य भेदः घटीयोभेदः इति प्रयोगः कथं भविष्यति, यतो हि विग्रहे भेदप्रतियोगिवाचकात् अपवादत्वात् 'पञ्चमी' विभक्तेः प्राप्तौ सत्यां षष्ठी कथं विधीयते इति। तत्र समाधीयते यत् 'घटस्य अयम्' इति विग्रहं सम्पाद्य 'अयम' इत्यर्थे घटीयः इति प्रयोगं संसाध्य अयम् पदार्थान्तर्गतभेदेन सह अन्वयः क्रियते।

5.2 भीत्रार्थानां भयहेतुः

भयकारणवाचकात् प्रातिपदिकात् 'हेतौ' इति सूत्रेण हेत्वर्थे तृतीया प्राप्ता तां प्रबाध्य अनेन सूत्रेण अपादानसंज्ञा विधीयते तस्मात् पञ्चमी भवति।[47]

यदा तस्यैव क्रियाजनकत्वरूपकारकत्वेनाविवक्षा क्रियते सम्बन्धित्वेन च विवक्षा क्रियते तदा षष्ठ्यपि भवति अभिधाने सति।[48]

श्रीमन्नागेशभट्टः ''भीत्रार्थानां'' इति सूत्रविषये अपादानत्वस्य अविवक्षायां षष्ठीं प्रतिपादयति। मौनिश्रीकृष्णभट्टस्तु नागेशस्य मतमिदं नैव स्वीकरोति। कृष्णभट्टमतानुसारेण सूत्रमिदं हेतोः शेषष्ठ्याश्च अपवादभूतम्। तत्र शब्दकौस्तुभादिग्रन्थाः एव प्रमाणभूताः। कौस्तुभे वर्णितम्[49] यत् 'कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे', इति रामायणश्लोकस्तु कस्य संजुगे इति योजनया व्याख्येयः। प्रौढमनोरमायामपि प्रतिपादितोऽयं विषयः[50]। तत्र बिभ्यति योगे 'कस्य' इत्यत्र पञ्चमी स्यात्, षष्ठी कथं विधीयते इति जिज्ञासायां तदा

भट्टोजिदीक्षितेन समाहितम् यत् 'कस्य' इत्यस्य अन्वयः विभ्यति इत्यनेन सह न क्रियते, अपितु संयुगे इत्यनेन सह अन्वयः क्रियते। संयुगे इत्यस्य 'बिभ्यति' इति क्रियया सह अन्वयः क्रियते। पुनः शङ्का उदेति यत् 'बिभ्यति' इत्यस्य योगे 'संयुगे' इत्यत्र अपादानत्वं स्यात्। तत्रोच्यते यत् संयुगे इत्यत्र अपादानत्वम्, अधिकरणत्वम् इति उभे वर्तेते। तत्र परत्वात्[51] अधिकरणसंज्ञैव भविष्यति तस्मात् सप्तमी जाता। अधिकरणस्याविवक्षायाम् अपादानत्वात् 'पञ्चमी' विभक्तिरपि साध्वी। 'कस्य' अन्वय बिभ्यति क्रियया सह क्रियते चेत् तदा ततोऽपि पञ्चमी विधेया अर्थात् 'कस्मात्' इत्यपि वक्तुं शक्यते।

अत्र श्रीमता कृष्णभट्टेन एवं व्याख्यातं यदि अपादानस्य अविवक्षयैव षष्ठी स्यात् तदा तथैव समाधेयम् आचार्येण कथं ईदृश महान् प्रयासः कृतः तस्मात् ज्ञायते यत् इदं सूत्रं षष्ठ्या अपि अपवादभूतम्। तथैव ''जुगुप्साविरामप्रमादार्थानमुपसंख्यानम्'' इत्यनेन वार्तिकेन जुगुप्सादिविषयस्य अपादानसंज्ञा क्रियते। यदा अपादानत्वेन अविवक्षा सम्बन्धित्वेन च विवक्षा क्रियते तत्र षष्ठ्यपि साध्वी। यथा- पापस्य जुगुप्सते। अत्रापि श्रीमता मौनिकृष्णभट्टेन व्याख्यातं यत् वार्तिकप्रणयनात् वार्तिकमिदं षष्ठीं प्रबाधते।

तथा च तेनोक्तम् 'वार्तिकरीत्या तत्र षष्ठ्यभावे निर्णीते भाष्यमतेऽप्यनभिधानस्यैव शरणीकरणीयत्वात्। फलभेदाभावेन भाष्योपपत्तावन्यथा व्याख्यानस्यानुचितत्वात् सर्वैरपि ग्रन्थकारैस्तथा व्याख्यातत्वाच्च'।[52]

6. शेषे षष्ठी

नागेशमतम्

श्रीमता नागेशेन अस्मिन् सूत्रे प्रतिपादितं यत् 'शेषे षष्ठी'[53] इति सूत्रेण विहितषष्ठ्याः सम्बन्धविशेषरूपेण[54] भानं भवति। अत एव 'चैत्रस्य नेदं वासः' इति प्रयोगः उपपद्यते।[55] अत्र चैत्रस्य वाससा सह सम्बन्धसामान्यसत्त्वेऽपि स्वत्वादिविशेषरूपसम्बन्धाभावात् एष प्रयोगो जायते। चेत् षष्ठ्यर्थस्य सम्बन्धत्वेन सम्बन्धसामान्यरूपेण बोधः स्यात् तदा चैत्रस्य वाससा सह सम्बन्धस्तु अस्त्येव सम्बन्धसामान्याभावात् एष प्रयोगः कथमुपपद्येत। भाष्यवचनादपि ज्ञायते यत् षष्ठ्यर्थः सम्बन्धविशेषः, न तु सम्बन्धत्वेन सम्बन्धसामान्यः, अत एव भाष्यकारेणोक्तं एकशतं षष्ठ्यर्थाः।[56] आदेशप्रत्यययोः इति भाष्यमपि तदैव संगच्छते। तत्र एकापि षष्ठीविषयभेदाद् भिद्यते[57], इति नियमबलेन षष्ठ्यर्थः अवयव-अवयविभावसम्बन्धः अभेदश्च। आदेशस्य अभेदसम्बन्धेन, प्रत्ययस्य अवयव-अवयविभावसम्बन्धेन सकारेऽन्वयः। निर्विशेषं न सामान्यमिति न्यायेनापि विशेषं विना सामान्यस्य बोधो न जायते। भाष्यकारेण प्रतिपादितशेषशब्दार्थनिर्वचनेनापि ज्ञायते यत् सम्बन्धविशेषः षष्ठ्यर्थः। भाष्यकारेण शेषशब्दार्थः एवं निरूपितः 'कर्मादिभ्यो येऽन्येऽर्थाः स शेषः'। तत्र कर्मादिभ्यः अन्ये स्वस्वामिभावादयः। अनेन ज्ञायते यत् सम्बन्धविशेषः एव षष्ठीविभक्त्यर्थः।

काशिकाकारेणापि 'कर्मादिभ्योऽन्यः प्रातिपदिकार्थ व्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषः' इति उक्तम्। अतः ''शेषे षष्ठी'' इति सूत्रेण विधीयमानषष्ठ्याः सम्बन्धविशेषरूपेण भानं जायते। अत एवोक्तम् यत्र क्रियाकारकभावमूलकजन्यजनकभावादिसम्बन्धविशेषस्य[3] विवक्षा क्रियते तत्र ''शेषे षष्ठी'' इत्यनेन षष्ठी विधीयते। यत्र क्रियाकारकभावरूपसम्बन्धस्य विवक्षा क्रियते तत्र द्वितीयादिविभक्तिर्जायते। सिद्धान्तमञ्जूषायां कैश्चित्तु इत्यनेन अन्येऽपि पक्षा उपस्थापिताः, तान् पक्षान् प्रस्तौमि।

कैश्चिदुच्यते 'शेषे षष्ठी' इति सूत्रे शेषपदात् कारकप्रातिपदिकार्थादन्यः यः स एव शेषः। कारकप्रातिपदिकार्थस्य धर्मिपरत्वात् अन्य पदेनापि धर्मी ग्राह्यः। अत एव षष्ठ्यर्थः सम्बन्धी इति स्वीक्रियते।[58] तत्र सम्बन्धित्वेन 'सम्बन्धी' इत्यस्य बोधो जायते। यथा 'राज्ञः पुरुषः' अत्र ङसर्थः 'सम्बन्धी' तत्रसम्बन्धिपदार्थैकदेशे सम्बन्धे प्रकृत्यर्थस्य प्रतियोगितानिरूपकत्वसम्बन्धेनान्वयः, प्रत्ययार्थस्य पुरुषपदार्थे अभेदेनान्वयः राजनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकसम्बन्धवान् पुरुषः इति बोधः। अथवा षष्ठ्यर्थः 'सम्बन्धप्रतियोगी' इति। तत्र

सम्बन्धप्रतियोगिनि प्रकृत्यर्थस्य अभेदेनान्वयः क्रियते। एवं प्रत्ययार्थस्य सम्बन्धप्रतियोगिनः स्वावच्छेदकप्रतियोगिता-निरूपितानुयोगितानिरूपकत्वसम्बन्धेन पुरुषपदार्थेऽन्वयः। षष्ठ्याः यदा सम्बन्धप्रतियोगी अर्थः क्रियते तदा प्रत्ययार्थसंख्यायाः प्रत्ययार्थे प्रतियोगिनि एव अन्वयः। यथा कर्म द्वितीयार्थः। तत्र द्वितीयार्थसंख्यायाः द्वितीयार्थकर्मणि एव अन्वयः। तथा विभक्त्यर्थसंख्याप्रकारकशाब्दबोधे विभक्तिजन्योपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावः सर्वत्र संघटते। सम्बन्धः षष्ठ्यर्थश्चेत् तदानीं प्रत्ययार्थसंख्यायाः प्रकृतावन्वयः। तत्र पृथक् कार्यकारणभावः कर्तव्यः। तत्र षष्ठ्यर्थसंख्याप्रकारकशाब्दबोधे प्रकृतिजन्योपस्थितिः र्हेतुरिति कार्यकारणभावः स्वीकर्तव्यः। अन्यथा सम्बन्धे संख्यायाः अन्वयः क्रियते चेद् एकस्य प्रतियोगिनः सत्त्वेऽपि सम्बन्धद्वयसत्त्वात् राज्ञः इति प्रयोक्तव्ये राज्ञोः इति प्रयोगापत्तिः समापतिष्यति।

अत एव सम्बन्धः विभक्त्यर्थः इत्यत्र अर्शाद्यजन्तः सम्बन्धशब्दः। तस्माद् तस्य अर्थः क्रियते सम्बन्धवान् इति। शक्तिः विभक्त्यर्थः इत्यपि पक्षो वर्तते। तदानीं सम्बन्धवान् घटकसम्बन्धः विभक्त्यर्थः। तदा सर्वत्र शक्तिः कारकम्। अर्थात् कर्तृत्वं कर्मत्वमिति द्वितीयाद्यर्थः। तदानीं प्रत्ययार्थसंख्यायाः प्रकृत्यर्थेऽन्वयः क्रियते। तत्र सर्वत्र विभक्त्यर्थसंख्याप्रकारकबोधे प्रकृतिजन्योपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावः स्वीक्रियते। स च सर्वत्र संघटते।

अत्र विचार्यते यत् 'शेषे षष्ठी' इति सूत्रे कारकप्रातिपदिकार्थः व्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादयः शेषशब्दार्थः। तत्र महाभाष्यकारेणोक्तं यत् कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः न कश्चन अन्यः विद्यते। तस्मात् 'शेष' इत्यनेन कस्य ग्रहणं स्यात् 'राज्ञः पुरुषः' इत्यत्र पुरुषः राजानं सेवते इति बोधो जायते अथवा राजा पुरुषाय धनं ददाति इत्यस्य बोधो भवति। यदा पुरुषः सेवते तदानीं राजा कर्म वर्तते, पुरुषः कर्ता, यदा पुरुषाय ददाति, तदानीं पुरुषः सम्प्रदानम्, राजा कर्ता वर्तते। सेवनक्रियामादाय परस्परं कर्तृत्वं कर्मत्वमुपजायते, अथवा दानक्रियामादाय परस्परं कर्तृत्वं सम्प्रदानत्वञ्च जायते। सर्वत्र क्रियाकारकम् एव वर्तते, न हि एतदतिरिक्तं किञ्चित् अन्यत् विद्यते। यद् अन्यत् विद्यते तत् क्रियाकारकपूर्वकमेव। दानात् राजनि स्वामित्वं पुरुषे स्वत्वमुद्भूतम्। अतः एते स्वस्वाभिभावादयोऽपि क्रियाकारकपूर्वका एव। एषा क्रिया क्वचित् श्रुता भवति क्वचित् च अश्रुता यथा 'राज्ञः पुरुषः' इत्यत्र दानादिक्रियाः अश्रुताः। क्रियायां अश्रुतायामपि क्रियाकारकमूलकस्वस्वामि- भावसम्बन्धस्य प्रतीतिर्जायते। तस्यां सत्यां षष्ठी। 'मातुः स्मरति' इत्यत्र क्रिया श्रुता वर्तते। श्रवणक्रियायाः 'माता' कर्म वर्तते, तथापि क्रिया कर्मभावसम्बन्धमूलकविषयविषयिभावसम्बन्धस्य विवक्षायां षष्ठी विधीयते। **अत एव भाष्यकारेण उक्तं कः शेषो............**[59] तस्माद्भाष्यवचनात् ज्ञायते यत् स्वस्वामिभावादयः सम्बन्धाः क्रियाकारकपूर्वकाः एव भवन्ति। अत्र वाक्यपदीयकारेणाप्युक्तं यत्

सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः।
श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायामभिधीयते।।[65]

यत्र क्रियाकारकभावमूलकस्वस्वामिभावादिसम्बन्धानां विवक्षा क्रियते तत्र षष्ठी विधीयते। यत्र च क्रियाकारकभावरूपसम्बन्धस्य विवक्षा क्रियते तत्र द्वितीयादिविभक्तिर्जायते।

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां शेषे षष्ठी इति सूत्रस्य वृत्तौ लिखितम्– कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी एव। सतां गतं। सर्पिषो जानीते। मातुः स्मरति। एधोदकस्योपस्कुरुते। भजे शम्भोश्चरणयोः।

सतां गतम् इत्यत्र गम्' धातोः भावे क्त प्रत्यये कृते सद्गतक्रियाजनकत्वसमानाधिकरणकर्तृत्वस्य सत्वात् कर्तृकरणयोस्तृतीया इत्यनेन तृतीयैव स्यात्। तत्रोच्यते यत् क्रियाकर्तृभावमूलकजन्यजनकभावरूपसम्बन्धस्य विवक्षायां षष्ठी विधीयते। कियाजनकत्वसमानाधिकरणकर्तृत्वस्य विवक्षायां तु तृतीया विधानात् सद्भिः गतम्' इत्यपि प्रयोगो भवति।

मातुः स्मरति' इत्यत्र कर्मत्वस्य यदा विवक्षा क्रियते तदा द्वितीया, तस्याः द्वितीयायाः क्रियाकर्मभावरूपसम्बन्धोऽर्थः यदा क्रियाकर्मभावमूलकविषयविषयिभावरूपसम्बन्धस्य विवक्षा कियते तदा षष्ठी विधेया।

सर्पिषो जानीते' इत्यत्र कियाजनकत्वसमानाधिकरणकरणत्वस्य अविवक्षायां क्रियाकरणभाव-मूलकोपकार्योपकारकभावरूपसम्बन्धस्य च विवक्षायां षष्ठी विधीयते। कियाकरणभावरूपसम्बन्धस्य विवक्षायां

च तृतीयाविभक्तौ सत्यां सर्पिषा जानीते' इत्यपि रूपम्।

ब्राह्मणस्य ददाति, ब्राह्मणाय ददाति' इत्यत्रापि क्रियाजनकत्वसमानाधिकरणसम्प्रदानत्वस्य विवक्षायां चतुर्थी, क्रियासम्प्रदानभावमूलकोपकार्योपकारकभावरूपसम्बन्धस्य च विवक्षायां षष्ठी विधीयते। शेखरस्य षट्टीकायां शेषे' इति सूत्रे श्रीत्रिपाठिगुरुचरणानुसारेणायं प्रयोग उदाहृतः।

कर्तृकर्मादीनां सम्बन्धत्वेन विवक्षायां यदि सर्वत्र षष्ठी विधीयते तदा घटे भूतलमित्यत्रापि घटगताधिकरणत्वस्य सम्बन्धत्वेन विवक्षायां षष्ठी विधानात् घटस्य भूतलमित्यपि प्रयोगः स्यात्। यद्युच्यते तन्न। संयोगसम्बन्धावच्छिन्नाधारस्यसम्बन्धित्वेन विवक्षाया अदर्शनात्। अत एव नागेशेनोक्तम्–

''संयोगसम्बन्धावच्छिन्नाधारस्य सम्बन्धितया विवक्षा न क्रियते।''[60] अर्थात् घटे यदधिकरणत्वं वर्तते तत्संयोगमूलकम्। तेन ज्ञायते यत् संयोगमूलकं यदधिकरणं स्यात् तद्गताधिकरणत्वस्य सम्बन्धत्वेन विवक्षा न क्रियते। शेषे' इति सूत्रेण तत्रैव षष्ठी विधीयते यत्र क्रियाकारकभावमूलकः कश्चन अन्यः सम्बन्धः भवति अत्र तु घटे यदधिकरणत्वं तत् अन्यसम्बन्धस्य मूलकं नास्ति अपितु अधिकरणत्वमेव संयोगमूलकम्। एवं तर्हि 'पर्वतस्य वृक्षाः' इति प्रयोगः कथं सेत्स्यति, पर्वतवृक्षयोः संयोगसम्बन्धमूलकस्य आधाराधेयभावस्य प्रतीयमानत्वात्। इति जिज्ञासायामुच्यते यत् पर्वतवृक्षयोः अवयवावयविभावस्य कल्पना क्रियते। अतः आधाराधेयमूलकावयव-अवयविभावसम्बन्धस्य विद्यमानात् अत्र षष्ठी विधीयते। यथा ग्रामकूपः, गङ्गातीरम् इत्यादौ समीपे एव अवयवत्वारोपेण षष्ठी क्रियते।[61] तथैवात्रापि लोकव्यवहात् एतादृशी कल्पना क्रियते।

मौनिकृष्णमतम्

आचार्येण मौनिकृष्णभट्टेन एवं निरूपितं यत् क्रियाकारकपूर्वकसम्बन्ध एव षष्ठी स्यादिति नास्ति नियमः। तेन विनापि शेषे' इति सूत्रेण सम्बन्धे षष्ठी भवति । अत एव तेनोक्तं षष्ठ्यर्थः सम्बन्धः त्रिविधः। तद्बोधिका षष्ठ्यपि त्रिधा – केवलसम्बन्धबोधिका, कारकाणमविवक्षापूर्वकसम्बन्धबोधिका, कर्तृकर्मादिसम्बन्धबोधिका च। केवलसम्बन्धबोधिकायाः षष्ठ्याः उदाहरणं ''चित्रा गावो यस्य'' इत्यत्र षष्ठी केवलसम्बन्धबोधं कारयति। अयञ्च सम्बन्धः न क्रियाकारकपूर्वकः। तत्र तेन भाष्यप्रमाणमपि प्रस्तुतम् ''गुरोररवत'' इति । अत्र विग्रहः क्रियते– रः अस्ति अस्य इति रवान्, न रवानिति अरवान्, तस्य अरवतः इत्यत्र सामीप्यरूपसम्बन्धस्य षष्ठ्या बोधो जायते। अयं च सम्बन्धः न क्रियाकारकपूर्वकः। तथैव अस्तेर्भूः इत्यत्रापि 'अस्तेः' इत्यत्र षष्ठ्याः सामीप्यम् अर्थः। अत एव अस्य 'अस्तेः' समीपे इत्यर्थः क्रियते। प्रौढमनोरमायाः शब्दरत्ने हरिदीक्षितैः हलन्त्यमिति सूत्रस्य व्याख्यावसर उक्तम् यत् – अस्तेरित्यत्र सामीप्य-बोधाय सामीप्यादिपदानामध्याहारः क्रियते। तैरुक्तम्– ''अस्तेरनन्तरे समीपे वा इत्यादि भाष्यं त्वनन्तरादिपदाध्याहारेण तन्निरूपितसम्बन्धार्थिका वा षष्ठी इत्यभिप्रायकम्।

तत्र श्रीकृष्णभट्टेनोक्तं यत् ''चित्रा गावो यस्येत्यादावपि सामीप्यबोधः सति तात्पर्ये तवापि इष्टः। एतावान् परो भेदः तव गुरुभूताध्याहारेण बोध इति दुराग्रहः, मम तु षष्ठ्यर्थ इति। तत्र षष्ठ्याः सामीप्यार्थकत्वमेव युक्तम्। अन्यथा अस्तेरिति षष्ठीश्रवणानन्तरं सामीप्यार्थशङ्कैव न स्यात्।[63] शब्दरत्नकारेणोक्तम् यत् नहि षष्ठ्यर्थः सामीप्यम् इत्यादावसत्यपि प्रकरणादौ स्वस्वामिभावादिप्रतीतिः तदनन्तरसमीपशब्दप्रयोगमन्तरेण सामीप्याद्यप्रतीतेः।

कारकाणामविवक्षापूर्वकसम्बन्धबोधिका षष्ठी

यथा मातुः स्मरति। स्मृ'धात्वर्थक्रियानिरूपितकर्मत्वस्य मातरि सत्वेऽपि तस्य सम्बन्धत्वेन विवक्षया षष्ठी विधीयते। एषा षष्ठी कारकाणामविवक्षापूर्वकसम्बन्धबोधिका।

कर्तृकर्मादिसम्बन्धबोधिका षष्ठी

कर्तृकर्मणोः कृति' इति सूत्रेण विधीयमाना षष्ठी कर्तृकर्मादिसम्बन्धबोधिका यथा– ओदनस्य पाचकः, जगतः कर्ता, कृष्णस्य कृति'रित्यादि।

वाक्यपदीयकारेण यद्युक्तं ''सम्बन्धः कारकेभ्यः ....''।

क्रियाकारकपूर्वकः कारकेभ्यः अन्यः एव सम्बन्धः प्रतीयते। तस्मात् क्रियाकारकपूर्वकत्वं सम्बन्धस्य समागतम् यत् शेखरादिग्रन्थेषु व्याख्यातम्, तस्मिन् विषये आचार्यमौनिकृष्णभट्टस्य अन्यदेव मतं वर्तते।

मौनिश्रीकृष्णभट्टेन अस्याः कारिकायाः अर्थः एवं व्याख्यातः– ''अत एव अन्यपदं सार्थकमन्यथा सम्बन्धः क्रियापूर्वक इत्येव ब्रूयात्। तथा च अन्यपदं सम्बन्धे नान्वेति। एवञ्च कारकेभ्यः कारकद्वारा क्रियान्वितप्रातिपदिकेभ्यः उत्पन्नया षष्ठ्याऽन्यः सम्बन्धः कारकाविवक्षापूर्वकसम्बन्ध उच्यते इत्येवार्थः साधुः''।

श्रीमता नागेशेनोक्तं यत् संयोगसम्बन्धावच्छिन्नाधारस्य सम्बन्धविधया विवक्षा न क्रियते तत्र 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इति सूत्रे 'अस्मिन्' इति पृथक्पदोपदेश एव प्रमाणम्। तत्रोच्यते यदि संयोगसम्बन्ध विशिष्टाधारस्य सम्बन्धत्वेन विवक्षा क्रियेत तदा 'अस्य' इत्युपदेशमात्रेणैव कार्यं सेत्स्यति तदानीं अस्मिन्निति पदं व्यर्थम्। तद्व्यर्थीभूय ज्ञापयति यत् – संयोगसम्बन्धावच्छिन्नाधारस्य सम्बन्धितया विवक्षा न क्रियते। अत एव 'घटाः सन्ति अस्मिन्' इत्यत्र 'अस्मिन्' इति आधारस्य सम्बन्धविधया विवक्षायाः अभावात् 'घटाः सन्ति' अस्य इति विग्रहः न क्रियते। तस्मात् घटवत् इत्यस्य पूर्वोक्तसप्तम्यन्तपदघटित एव विग्रहः करणीयः।

यदि संयोगसम्बन्धविशिष्टस्य आधारस्य सम्बन्धितया विवक्षा न क्रियते तर्हि 'लोहितोष्णीषाः प्रचरन्ति' इति वाक्यं कथं प्रसज्येत यतो हि 'लोहितोष्णीषाः' इत्यस्य विग्रहः क्रियते लोहिता उष्णीषा येषां ते इति लोहितोष्णीषाः। लोहिता उष्णीषा संयोगसम्बन्धेन शिरसि वर्तते। अत्र शिरःसंयोगसम्बन्धविशिष्ट आधारः वर्तते इति शङ्कायामुच्यते यद् अत्रापि लोहिता उष्णीषा यत्र इति सप्तम्यन्ततया विग्रहः[64] क्रियते। तत्र मौनिकृष्णभट्टेन प्रतिपादितं यत् 'वृक्षाः सन्ति अस्मिन्' इत्यर्थकस्य 'वृक्षवान् पर्वतः' इत्यस्य वाक्यस्य पर्वताधिकरणको वृक्षः इति शाब्दबोधाय सप्तमीविभक्तेरुपादानं कर्तव्यमेव। 'गोमान् देवदत्तः' इत्यत्र गोस्वामिकदेवदत्तः इत्यादि बोधनाय षष्ठ्याः उपादानम्। अतः उभयेषाम् पृथक् पृथक् प्रयोजनम् वर्तते।

श्रीमता नागेशभट्टेनोक्तं यत् संयोगसम्बन्धावच्छिन्नाधारस्य सम्बन्धत्वेन विवक्षा न क्रियते। तत्र नागेशेन भाष्यप्रमाणमपि प्रस्तुतं यत् '' तदस्यास्त्यस्मिन्निति सूत्रे अस्मिन्निति पदस्य पृथग्रूपेण प्रयोजनत्वपरं भाष्यकथनम्। तत् मौनिश्रीकृष्णभट्टेन खण्डितम्। तेनोक्तम् यत्, व्रजमवरुणद्धि गाम्'' इत्यत्र गोव्रजयोः संयोगमूलकः एव आधाराधेयभावः वर्तते, एतादृशस्य आधारस्य अविवक्षया प्राप्तां षष्ठीं प्रबाध्य ''अकथितञ्च'' इति सूत्रेण कर्म संज्ञा क्रियते। कथनमिदं तदैव संगच्छते यदा संयोगमूलकस्य आधारस्याविवक्षया षष्ठी प्राप्नुयात्।[66]

संयोगः सम्बन्धः वर्तते न वा इत्यस्मिन् विषये अस्ति मतभेदः।

संयोगसम्बन्ध एव नास्ति तत्र चिदस्थिमालाकारेणास्मिन् विषये उच्यते यत् पर्वतस्य वृक्षा इति न, वृक्षपर्वतयोराधाराधेयभावमूलकसम्बन्धाभावात्। संयोगे हि नाधाराधेयमूलको, विपरीतं तु तस्यैव तन्मूलकत्वात्। किञ्च संयोगो न सम्बधस्तस्य पदार्थयोजनामात्रहेतुत्वात्, संयोगस्य स्वतः पदार्थत्वात् सांसर्गिकविषयतया तस्याभानाच्च। सम्बन्धश्च षष्ठ्यादिभिरेवोच्यते सम्बन्धपदेनापि संसर्गिकविषयतावत्त्वेन नोच्यत इति सम्बन्धः सर्वथा पदागम्यः, संयोगस्तु न कदापि षष्ठ्यादिना न वा विषयतयोच्यते इमौ संयुक्तौ इत्येव तत्र व्यवहारात्।''[62] यद्युच्यते लोकव्यवहारात् एतादृशः प्रयोगः क्रियते तर्हि तत्रधाराधेययस्य मूलः समवायः वर्तते न तु संयोगः। समवायसम्बन्धात् एव परस्परं आधाराधेयभावो जातः। अतः समवायमूलक–आधाराधेयभावमूलक–अवयव–अवयविभावस्य सम्बन्धस्य वाचिका षष्ठी। समवायमूलाकाधाराधेयभावस्य सम्बन्धत्वेन विवक्षा भवति। वस्तुतः पर्वतवृक्षयोः नहि वास्तविकः समवायः, तयोस्तु संयोगः वर्तते, तथापि तत्र अवयव–अवयवि–आरोपात् समवायः परिकल्प्यते।

मौनिश्रीकृष्णभट्टेनोक्तं यत् संयोगः सम्बन्धः वर्तते। यद्युच्यते सम्बन्धस्य षष्ठ्या भानं भवति। संयोगस्य न षष्ठ्या बोधो जायते, संयोगस्तु पदेन बुध्यते, न तु पदाजन्यः इति तन्न[67] 'गङ्गायास्तीरे' अनेन वाक्येन संयुक्तवाचकपदाभावेऽपि गङ्गातीरयोः संयोगः इति बोधो जायते। तस्मात् संयोगः सम्बन्धः। स च षष्ठ्यर्थः इति

परिकल्पयितुं शक्यते। तथैव 'रथस्य अश्वाः' इत्यत्रापि रथाश्वयोः संयोगस्य बोधःषष्ठ्या जायते। अत्र स्वस्वामिभाव-अवयव- अवयविभावादिसम्बन्धस्य कल्पनाऽपि कर्तुं न शक्यते। तथैव कश्चन पुरुषः अन्यस्य पीतवस्त्रं धारयति, तथैव अन्यस्वामिकस्य दण्डं धारयति तदानीं तस्मिन् पुरुषे पीताम्बरोऽयं पुरुषः, दण्डी पुरुषः इति व्यवहारो जायते। तत्र पीतम् अम्बरं यस्य इत्यत्र षष्ठ्या संयोगस्य भानं जायते। दण्डः अस्ति अस्य दण्डी, अत्रापि दण्डसंयुक्ते पुरुषे एतादृशो व्यवहारो भवति। संयोगबोधकं किञ्चित् पदं नास्ति, तथापि तस्य बोधो जायते। अतः षष्ठ्या संयोगस्य भानं भवति। 'पर्वतस्य वृक्षाः' इत्यत्र पर्वते वृक्षाः भवन्ति, तथापि न तस्य ते अवयवाः भवन्ति। अतः एतस्मिन् अर्थे अधिकरणत्वस्य बोधो जायते, न तु अवयव-अवयविभावस्य बोधः सम्भवति इति तात्पर्येण अधिकरणत्वेन बोधविवक्षायां षष्ठी अविधेया इति भाष्यतात्पर्यम्, न तु षष्ठ्यर्थः संयोगः नास्ति, आहोस्वित् सम्बन्धपदेन तस्य बोधो न जायते इत्यत्र नास्ति भाष्यतात्पर्यम्। अनेन परिकल्प्यते यत् संयोगः षष्ठ्यर्थः। तस्य षष्ठ्यर्थत्वेनापि प्रतीतिर्जायते।

नागेशैः स्वस्वस्वामित्वादिसमूहरूपः यः सम्बन्धः स एव षष्ठीविभक्तेरर्थः स च संसर्गतया प्रतीयते इति प्रत्यपादि। तत्रापि गौरवमि'ति कृष्णभट्टेनोक्तम्। अत्र राजपदार्थः स्वास्वामिभावसम्बन्धेन पुरुषपदार्थे अन्वेति। अत्र षष्ठ्यर्थः न प्रकृतौ अन्वेति। अस्ति च नियमः "प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वम्" इति। अतः षष्ठ्यर्थस्य संसर्गतया भानात् तस्यान्वयः प्रकृतौ भवत्येव, नहि, तस्मात् षष्ठ्यर्थस्य संसर्गतया भानं न भवति किञ्च सः प्रकारतया भासते, प्रकृत्यर्थेऽन्वयात्। 'पर्वतस्य वृक्षाः' इत्यत्र षष्ठ्यर्थः सम्बन्धः। पर्वतसम्बन्धिवृक्षाः इत्यर्थे एष प्रयोगः साधुरेव। अयञ्च सम्बन्धः प्रकारत्वेन भासते। अर्थात् तत्र प्रकृत्यर्थस्वान्वयो भवति। यत्र च षष्ठी नास्ति सम्बन्धश्च प्रतीयते तत्र सम्बन्धः संसर्गतया प्रतीयते। यथा 'नीलोत्पलम्' इत्यत्र। उभयोरभेदसम्बन्धः आकाङ्क्षाभास्यः। यत् नागेशेनोक्तं "स्वस्वामिभावरूपसमुदाये संसर्गता वर्तते तदपि कृष्णभट्टेन अस्वीकृतम्। तेनोक्तम्- 'राज्ञः पुरुषः' इत्यत्र स्वत्वं षष्ठ्यर्थः न तु स्वस्वामिभावरूपसमुदायः। तत्र स्वत्वे राजपदार्थस्य निरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयः। अत्र राजपदार्थनिरूपिताविशेष्यता षष्ठ्यर्थस्वत्वे वर्तते एवञ्च स्वत्वस्य च आश्रयत्वसम्बन्धेन पुरुषेऽन्वयो भवति। तदानीं पुरुषनिष्ठविशेष्यतानिरूपितविशेषणता 'स्वत्वे' वर्तते। अतः तत्र स्वत्वे विशेष्यता समानाधिकरणविशेषणतायाः सत्त्वात् संसर्गतया तस्य बोधो न स्वीक्रियते। अपितु प्रकारतया तस्य सम्बन्धस्य बोधः स्वीक्रियते। सम्बन्धत्वेन सम्बन्धसामान्यस्य षष्ठ्या बोधो जायते। विशेषरूपेण बोधे नानार्थतापत्तिः समापतति, विशेषबोधस्तु तात्पर्यवशात् कर्तव्यः।

सम्बन्धस्य प्रकारतया बोधो जायते अथवा संसर्गविधया इति विषये उच्यते यदि प्रकारतया बोधः स्वीक्रियते तदा भाष्यविरोधो भवति। भाष्यकारेणोक्तं 'राज्ञः पुरुषः' इत्यत्र राजा विशेषणं पुरुषो विशेष्य इति। षष्ठ्यर्थसम्बन्धस्य प्रकारतया भाने तु सम्बन्धस्यैव प्रकारत्वं विशेष्यत्वम् उच्येत तत्र मौनिश्रीकृष्णभट्टेन भाष्यतात्पर्यमेवं प्रतिपादितम् यत् राजनिष्ठप्रकारतानिरूपितपुरूषनिष्ठविशेष्यता सम्बन्धस्य प्रकारतया मानाभ्युपगमेऽपि सम्बन्धे तयोर्विशेषणविशेष्यभावासंभवात्।

7. सप्तमी

आधारोऽधिकरणम्[68]

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञं स्यादिति सूत्रार्थः।[69] इति सूत्रे आधारः त्रिविधः प्रतिपादितः। आधारत्वेन आधारस्तु एक एव, तथापि आधारतानियामकसम्बन्धस्य भिन्नत्वात् आधारोऽपि भिन्नः। समवायेन, संयोगेन, विशेषणतासम्बन्धेन च अविच्छिन्नो यः आधारः सः औपश्लेषिक आधारः। संयोगस्योदाहरणम्- 'कटे शेते' इति। समवायस्योदाहरणम्- 'पटे शौक्ल्यम्' इति। विशेषणतासम्बन्धावच्छिन्नस्योदाहरणम्[70] 'घटाभावे पटाभावः' इति। वटे गावः शेरते, गुरौ वसति, इत्यत्र गोवटयोः नास्ति संयोगः, गोः संयोगस्तु पृथिव्या सह वर्तते, तथैव गुरौ इत्यत्रापि संयोगो नास्ति, इति शङ्कायामेवं समाधीयते यत् गोसंयुक्तदेशसंयोगस्य संयागरूपतया तदवच्छेदेन संयोगस्य सत्त्वात् अधिकरणत्वमुपपादनीयम्। 'इको यणचि' इत्यत्र इङ्निरूपितकालिकसामीप्यावच्छेदेन संयोगस्यापि

सत्त्वादौपश्लेषाधिकरणत्वं ज्ञेयम्।[71]

मौनिश्रीकृष्णभट्टेन निरूपितं यत् औपश्लेषाधिकरणत्वं वास्तविकसंयोग- समवाय-विशेषणता इति सम्बन्धत्रयाभावेऽपि भवति। यथा 'मृगतृष्णाम्भसि स्नातः', इत्यत्र मृगतृष्णाम्भसि तु एषु त्रिषु सम्बन्धेषु न कश्चन वास्तविकः सम्बन्धः भवितुं शक्नोति। अतः अत्र आरोपितौपश्लेषाधिकरणे सप्तमी। अत एव तेनोक्तम्- वस्तुतस्तु 'मृगतृष्णाम्भसि स्नात' इत्यादाविवारोपितौपश्लेषाधिकरणे सप्तमी। ''इको यणचि'' इत्यादावौपश्लेषिकाधिकरणे सप्तमीति ''संहितायाम्'' इतिसूत्रस्थभाष्यमेवं संगच्छते। अन्यथा द्रव्ययोरेव संयोग इति नियमाद् गुणयोर्मुख्योपश्लेषाभावाद् भाष्यमसंगतं स्यात्।[72]

द्वितीयोऽधारः- वैषियिकाधारः यथा- मोक्षे इच्छा, तृतीयः - अभिव्यापकाधारः- यत्र सर्वावयवावच्छेदेन सम्बन्धोऽस्ति सः अभिव्यापकाधारः यथा तिलेषु तैलम्।

उपर्युक्तविवरणेन स्पष्टं वर्तते यद मौनिश्रीकृष्णभट्टो लघुविभक्त्यर्थनिर्णये तत्तत्सूत्रार्थविचारे नैकेषु स्थलेषु पूर्वाचार्येभ्यो भिन्नं मतं प्रतिपादयति। तत्रापि नागेशभट्टेन सहास्य विभतिरधिका दृश्यते। क्वचिद् मौनिश्रीकृष्णभट्टस्य स्वोपज्ञोराद्धान्तोऽपि प्रतिपादितः।

सन्दर्भटिप्पण्यः

1. ल.श.शे. पृ. 620
2. प्रौ. मनो. पृ. 612
3. प्रौ. मनो. पृ. 612
4. ल.वि.नि. पृ.
5. ल.वि.नि. पृ.
6. ल.श.शे. पृ. 615
7. ल.श.शे. पृ. 615
8. ल.वि.नि. पृ. 24
9. ल.वि.नि. पृ. 25
10. प्रौ.मनो. 678
11. ल.श.शे. पृ. 604
12. ल.श.शे. पृ. 671
13. ल.वि.नि. पृ.
14. ल.वि.नि. पृ. 36
15. म.भा. पृ. 387 सू.सं. 1-4-51
16. ल.वि.नि. पृ. 33
17. प.सु.सं. 2-3-18
18. वै.भू.सा. 197
19. पा.सू. 1-4-42
20. वा.प.का.सा.समु. 90, 91, पृ. 272
21. पा. सू. 2-3-19
22. वै.सि.कौ. ल.टी. पृ. 809
23. ल.श.शे. पृ. 707
24. पा. सू. 1-4-32
25. ल.श.शे. पृ. 713
26. वै.सि.म. पृ. 172
27. ल.वि.नि. पृ. 48
28. ल.वि.नि. पृ. 49
29. ल.श.शे पृ. 717
30. ल.वि.नि. पृ. 49
31. पा. सू. 1-4-33
32. वै.सि.कौ. पृ. 814
33. प्रौ. मनो. पृ. 729
34. ल. श.शे. पृ. 717
35. लघु वि. नि. पृ. 50
36. पा.सू. 1-4-49
37. प्रौ. मनो. 735
38. ल.श.शे. नि.प.टी. पृ. 491
39. वै.सि.म. पृ. 176
40. ल.श.शे. पृ. 722
41. ल.वि.नि. पृ. 51
42. ल.वि.नि. पृ. 52
43. पा.सू. 273-29
44. ल.श.शे. पृ. 337

45. ल.वि.नि. 37
46. ल.वि.नि. 63
47. ल. श. शे. पृ. 734
48. ल. श. शे. पृ. 734
49. श.कौ.द्वि.भा. पृ. 118
50. प्रौ. मनो. 745
51. प्रौ. मनो. 745
52. ल.वि.नि. पृ. 60
53. पा.सू. 2-3-50
54. ल.श.शे. पृ. 744
55. वै.सि.म. 195
56. वै.सि.म. पृ. 195
57. वै.सि.म. पृ. 196
58. वै.सि.म. पृ. 196
59. म.भा. प.सू. 2-3-50, पृ. 310
60. ल.श.शे. पृ. 747
61. प्रौ.म.पृ. 17
62. ल.श.शे. चि.मा. पृ. 746
63. ल.वि.नि. पृ. 68
64. ल.श.शे. पृ. 747
65. वा.प.तृ.का.का. 156
66. ल.वि.नि. पृ. 69
67. ल.वि.नि. पृ. 70
68. पा.अ. 1-4-45
69. वै.सि.कौ. पृ. 850
70. प्रौ.मनो. पृ. 774
71. वै.सि.कौ.ल.टी. पृ. 851
72. ल.वि.नि. पृ. 76

सङ्केताः

ल.श.शे.	लघुशब्देन्दुशेखर
प्रौ. मनो.	प्रौढमनोरमा
ल.वि.नि.	लघुविभक्त्यर्थनिर्णयः
म.भा. सू.सं.	महाभाष्य सूत्र संख्या
पा.अ.	पाणिनीया अष्टाध्यायी
वै.भू.सा.	वैयाकरणभूषणसारः
वा.प.तृ.का.का. सा.समु.	वाक्यपदीय तृतीय काण्ड कारिका, साधनसमुद्देश्य
वै.सि.कौ. ल.टी.	वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी लक्ष्मीटीका
ल.श.शे. चि.मा.	लघुशब्देन्दुशेखर चिदस्थीमाला
ल.श.शे. नि.प.टी.	लघुशब्देन्दुशेखर नित्यानन्द पर्वतीय टीका

संदर्भग्रन्थसूची

1. प्रौढमनोरमा - भट्टमहोपाध्यायश्रीभट्टसोजिदीक्षितविरचितप्रौढमनोरमा। ''महामहोपाध्याय श्री हरिदीक्षितविरचित- लघुशब्दरत्नाख्यव्याख्यया'' महामहोपाध्यायभैरवमिरविरचित ''शब्दरत्न (भैरवी) प्रकाशिकाऽख्यव्याख्यया'' सभापतिशमोपाध्यायनिर्मित 'रत्नप्रभा' नामक टिपण्या च विलसिता, वाण विलास प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण, 1997
2. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी- पण्डितश्रीसभापतिशर्मोपाध्यायविरचितया ''लक्ष्मी' व्याख्योपेता, द्वितीयांशः। प्रकाशक- मोतीलाल बनारसीदास, श्री बालकृष्णशर्मपञ्चोलिना सम्पादिता- प्रथम संस्करण, 1966
3. पातञ्जलमहाभाष्यम्- वाणीविलास प्रकाशन विक्रमाब्द 2044, सम्पादकः डा0 बालशास्त्री

4. वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा- सम्पादकः डा. कालिका प्रसाद शुक्लः, प्रकाशन- सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1977

5. लघुशब्देन्दुशेखरः- टीकाषट्कोपेतः अव्ययीभावसमासान्तः (द्वितीयो भागः) वाणी विलाल प्रकाशन-1992

6. वाक्यपदीयम्- तृतीयं काण्डम् द्वितीयोभागः सम्पादकः पद्मश्रीः पण्डितश्रीरघुनाशशर्मा, सं.सं.वि.वि. वाराणसी, 1997

7. शब्दकौस्तुभ- श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितप्रणीतः सम्पदकौ विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी, गणपतिशास्त्री माकाटे च। चौखबा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, 1991

8. लघुविभक्त्यर्थनिर्णय- मौनिश्रीकृष्णभट्टविरचितः, वादार्थसंग्रहः तृतीयो भागः, सम्पादवाक्रे इत्युपाह्वो गङ्गाधरभट्टसुतमहादेवशर्मा, गुजराती मुद्रणालय, ई. 1915

डॉ. भारत भूषण त्रिपाठी
सह-आचार्य, व्याकरण, रा.सं.सं., लखनऊ परिसर, लखनऊ



रसमञ्जरी एवं रसतरङ्गिणी का परवर्ती-साहित्य पर प्रभाव-एक अनुशीलन

अपराजिता मिश्रा

भानुदत्त के द्वारा चौदहवीं से पन्द्रहवीं शती के मध्य में विरचित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'रसमञ्जरी' और 'रसतरङ्गिणी' ग्रन्थों का परवर्ती संस्कृत और हिन्दी काव्यशास्त्र पर तथा कवि शिक्षा प्रणेताओं पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा। 'रसमञ्जरी' नायिका - भेद पर आधारित ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ ने हिन्दी-साहित्य में रीतिकाल को आधार भूमि प्रदान की। रीतिकाल के प्रायः सभी कवि भानुदत्त के इस ग्रन्थ से न केवल प्रभावित हुए वरन् उन्होंने उनकी विविध परिभाषाओं, वर्गीकरणों और नूतन उद्‌भावनाओं को भी अपनाया। 'रसतरङ्गिणी' में मात्र रसों का व्याख्यान है। जृम्भा नामक सात्त्विक भाव, छल सञ्चारी भाव और माया रस की परिकल्पना भानुदत्त की मौलिक उद्‌भावनाएँ हैं, जिसे परवर्ती संस्कृत और हिन्दी के काव्य एवं काव्यशास्त्र में स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत लेख भानुदत्त द्वारा इन दोनों ग्रन्थों में की गई मौलिक स्थापनाओं एवं परवर्ती संस्कृत तथा विशेषतः हिन्दी साहित्य पर पड़ने वाले उसके व्यापक प्रभाव पर एक सर्वेक्षण प्रस्तुत करता है।

किसी भी कृति का मूल्याङ्कन उसके रचनाकार के काल की सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही किया जाता है। साहित्य मानव समाज की गतिशील चेतना की अभिव्यक्ति है, अतः उसके प्रेरक तत्त्व के रूप में मनुष्य के परिवेश का बहुत महत्त्व है। ''साहित्य समाज का दर्पण है।'' इस कथन की सत्यता में तनिक भी सन्देह नहीं, क्योंकि साहित्य समाज से प्रभावित अवश्य ही होता है। युग विशेष की नैतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक स्थितियों की अभिव्यक्ति उसके साहित्य में अवश्य ही होती है। उदाहरण स्वरूप हिन्दी-साहित्य के इतिहास का क्रमशःवीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिककाल में जो विभाजन किया गया इसका मूल आधार यही था कि इन कालों में सामाजिक परिस्थितियाँ भी इनके नामकरण के अनुरूप साहित्य के विकास के अनुकूल थीं। परन्तु ऐसा नहीं है कि इन कालों में अन्य प्रकार की रचनाएँ हुई ही नहीं परन्तु किसी भी काल का नामकरण उस समय में होने वाली अधिकांश रचनाओं के आधार पर ही किया जाता है। इसलिये यद्यपि भक्तिकाल में भी श्रृङ्गारिक रचनाएँ हुईं तथापि प्रधानता भक्तिपरक रचनाओं की ही रही।

यदि हम भानुदत्त के काल की परिस्थितियों पर विचार करें तो हम देखते हैं कि इनके काल की तथा उनके पश्चात् की सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों ने ही इनको संस्कृत एवं हिन्दी दोनों ही साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान कराया। भानुदत्त का काल संस्कृत-साहित्य का सन्ध्याकाल था। संस्कृत के सभी प्रमुख आचार्य जिनमें मुख्य रूप से आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट का नामोल्लेख किया जा सकता है, भानुदत्त के पूर्व हो चुके थे तथा इनके पश्चात् संस्कृत में पण्डितराजजगन्नाथ के अतिरिक्त कोई प्रमुख आचार्य नहीं हुये।

हिन्दीसाहित्य में भानुदत्त का काल (चौदहवीं से पंद्रहवीं शती) भक्तिकाल के अन्तर्गत आता है। इसके पश्चात् रीतिकाल का आरम्भ माना जाता है। इस प्रकार भानुदत्त भक्तिकाल के अवसान तथा रीतिकाल के आरम्भ के मध्य में थे। भक्तिकाल को चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के अन्त तक माना जाता है। यह काल भारतीय इतिहास की राजनीतिक परिस्थितियों में हिन्दू सत्ता के क्षय होने तथा इस्लाम सत्ता के स्थापित होने की करुण कहानी है। इसने जनसामान्य में उस मनःस्थिति को जन्म दिया जिसमें इस्लाम के प्रभाव से हिन्दू धर्म को बचाने के लिये उसमें आन्दोलनकारी प्रवृत्तियाँ उभरने लगीं। इसी प्रयास में भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस आन्दोलन को तद्युगीन पराजित हिन्दू जाति की निराशा से उद्वेलित तथा इस्लाम की प्रतिक्रिया माना है। इसलिए इस कालावधि में साहित्य की धारा भी भक्ति की ओर मुड़ गयी। परन्तु रीतिकाल के आते-आते मुगल साम्राज्य का पतन आरम्भ होता है। रीतिकाल का आरम्भ सत्रहवीं शती के मध्य से तथा अवसान उन्नीसवीं शती के मध्य तक माना जाता है। भारतीय इतिहास में यह घोर पतन का युग था। मुसलमानों का जीवन तो एहिक शक्ति और सुख के अतिचार के कारण जीर्ण हो गया था, और हिन्दू जीवन भी पराभव से जीर्ण था। विलास का केन्द्र बिन्दु नारी बन गयी थी। इस समय केन्द्रिय शासन पूर्ण रूप से पतन कि ओर जा रहा था। वस्तुतः इन दो शताब्दियों का इतिहास विप्लवों और युद्धों का इतिहास था। धर्म में भी भ्रष्टाचार और पापाचार का प्राधान्य हो गया था। राजनैतिक,सामाजिक एवं धार्मिक पतन के समान ही नैतिक रूप से भी इस काल के मुसलमान एवं हिन्दू पतन की ओर अग्रसर थे। नारी को मात्र उपभोग की वस्तु समझा जाता था। बादशाहों के महल में अनेक वेश्याएं हुआ करती थीं। वे अत्यन्त विलासी हो गए थे। इन सब परिस्थितियों के अतिरिक्त कवि जनसाधारण के कवि न हो कर राजदरबारों में रहने वाले कवि थे। ये राजाओं और बादशाहों के आश्रय में रहते थे तथा अपने आश्रयदाताओं की अभिरुचि तथा काव्यशास्त्रीय नियमों का अनुसरण करते हुए उनकी विलासिता के पोषण के लिए शृङ्गारिक रचनाओं का प्रणयन किया करते थे। लेकिन वह भी संस्कृताचार्यों का अनुकरण मात्र था।

भानुदत्त ने भक्तिकाल के अवसान काल में ही नायक-नायिका भेद पर आधारित अपने ग्रन्थ ''रसमञ्जरी'' की रचना की। अतः इन्होंने ही रीतिकाल के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का सृजन कर दिया। जिसने शीघ्र ही दृष्टि पथ में आने वाले रीतिकाल को आधार भूमि प्रदान की। उत्तरकालीन कवि शिक्षा प्रणेताओं में भानुदत्त सबसे अधिक लोकप्रिय हो गये। रीतिकाल के लगभग दो सौ वर्षों के इतिहास में जितने भी कवि हुए लगभग उन सभी पर भानुदत्त का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। अतः स्पष्ट है कि भानुदत्त के काल में ही तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक परिस्थितियाँ शृङ्गार रस के विवेचन के अनुकूल साहित्य के निर्माण की पृष्ठभूमि सृजित कर चुकी थीं।

आचार्य भानुदत्त की कृतियों का अध्ययन एवं समीक्षा करने के उपरान्त यह प्रश्न स्वाभाविक एवं अनिवार्य रूप से उठता है, कि भानुदत्त की मौलिकता क्या थी तथा उन्होंने अपने परवर्ती साहित्य को किस प्रकार प्रभावित किया? भानुदत्त के काव्यशास्त्रीय विषय पर लिखे गये दो ही ग्रन्थ हैं- ''रसमञ्जरी'' तथा ''रसतरङ्गिणि''। भानुदत्त के काल की उपरोक्त परिस्थितियों के फलस्वरूप उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का पश्चाद्वर्ती संस्कृत आचार्यों पर इतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि हिन्दी के आचार्यो पर। भानुदत्त के सम्बन्ध में प्रथम उल्लेखनीय तथ्य यह है कि यह ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने काव्यशास्त्र का लक्षण करते समय मात्र रस की ही व्याख्या की है। इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों ने रस को काव्यात्मा मानते हुए भी काव्य के समस्त अङ्गों का विवेचन किया है। यद्यपि प्रत्येक आचार्य की शैली में भिन्नता तथा विवेचन के विस्तार की मात्रा कम या अधिक थी, परन्तु भानुदत्त के पश्चाद्वर्ती कतिपय आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में मात्र रसों का अथवा शृङ्गार रस का ही विवेचन किया है।

''रसमञ्जरी'' में मौलिक उद्भावनाएँ

नायक-नायिका भेद पर रचित भानुदत्त का यह ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस काव्य-ग्रन्थ का संस्कृत आचार्यों पर तो पर्याप्त प्रभाव पड़ा ही, परन्तु हिन्दी में इस विषय को ले कर एक काल की ही स्थापना हो गयी जिसे ''रीतिकाल'' नाम दिया गया। रीतिकाल के सभी आचार्यों ने नायक-नायिका भेद का ही निरूपण किया है। इसका आधार भी भानुदत्त ही हैं। 'रसमञ्जरी' में वर्णित नायिकादि के लक्षण व उदाहरण आदि को इन आचार्यों ने उसी रूप में ग्रहण कर लिया है, मात्र भाषा का भेद ही दृष्टिगोचर होता है। अतः रीतिकाल का सम्पादनकर्त्ता यदि भानुदत्त को माना जाय तो अनुचित न होगा।

स्वीया नायिका

आचार्य रुद्रभट्ट ने नायिका भेद[1] को जो रूप दिया, पश्चाद्वर्ती आचार्यों में सभी ने उसको आधार बनाया। आचार्य भानुदत्त ने भी उस परम्परा को नहीं तोड़ा और उसी के आधार पर कुछ दूसरे नवीन भेदों की कल्पना की तथा रुद्रभट्ट द्वारा वर्णित भेदों के लक्षण में परिवर्तन किया। स्वीया का लक्षण[2] इन्होंने स्वामी मात्र में अनुरक्त रहने वाली किया है। विद्याराम ने 'रसदीर्घिका'[3] में इसी को ग्रहण करते हुए बिना किसी परिवर्तन के उद्धृत किया है। इसी प्रकार 'मन्दारमरन्दचम्पू'[4] में श्रीकृष्ण कवि ने स्वामी में ही अनुरक्त रहने वाली आत्मा को स्वीया कहा है। 'रसचन्द्रिका'[5] में विश्वेश्वर ने मात्र भाषा का परिवर्तन करके पति मात्र में ही अनुराग रखने वाली को स्वीया कहा है। इसके अतिरिक्त बड़े अकबर शाह ने भी अपने ग्रन्थ 'शृङ्गारमञ्जरी' में इस लक्षण में किञ्चित् परिवर्तन करके इसको ग्रहण किया है। इनको लक्षण में वर्णित 'एव' उचित प्रतीत नहीं हुआ। अतः उसे ग्रहण न करके परिणेता पति में अनुरक्त रहने वाली को इन्होंने स्वीया बताया। बड़े अकबर शाह भानुदत्त से विशेष रूप से प्रभावित थे। 'शृङ्गारमञ्जरी' का आधार भानुकृत रसमञ्जरी ही है,[6] परन्तु उन्होंने आलोचनात्मक दृष्टि से 'रसमञ्जरी' का अवलोकन करते हुए उनके लक्षणों में यथास्थान परिवर्तन अवश्य कर दिया है।

मुग्धा नायिका के भेद

स्वीया के तीन भेद मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा करने के पश्चात् मुग्धा नायिका के जो उपभेद भानुदत्त ने किए वह भी उनकी मौलिक देन है। भानुदत्त ने मुग्धा की परिभाषा देते समय रुद्रभट्ट की परिभाषा[7] को आधार मानकर अपनी परिभाषा दी है, परन्तु इस परिभाषा को व्यवस्थित रूप इन्होंने ही दिया। इन्होंने मुग्धा यौवना के आयु के अनुसार अज्ञात यौवना तथा ज्ञात यौवना नामक दो भेद किए। तत्पश्चात् पुनः नवोढ़ा एवं विश्रब्ध नवोढा[8] रूप दो प्रकार बताए हैं। यह उनकी मौलिक देन है। भानुदत्त के द्वारा मुग्धा का यह वर्गीकरण स्पष्ट और सुव्यवस्थित होने के कारण मौलिक तथा पश्चाद्वर्ती आचार्यों का उपजीव्य सिद्ध हुआ।

इसी को आधार मानकर विद्याराम ने 'रसदीर्घिका' तथा श्रीवेणीदत्त कृत 'रसकौस्तुभ'[9] में नायिका के ज्ञात यौवना तथा अज्ञात यौवना दो भेद किए। इसी प्रकार श्रीकृष्ण कवि ने 'मन्दारमरन्दचम्पू'[10] में भी मुग्धा के पहले अज्ञात एवं ज्ञात यौवना भेद किए हैं। पुनःशुद्ध एवं विश्रब्ध नवोढ़ा रूप से इसे दो प्रकार का बताया है। इनके द्वारा दी गयी मुग्धा की परिभाषा में भी भानुदत्त के लक्षण का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। 'रसचन्द्रिका'[11] में आचार्य विश्वेश्वर ने और बड़े अकबर शाह ने भी अपने ग्रन्थ में इन भेदों को स्वीकार कर भानुदत्त के मत को पुष्ट किया है।

मध्या नायिका

आचार्य भानुदत्त ने मध्या नायिका को एक नवीन नाम 'अतिविश्रब्ध नवोढ़ा'[12] दिया। जिसे आचार्य विश्वेश्वर ने 'रसचन्द्रिका'[13] में स्वीकार किया है।

प्रगल्भा नायिका

आचार्य भानुदत्त ने प्रगल्भा की चेष्टाओं[14] के अन्तर्गत रतिप्रीतिमती तथा आनन्दसम्मोहवती रूप से दो चेष्टाओं का वर्णन किया है। इसे भी 'रसदीर्घिका', 'मन्दारमरन्दचम्पू'[15] 'रसचन्द्रिका'[16] तथा रामानन्द ठक्कुर कृत 'रसतरङ्गिणी'[17] में से किन्हीं में प्रगल्भा की दो चेष्टाओं तथा किन्हीं में प्रगल्भा के दो भेदों के रूप में स्वीकार किया गया है।

परकीया नायिका

परकीया नायिका के सम्बन्ध में भानुदत्त की मौलिकता उनके द्वारा किए गए परकीया के छः भेद हैं।[18] इन्होंने परकीया नायिका के गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना और मुदिता भेद किये जो इनके पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने नहीं किए थे। 'मन्दारमरन्दचम्पू'[19] में श्रीकृष्ण कवि ने इसे इसी रूप में ग्रहण कर लिया है। परकीया का लक्षण भी इन्होंने भानुदत्त के समान ही दिया है। आचार्य विश्वेश्वर[20] एवं रामानन्द ठक्कुर[21] ने भानुदत्त द्वारा वर्णित परकीया के छः प्रकारों को उसी रूप में ग्रहण कर लिया है। रामानन्द ठक्कुर ने भी गुप्ता, विदग्धा, कुलटा तथा अनुशयाना आदि जो भेद किये हैं, उन सबका परकीया में ही अन्तर्भाव किया जाता है, ऐसा कहा है। यहाँ यद्यपि चार प्रकारों का ही उल्लेख किया है, परन्तु इन्होंने यह स्पष्ट कहा है कि आदि पद से लक्षिता और मुदिता का भी अन्तर्भाव हो जाता है। बड़े अकबर शाह ने भी परकीया का भेद करते समय लगभग उन्हीं प्रकारों का उल्लेख किया है जिसका भानुदत्त कर चुके हैं। लेकिन उन्होंने इसके क्रम में परिवर्तन कर दिया है। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से इनमें एवं भानुदत्त में कुछ अन्तर भले ही दृष्टिगोचर हो तथापि मूलतः दोनों में पर्याप्त साम्य है। नायिका की दशाओं के आधार पर अन्य भेदों अन्यसम्भोगदुखिता, वक्रोक्तिगर्विता तथा मानवती[22] में भी भानुदत्त की मौलिक कल्पना दृष्टिगोचर होती है। इनके जो अवान्तर भेद इन्होंने किये हैं, उसी को आधार मानकर आचार्य विश्वेश्वर ने 'रसचन्द्रिका'[23] में तथा रामानन्द ठक्कुर ने 'रसतरङ्गिणी'[24] में इनके भेद किये हैं।

प्रवत्स्यत्पतिका

भानुदत्त के द्वारा आठ प्रकार की नायिकाओं का भेद करने के उपरान्त 'प्रवत्स्यत्पतिका'[25] नामक नवें प्रकार की कल्पना भी उनकी मौलिक विचारधारा थी। जिसका पति अभी-अभी या अग्रिम ही क्षण में विदेश जाने वाला हो, वह प्रवत्स्यत्पतिका कहलाती है। भानुदत्त के अनुसार अन्य आठ वासकसज्जादि नायिका भेद में अन्तर्भाव न हो सकने के कारण ही इसे नवाँ भेद माना है। बड़े अकबर शाह ने 'शृङ्गारमञ्जरी' में इस मत को स्वीकार किया है।

नायिका की सहायिकाओं का निरुपण

भानुदत्त ने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा किए गए विस्तृत भेदों को अतिसीमित तथा व्यवस्थित कर मात्र दो सहायकों तक सीमित रखा। सखी और दूती[26] दो भेद नायिका के सहायकों का करते हुए पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा वर्णित सभी कार्यों का विभाजन इन्हीं दोनों के कार्यों में कर दिया है। मण्डन, उपालम्भ, शिक्षा तथा परिहासादि को सखी के कार्य कहा है। बाद के आचार्यों में आचार्य विश्वेश्वर, रामानन्द ठक्कुर[27], बड़े अकबर शाह ने क्रमशः अपने ग्रन्थों 'रसचन्द्रिका', 'रसतरङ्गिणी' तथा 'शृङ्गारमञ्जरी' में सखी और दूती के कार्यों के साथ ही लक्षणों को भी भानुदत्त से ग्रहण कर लिया है।

नायक / भेद में मौलिकता

आचार्य भानुदत्त ने नायक के पति, उपपति तथा वैशिक[28] ये तीन भेद किये हैं। इन्होंने इनके जो लक्षण दिये हैं, आचार्य विश्वेश्वर[29] तथा रामानन्द ठक्कुर[30] ने भी इसी को ग्रहण किया है। इसके बाद पति के अनुकूल आदि भेदों को इन आचार्यों ने स्वीकार किया है। भानुदत्त ने यह वर्गीकरण आचार्य शिङ्ग्भूपाल[31] के आधार पर किया था और पश्चाद्वर्ती सभी आचार्यों ने इसे स्वीकार किया। आचार्य भानुदत्त ने इसके अतिरिक्त मानी और चतुर दो अतिरिक्त भेद और किए तथा इन्हें शठ में ही अन्तर्भूत कर लिया। रामानन्द ठक्कुर[32] ने 'रसतरङ्ग्णी' में इसका अनुसरण करते हुए मानी एवं चतुर[33] का शठ में ही अन्तर्भाव किया है। परन्तु 'रसचन्द्रिका'[34] में मानी का मध्यम प्रवृत्ति के नायक में तथा चतुर का अन्तर्भाव उत्तम में कर दिया गया है। बड़े अकबर शाह ने मानी तथा चतुर का शठ में अन्तर्भाव न करके स्वतन्त्र रूप से निरूपण किया है। लेकिन इन दोनों प्रकारों को स्वीकार सभी आचार्यों ने किया है।

भानुदत्त ने सम्भवत: प्रोषितपपिका नामक नायिका भेद[35] से प्रेरित हो कर प्रोषितनायक भेद की नवीन कल्पना भी की। यद्यपि इन्होंने इसका लक्षण नहीं किया है परन्तु जिसकी प्रिया विदेश चली गयी हो ऐसे नायक के अवस्था का चित्रण भानुदत्त ने किया है। इनके अनुसार पति, उपपति तथा वैशिक तीनों ही प्रकार के प्रोषित होते हैं। उनके इस मत को रामानन्द ठक्कुर[36] ने अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया है। विश्वेश्वर[37] तथा बड़े अकबर शाह ने भी प्रोषित भेद को स्वीकार किया है।

रसतरङ्ग्णी में मौलिक उदभावनाएँ

यद्यपि 'रसतरङ्ग्णी' रस-विवेचन का पारम्परिक ग्रन्थ है परन्तु इससे भानुदत्त के मौलिक योगदान को अनदेखा नहीं किया जा सकता। भानुदत्त ने रस-सम्बन्धी अनेक समस्याओं पर नवीन दृष्टि से विचार किया है और अनेक मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। इस ग्रन्थ की मौलिक उद्भावनाओं और उनके महत्त्व का यह प्रमाण है, कि अनेक परवर्ती संस्कृत के और हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने भानुदत्त की 'रसतरङ्ग्णी' का अनुकरण किया है। नवीन मतों की स्थापना को ही मौलिकता नहीं कहा जा सकता प्रत्युत नवीन आलोक में किसी पूर्वकथित मत का परीक्षण करना भी मौलिकता ही है। भानुदत्त ने दोनों क्षेत्रों में कार्य किया है। भानुदत्त ने रसों के स्वरूप का विवेचन करते समय उसे लौकिक तथा अलौकिक[38] दो प्रकार का माना है। इन्होंने अलौकिक रस के स्वाप्निक, मानोरथिक तथा औपनायिक भेद किये हैं।

भानुदत्त का दूसरा महत्त्वपूर्ण मत यह है कि चित्तवृत्तियाँ[39] दो प्रकार की होती हैं -प्रवृतिमूलक और निवृत्तिमूलक। उनके इस निष्कर्ष में सार प्रतीत होता है। जीवन में विविध-प्रकार के व्यवहार इस मत के प्रमाण हैं। कुछ विषयों कि ओर हम आकर्षित होते हैं और कुछ से दूर हटना चाहते हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों का अन्तर्भाव माया-रस में होता है और निवृत्ति का शान्त रस में। माया रस की उद्भावना[40] भानुदत्त की मौलिक उद्भावना है। इन्होंने रसों के भेद-प्रसङ्ग में शान्त रस नामक नवें भेद से प्रभावित होकर माया-रस नामक नवीन रस-भेद की कल्पना की। इसकी पुष्टि में यह तर्क दिया कि प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दोनों यदि सार्थक हैं तो माया और शान्त रस भी सार्थक हैं। इसका स्थायी-भाव भानुदत्त ने मिथ्याज्ञान को माना है। भानुदत्त की एक अन्य मौलिक उद्भावना है 'जृम्भा' सात्त्विक भाव।[41] सामान्यत: भानुदत्त को इसका संकेत रुद्रभट्ट कृत 'शृङ्गारतिलक'[42] से प्राप्त हुआ था किन्तु इसकी सैद्धान्तिक स्थापना करने का श्रेय भानुदत्त को ही है। सात्त्विक, स्थायी तथा व्यभिचारी भावों में भानुदत्त ने स्पष्ट पार्थक्य स्वीकार किया है।

इसके अतिरिक्त भरत ने हास्य रस के जो आत्मस्थ और परस्थ दो भेद किये थे उनसे प्रभावित होकर भानुदत्त ने भी हास्य, करुण, भयानक, बीभत्स और अद्भुत रस के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ[43] रूप में दो-दो भेद किए हैं। शृङ्गार, वीर और रौद्र के ये भेद नहीं किए हैं। इस ग्रन्थ के अष्टम तरंग में भानुदत्त

ने रसों का वर्गीकरण एक और प्रकार से भी किया है। रस, भाव और अलंकार की स्थिति को स्पष्ट करने के लिये भानुदत्त ने कहा है कि 'अभिमुख', 'विमुख' और 'परमुख' रूप से रस तीन प्रकार का होता है। 'परमुख' के भी दो प्रकार हैं- 'अलङ्कारमुख' और 'भावमुख'।[44] जिस प्रकार ध्वनि को आधार बनाकर ध्वनिवादियों ने काव्य के भेद निर्धारित किए थे उसी प्रकार रस को आधार बना कर भानुदत्त ने काव्य के उपरोक्त भेद किए। यह संस्कृत-साहित्य में प्रथम प्रयास था। काव्य में रस प्रमुख भी हो सकता है तथा उसकी योजना ऐसी भी हो सकती है कि रस तो हो किन्तु उसकी अनुभूति क्लिष्ट रूप में हो और वह गौण भी हो सकता है तथा उसके स्थान पर अलङ्कार, भाव आदि प्रधान हो सकते हैं। रसों के इस प्रकार के वर्गीकरण का मूल आधार यही है। 'छल' संचारी भाव की स्थापना भी इनकी नवीन कल्पना है।[45] न्यायशास्त्र में प्राप्त कुछ सङ्केतों के आधार पर भानुदत्त ने काव्यशास्त्र में 'छल' संचारी की स्थापना की। गुप्त क्रियाओं द्वारा किसी कार्य को सिद्ध करना 'छल' कहा जाता है। न्यायशास्त्र के आधार पर ही भानुदत्त ने 'स्मृति', संचारी के दो प्रकार बताए- स्मरण-रूप तथा प्रत्यभिज्ञा-रूप[46] और 'वितर्क' संचारी को चार प्रकार का कहा विचारात्मा, संशयात्मा, अनध्यवसायात्मा और विप्रतिपत्त्यात्मा[47]। 'वितर्क' संचारी के लिए भरत ने कहा था- 'वितर्को नाम सन्देहविमर्शविप्रतिपत्यादिभिर्विभवैरुत्पद्यते'। अर्थात् उभयावलम्बी संशय, विमर्श अर्थात् विशेष प्रतीत्यभिलाषा और विप्रतिपत्ति आदि विभावों से वितर्क उत्पन्न होता है। निश्चय ही भानुदत्त के विवेचन से भरत की मान्यता का भी विस्तार हुआ है। अधिक विस्तार में न जाते हुए कहा जा सकता है कि रस-चिंतन में भानुदत्त ने नवीन दृष्टि से विचार किया है और अनेक मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। यद्यपि उनकी अधिकांश मौलिक उद्भावनाओं के प्रेरणा बीज न्यायशास्त्र में प्राप्य हैं किन्तु भानुदत्त ने काव्यशास्त्रीय धरातल पर उनकी सिद्धि कर अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है। न्यायशास्त्र के इन सिद्धान्तों का विस्तार भानुदत्त से प्रेरणा ग्रहण कर उनके परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने भी किया है।

रसतरङ्गिणी का परवर्ती संस्कृत काव्यशास्त्र पर प्रभाव

परवर्ती संस्कृत-काव्यशास्त्र पर भानुदत्त की 'रसतरङ्गिणी' का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। संस्कृत के जिन आचार्यों पर इनका प्रभाव पड़ा उनमें विद्याराम, श्रीकृष्णकवि, गंगानन्द कविराज, हंसमिट्ठू, विश्वेश्वर तथा रूपगोस्वामी आदि हैं।

गंगानन्द कविराज ने अपने ग्रन्थ 'कर्णभूषण' में भानुदत्त का उल्लेख करते हुए 'जृम्भा' सात्त्विक को स्वीकृति प्रदान की है। कविराज की प्रतिपादन शैली भी भानुदत्त जैसी ही है। इनका मद, वितर्क, स्मृति आदि संचारियों का विवेचन भी स्पष्टतः भानुदत्त से प्रभावित है। 'कर्णभूषण' में अनेक ऐसे स्थल हैं, जैसे भाव के लक्षण, सात्त्विक भाव तथा उनके भेदों का विवेचन, व्यभिचारी भाव, रसाभाव आदि और विशेषतः परिभाषाएँ जिनमें भानुदत्त की शब्दावली का ही प्रयोग हुआ है।[48] गंगानन्द कविराज मैथिल थे और भानुदत्त के समकालीन थे। सम्भवतः इसीलिए उनके ग्रन्थ पर भानुदत्त का इतना प्रभाव है। परन्तु 'मन्दारमरन्दचम्पू' ग्रन्थ के लेखक श्रीकृष्ण कवि (1835-1909) न ही मैथिल थे न भानुदत्त के समकालीन। तथापि इस ग्रन्थ पर 'रसतरङ्गिणी' का प्रभाव 'कर्णभूषण' से भी अधिक पड़ा है। 'मन्दारमरन्दचम्पू' शुद्ध रूप से रस-विवेचन का ग्रन्थ नहीं है। इसमें केवल एक अध्याय 'रम्य-बिन्दु' में ही रस-विवेचन किया गया है किन्तु इस अध्याय पर प्रायः सर्वत्र भानुदत्त की 'रसतरङ्गिणी' की छाप परिलक्षित होती है। भानुदत्त की तरह इन्होंने भी रस के लौकिक तथा अलौकिक भेद स्वीकार किए हैं। इन्होंने भानुदत्त की माया रस-सम्बन्धी परिकल्पना को स्वीकार किया है। भानुदत्त के समान इन्होंने भी हास्य, करुण, भयानक, बीभत्स और अद्भुत रसों के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ भेद किए हैं। इन्होंने रसों के वर्णन में अनेक स्थलों पर भानुदत्त द्वारा प्रयुक्त शब्दावली को भी अपना लिया है। उदाहरण स्वरूप-

'रसतरङ्गिणी' के हास्य के स्वरूप- 'हासस्य परिपोषो हास्य:' के समान ही 'मन्दारमरन्दचम्पू' का हास्य का स्वरूप है- 'हास्यस्य परिपोषस्तु रसो हास्य: प्रकीर्तित:'। इस प्रकार के अनेक अंश श्रीकृष्ण कवि के काव्य में देखे जा सकते हैं।[49]

1650 ई0 में रचित विद्याराम के ग्रन्थ 'रसदीर्घिका' में भी माया-रस को स्वीकृति दी गयी है। इन्होंने भानुदत्त के माया-रस सम्बन्धी विवेचन को ही दार्शनिक शैली में विस्तार प्रदान किया है।[50] रसों के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ भेद भी इन्होंने भानुदत्त के आधार पर ही किया है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थों पर भी भानुदत्त का प्रभाव देखा जा सकता है। (अठारहवीं शताब्दी के पूर्वा) में रचित 'हंसमिट्ठू' के तान्त्रिक ग्रन्थ 'हंसविलास' में माया को दसवाँ रस स्वीकार किया गया है और मिथ्या-ज्ञान को उसका स्थायीभाव कहा गया है।[51] शिव प्रसाद कवीश्वर के ग्रन्थ लक्ष्मीश्वरभूषण 1872 में मायारस का उल्लेख किया गया है।[52] अनेक विद्वानों ने भानुदत्त की इस मान्यता का खण्डन भी किया है उदाहणार्थ विश्वेश्वर-रचित 'रस-चन्द्रिका'[53] और चिरंजीव भट्टाचार्य के ग्रन्थ 'काव्यविलास'[54] में देखा जा सकता है। 'जृम्भा' नामक सात्त्विक भाव का उल्लेख रूपगोस्वामी के ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' में छ: उद्भास्वरों के अन्तर्गत हुआ है।[55] इनके अतिरिक्त मुरारीदान के ग्रन्थ 'यशवन्तभूषण'[56] में पौण्डरीक रामेश्वर के ग्रन्थ 'रससिन्धु'[57] में चित्रधर ने 'शृङ्गारसारणी'[58] में तथा गोविन्दगीत कृत 'सभ्यालङ्करणम्' में भानुदत्त का व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दी के रीतिकालीन कवियों पर भानुदत्त का प्रभाव

हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्रियों के लिए भानुदत्त एक आदर्श आचार्य रहे हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र तो भानुदत्त के समय तक पतन की ओर जा रहा था, परन्तु शीघ्रता से दृष्टिपथ में आने वाला हिन्दीसाहित्य भानुदत्त के प्रकाश से आलोकित हो उठा। रीतिकालीन हिन्दी साहित्य के कवियों ने नायिका भेद की परम्परा की रक्षा में ही अपने काव्य का प्रणयन किया। जो विषय संस्कृत में आरम्भ में आनुषङ्गिक माना जाता था, वही बाद में 'रसमञ्जरी' में प्रधान प्रतिपाद्य बनकर हिन्दीसाहित्य में रीतियुग का मूलाधार सिद्ध हुआ। भानुदत्त को हिन्दी के रीतिकाल का प्रवर्तक माना जाता है। इनके पूर्ववर्ती उत्कृष्ट कोटि के आचार्यों को छोड़कर हिन्दी रीतिकालीन कवियों ने भानुदत्त को ही ग्रहण किया? इसका कारण यह है कि भानुदत्त की दृष्टि अत्यन्त विशद् और स्पष्ट थी। उनका रस और नायक-नायिका भेद विवेचन अधिक मौलिक न होते हुए भी अत्यन्त स्पष्ट और साङ्गोपाङ्ग हैं। हिन्दी में आरम्भ से ही उनका प्रभाव परिलक्षित होता है। भानुदत्त द्वारा की गयी विविध परिभाषाओं, वर्गीकरणों और नूतन उद्भावनाओं को इस युग में अनेक काव्यशास्त्रियों ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। अनेक हिन्दी के आचार्यों ने कहीं-कहीं तो भानुदत्त का सीधा अनुवाद ही अपने ग्रन्थ में किया है। डा0 नगेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'रीतिकाव्य की भूमिका'[59] में लिखा है कि ऐसा प्रतीत होता है कि मध्ययुग में भानुदत्त के उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ पाठ्यग्रन्थ के रूप में पढ़े जाते थे। वस्तुत: शृङ्गार-रस के आलम्बन के रूप में नायिकाभेद का जो वर्णन भानुदत्त ने 'रसमञ्जरी' में किया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भानुदत्त के पूर्ववर्ती आचार्यों ने शृङ्गार को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रस मानते हुए भी नायिकाभेद का इतने सूक्ष्म निरीक्षण के साथ प्रतिपादन नहीं किया था। रीतिकालीन आचार्यो ने भानुदत्त की इसी दृष्टि का स्वागत किया। रीतिकालीन अधिकांश काव्य नायिका-भेद पर ही आधारित हैं। डॉ0 किशोरी लाल ने अपने ग्रन्थ 'रीतिकवियों की मौलिक देन'[60] में अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि इस दिशा में भानुदत्त कृत 'रसमञ्जरी' में शृङ्गार एवं नायक-नायिका भेद का कथन अति ललित शैली में हुआ है। यद्यपि भानुदत्त ने 'रसमञ्जरी' के अतिरिक्त रस विषयक एक अन्य ग्रन्थ 'रसतरङ्गिणी' की भी रचना की है, लेकिन उस ग्रन्थ में नायक-नायिका

भेद के सम्बन्ध में कुछ भी विचार नहीं किया गया है। यद्यपि 'रसमञ्जरी' का प्रौढ़ काव्यशास्त्रीय दृष्टि से कुछ भी महत्त्व नहीं है। फिर भी विवेचन की सरलता और शैलीगत प्राञ्जलता की दृष्टि से यह ग्रन्थ अपने आप में अद्वितीय है। नन्ददास ने 'रसमञ्जरी', कृपाराम ने 'हिततरङ्गिणी' रहीम ने बरवै-नायिका भेद तथा केशव की 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' रचनाएँ इस काल की विशिष्ट रचनाएँ हैं। इनमें 'हिततरङ्गिणी' केवल नायिका भेद का ग्रन्थ है। 'रसमञ्जरी' तथा 'बरवै-नायिका भेद' में नायक-नायिका दोनों के भेदों का विवेचन है तथा केशव की रसिकप्रिया में काव्यशास्त्र के अन्य विषयों को भी लिया गया है। उपर्युक्त कवियों के नायक-नायिका भेद से सम्बन्धित दृष्टिकोण को प्रभावित करने में भानुदत्त कृत 'रसमञ्जरी' का हाथ रहा है।[61] यदि हम रीतिकाव्यों का अध्ययन करें तो तत्कालीन अधिकांश आचार्य इनसे प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। रस-विवेचन की दृष्टि से रीतिकाल के आचार्यों को दो वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे आचार्य हैं जिन्होंने रस के साथ समस्त काव्याङ्गों का भी निरूपण किया है। द्वितीय वर्ग के आचार्यों में रस का स्वतन्त्र रूप से साङ्गोपाङ्ग विवेचन करने वाले आचार्य हैं तो कुछ आचार्यों ने शृङ्गार-रस तथा नायक-नायिका भेद का ही विवेचन किया है। इन दो श्रेणियों के आचार्यों पर 'रसमञ्जरी' एवं 'रसतरङ्गिणी' का विशेष प्रभाव पड़ा। सर्वप्रथम देव के ग्रन्थ 'भावविलास'[62] को देखें तो देव के रस-विवेचन में जिन नवीनताओं का आभास मिलता है, वे प्रायः सभी भानुदत्त से ग्रहण की गयी हैं। देव ने भानुदत्त से प्रभावित हो कर ही रस के लौकिक अलौकिक तथा अलौकिक रस के स्वाप्निक, मनोरथिक तथा औपनायिक भेद किये हैं। अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें देव ने भानुदत्त का अनुवाद ही प्रस्तुत कर दिया है। भानुदत्त द्वारा 'छल' संचारी की परिभाषा तथा उसके विभाव, अनुभाव को भी देव ने अपने ग्रन्थ में ग्रहण कर लिया है। कहा जा सकता है कि देव के 'भावविलास' का आधार ग्रन्थ 'रसतरङ्गिणी' ही है।

इनके पश्चात ग्वाल ने 'रसरंग'[63] में भानुदत्त का स्पष्ट रूप से अनुकरण किया है। इन्होंने भी जृम्भा को सात्त्विक भाव माना है तथा रसों के स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ रूप भेदों को भानुदत्त के आधार पर ही स्वीकार किया है। 'छल' नामक संचारी का वर्णन करते हुए ग्वाल ने कहा है- भानुदत्त जु लिख्यौ रसतरंगिनी माहि। नूतन इक औरो बनत छल संचारी याहि। ग्वाल पर भानुदत्त का प्रभाव इन पक्तियों से स्पष्ट ही है। देव तथा ग्वाल के अतिरिक्त अन्य आचार्यों में जिन्होंने भानुदत्त के लौकिक अलौकिक आदि रस-सम्बन्धी वर्गीकरण को स्वीकार किया उनमें मुख्य हैं-रूपसाहि (रूपविलास)[64], उजियारे (रसचन्द्रिका), कुमारमणि भट्ट (रसिकरसाल)[65]। इन मुख्य आचार्यों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक ऐसे आचार्य हैं, जो भानुदत्त से प्रभावित थे। जैसे करन कवि ने अपने ग्रन्थ 'रसकल्लोल'[66] में भानुदत्त की परिभाषाओं का अक्षरशः अनुवाद कर दिया है। इसी भाँति सोमनाथ ने 'रसपीयूषनिधि'[67] में संचारीभाव तथा स्थायी भाव के लक्षण भानुदत्त से ही लिए हैं। मतिराम ने 'रसराज'[68] में भानुदत्त के 'जृम्भा' सात्त्विक को नौवाँ सात्त्विक माना है। बेनी प्रवीन ने 'नवरसतरंग' में 'जृम्भा' को मान्यता दी है।[69] वस्तुतः 'नवरसतरंग' में भानुदत्त के लक्षणों का ही अनुवाद किया गया है। उजियारे ने 'रसचन्द्रिका' में माया रस का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त चिन्तामणि के स्थायी भाव निरूपण[71] चन्द्रशेखर वाजपेयी कृत रति तथा अनुभाव आदि के विवेचन पर 'रसतरङ्गिणी' का व्यापक प्रभाव पड़ा। ग्वाल कवि और मतिराम के अतिरिक्त पद्माकर,[71] नन्दराम[72] तथा लक्षिराम[73] ने भी 'जृम्भा' को सात्त्विक भाव माना है। इनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य आचार्य हैं जिन्होंने भानुदत्त से प्रभाव ग्रहण किया है।

भानुदत्त के कृतित्व से मध्य भारत की साहित्यिक प्रवृत्तियों का उदय हुआ। उनसे पहले भारत के उत्तर में कश्मीर, पश्चिम में अनहिल पट्टन, पूर्व में बङ्ग और दक्षिण में उत्कल, आन्ध्र आदि की साहित्यिक प्रवृत्तियों का परिचय तो प्राप्त होता है किन्तु मध्य भारत का लगभग नहीं। उदाहरण के लिए

साहित्यशास्त्र के दो सहस्र वर्षों के इतिहास में केन्द्र रूप में लगभग बारह सौ वर्षों तक कश्मीर स्थित रहा। उद्‌भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मुकुलभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट आदि इस युग की कश्मीर की विभूतियाँ हैं। इसके पश्चात गुजरात का अनहिलपट्टन राज्य और पूर्व में बङ्गदेश साहित्यिक गतिविधियों के केन्द्र बने जिनमें हेमचन्द्र, रामचन्द्र, गुणचन्द्र, वागभट्ट आदि का सम्बन्ध प्रथम केन्द्र से रहा और जयदेव बङ्ग से सम्बद्ध रहे। 'एकावली' के रचयिता विद्याधर से साहित्यिक प्रवृत्तियों का केन्द्र दक्षिण भारत बन गया। विद्यानाथ और विश्वनाथ का सम्बन्ध इसी केन्द्र से रहा। इस रूप में भी भानुदत्त का साहित्यशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। भानुदत्त के समय मिथिला नव्य-न्याय का प्रधान केन्द्र था। यही कारण है कि 'रसतरङ्गिणी' में यत्र-तत्र न्यायशास्त्र का प्रभाव परिलक्षित होता है और भानुदत्त का नैयायिक रूप उभरने लगता है।

वस्तुत: रीतिकालीन कवियों पर भानुदत्त का प्रभाव इतना स्पष्ट एवं व्यापक है कि यदि इसी विषय पर अनुसन्धान किया जाए तो स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ का निर्माण हो जाए। तथापि इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि 'रसतरङ्गिणी' का परवर्ती संस्कृत और हिन्दी के काव्यशास्त्र पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि भानुदत्त का परवर्ती भारतीय काव्यशास्त्र पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। 'रसतरङ्गिणी' संस्कृत काव्यशास्त्र का एकमात्र ग्रन्थ है, जिसने अपने पूर्ववर्ती चिन्तन को समाहित किया, नवीन दृष्टि से प्राचीन मतों को विवेचित किया, मौलिक उद्‌भावनाएँ की और उनसे परवर्ती संस्कृत और हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्रियों को परिचित कराया। वस्तुत: हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्रियों को इस ग्रन्थ के माध्यम से पूर्ववर्ती संस्कृत काव्यशास्त्र का रस-चिन्तन परिनिष्ठित रूप में प्राप्त हो गया था। इस प्रकार यह ग्रन्थ संस्कृत और हिन्दी के रीतिकालीन रसशास्त्र के बीच सेतु कहा जा सकता है।

सन्दर्भटिप्पणी

1 शृ.ति.,पृ.-11- स्वकीया परकीया च सामान्यवनिता तथा।
कलाकलापकुशलास्तिस्रस्तस्येह नायिका:।।
2. र.म.,पृ.-9 तत्र स्वामिन्येवानुरक्ता स्वीया
3. र.दी., उद्धृत र.त. सम्पादन एवं समालोचना, पृ.- 244
4. म.म.च.,पृ.-80- "स्वामिन्येवानुरक्तात्मा सा स्वीया परिकीर्तिता"
5. र.च.,पृ.-1,
6. शृ.वि.,पृ.-13,
7. शृ.ति.,- मुग्धा नववधूस्तत्र नवयौवनभूषिता।
नवानङ्गरहस्या च लज्जाप्रायरतिर्यथा।।1/48/1
8. र.म.,पृ.-13-14
9. र.कौ., पृष्ठ-17, गङ्गानाथ झा परिसर के पुस्तकालय में उपलब्ध प्रति जिसमें पुस्तक संख्या-980 दी गयी है। परन्तु प्रारम्भिक पृष्ठ न होने से प्रकाशक, प्रकाशन वर्ष आदि उपलब्ध नहीं हो सके।
10. म.म.च.,वहीं-पृ.-79
11. र.च.,वहीं-पृ.-3-4
12. र.म.,वहीं-पृ.-27 "समानलज्जामदना मध्या। एषैवातिप्रश्रयादतिविश्रब्धनवोढ़ा।"
13. र.च.,वहीं-पृ.-5 "समप्रधानलज्जामदना मध्या। इयमेवातिविश्रब्धनवोढ़ा।"
14. र.म.,वहीं-पृ.-32 "अस्यास्तु चेष्टा रीतिप्रीति:। आनन्दात्समोह:"
15. म.म.च.,वहीं-पृ.-80-81

16. र.च.,वहीं-पृ.-5 ''तस्याश्चेष्टा रतिप्रीतिरानन्दात्सम्मोहश्च।''
17. र.त., (रामानन्द ठक्कुर कृत) पृ0-4
पत्यौ कामकला यस्या:प्रगल्भा सा प्रकीर्तिता।
अस्यास्तु सुरतप्रीतिरानन्दान्मोहसम्भव:।23।
(इन्होंने रतिप्रीतिमती तथा आनन्दसम्मोहवती को प्रगल्भा का भेद माना है।)
18. र.म.,वहीं-पृ.-71
19. म.म.च.,वहीं-पृ.-82
20. र.च.,वहीं-पृ.-9 ''सा च गुप्ता विदग्धा लक्षिता कुलटानुशयाना मुदिता कन्यका चेति सप्तविधा।''
21. र.त., (रामानन्द ठक्कुर कृत)-पृ.-7 'गुप्ताविदग्धा कुलटाऽनुशयानादयस्तु या:। परकीयासु सर्वासामन्तर्भावो निरुपित:।।1/40।'
22. र.म., वहीं-पृ.-95
23. र.च., वहीं-पृ.-9-12
24. र.त., (रामानन्द ठक्कुर कृत) -पृ.-11-12
25. र.म., वहीं-पृ.-184
26. र.म., वहीं-पृ.-200-207
27. र.त., (रामानन्द ठक्कुर कृत) वहीं-पृ.-33
28. र.म., वहीं-पृ.-पञ्चम तरङ्ग/138-156श्लोक, पृ.-25-28
29. र.च., वहीं-पृ.-210
30. र.त., (रामानन्द कृत) वहीं-पृ.-34 ''स त्रिविध:। पत्युपपति वैशिकभेदात्।''
31. र.सु.,पृ.-24, चतुर्धा सोऽपि कथितो वृत्त्या काव्यविचक्षणै:।
अनुकूल: शठो धृष्टो दक्षिणश्चेति भेदत:।1/81,
32. र.त., (रामानन्द कृत) वहीं-पृ.-31,6/173-174
33. र.त., (रामानन्द कृत) वहीं-पृ.-31, पद्य - 173-174
34. र.च., वहीं-पृ.-36-37
35. र.म., वहीं-पृ.-230
36. र.त., (रामानन्द कृत) वहीं-पृ.-32,6/178-180
37. र.च., वहीं-पृ.-38
38. र.त., (भानुकृत) वहीं-षष्ठ तरङ्ग,पृ.-215
39. र.त. पृ.-230
40. र.त.,वहीं- पृ.-230, निवृत्तौ यथा शान्तरसस्तथा प्रवृत्तौ मायारस इति प्रतिभाति।
41. जृम्भा च नवम: सात्त्विको भाव: इति प्रतिभाति। रसतरङ्गिणी-पृ.-198
42. श्रृ.ति.-1/93
43. र.त.,वहीं-सप्तम तरङ्ग/पृ.-224
44. र.त.,वहीं-पृ.-238
45. र.त.,वहीं-पञ्चम तरङ्ग,पृ.-382 अत्र प्रतिभाति छलमधिको व्यभिचारिभाव इति।
46. र.त.,वहीं पृ.-204
47. र.त.,वहीं पृ.-211
48. क.भू.,1/पृ.-16,23, 5/पृ.-63, उद्धृत र.त. समालोचना एवं सम्पादन्, पृ. 243
49. म.म.च.,वहीं-रम्यबिन्दु-पृ.-91-107
50. र.दी.,वहीं-प्रगाढराग:संसारे मिथ्याज्ञानं प्रकीर्तितम्।
मिथ्याज्ञानं तु सम्पूर्णं मायारस इति स्मृत:।।3/94,पृ0-39
51. हं.वि.,पृ.-69, उद्धृत र.त. सम्पादन एवं समालोचना, पृ.-244
52. काव्यशास्त्र के परिदृश्य,पृ.-328-

धरमाधरम विचार न होई,जनत जगत सुख सब विधि सोई।
मायामय रस भापत ताको,भानुदत्त मत ते कहु याको।।

53. र.च. ,वहीं-पृ.-68 ,69 ,83 ,70
54. का.वि. ,पृ.-10
55. उ.नी.म. ,पृ.-310
56. र.त.-सम्पादन एवं समालोचना,डॉ0उर्मिल शर्मा,पृ.-249-250
57. उद्धृत काव्यात्ममीमांसा,चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी,प्रथम संस्करण,पृ.-352
58 श्रृ.सा. ,पृ.-19 ,61 ,62 ,70
59 'रतिकाव्य की भूमिका', डॉ. नगेन्द्र पृ.-135
60. 'रीतिकवियों की मौलिक देन'डॉ. किशोरी लाल पृ.-187
61 'हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव',पृ0-225
62. भा.वि. 2/2 2/9325 2/75-78 2/93 2/28 2/60 ,
63. र.र. ,1/62-63 उद्धृत 'हिन्दी काव्यशास्त्र में रससिद्धान्त' पृ.-348
64. रु.वि. ,11/89 ,उद्धृत 'हिन्दी काव्यशास्त्र में रससिद्धान्त' पृ.-376
65. र.रसा.-4/2 ,89
66. र.क., नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के संग्रहालय में प्राप्त हस्तलेख, छंद-8 ,9 ,12 ,14 ,16
67. र.पी.नि. ,7
68. र.रा. ,पृ.-82-जृम्भा को कवि कहत हैं,नवयों सात्त्विकभाव।
उपजत आरस आदिते, वर्णत सब कविराव। दोहा/36
69. न.र.त., प्राचीन कविमाला कार्यालय, काशी सन् 1925, सम्पादक-कृष्णविहारी मिश्र, पद-289-290
70. क.क.त., 5/50, रसतरङ्गिणी सम्पादन एवं समालोचना, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1988पृ.-245
71. ज.वि., पद्माकर ग्रंथावली, संपादक-विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2016,
72. श्रृ.द. ,8/13 ,33 ,उद्धृत 'रसतरङ्गिणी सम्पादन एवं समालोचना, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1988 पृ.-245
73. म.वि., भारतजीवन प्रेस, काशी-1893, चतुर्थ विलास-34वाँ पद।

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. शृङ्गारतिलक, सम्पादक - आर. पिशल, प्राच्य प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् - 1968
2. रसमञ्जरी, श्री हरेकृष्ण निबन्ध भवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, वि. सं. 2035
3. मन्दारमरन्दचम्पू, निर्णय सागर प्रेस, मुंबई, द्वितीय संस्करण, काव्यमाला - 1952
4. रसचन्द्रिका, जयकृष्णदास हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, विद्या विलास प्रेस, बनारस - 1983
5. रसमञ्जरी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्रथम संस्करण
6. रसकौस्तुभ, गङ्गानाथ झा परिसर इलाहाबाद के पुस्तकालय में पुस्तक संख्या - 980
7. रसतरङ्गिणी, (रामानन्द ठक्कुर कृत) मिथिला संस्कृत विद्यापीठ, प्रथम संस्करण - 1961
8. रसार्णवसुधाकर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, प्रथम संस्करण - 2004
9. रसदीर्घिका, राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जोधपुर, प्रथम संस्करण - 1995
10. काव्यविलास, Saraswati Bhavana Text No.-16, edited by Gopi Nath Kaviraja, Banaras, 1925
11. उज्जवलनीलमणि, प्रकाशक - ग्रन्थम्, रामबाग, कानपुर - 12 प्रथम संस्करण - 1986
12. रसतरङ्गिणी (भानुदत्त कृत) - सम्पादन एवं समालोचना, लेखिका डा. उर्मिल परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1988
13. काव्यात्ममीमांसा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी प्रथम संस्करण

14. 'हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव' लेखक - डा. सरनाम सिंह नेशनल प्रेस प्रयाग - 1949
15. भावविलास, तरुणभारत ग्रन्थावली कार्यालय, दारागंज, प्रयाग, संवत् - 1991
16. रसराज, खेमराज श्री कृष्णदास, श्री वेङ्कटेश्वर स्टीम-प्रेस, मुम्बई, प्रथम संस्करण
17. शृङ्गारविलासिनी, लेखक कविदेव, सम्पादक, शिवशङ्कर त्रिपाठी, भारतीय मनीषा सूत्रम्, दारागन्ज, इलाहावाद प्रथम संस्करण सं. 2039
18. काव्यशास्त्र के परिदृश्य, डा. सत्यदेव चौधरी, अलङ्कार प्रकाशन, दिल्ली - 110051, प्रथम संस्करण - 1975

संकेत

1.	उ.नी.म.	–	उज्जवलनीलमणि
2.	क.भू.	–	कर्णभूषण
3.	क.क.त.	–	कविकल्पतरु
4.	का.मी.	–	काव्यात्ममीमांसा
5.	का.वि.	–	काव्यविलास
6.	ज.वि.	–	जगद्विनोद
7.	न.र.त.	–	नवरसतरङ्ग
8.	भा.वि.	–	भावविलास
9.	म.म.च.	–	मन्दारमरन्दचम्पू
10.	म.वि.	–	महेश्वरविलास
11.	र.म.	–	रसमञ्जरी
12.	र.दी.	–	रसदीर्घिका
13.	र.च.	–	रसचन्द्रिका
14.	र.कौ.	–	रसकौस्तुभ
15.	र.सु.	–	रसार्णवसुधाकर
16.	र.त.	–	रसतरङ्गिणी
17.	र.र.	–	रसरङ्ग
18.	र.वि.	–	रसिक विनोद
19.	र. रसा.	–	रसिकसाल
20.	र.क.	–	रसकल्लोल
21.	र.पी.नि.	–	रसपीयूपनिधि
22.	र.रा.	–	रसराज
23.	रू.वि.	–	रूपविलास
24.	शृ.द.	–	शृङ्गारदर्पण
25.	शृ.सा.	–	शृङ्गारसारिणी
26.	शृ.ति.	–	शृङ्गारतिलक
27.	शृ.वि.	–	शृङ्गारविलासिनी
27.	ह.वि.	–	हंसविलास

डा. अपराजिता मिश्रा
सहायक आचार्या, रा.सं.संस्थान, गंगानाथ झा परिसर, इलाहाबाद



Interpersonal Relationship between Teacher and Student in Vedic Period

Suchitra Mitra

Vedic Saṁhitās, the Brāhmaṇas, the Āraṇyakas and the Upaniṣdas are the products of the Ancient Indian education system. The main aim of ancient education system is the training of the mind as an instrument of knowledge and not simply to fill it with the furniture of objective knowledge. The Interpersonal relationship between teacher and student in Vedic period is one of the main characteristic of that education system. In that time education was based upon an individual treatment of the pupil by his teacher. The pupil must live with his teacher as a number of his family so that his education may be a whole time process and not for a stated period as is the custom in modern schools.

The term interpersonal relationship means interaction between two person in general and when this relationship combines together the two vital figures i.e. teacher (आचार्य)[1] and student (शिष्य)[2] in particular, it becomes more effective and sensitive. It indicates reciprocal discourses of knowledge.

In vedic period, it can be said that this relationship had been attained at its utmost limit. Taitt Arn VIII/4 lays down that the teacher must teach with all his heart and soul. According to shat Bra[3] - " the teacher is bound to reveal who at any rate lived with him for one whole year." Under his inspection and control a student took a vow[4] - "O God ! May our ears hear what is auspicious, May we efficient to worship, see with our eyes what is auspicious. May we who sing the God's praise, live our allotted span of life in perfect health and strength." It was a function of the teacher to lead the student from the darkness of ignorance to the light of knowledge. This knowledge is called "Vidya". It is transforming, reshaping of personality, renewal of being. Shankara[5] himself gives the meaning of Vidya as Karman. By Vidya or knowledge we attain immortality. Mund 1.2/13 indicates - "Let the wise teacher impart the science of Brahman in its very essence (the science by which one knows the true,, imperishable Being) to such a seeker whose mind is tranquil and senses are controlled and who approaches him in proper form"[6]. The truth or Vidya is a vision , an awareness, release into boundless freedom.[7] The teacher layed stress on the values of Vidya and told to their pupil to live an austere life.[8] He should not dwell any body else than his teacher[9]. The sage or teacher fixes his eyes upon this mysterious Being in whom the Universe perpetually exists for it has no other foundation.

Before we examine the relationship between teacher and student let us think how did the concept of teacher and student arise in the mind of the early people? The teacher

who was generally called Acharya seems to be a symbol of God as refers in Taitt Aranyaka- - '*Āchārya devo bhavah.*' The supreme Being - Himself is described as the Prime Acharya, who himself declares in Rigveda IV/42 - "I am almighty Ruler of the Universe. Ruler of the worlds (earth and Heaven) who the Gods worship as well as men. I am supreme ruler. I am limitless in width and depth. I am possessed of supreme knowledge. I am the creator who breathes life in to all creatures and sustains the Universe. I am, the author of all actions whose power is invincible[10]. Rigveda IV/47/18 clearly declared that God is the supreme teacher, modeler of the whole of nature which is being ever reorganized by His infinite wondrous[11]. He who knows every thing[12]. Who sees every thing[13] is the supreme knowledge and blazing radiance[14]. This supreme and perfect knowledge hidden in the depths of the heart, that knowledge comes to light by God through invocations - "Simple and guided of the heart, that knowledge comes to light by God through invocations - "Simple and guided by your wisdom, may I attain the light that brings no danger. '[15] Man is week and miserable till he gets the light of God which is concealed under a cover. The teacher removes it an lets out the light. Following lines may be quoted to illustrate it - "The teacher is the father, the teacher is the mother and the teacher is Supreme Lord. He who has this unflinching believe, his liberation is not far away."[16] The pupils also after achieving, - enlightenment, burst into activity in discourses as teachers. It is superfluous to say that the ideal of this learning was, the realization of truth, and led an upright strenuous, pure Godly life. Teachers by their teachings (Upadesha) led their pupils to become seer after hearing it from the lips of their teacher. Direct instruction (formal or informal) from a teacher was deemed absolutely necessary to reap the best results[17]. Learning of Veda was necessary but not the mere mastery or recitation of its texts : The teacher layed stress on Swadhyaya; as it is said *Swādhyayo Adhitavyah*[18] it is meant to say that Veda is said useless if it is recited without comprehending its meaning[19], The first lesson of learning was to know the importance of speech, mind, will, thought, contemplation, understanding, strength, truth, faith, steadfastness, activity and happiness in climbing to the highest goal of knowledge. The students obeyed their teachers and took a vow everyday - "May my speech rest in mind; may my mind rest on speech. Self manifest Brahmana, be Thou revealed to me." [20] This process is called 'Brahmacharya'. During the Brahmcharya period it was the duty of a student to beg food for his master. Ait. Aran describes some restrictions imposed on a student at the time of Brahmacharya, as follows. He should not lean backward while learning nor lean forward. He should not covered with too much clothing .[21] He should not read or learn when he has eaten flesh or when he has seen blood, a corpse, or when he has done an unlawful thing.[22] According to Gopath Bra, Brahmachari should avoid dancing, singing, playing musical instruments, the use of perfumes, garlands and shoes.[23]

The teachers were also anxious to get pupils as they felt that the knowledge or truth they has discovered should live after them in their pupils.[24] The students learnt from their teacher according to rule the lessons of consecration (दीक्षा) and austerity (तपस्). By consecration[25] is hear meant the vow of Brahmacharya i.e. continence, perfect purity and self control By austerity[26] it is meant to say three fold austerity belonging the body, speech and mind.[27] Apastamba 1/2/3/28 refers the other duty of a student in the following words - When the student meets teacher after sunrise he shall embrace (his feet). 28 In this connection it will be better to include the following passage of Rigveda, where it seems

that at the time of embracement the students prayed for all kinds of progress from their preceptor by saying - "0 Glorious One ! lead us along the path of law which leads to sinless and bliss; the path where on a man casts off all evil and hatred and seems what is good and blessed"[28]. The sympathetic and competent teacher had distributed all the essence of experience to his pupil. That kind of teacher should be respected.[30] The teacher would inspire the student to feel the law of Unity in diversity every where. This word indicates the intrinsic intelligibility of the supreme which exceeds the finite powers of Understanding, as indicates yajurveda[31] - " When man has learned to behold all creatures in this supreme spirit and his supreme spirit in all his creatures he can no longer despire anything what so ever." For him the earth is full of sweetness. For instance it is said in Rigveda 1/90 - The winds are full of sweetness, the rivers pours sweets, so many plants be full of sweetness for us.[32] The student however follows his master with utmost reverence and obeys all his commands implicitly. The students were trying to be united with each other in thought word and deed by saying - "Assemble, speak together, let your minds be all of one accord"[33]. Under the direction and control of the Acharya his wards built up their mind and body. With a mere verbal agreement one becomes a student, some times for the whole life. It was due to a lifelong devotion that the students never left teachers residence but carried on their mission of learning. When the student completely educated he was called 'Anushishta' (Rg. 5/2/8). At the same time the teacher exhorted them - "Speak the truth, follows the prescribed conduct be not headless about the solemn recitation of Scriptures; (at the time of your departure from your preceptor) offer to him the gift liked by him, and take care that the line of your race is not broken. Do not fail to pay attention to truth; never fail to pay head to the performance of duty; do not be careless about what is proper and good; be not negligent of well being; never be indifferent to the study and imparting of the veda; be mindful of what is to be offered to Gods and men."[34]

These glorified speeches which were incited by teacher must have produced great psychological influence on student. As they took a solemn pledge everyday by saying - "0 self refulgent Lord, I will observer the vow of truthfulness in thought, word and deed. May I be able to observe that, therefore, Oh! Lord! Give me sufficient strength so that I may attain success in that vow of mine, through thy grace. I attain this truthfulness by separating my self from the untruthfulness."[35]

References :

1. He who having invested his pupil with a sacred thread after ward instructs him in the whole veda, with the rules of ceremonial and the Upanisads is an Acharya. (Manusmriti 11/140).
2. शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् (A pupil, disciple, scholar) by V.S. Apte (The practical San-Eng Dictionary)
3. Shatpatha Brahmans XIV/1/1/26 - योऽनूचानः। (अथ योऽस्य प्रियः स्यात्। न त्वेव सर्वस्मा इव।)
4. भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनुभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।।
-Rigveda 1/89/8
5. Shankara's Commentary on Isopanisad (II)
- "यत एवमतो विद्यां चाविद्यां च देवताज्ञाने कर्म चेत्यर्थः"
6. तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षर पुरूषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।।
- Mund 1/2/13

7. वेनस्तत् पश्यन्निहितं। गुहा स य दयविश्वभवत्येकनीडम्। - Yaj- 40/6
8. अध: शयीत् अधस्तिष्ठदधोव्रजेदेवं ह स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणा ब्रह्माचर्य चरन्ति (Gopath Br. I/2/4) ; Apas, Dhar I/1/2/21 - refers to the same view - The student shall always occupy a couch or seat lower than that of his teacher.
9. Ibid- I/1/2/17
10. ममद्विता राष्ट्र क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा न:। क्रतुं सचन्ते वरूणस्य देवा राजामि कृष्टेरूपमस्यवव्रे:।। (In view of the fact it is better to join the following lines) नित्यं शुद्धं निराकारं निर्विकारं निरंजनम् नित्यबोधं चिदानन्दं गुरुं ब्रह्म नमाम्यहम्।
11. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभि: पुरुरूपं ईयते युक्ता ह्यस्य हरय: शतादश।। - Rigveda VI/47/18
12. Rigveda I/89/6- विश्ववेदा:
13. Rigveda I/89/7- सूरचक्षस:
14. Rigveda X/1/16- सुज्योति:
15. Rigveda II/27/11- पाक्या चिद्वसवोधीर्याचित् युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम्।।
16. गुरुरेव पितामाता गुरुरेव परंशिव: यस्यैव निश्चितो भावस्तस्य मुक्तिर्नदरत:।। (शिवोपनिषद् 7/38)
17. आचार्यावान् पुरुषोवेद (छान्दाग्योपनिषद् IV/14/2) आचार्याद्धैव विद्या विदिता साथिष्ठं प्रापति (छान्दाग्योपनिषद् IV/9/3)
18. Traitt Arn II/15/7;
19. Traitt Arn II/15/3; also regards 'Svadhyaya' and indicates the exact place and time of studay. - य एवं विद्वान् महारात्र उषस्युदिते व्रजँस्तिष्ठन्नासीन: शयानोडरण्येग्रामे वा यावतरसँ स्वाध्यायमधीते सर्वाल्लोकान् जयति।
20. वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठतमाविराविर्म एधि (Aitareyo, Up I)
21. नावष्टब्धो न प्रतिस्तब्धो नातिवीतो नाड्कं कृतवोर्ध्वज्ञुरनपश्रितोऽधीयीत (Aitareya, Aran 5/3/3)
22. अधीयीत न मांसंभुक्त्वा न लोहितं दृष्ट्वा नगतासुं नाव्रत्यमाक्रम्य नाक्त्वा नाभज्य नोन्मर्दनं कारयित्वा न नापितेन कारयित्वा न स्नात्वा न वर्णकेनानुलिण्य न स्रजमपिनह्य न स्त्रियमुपगम्य नोल्लिख्य नावलिख्य। (Aitareya Aran 5/3/3); See also Manu II/1087 - he shall do what is serviceable to his teacher, he shall not contradict him - अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामथ: शस्यां गुरोर्हितम्। आसमावर्तनात् कुर्याम् कृतोपनयनो द्विज:।। Compare with Manu II/177, 205, 208 to 212; Vishnu -XXVIII/7, 9, 10, 18 to 22, 43, 46; XXIV/10; Apastamba I/ 1/2/19; 1/2/5/12; I/2/5/22; I/4/14/14 to 20; I/4/14/22
23. Gopath Brahmana I/2/7 -नोपरिशायी (ब्रह्मचारी) स्यान्न गायनो न नर्त्तनो न सरणो न निष्ठीवेत्।
24. आ मा यन्तु ब्रह्मचारिण:। चि मा यन्तु ब्रह्मचारिण:। प्र मा यन्तु ब्रह्मचारिण: दमायन्तु ब्रह्मचारिण:। शमायन्तु ब्रह्मचारिण:। (O God! May Brahmacharins always come to me from all quarters - Traitt Up-I/4/3)
25. See also kath. 23/5; Shat Bra 14/6/9/24 सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठिता भवति। Kaushiksutra - 7/3 स य: सत्यं वदति स दीक्षित:।
26. The word austerity (must be under stood to apply to (the observance of) the rules of studentship. (Apastamba I/2/5; Manu II/164)
27. In the 17th chapter of Geeta the same is explained very clearly on the basis of the vedas-
(a) Physical austerity - cleanliness; straightness, continence, non violence and the worship of elders.
(b) Vocational austerity - unoffensive, Truthful, pleasing and beneficial speech, study of the sacred Texts, these constitute the austerity of speech.
(c) Mental austerity - mental happiness or cheerfulness of Man kind, Serenity, habit of meditation

on God self control and purity of heart. These are called the austerity of mind. (Vedic Digest Religion and Man kinds morality by - Vidya Vachaspati. Page 237 to 243)

28. अपि पन्थामगन्महि स्वस्तिगामनेह्सम्।
येन विश्वा: परिद्विषो वृणक्ति विन्दते वा।। Apastamba I/2/3/28

29. Rigveda VI/51/16

30. Taitt Arn 7/11/2-3 -यान्यस्माँ (आचार्याणाम्) सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि. See also Taitt UP I/11/2-3;

31. Yaj - यस्तुसर्वाणि भूतानि आत्मन्नवानुपश्यति,सर्वभूतिपुचात्मानं ततो न विचिकित्सति।

32. Rig. I/90 - मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्तिसिन्थव: माध्वीर्न: सन्त्वोषधी:।

33. Rig X/191/2संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

34. Taitt Up - I/11 - सत्यंवद/धर्मचर। स्वाध्यायान्मा प्रमद:। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेथ्सी:। सत्यान्न प्रमदिव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

35. Yaj 1/5 - "----------------------" व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मेराध्यताम् इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि''।।

Abriviation

Apas Dhar	--	Āpastamba Dharma Sutra
Alta Aran	--	Aitareya Āranyaka
Aitareyo	--	Aitareyopaniṣad
Brh Rig	--	Brhaddevatā-Ṛgveda
Chān	--	Chāndogyopaniṣad
Gopath	--	Gopath Brhāhmana
Kāth	--	Kāthaka Samhita
Manu	--	Manusmṛti
Mund	--	Mundakopaniṣad
Rig.	--	Ṛgveda
San	--	Samhiopaniṣad Brhāhmana
Shat Br	--	ṢatapathaBrhāhmana
Taitt Āran	--	Taittiya Āranyaka
Taitt upa	--	Taittirīyopaniṣad
Vasistha	--	Vasistha Dharma Sutra
Vishnu	--	Vishnu Dharma Sutra
Yaj	--	Yajurveda

Dr. Suchitra Mitra
Reader in Sanskrit, Dept. of Sanskrit, University of Allahabad



वत्सगोत्रीय प्रवर-विचार

उदयनाथ झा 'अशोक'

ऋषि-परम्परा के अन्तर्गत आने वाली उनकी (किसी ऋषि की) सारी सन्तति एक गोत्र में परिगणित की जाती हैं। अर्थात् ये एक ऋषि की सन्तान कहलाती हैं। इन सभी सन्ततियों का गोत्र एक होता है, जो मूल ऋषि के नाम पर प्रचलित हुआ करता है। इस ऋषि-परम्परा में जो गोत्रकार ऋषि के समान श्रेष्ठ और प्रबुद्ध (प्र-वर) होते हैं, वे प्रवरकार ऋषि माने जाते हैं। अर्थात् उन्हीं ऋषियों की संख्या के आधार पर उस गोत्र में प्रवर हुआ करते हैं। तात्पर्य यह है कि जहाँ 'गोत्र' एक विशेष प्रकार की जाति है, वहीं 'प्रवर' उस गोत्र के प्रारम्भिक पूर्वजों की संख्या अथवा परिचिति। भारतवर्ष में जितने भी 'गोत्र' हैं, उनमें एक से लेकर पाँच तक 'प्रवर' हुआ करते हैं। इन प्रवरों में उस गोत्र के गोत्रकार ऋषि भी सम्मिलित रहा करते हैं अथवा एक प्रवर होने पर गोत्रकार ऋषि ही प्रवरकार भी होते हैं। परन्तु 'वत्स' गोत्र एक ऐसा अपवाद गोत्र है, जिसके प्रवरों में गोत्रकार ऋषि 'वत्स' का नाम नहीं है। यह आश्चर्य का विषय ही नहीं, चिन्त्य भी है। ऐसा क्यों हुआ, कब हुआ, होना क्या चाहिए, क्यों होना चाहिए आदि प्रश्नों का समाधान करते हुए आर्ष ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत शोधपत्र में गोत्र-प्रवरादि का परिचय तथा वत्सगोत्रीय प्रवरकारों का परिचय देते हुए इस विषय पर भी विचार किया गया है कि जब एक से लेकर पाँच तक प्रवर होते हैं, फिर चार का ग्रहण क्यों नहीं किया जाता, पाँच से अधिक प्रवर क्यों नहीं होते।

गोत्र और प्रवर दोनों भिन्न अवधारणाएँ हैं। अपने यहाँ भारतवर्ष में कुल 40 गोत्रों के होने की बात मनुस्मृति-धनञ्जय प्रदीप-कुलदीपिका आदि ग्रन्थ करते हैं। जबकि विस्मरणादि के कारण गोत्रनाश होने पर काश्यप गोत्र माना गया है। जैसा कि हेमाद्रि ने कहा है- 'गोत्रनाशे तु काश्यपम्', श्रुतिवचन भी यहाँ प्रमाण है कि 'सर्वाः प्रजाः काश्यपोः'। अस्तु, एक गोत्र में एक से पाँच तक प्रवर होते हैं, किन्तु चार नहीं। बौधायन तो अपने श्रौतसूत्र[1] में द्व्यार्षेय प्रवर को भी वरण नहीं करने का निर्देश देते हैं, किन्तु आपस्तम्ब एक, दो और पाँच प्रवर तो मानते हैं, लेकिन चार अथवा पाँच से अधिक नहीं।[2] आश्वलायन भी अपने श्रौतसूत्र में इसी बात को कहते हैं। प्रवर का अर्थ है ऋषि परम्परा। इसीलिए 'आर्षेय' शब्द इसका पर्याय हुआ। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र[3] के मत में प्रवरकार ऋषि किसी न किसी वैदिक-सूक्त के द्रष्टा माने गये हैं। ऋग्वेद के अनुसार प्रवरकार ऋषि अग्न्याधान में अग्नि के सहायक बनते हैं और यज्ञवेदी में आकर यज्ञ को सफल करते हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि "हम अग्निदेव का आवाहन उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार और्व, भार्गव, जामदग्नि और आप्नवानों ने किया था।[4]" ऋग्वेद के ही एक अन्य मन्त्र में पराशर गोत्र के तीनों प्रवरकारों का उल्लेख हुआ है[5]।

यहाँ स्मरणीय है कि प्रवर-ऋषि परस्पर पिता-पुत्र सम्बन्ध से सम्बद्ध होते थे। यथा शतपथब्राह्मण में कहा गया है- "इदं हि पितावाग्रेऽथ पुत्रोऽथ पौत्रस्तस्मात् परस्तादर्वाक् प्रवृणीते।"[6] इसलिए शाण्डिल्य

गोत्र में शाण्डिल्य और उनके पुत्र असित तथा पौत्र देवल को मिलाकर तीन प्रवर होते हैं एवं काश्यप गोत्र में अवत्सर एवं निध्रुव दोनों क्रमशः कश्यप के पुत्र तथा पौत्र हैं। इसी प्रकार भारद्वाज एवं पराशर गोत्रों में भी क्रमशः भरद्वाज अङ्गिरस-वृहस्पति तथा पराशरशक्ति-वसिष्ठ में यही सम्बन्ध है।

विवाहादि प्रत्येक शुभकार्य में, और अशुभ कार्यों में भी व्यक्ति के परिचय के लिए गोत्र और प्रवर का प्रयोजन होता है और प्रवरोच्चारण में गोत्रकार के नाम का भी स्मरण किया जाता है। यथा शाण्डिल्यगोत्र वाले प्रवराध्याय में कहा गया है– ''शाण्डिल्यगोत्रस्य शाण्डिल्यासितदेवलेति त्रिप्रवराः।'' तथा काश्यपगोत्रीय कहते हैं– ''काश्यपगोत्रस्य काश्यपावत्सारनैध्रुवेति त्रिप्रवरस्य ममश्री....'' इति। पराशर गोत्र में यथा – ''शक्तिवशिष्ठपराशरेति त्रिप्रवरस्य'' आदि। इसी प्रकार सभी गोत्रों के प्रवरावली में गोत्रकार स्वयं आते ही हैं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि गोत्रकार ऋषि प्रवरकार भी होते हैं, परन्तु प्रवरकार ऋषि को गोत्रकार होना अनिवार्य नहीं है। लेकिन वत्स गोत्र में जो प्रवर प्रवर्तित है, उसमें गोत्रकार की ही परिगणना नहीं है। यथा–''वत्सगोत्रस्य और्वच्यवनभार्गवजामदग्न्याप्नवानेति पञ्च प्रवराः''– इस वाक्य में और्व से पहले स्वयं वत्स ऋषि ही गायब हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र में इसी विषय पर विचार करेंगे कि ऐसा क्यों हुआ तथा इसका औचित्य है या नहीं इस विषय पर विचार करने से पूर्व यहाँ संक्षेप में पाँचों प्रवरकारों के प्रसङ्ग में संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है।

1. वात्स

वत्स, वत्स्य अथवा वात्स्य ये तीनों रूप संस्कृत वाङ्मय में पाये जाते हैं। ये जातूकर्ण्य व्यास के चार पुत्रों में से एक थे। मैत्रावरुण वसिष्ठ और शक्ति क्रमशः इनके प्रपितामह और पितामह थे। पराशर के पुत्र कृष्णद्वैपायन वेदव्यास इनके साक्षात् चचेरे भाई थे। ब्रह्माण्डपुराण (अ.35) के अनुसार वेदमित्र-शाकल्यके पाँच प्रमुख शिष्यों में वत्स भी आते हैं, जो सभी शाकलसंहिता के शाखाकार हैं –

''वेदमित्रश्च शाकल्यो महात्मा द्विजपुंगवः।
चकार संहिताः पञ्च बुद्धिमान् वेदवित्तमः॥
पञ्चतस्याऽभवच्छिष्याः मुद्गलो गालवस्तथा।
खलीयान् सुतपा वत्सः शैशिरेयश्च पञ्चमः॥''

यही विषय कुछ पाठान्तर के साथ विष्णुपुराण[7] वायुपुराण[8] और मत्स्यपुराणमें[9] भी आया है। जबकि ऋक्प्रातिशाख्य के द्वारा शाकल्य के शिष्यलोग गृहस्थ कहे गये हैं–

''शाकल्यस्य शतं शिष्या नैष्ठिकाः ब्रह्मचारिणः।
पञ्च तेषां गृहस्थास्ते धर्मिष्ठाश्च कुटुम्बिनः॥''[10]

शाकलशाखा ऋग्वेदीय है, इसीलिए उसकी वात्स्यशाखा भी ऋग्वेदीय हुई। इसकी पुष्टि महाभाष्य के[11] 'वात्सकम्' उदाहरण से एवं काशिकावृत्ति के[12] उदाहरण में प्रयुक्त 'वात्सीयः' प्रयोग से भी होती है। इतना ही नहीं विकृतिवल्ली में भी इस बात का उल्लेख हुआ है –

''शिशिरो वाष्कलः शाङ्खो वात्स्यश्चैवाश्वलायनः।
पञ्चैते शाकलाः शिष्याः शाखाभेदप्रवर्तकाः॥[13]

परन्तु वायुपुराण में वात्स्य को 'वाजसनेयिन्' कहा गया है–

''ताम्रायणश्च वात्सश्च तथा गालवशैशिरी।''[14]

ब्रह्माण्डपुराण में[15] भी वत्स शुक्लयजुर्वेदीय प्रतिपादित किये गये हैं, जिनको महर्षि याज्ञवल्क्य के

पन्द्रह शिष्यों में से एक माना गया है। चरणव्यूह नामक वैदिक आर्षग्रन्थ में भी वत्सको वाजसनेयी ही कहा गया है। अतः वत्स ऋग्वेदीय और यजुर्वेदीय दोनों शाखा के प्रवर्त्तक हैं। स्यात् वत्स दो हों, इसमें भी विमति नहीं हो सकती। यतो हि एक वत्स की चर्चा बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में की है। जिसके अनुसार भार्गववंशोत्पन्न च्यवन ऋषि के पुत्र थे दधीच, जो महाराज शर्यात की सुपुत्री सुकन्या के गर्भ से उत्पन्न थे। इन्हीं दधीच के भाई थे ब्राह्मण, जिनकी पत्नी मुनिकन्या अक्षमाला से वत्स का जन्म हुआ था। इसी वत्स से वात्स्यायन वंश चला, जिसमें बाणभट्ट का जन्म हुआ।

गोत्रकार वत्स और मेधातिथि दोनों ही काण्व ऋषि थे। लेकिन मेधातिथि वत्स को शूद्रापुत्र और अब्राह्मण कहकर गाली देते हैं। वत्स 'वात्ससाम' से और मेधातिथि 'मेधातिथ्यसाम' से अग्नि के समक्ष ब्राह्मीयान् के निर्णय-निमित्त पहुँचे थे। वत्स ने स्वयं को अग्नि में आहुत कर दिया लेकिन अग्निदेव उनका बाल भी बाँका नहीं कर पाये – "तस्य लोम च नौषत्।" साथ ही अग्निदेव वत्स से बोले कि आप सभी ब्राह्मण-ऋषि-मुनि आदि लोगों से श्रेष्ठ हैं, आज से हम आपको ब्राह्मणत्व प्रदान करते हैं। उसी दिन से वत्स का 'वात्ससाम' इच्छा के पूरक होने से 'कामसनि' के नामसे प्रसिद्ध हुआ[16]। यहाँ यह स्मरणीय है कि वत्स, भलन्दन और संकील तीनों वैश्य ऋषि माने गये हैं, गुणके अनुसार। जैसे कि कितने ही क्षत्रियऋषि और शूद्रऋषि हुए हैं। विश्वामित्र और रैक्वऋषि इसके उदाहरण हैं, जो क्रमशः क्षत्रिय और शूद्र थे। महाभारत में[17] कहा गया है कि, जनमेजय के सर्पसत्र यज्ञ में वात्स उपस्थित थे, जबकि शान्तिपर्व के[18] अनुसार वे भीष्म के शरशय्या के पास विद्यमान थे। वहीं महाभारत यह कहता है कि, वत्स दीर्घजीवी ऋषि हुए।

वत्सकृत-गृह्यसूत्र का संकेत हेमाद्रि अपने चतुर्वर्गचिन्तामणि में यथास्थल देते हैं– "चरकाध्वर्युसूत्रकृत्वत्सः"। स्मृतिचन्द्रिकाकार के समय में वत्सका धर्मसूत्र भी उपलब्ध था, जबकि कात्यायनश्रौत के परिभाषा-अध्याय से उनके श्रौतसूत्र का अनुमान लगाया जाता है। मानव के अनुग्राहिक सूत्र के द्वितीय खण्डमें वत्स का मत प्राप्त होता है। इस सबसे यह सिद्ध होता है कि, महामति वत्सऋषि असाधारण प्रतिभाशाली, ग्रन्थकार, प्रवरकार, गोत्रकार और वास्तविक अर्थ में महर्षि थे।

2. और्व

महाभारत के[19] अनुसार हैहयवंश में कृतवीर्य नामक राजा हुए, जिनके पुरोहित भृगुवंशीय ब्राह्मण थे। अपने पुरोहित को कृतवीर्य ने प्रचुर धन उपहार में दिया था। पश्चात् कृतवीर्य के कोई उत्तराधिकारी अपने पुरोहित से किसी कारणवश रुष्ट हो गये, फलतः राजकोष से दिया गया धन वापस माँग लिया। भृगुलोगों ने कुछ धन मिट्टी में गाड़कर शेष धन वापस कर दिया। राजा की आज्ञा से बस्ती की खुदाई हुई तो गड़ा हुआ धन मिल गया। जिससे राजा भृगुवंशीय लोगों पर और अधिक बिगड़ गये। क्रोधावेश में भृगुवंशियों को खोज-खोजकर मारना शुरू कर दिया। गर्भवती नारियों को भी उनकी सेना नहीं छोड़ती थी। राजा के इस व्यवहार से बचने के लिए आप्नवान की गर्भवती स्त्री नाहुषी हिमालय की कन्दरा में छिप गयी तथा भयवश अपने गर्भस्थ शिशु को उरु भाग में स्थापित कर ली।

इधर उस स्त्री की खोज में हैहयलोग हिमालय की उक्त कन्दरा में भी पहुँच गये, जहाँ नाहुषी छिपी थी। अपनी माँ को असहाय देखकर शिशु असमय में ही छाती चीरकर निकल गया और अपने तेज से समस्त सैन्यमण्डली को अन्धा बना दिया। यही बालक और्व कहलाया, जिसका दूसरा नाम हुआ ऋचीक–

"ऋषिपत्नी महाभागा आप्नवानस्य नाहुषी।
....॥

तस्य पूर्वो ऋषिर्येज्ञे उरुभित्वा महायशाः।
और्वश्चासीदृचीकस्तु दीप्तोऽग्निसदृशप्रभः॥''[20]

यह बात ब्रह्माण्डपुराण में[21] आयी है।

सबको अपने तेज से अन्धा हुआ देख और्व सोचने लगे कि यदि मेरा यह तेज रह गया तो पता नहीं कितने जीव और मनुष्य अन्धे हो जाएँगे। इसलिए उन्होंने अपने तेज को मध्य समुद्र में स्थित कर दिया, जिससे वडवानल उत्पन्न हुआ–

''ततश्च क्रोधजं तात और्व्वोऽग्निं वरुणालये।
उत्ससर्ज स चैवाप उपयुंक्ते महोदधौ॥''[22]

अतः इनको कहीं वडवानल के पिता तो कहीं उसका खोजकर्त्ता कहा गया है। विष्णु धर्मोत्तरपुराण में स्पष्ट लिखा है–

''ऋषिपत्नी महाभागा चाप्नवानस्य नाहुषी।
और्व सा जनयामास ऋचीकमिति संज्ञितम्॥
येन क्रोधाभिभूतेन दृष्टोऽग्निर्वडवामुखः॥''[23]

ऋग्वेद के[24] अनुसार इनका सम्बन्ध समुद्रस्थ अग्नि से था, जो वडवानल के कथ्य को तथ्य प्रदान करता है। कुछ लोग और्व को उरु का पुत्र मानते हैं, परन्तु उरु 'वृक्ष'–'पृथु'–'पृथुल' आदि का पर्याय तो है, किन्तु कहीं भी व्यक्तिवाची या व्यक्ति की संज्ञा नहीं। विस्तीर्ण अर्थ में इसका प्रयोग महाभारत (आ. 22वाँ अ.) में भी पाया जाता है – 'विस्तीर्ण ददृशतुरम्बरप्रकाशं तेऽगाधं निधिमुरुमम्भसामनन्तम्; जबकि 'तुविजाता उरुक्षया' आदि ऋग्वेदीय (1/2/9) वाक्य में भी उरु व्यक्ति-परक नहीं है। इसी प्रकार ऊर्व या ऊर्व्व शब्द भी व्यक्ति-विशेष की न तो संज्ञा है और न विशेषण। प्रत्युत् उर्व शब्द का प्रयोग तो हिंसा अर्थ में हुआ है। सुश्रुत के अनुसार 'उरुवु' शब्द एरण्ड वृक्ष के लिए व्यवहृत है। पारस्करगृह्यान्तर्गत मन्त्रों के भाष्य (पारस्करमन्त्रभाष्य) में वेदमिश्रसुत मुरारि मिश्र (1400 वि.सं. के आस-पास) ने वेद-निघण्टु के लघुपाठ को भी उद्धृत किया है। वे लिखते हैं – ''तथा च वेदनिघण्टुः-उरु-तुवि-पुरु-भूरि-शश्वत्-विश्वं-परीणसा -व्यानशिः-शतं-सहस्रं-सलिलं-कुविदिति बहोः।'' (पूना का हस्तलेख, पत्र-4 ख)। अतः और्व को 'उरु-पुत्र' मानना चिन्त्य है।

यही ऋचीक उपनामधारी और्व ऋषि प्रवरकार और मन्त्रकार दोनों हुए हैं[25]। इनको जमदग्नि आदि एक सौ पुत्र हुए–

''औवस्यासीत् पुत्रशतं जमदग्नि पुरोगतम्।''

ये महान् तपस्वी हुए

''ऋचीक इति विख्यातो विपुले तपसि स्थितः।''[26]

वाल्मीकिरामायण के अनुसार ऋचीक धनुर्विद्या में प्रवीण थे, इसलिए भगवान् विष्णु ने इनको अपना वैष्णव धनुष दिया था, जिसको इन्होंने अपने पुत्र जमदग्नि को दे दिया[27]। ये इतने गुणवान् थे कि, इनसे प्रभावित होकर शाल्वराज द्युतिमान् ने अपना सम्पूर्ण राज्य इनको सौंप दिया[28]। महाभारत, भागवत आदि के अनुसार वेदाध्ययन समाप्ति के बाद और्व ने कान्यकुब्ज नरेश कुशिक की पौत्री और गाधिराज की पुत्री अनिन्द्यसुन्दरी सत्यवती से विवाह करना चाहा। लेकिन गाधिराज ने इनको दरिद्र समझकर अपनी पुत्री देने

से इनकार कर दिया। जब और्व ने उनको दरिद्र नहीं होने का वचन दिया तो उन्होंने उनसे एकसहस्र दुष्प्राप्य श्याम और पाण्डुवर्णवाले घोड़े शुल्क के रूप में माँग लिया। अनन्तर "अश्वा बोलहा"[29] आदि चारमन्त्रों से और्व ने अपने पूर्वज वरुण की उपासना की और उसी रूपरंगवाले सहस्र घोड़ों को प्राप्त कर गाधिराज को दे दिया तथा सत्यवती से विवाह कर लिया[30]। सत्यवती परम पतिव्रता नारी थी, अहर्निश पति की अनुचरी बनी हुई उनकी सेवा में लगी रहती थी। एक दिन इनकी सेवा-सुश्रूषा से प्रसन्न होकर और्व ने वर माँगने को कहा। सत्यवती को कोई भाई न था, इसीलिए वे एक ही वर में अपने लिए और माता के लिए एक-एक पुत्र माँग लिये। और्व ने चरू बनाकर दोनों के लिए पृथक्-पृथक् दिया। जिसमें एक से ब्राह्मण गुणयुक्त और दूसरे से क्षत्रिय गुणयुक्त पुत्र की प्राप्ति होती। परन्तु चरू बदल गया, अज्ञानतावश माता वाला चरू सत्यवती ने खा लिया। ज्ञात होने पर जब सत्यवती ने इसके निवारण के लिए पति से प्रार्थना की तो और्व ने उसके क्षत्रिय गुण को अन्तिम पौत्र में स्थापित कर दिया। अत एव सत्यवती के पुत्र जमदग्नि आदि तो क्षत्रियगुण से बच गये, परन्तु सबसे छोटा पौत्र परशुराम बच नहीं सका। उसी प्रकार सत्यवती की माँ ब्राह्मणगुणवाला चरू खाकर विश्वामित्र जैसे को जन्म देती है। महाभारत की यही कथा विभिन्न पुराणों में विभिन्न रूपों से वर्णित है[31]। ऐतरेयब्राह्मण[32] तथा कौषीतकिब्राह्मण से[33] यह विदित होता है कि, और्व की सभी सन्तानें भी 'और्व' कहलाती थीं एवं इन लोगों का स्थान मध्यदेश था, जहाँ भार्गव लोगों के साथ कार्त्तवीर्यार्जुन की लड़ाई हुई थी और उसी स्थान पर जमदग्नि का वध भी हुआ था।

3. च्यवन-भार्गव

महर्षि च्यवन महान् गो सेवक थे। राजा नहुष को गाय और गोदान का महत्त्व इन्होंने ही समझाया था[34]। अश्विनीकुमारों से विशेष सम्बन्ध होने के कारण इनको आयुर्वेद का भी गम्भीर ज्ञान था, च्यवनप्राश नाम की औषधि तो इनकी प्रसिद्ध है ही, प्रत्युत् कहा जाता है कि, ये आयुर्वेद के एक 'जीवनदान' नामक ग्रन्थ की रचना भी किये थे[35]। महर्षि च्यवन की बनायी कोई स्मृति भी कही जाती है, किन्तु वह आज-कल उपलब्ध नहीं है। हाँ, कुछ प्राचीन आचार्य उसका एक-आध उद्धरण अवश्य उद्धृत करते हैं। च्यवन शाप और वरदान दोनों देने में समर्थ थे। जब इनको यह ज्ञात हुआ कि, कुशिक वंश के कारण से इनके वंश में वर्ण-संकर दोष आने वाला है तो वे राजा कुशिक को शाप देने के लिए पहुँच गये। लेकिन अथक प्रयास करने पर भी जब कुशिक से कोई गलती न हुई तो वे बदले में उनको वरदान देकर ही आ गये कि, आपके वंश में ब्राह्मण गुणवाले पुत्र का जन्म होगा[36]।

च्यवन जब गर्भस्थ ही थे, तभी इनकी माँ पुलोमा का दमन नामक राक्षस ने अपहरण कर लिया था। इसकी गवाही अग्निदेव ने दिया, जिससे पुलोमा के पति भृगु क्रोधित हो गये और अग्निदेव को सर्वभक्षी होने का शाप दे डाला[37]। अपहरण के समय में पुलोमा का गर्भ गिर गया और बालक के तेज से राक्षस भस्म हो गया। इस असमय में गर्भच्युत होने के कारण ही शिशु का नाम च्यवन पड़ा[38]।

पौराणिक आख्यान[39] के अनुसार महर्षि च्यवन तपस्या करते हुए एक बार वल्मीक (दीमक) से आच्छादित हो गये थे और एक बार जल के भीतर वर्षों तपस्या करते रहे। एकबार जब इनका जराजीर्ण शरीर तपस्या से क्षत-विक्षत हो गया था, उसी समय में अपनी पुत्री से दुःखी और क्रोधित हुए पिता राजा शर्याति, उधर से कहीं जा रहे थे। उन्होंने इनको देख अपनी बेटी सुकन्या का विवाह इनसे करवा दिया। सुकन्या के व्यवहार और पातिव्रत धर्म से प्रसन्न होकर एक बार अश्विनीकुमार ने इनको वर मांगने के लिए कहा तो महासाध्वी सुकन्या ने अपने पति का यौवन, सौन्दर्य और आँखें मांग ली। यही कथा कुछ भिन्नता के साथ अन्यत्र भी आर्षग्रन्थों[40] में वर्णित है। इसके अनुसार शर्याति जब सपरिवार वन-विहार पर निकले तो वे च्यवन की तपस्या-स्थली को भी देखने गये। उनके चारों तरफ वल्मीक भरा था। कौतूहलवश चञ्चल

कन्या सुकन्या ने च्यवन की आँखों में तिनके से छेद कर दिया। क्रोधी च्यवन ने शर्याति की सेना को मूत्र अवरोधक शाप दे दिया। तब शर्याति उनके पैर पर गिरकर कातरभाव से प्रार्थना करने लगा। च्यवन ने कहा कि, जिस सौन्दर्य के मद में आपकी पुत्री ने यह कार्य किया है उसके मद को चूर करने के लिए आप उसे मेरे सुपुर्द कर दें तभी मैं आपको शापमुक्त करूँगा। वही हुआ, सुकन्या का विवाह च्यवन से करा दिया गया। इसके बाद की कथा समान ही है। परन्तु इन दोनों कथाओं से भिन्न एक कथा शतपथब्राह्मण[41] में भी आयी है।

अस्तु, सुकन्या च्यवन की दूसरी पत्नी थी। पहली पत्नी आरुषी महाराज मनु की पुत्री थी[42]। आरुषी से आप्नवान और सुकन्या से प्रमति एवं दधीचि उत्पन्न हुए थे[43]। स्मरणीय है कि इसी प्रमति के पुत्र रुरु और रुरु के पुत्र शुनक हुए। शुनक से ही शौनक उत्पन्न हुए[44] थे। जबकि अश्वघोष के अनुसार महर्षि वाल्मीकि(रत्नाकर) भी च्यवन के ही पुत्र थे। च्यवन को एक से अधिक पत्नियाँ थीं इसका उल्लेख तो ऋग्वेद[45] में भी हुआ है, किन्तु उनके जीवन को परिवर्तित करने वाली सुकन्या ही हुई, इसमें सन्देह नहीं। ब्राह्मण, पुराण आदि[46] ग्रन्थों से विदित होता है कि एक बार जब शर्याति यज्ञ कर रहे थे तब यज्ञ के भागी होने पर भी अश्विनीकुमारों को उसमें भाग नहीं मिला था। क्योंकि इनसे शर्याति कुछ नाराज थे। जब च्यवन ने यह देखा तो उनको बहुत दुःख हुआ। आखिर उनको यह नवयौवन तो उन्हीं से प्राप्त हुआ था। च्यवन ने जब अश्विनीकुमारों को भाग दिलवाना चाहा तो इन्द्र ने इसका विरोध किया। फिर क्या, इन्होंने उन्हें ही स्तम्भित कर दिया और अश्विनीकुमारों को साम-भाग प्राप्त हो गया। पश्चात् च्यवन अपने श्वसुर शर्याति के पुरोहित भी बने[47] और उनका ऐन्द्राभिषेक भी करवाया[48]।

सर्वानुक्रमणी में इनका नाम 'भार्गव' कहा गया है। जबकि ऐतरेयब्राह्मण में[49] च्यवन-भार्गव लिखा है। इसी च्यवन भार्गव के नाम से ऋग्वेद में[50] 'नराशंसवान्' प्राप्त होता है। वेद में अनेकों प्रकार के सूक्त हैं, जिनमें एक आप्रीसूक्त भी पाया जाता है। यह आप्रीसूक्त तीन प्रकार का है–नराशंसवान्, उभयवान् और तनूनपात्वान्। इनमें नराशंसदेवता की ऋचा से युक्त सूक्त नराशंसवान् कहलाता है। इसी के रचयिताओं में एक हैं च्यवनभार्गव। जैसे कि निरुक्तकार कहते हैं–''तेषां वासिष्ठमात्रेयं वाध्र्यश्वं गार्त्समदं च्यवनभार्गवमिति नराशंसवन्ति[51]। यही वचन बृहद्देवता में भी आया हुआ है[52]। अभिप्राय यह है कि, च्यवन का पूरा नाम च्यवनभार्गव था, मात्र च्यवन नहीं।

4. जामदग्नि

और्व नाम से प्रसिद्ध ऋषि ऋचीक के पुत्र प्रवरकार जमदग्नि, अक्षरब्रह्म के उपदेष्टा हैं। इन्होंने चातूरात्र यज्ञ भी किये थे, जिससे इनके वंश में दरिद्रता नहीं आयी[53]। वैदिक परम्परा के ज्ञान को लोकों में बाँटने के लिए इन्द्र ने इनकी ही नियुक्ति की थी, जिसका उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक में[54] हुआ है। जमदग्नि मात्र तपस्वी ही नहीं, वेदविद्या और धनुर्वेद के अच्छे ज्ञाता भी थे[55]। धनुर्वेद का ज्ञान तो इनको अपने पिता और्व ऋषि से ही मिला था, उन्होंने इनको अपना वैष्णव धनुष भी प्रदान किया था। स्मरणीय है कि, वह धनुष और्व को अचूक निशाना और लक्ष्यभेदी बाण चलाने पर भगवान् विष्णु ने स्वयं दिया था। जमदग्नि ने सूर्य से ससर्परी विद्या भी सीखी थी, जिसको बाद में उन्होंने विश्वामित्र को दे दिया[56]।

महर्षि जमदग्नि का विवाह राजा रेणु की पुत्री रेणुका से हुआ था[57], लेकिन महाभारत में रेणुका को राजा प्रसेनजित की पुत्री कहा गया है[58]। रेणुका से जमदग्नि को पाँच पुत्र हुए–रुमण्वान्, सुषेण, वसु, विश्वावसु और परशुराम। पितामह के द्वारा दिये गये चरू के बदल जाने के कारण परशुराम में क्षत्रिय गुण आ गया था[59]। उसी प्रकार इनमें जो ईश्वरांश आया वह पिता जमदग्नि द्वारा तपस्या करके प्राप्त किया गया

था। जमदग्नि को ईश्वरांशभूत पुत्र होने का वरदान मिला था, इसीलिए उनको विष्णु का अवतार पुरुष पुत्र रूप में मिला[60]।

जमदग्निऋषि शीघ्र कोपी थे। एक बार रेणुका रेवा नदी के तटपर स्नान करने गयीं, तो उन्होंने देखा कि, वहाँ कुछ दूर पर राजा चित्ररथ महारानी के साथ जलक्रीड़ा कर रहे हैं। इस दृश्य को देखकर रेणुका के मन में विकार उत्पन्न हो गया। जब वे अपने आश्रम वापस आयीं तो मानसिक विकार से द्रवित, धैर्यच्युत और महातेज से वंचित रेणुका को देख त्रिकालदर्शी जमदग्नि क्रोधित हो उठे। उन्होंने अपने पुत्रों को माता का शिरच्छेदन करने के लिए क्रमशः आदेश दिया, जिसको उनके कनिष्ठपुत्र ने पूरा किया[61]। एक बार जब जमदग्नि धनुष-बाण चलाने का अभ्यास कर रहे थे तो फेंके गये बाणों को लाने का काम रेणुका किया करती थी। बाण लाते हुए प्रचण्ड धूप के कारण एक बार रेणुका को थोड़ा विलम्ब हो गया। इसका कारण ज्ञात होने पर जमदग्नि सूर्य पर बिगड़ गये और वे बाण का निशाना सूर्य को बनाने लगे। उसी समय सूर्यदेव ब्राह्मण वेश में आकर महर्षि के शरणापन्न हुए। सूर्य को भी अभयदान मिला और सूर्य ने भी तत्क्षण छाता और जूता देकर अपने ताप से बचने का उपाय बताया[62]।

बाद में ऐसा भी समय आया जब जमदग्नि में आमूल-चूल परिवर्तन हो गया। वे बहुत शान्त और उदार हो गये। जब जमदग्नि ने पिण्डदानार्थ श्राद्ध में खीर निर्माण किया तब क्रोध देव ने सर्प के रूप में आकर थोड़ा खा लिया और अपने विष का उसमें वमन कर दिया। जमदग्नि देखकर भी शान्त, सहज और विकार शून्य रहे। उसी समय क्रोध प्रकट होकर महर्षि से बोले कि आपने मुझे भी जीत लिया है। भृगुवंशीय जन्मना क्रोधी होते हैं, इसको आपने मिथ्या सिद्ध कर दिया[63]।

अब इनका मुख्य कार्य गोसेवा हो गया। इनकी गोभक्ति से प्रसन्न होकर इन्द्र ने इनको स्वर्गलोक की सर्वमान्या गाय 'कामधेनु' उपहार में सौंप दिया[64]। किन्तु ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के अनुसार यह गाय इनको इन्द्र ने नहीं अपितु भृगु ने ही दिया था। यह गाय श्रीकृष्ण से ब्रह्मा को और ब्रह्मा से भृगु को मिली थी। कामधेनु को पाकर जमदग्नि सुख से रहने लगे, कि एक दिन दुर्दैववश सहसा युद्ध करते-करते कार्त्तवीर्यार्जुन जमदग्नि के आश्रम पर आ धमका। उसने कामधेनु गाय लेना चाहा, लेकिन ले नहीं जा सका, तो आश्रम को तहस-नहस करके चला गया। परशुराम जब लौटकर आये तो आश्रम का हाल देखकर क्रोध से अन्धे हो गये और पीछे से खदेड़कर उसको मार दिया। उसके बाद ही कार्तवीर्यार्जुन के पुत्रों ने एकान्त पाकर जमदग्नि की भी हत्या कर दी[65]। कुछ कथान्तर के साथ यही आख्यान पद्मपुराण में[66] वर्णित है, जहाँ कहा गया है कि, कार्त्तवीर्यार्जुन ने जमदग्नि से सहस्रों गायों के बदले कामधेनु लेना चाहा, नहीं मिलने पर उनको मार दिया। किन्तु जमदग्नि को बैकुण्ठ जाते ही वह गाय भी इन्द्रलोक को चली गयी। इससे भी कुछ भिन्न कथा ब्रह्माण्ड[67] और ब्रह्मवैवर्त्त[68] पुराणों में वर्णित है।

5. आप्नवान्

इनके सम्बन्ध में जैसे बहुत कम ज्ञात होता है वैसे ही इनके नाम की वर्तनी भी बहुत प्रकार की देखी जाती है। यथा-आप्नुवान्[69], आप्रवान्[70], आत्मवान्[71], आप्नवान्[72] एवं आप्लवान[73]। इसी प्रकार आप्नवान, अप्लवान आदि भी मिलते हैं। ये च्यवन और मनुपुत्री आरुषी के पुत्र थे[74], परन्तु वायुपुराण में माँ का नाम सुकन्या ही कहा गया है[75]। मत्स्यपुराण में[76] तो आप्नवान को च्यवन के पुत्र के स्थान पर भाई कहा गया है, जो प्रवराध्यायपाठ और महाभारतादि पुराण के आधार पर संगत प्रतीत नहीं होता। प्रवराध्याय में कोई किसी का भाई नहीं हो सकता, प्रत्युत् वहाँ पिता, पुत्र, पौत्रादि का क्रम चलता है। यथा वत्सगोत्र के प्रवर ऋषि च्यवन, उनका पुत्र आप्नवान, उनका पुत्र और पौत्र क्रमशः और्व तथा जमदग्नि। वत्स तो

गोत्रकार, प्रवरकार और भृगुगोत्रीय हैं, जो वैश्यऋषि से ब्राह्मण ऋषि बनाये गये थे। वैसे तो अनेक ऋषियों को ब्राह्मणत्व मिला था, जिसमें वीतहव्य आदि प्रमुख हैं। वैवस्वत मनु पुरूरवा आदि ऋषि तो थे, किन्तु उनको ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं हुआ। इसी क्रम में यदि देखें तो कितने ही मन्त्रद्रष्टा ऋषि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी हुए हैं जिनके वंश में कितने ही ब्राह्मणऋषि और गोत्रकार, प्रवरकार होते गये। अस्तु।

आप्नवान् की पत्नी नाहुषी थी, जिनसे और्व का जन्म हुआ था[77]। लेकिन महाभारत में एक स्थल पर[78] आरुषी को और्व की माँ कहा गया है। किन्तु अनुसन्धाताओं ने कठोर परिश्रम द्वारा अब यह निश्चय कर लिया है कि, और्वकुल के प्रवर्तक आप्नवान का जन्म आरुषी से ही हुआ था और वे च्यवनभार्गव के पुत्र तथा दधीचि के वैमात्रेय थे। किसी-किसी पुराण में तो आप्नवान का नाम भृगुवंशावलियों में ही नहीं मिलता, जहाँ च्यवन और और्व के बीच एक पीढ़ी को ही छोड़ दिया गया है। जो भी हो, आप्नवान समुद्रस्थ अग्नि के स्तोता थे[79], इसमें सन्देह नहीं। जैसे कि हमने पहले कहा है कि, प्रवरकार ऋषि परस्पर सम्बन्ध से पिता-पुत्र-पितामह आदि होते रहे हैं, इसलिए यहाँ भी वत्सगोत्रीय उक्त पाँचों प्रवरकार एक ही परिवार के हैं, भृगु परिवार के। वरुणपुत्र भृगु की तीन पत्नियाँ थीं—पुलोमा, दिव्या और ख्याति। इसमें वत्स को छोड़कर शेष चारों वत्सगोत्रीय प्रवरकार पुलोमा से सम्बद्ध हैं। पुलोमा और भृगु के पुत्र हुए च्यवन, जो भार्गव भी कहलाते थे। इसी च्यवन भार्गव के पुत्र थे आप्लवान और आप्लवान से और्वऋषि का जन्म हुआ था। और्वऋषि ही 'ऋचीक' थे, जिनके एक सौ पुत्र हुए, इनमें जमदग्नि प्रथम थे। अर्थात् च्यवनभार्गव, आप्लवान, और्व और जमदग्नि चारों ऋषि एक ही परिवार के हैं। मानवगृह्यसूत्र परिशिष्ट के पञ्चमहायज्ञ-विधान में कहा भी गया है—

"भृगुच्यवनाप्लवानौर्वजामदग्न्यशिष्या:।"

इसलिए वत्सगोत्रीय प्रवराध्याय में वर्त्तमान पठित प्रवरऋषि पाँच न होकर चार ही हैं। च्यवन भार्गव, को पृथक् पृथक् मानना युक्तिसंगत नहीं है। कारण पठित नाम शास्त्रानुसार दीर्घ है—और्व, भार्गव, जामदग्नि और आप्नवान। मात्र एक च्यवन ही ह्रस्व है, जो उचित नहीं। यहाँ यह नाम सब अपत्यात्मक नहीं अपितु दैर्घ्य है, वृद्धिपरक है। सभी श्रौतसूत्रों में स्पष्ट कहा गया है कि, प्रवरऋषि का नामोच्चारण वृद्धिपूर्वक किया जाय। अथर्ववेद में[80] भी नामोच्चारण की प्रक्रिया दो प्रकार से कही गयी है – दीर्घप्रक्रिया और वत् प्रक्रिया। अर्थात् "और्वच्यवनभार्गवजामदग्न्याऽऽप्लवानेति" किंवा "ऊर्ववत् च्यवनभृगुवत् जमदग्निवत् अप्नवानवत्" आदि। इस वत् प्रत्यय वा तद् वाचक 'यथा' 'इव' प्रभृतिशब्द का प्रयोग ऋषि के नाम के साथ करने का विधान ऋग्वेद में भी आया हुआ है। इस वत् प्रत्यय को लगाने की परिपाटी का आशय यह है कि जिस प्रकार गौरवशाली ऋषिलोग यज्ञकर्म में सफलता प्राप्त करके अपने कुल को गौरवान्वित करते थे, उसी प्रकार हमारे इस कर्म को गौरव और सफलता प्राप्त हो।

अति प्राचीन काल में चार ही गोत्र थे, जिनमें भृगुगोत्र भी एक था। वत्सऋषि स्वयं गोत्रकार[81] बनने से पूर्व भृगुगोत्रीय ही थे[82]। पहले गोत्र परिवर्तन करने की भी परम्परा थी, इसलिए तो इक्ष्वाकु के पुत्र निमि का गोत्र बदल गया, अन्यथा राम और सीता का विवाह कैसे होता, क्योंकि दोनों तो राजा इक्ष्वाकु की ही सन्तति थे। स्वयं गोतम रहूगण भी पहले भृगुगोत्रिय ही तो थे, जिन्होंने बाद में अपने नाम पर गोतमगोत्र का प्रवर्त्तन किया। आज भी यह परम्परा उस वर्ग में प्रचलित है जो आश्रमपरिवर्तन करते हैं अथवा दीक्षाग्रहण करते हैं। ब्रह्माण्डपुराण के[83] अनुसार वत्स 26वें व्यास जातूकर्ण्य के पुत्र और अक्षपाद कणाद एवं उलूक के भाई थे, यहाँ उल्लिखित है – "अक्षपाद: कणादश्च उलूकी वत्स एव च"। महाभारत में[84] वर्णित है कि, मैत्रावरुण-वशिष्ठ के पुत्र हुए शक्ति, जिनके पराशर और जातूकर्ण्य नाम के दो पुत्र हुए।

इनमें पराशर से कृष्णद्वैपायन वेदव्यास और जातूकर्ण्य से चार पुत्र उत्पन्न हुए। यही वत्स ऋग्वेद के आग्नेयसूक्त के द्रष्टा हुए[85] जो 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार:' के न्याय से ऋषि थे। लेकिन स्मर्त्तव्य है कि ऋग्वेद की ही एक ऋचा के[86] द्रष्टा 'वत्सप्रि:' इनसे भिन्न भालन्दनगोत्रीय थे। अस्तु।

वत्स ऋषि की प्रतिभा और क्षमता से प्रभावित होकर इनको जब भृगु और अग्निदेव गोत्रस्थापना के लिए प्रेरित किये तो इन्होंने उसकी यह शर्त रखी कि, यदि भृगुकुल के लोग हमारी प्रधानता स्वीकार करें तभी मैं अपना गोत्र चलाऊँगा। वत्स की शर्त मान ली गयी और भृगु के पुत्र च्यवनभार्गव से लेकर उनके वृद्धप्रपौत्र जमदग्नि पर्यन्त ने इनका साथ दिया। साथ तो और भी मिला, लेकिन प्रवर के लिए तो पाँच से अधिक नहीं हो सकते थे, इसीलिए चारपीढ़ी के ऋषियों ने इनका समर्थन करके इनका स्वामित्व स्वीकार कर लिया। साथ-साथ अग्निदेव के द्वारा दिये गये ब्राह्मणत्व की मान्यता को भी बल मिला।

यहाँ यह विचार करना आवश्यक है कि वत्सगोत्र के प्रवराध्याय में वत्स का नाम क्यों छूटा हुआ है। म. म. उमेश मिश्र के विनिबन्ध में पं. गोविन्द झा लिखते हैं कि एक प्राचीन तालपत्र में वत्स का नाम और्व से पहले ही जुड़ा हुआ है, जो राजदरभंगा के पुस्तकालय में सुरक्षित है। हमको उसमें उद्धृत म.म.डॉ. उमेश मिश्र का वह सन्देह समीचीन प्रतीत होता है कि किसी अनभिज्ञ पुरोहित ने 'भार्गव' को लेकर गणना की होगी और छ: प्रवर हो जाने से आदि से वत्स को निकाल दिया होगा। साथ ही साथ यही गतानुगतिकतया प्रचलित हो गया होगा। वस्तुत: कुछ अनभिज्ञ पुरोहित ऐसे भी हैं जो और्व को ही वत्स मानते हैं। इसी प्रकार के एक पुरोहित के मुख से मैंने सुना था कि, उरू नाम के ऋषि से उत्पन्न और्व ऋषि ही वत्स हैं। धन्य है उनकी कल्पनाशक्ति और धन्य है उनका ऐतिहासिक ज्ञान। वत्सगोत्र के प्रवराध्याय में पठित 'भार्गव' पद ऋषि की संज्ञा नहीं है, वह पूर्वापर ऋषियों का नामान्तर अथवा विशेषण मात्र है। 'भार्गव' च्यवन ऋषि का नामान्तर था तो जमदग्नि का विशेषण। अत: भार्गव की गणना अलग से करना उचित नहीं है। नामकरण संस्कार बहुत प्राचीन है, जिसमें शिशु का नाम रखा जाता है। यह नाम नक्षत्र, पिता, कुल, पूर्वज, गोत्र, देश आदि के नाम पर भी रखा जाता था। इतिहास साक्षी है कि, पहले भी एक आदमी के दो-दो नाम होते थे। जैसे कि मेधातिथि काण्व[87], वत्सप्री भालन्दन[88], बालाकि गार्ग्य[89], हिरण्यस्तूप अंगिरस[90], आदि नामों में जहाँ एक नाम ऋषि का अपना था तो दूसरा गोत्र का। भीमवैदर्भ[91], दुर्मुख पांचाल[92], जनक वैदेह[93], अजातशत्रु काश्य[94] में एक नाम तो देश का भी है। जबकि वररुचि कात्यायन में, दूसरा नाम पिता का है। उसी प्रकार ऐतरेयब्राह्मण मे[95] 'च्यवनभार्गव' की चर्चा आयी है, जिसमें 'भार्गव' शब्द च्यवन का गोत्रज नाम है। स्मरणीय है कि, 'च्यवन' नामके दो ऋषि आदिकाल में हुए हैं, इसीलिए पूर्ववर्त्ती च्यवन से परवर्त्ती च्यवन को पृथक् करने के लिए अपत्यवाची 'भार्गव' पद का व्यवहार किया गया। अत: 'च्यवनभार्गव' दोनों एक ही व्यक्ति का नाम है।

अब यहाँ यदि गणना करते हैं तो चार ही प्रवर होते हैं जो सभी ऋषि-मुनि, सूत्रकार, स्मृतिकार लोगों के मत में अनुचित है-''न चतुरो वृणीते''। तब तो वत्स को जोड़ने पर ही पाँच प्रवर होगा – ''वत्सगोत्रस्य वात्सौर्वच्यवनभार्गवजामदग्न्याप्लवानेति पञ्चप्रवरा:।'' वत्स गोत्रकार और प्रवरकार दोनों हैं। उनका ही गोत्र और वही अनुपस्थित रहें यह भी तो उचित नहीं है।

सन्दर्भटिप्पणी

1. बौधायनश्रौतसूत्र 2/3
2. ''त्रीन् प्रवृणीते मन्त्रकृतो वृणीते, यथर्षि मन्त्रकृतो वृणीत इति विज्ञायते। अथैकेषामेकं वृणीते द्वौ वृणीते, त्रीन् वृणीते, न चतुरो वृणीते, न पञ्चाति वृणीत इति विज्ञायते।'' – आपस्तम्बश्रौतसूत्र 24/5/6

3. आपस्तम्बश्रौतसूत्र 24/5/6
4. ऋग्वेद 8/102/4
5. ऋग्वेद 7/18/2
6. शतपथब्राह्मण 1/4/2/3-4
7. विष्णुपुराण 3/5/21-22
8. वायुपुराण 63-64
9. मत्स्यपुराण 195/17
10. ऋक्प्रातिशाख्य 11/65
11. महाभाष्य 4/2/104
12. काशिकावृत्ति 4/21/14, 4/1/17
13. विकृतिवल्ली 1/4 (अपौरुषेय वेद तथा शाखा, भगवद्दत से उद्धृत)
14. वायुपुराण 61/25
15. ब्रह्माण्डपुराण (पूर्वभाग) 35/28-29
16. ताण्ड्यमहाब्राह्मण 14/6/6
17. महाभारत आदिपर्व 48/9
18. महाभारत शान्तिपर्व 46/6
19. महाभारत 1/169-171
20. वायुपुराण 65/91
21. ब्रह्माण्डपुराण 3/1/98
22. महा. चैत्ररथपर्व, अध्याय 181
23. विष्णुधर्मोत्तरपुराण 1/32/3-4
24. ऋ. 8/102
25. ऋ. 8/102/4, मत्स्यपु. 195/29, ब्रह्माण्डपु. 2/32/105, वायुपु. 59/96
26. महा. 13/4/8
27. वाल्मिकीयरामायण बाल. 75/22-23
28. महा. 12/226/33, 13/137/23
29. ऋ. 9/112
30. महा. 3/115/9-18, 13/4/7-20, भागवत 9/15/4-7,
स्कन्दपु. 6/166, विष्णुधर्मोत्तरपु. 4/7
31. भागवत 9/15/7-11, विष्णुपु. 4/7/1-32, ब्रह्मपु. 10/29-47
32. ऐतरेयब्रा. 6/33
33. कौषीतकिब्रा. 30/5

34. ऋ. 10/19, महाभा. 13/51/26, 13/50/51.
35. ब्रह्मवैवर्त्त. 1/16/19
36. महाभा. 13/56/16-19
37. महाभा. 1/5-6, पद्मपु. 14/31-42
38. महाभा. 1/6/2, वायुपु. 65/89, पद्म. 11/45
39. महाभा. 3/122/1-4, 13/50/3-4, पद्मपुराण 14/45-47,
भागवत. 9/3/1-12, देवीभागवत. 7/2/41-43 आदि।
40. ऋ. 1/116/10, पद्मपु. 14/54-56, 15/1/11-12, देवीभाग. 7/2/50-54
41. शतपथब्रा. 4/1/5/1-7
42. महाभा. 1/60/44-45
43. महाभा. 1/8/1, 1/5/7, 1/60/44, वायुपु. 65/90
विष्णुधर्मोत्तरपु. 1/32/2
44. महा. आदिप. अध्या. 8, अनुशासनप. अध्या.8
45. ऋ. 1/116/10
46. शत. ब्रा. 4/1/5, महाभा. 3/123/20-22, भागवत 9/3/9-12, 25
पद्मपु. 41/15/14, देवीभा. 7/5/55-57, महाभा. 3/124-27
पद्मपु. 16/13-16, देवीभा. 7/7/8-11
47. महाभा. 3/124/5-7, देवीभा. 7/6/47-48
48. ऐतरेयब्रा. 8/21
49. ऐ. ब्रा. 39/8
50. ऋ. 9/33
51. निरुक्त. 8/22/12
52. बृ. दे. 2/155-56
53. तै.सं. 7/1/9/1, पंचविंश ब्रा. 21/10/5-7
54. तै.आ. 1/9
55. महाभा. 3/115/29-30, पद्मोत्तर पु. 268/1-2
56. ऋ. 3/53/15-16
57. ब्रह्मपु. 10/50-51, पद्मोत्तरपु. 268/8
58. महाभा. 3/116/2
59. महाभा. 1/60/47
60. पद्मोत्तरपु. 268/10-14
61. महाभा. 3/116/5-18, भाग. 9/16/1-7, विष्णुध. पु. 1/36

62. महाभा. 13/95-96, विष्णुधर्मो. पु. 1/35
63. महाभा. 14/92/41-46 चि., जैमिनीय अश्वमेध-68
64. पद्मोत्तरपु. 268/6-7
65. महाभा. 3/116/19-29
66. पद्मपुराण 268/1-39
67. ब्रह्माण्डपु. 3/26-29
68. ब्रह्मवैवर्त्तपु. 3/24-27
69. मत्स्यपु. 195/15
70. ब्रह्माण्डपु. 3/1/9/3
71. वायुपु. 65/90
72. ऋ. 8/102/4
73. पद्मोत्तरपु. 248/8
74. महाभा. 1/60/44-45, वायुपु. 65/91
75. विष्णुधर्मो. पु. 1/32/2
76. मत्स्यपु. 195/14-15
77. वायुपु. 65/91
78. महाभा. 1/60/45
79. ऋ. 8/102/4
80. अथर्ववेद 11/1/16, 12/4/2/12, 16/8/3
81. मत्स्यपु. 195/17
82. ब्रह्माण्डपु. 3/1/100
83. ब्रह्माण्डपु. 23/151
84. महाभा. आदिप. 93/5
85. ऋ. 10/165
86. ऋ. 10/45/1
87. ऋ. 8/2/40
88. तै. 5/2/1/6
89. बृह.उप. 2/1/1
90. ऋ. 10/149/5
91. ऐत. 35/8
92. ऐत. 39/23
93. बृह. उप. 2/1/1

94. वही

95. ऋ. ऐतरेयब्राह्मण 39/8

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. अथर्ववेद-सनातनभाष्य, श्रीकण्ठशास्त्री, माधवपुस्तकालय, 103A, कमलानगर, दिल्ली, प्रथम संस्क. 2031 संवत्

2. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र-सम्पा. टी.टी. श्रीनिवास गोपालाचार्य, गवर्नमेण्ट ब्राञ्चप्रेस, मैसूर, 1953

3. ऋक्प्रातिशाख्य -

4. ऋग्वेद - डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, लोक भारती, 15A, म. गान्धी मार्ग, इलाहाबाद - 01, प्रथम संस्क. - 2008

5. ऐतरेय ब्राह्मण-सम्पा. सुधाकर मालवीय, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, प्रथम संस्क. 1980

6. काशिकावृत्ति -III भाग, श्रीनारायण मिश्र, रत्ना पब्लिकेशन्स, कमच्छा, वाराणसी, 1985

7. कौषीतकि ब्राह्मण - वैदिकसंशोधन मण्डल, पूना, 1954, श्रीनारायण ब0 पण्ढेकर

8. जैमिनीय अश्वमेध - वैदिकसंशोधन मण्डल, पूना, 1968, द.व. शास्त्री एवं प्रभासचन्द्र

9. ताण्ड्य महाब्राह्मण - चिन्नस्वामीशास्त्री, चौखम्बा सं. सी. ऑफिस, बनारस, 1936

10. तैत्तिरीय आरण्यक - आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि (अन्य सूचनात्मक पृष्ठ नष्ट थे)

11. तैत्तिरीय संहिता - सम्पा. एन्.एस.सोनाटक्के एवं टी.एन.धर्माधिकारी, वैदिक संशोधन मण्डल, पुणे-9, प्र. सं. 1972

12. देवीभागवत - पण्डित पुस्तकालय, काशी (राजा दरवाजा), सम्पा. रामतेज पाण्डेय, संवत् - 2012

13. निरुक्त - छज्जूराम शास्त्री, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, संस्कृत पुस्तकालय, 2736 कूचा चेलां, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्क.-1963

14. पद्मपुराण - आचार्य रविषेण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, दो भाग, 1944

15. पद्मोत्तरपुराण - श्री ना.प्र.शेवडे, वेदवाणी, अकोला, महाराष्ट्र, दो भाग, प्रथम संस्करण-1938

16. पंचविंशब्राह्मण - डॉ. पी.के.नारायणपिल्लै, अनन्तशयन विश्वविद्यालय, त्रावणकोर, 1952 तथा W. Caland का आंग्लानुवाद, श्री सद्गुरु पब्लिकेशन्स, 1st फ्लोर, 40/5 शक्तिनगर, दिल्ली -07 प्रथम संस्क. 1931

17. बौधायनश्रौतसूत्र - सम्पा. डॉ. डब्ल्यू कलन्द, मुंशीराम मनोहर लाल, दिल्ली, द्वितीय संस्क. 1982

18. ब्रह्मपुराण - मनसुखराय मोर, क्लाइव रोड, कलकत्ता, प्रथम संस्करण (मूलमात्र) 1941

19. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण - मनसुखराय मोर, क्लाइव रोड, कलकत्ता, प्रथम संस्क. 1940

20. ब्रह्माण्डपुराण - राधाकृष्ण मोर, क्लाइव रोड, कलकत्ता, प्र.सं. 1954

21. बृहदारण्यकोपनिषद् - डॉ. उमेशानन्दशास्त्री, कैलाश आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति, मुनि की रेती, ऋषीकेश, प्रथम संस्करण, 2036 वि.सं.

22. बृहद्देवता - ए.ए.मैकडोनल, शिवालिक प्रकाशन, 27/16 शक्तिनगर, दिल्ली-07, प्रथम संस्क. 2006

23. भागवत - कमला सुब्रह्मण्यम्, भारतीय विद्या भवन, कुलपति क.मा. मुंशी मार्ग, बम्बई-7, द्वितीय संस्करण 1981

24. मत्स्यपुराण - डॉ. श्रद्धा शुक्ला, नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर, दिल्ली-7 (दो भाग), प्रथम संस्करण

25. महाभारत - प्रो. ताताचार्य, संस्कृत प्रतिष्ठानम्, मानस गंगोत्री, मैसूर, 1942 प्रथम संस्करण

26. महाभाष्य - युधिष्ठिरमीमांसक, प्यारेलाल द्राक्षादेवी न्यास, C-4, C.C. कॉलोनी, दिल्ली, प्र.सं. 1979

27. वायुपुराण - श्री ना.प्र.शेवडे, वेदवाणी, अकोला, महा. प्रथम संस्करण, 1942

28. वाल्मिकीय रामायण - मैसूर विश्वविद्यालय, मानस गंगोत्री, मैसूर, प्रथम संस्करण, 1966

29. अपौरुषेय वेद तथा शाखा-प. भगवद्दत्त, प्रणव प्रकाशन, पंजाबीबाग, दिल्ली, प्रथम सं. 1978

30. विष्णुपुराण - डॉ. मधुसूदन पाठक, ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, प्रथम संस्करण, 1999

31. विष्णुधर्मोत्तरपुराण - मनसुखराय मोर, 5 क्लाइव रोड, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, 1936

32. शतपथब्राह्मण - सत्यम् बुक्स, रोशनपुरा, नई सड़क, दिल्ली-06, प्रथम संस्करण, 2006

33. स्कन्दपुराण - नागशरणसिंह, नाग पब्लिशर्स, जवाहरनगर, दिल्ली, तीन खण्डों में, प्र.सं. 1982

डॉ. उदयनाथ झा 'अशोक',
सह-आचार्य
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय) गंगानाथ झा परिसर, इलाहाबाद



अनुवृत्ति - एक संगणकीय पद्धति

योगेश्वर शुक्ल

महर्षि पाणिनि की प्राकृतिक बुद्धि द्वारा विरचित विश्व-भाषा के इतिहास का सर्वाधिक उपयुक्त व्याकरण अष्टाध्यायी है। पाणिनि ने प्रस्तुत व्याकरण के निर्माण में सुदीर्घ परम्पराओं का समन्वय करते हुए, 'अष्टाध्यायी' को एक सार्वकालिक व्याकरण की संज्ञा प्रदान किया। अष्टाध्यायी में वर्णित अनेक पद्धतियों में अनुवृत्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनुवृत्ति के द्वारा अष्टाध्यायी के सूत्र विशिष्ट क्रम में सुव्यवस्थित रहते हैं। अनुवृत्ति के कारण ही सूत्र अपने अर्थ गौरव को नहीं छोड़ते। अनुवृत्ति का परिचालन संगणकवत् होता है। अनुवृत्ति पाणिनि की प्राकृतिक बुद्धि का कृत्रिम भाषिक संसाधन है, जिसके द्वारा सूत्र-सम्बन्ध कभी भी स्खलित नहीं होता। अनुवृत्ति के दो प्रमुख उद्देश्य है- 1. अष्टाध्यायी की रक्षा, 2. अष्टाध्यायी का सूत्रार्थ। पाणिनि की दृष्टि में, अनुवृत्ति एक संगणकीय पद्धति है, क्योंकि जिस तरह संगणक क्रमवद्ध होकर आकड़ों का सम्यक् गुम्फन कर क्रियान्वित होता है, उसी प्रकार अष्टाध्यायी की अनुवृत्ति पद्धति सूत्रों को क्रमवद्ध करके विधिसूत्रों द्वारा शब्द सिद्धि में संसाधित होती है।

पाणिनीय व्याकरण से अभिप्राय पाणिनि प्रोक्त 'अष्टाध्यायी' से है। अष्टाध्यायी एक परिनिष्ठित, तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक ग्रन्थ है। लाघव सर्वस्वव्यसनी, वृत्तज्ञ, अनल्पमति, आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायीगतसूत्रलाघवतार्थ 'अनुवृत्ति पद्धति' का प्रयोग किया है।[1] अनुवृत्ति एक संगणकीय पद्धति है, क्योंकि उसके द्वारा अष्टाध्यायी के सूत्र संगणकवत् संसाधित होते हैं, तथा अल्पाक्षर, असन्दिग्ध, सारवत् गूढ़निर्णयवाला निर्दोष हेतु एवं अर्थगौरव युक्त होते हैं।[2] विदित है कि संगणक एक ऐसी कृत्रिम व्यवस्था है, जो प्रतीकों को संसाधित करता है।[3] इसी प्रकार अष्टाध्यायी भी सन्दर्भ-संगणक है, क्योंकि उसमें रहने वाला सूत्र, कम से कम अक्षरों के द्वारा, अधिक से अधिक ज्ञान को प्रदर्शित करता है। अष्टाध्यायी में वर्णित प्रतीक अनुवृत्ति के द्वारा संगठित श्रव्य अक्षर या उसके गुण हैं।[4] अनुवृत्ति के द्वारा ही सूत्रों में असन्दिग्धता रहती है। असन्दिग्धता का तात्पर्य स्पष्टार्थकता है। अनुवृत्ति के द्वारा ही अष्टाध्यायी के सूत्र व्यापक विनियोग में समर्थ होते हैं। अनुवृत्ति के द्वारा ही अष्टाध्यायी के सूत्रों की रचना लड़ियों के रूप में की गई है। इसलिए एक लड़ी में आने वाले सूत्रों में पुनरावर्तमान पद को एक से अधिक बार प्रयुक्त करना नहीं पड़ता। अनुवृत्ति के द्वारा ही अष्टाध्यायी के वर्ण्यमान प्रकरणों के आदि सूत्रों और अन्तसूत्रों का पता चलता है।[5] अधिकार सूत्र भी अपने आदि और अन्त का संकेत अनुवृत्ति के माध्यम से ही करते हैं।

अनुवृत्ति के आधार पर पाणिनि ने नियमों का क्रम इस प्रकार रखा है कि बाद में आने वाला नियम, अपने आप समान परिस्थिति में प्रवृत्त पूर्ववर्त्ती नियम को निरस्त कर देता है, उसी प्रकार जिस प्रकार संगणक के आदेश ऐसे क्रम से रखे जाते हैं कि पूर्ववर्त्ती आदेश पूरा का पूरा या उसका कोई निश्चित अंश परवर्त्ती आदेश से विस्थापित हो जाता है।[6] अनुवृत्ति के द्वारा ही अष्टाध्यायी के भाषिक सूत्रों की क्रमबद्धता भी

स्पष्ट होती है।[7] अनुवृत्ति को दृष्टि में रखकर, पाणिनि ने अष्टाध्यायी के नियमों के दो वृत्त बनाए। अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय से आठवें अध्याय के प्रथम पाद तक भीतरी वृत्त है, और आठवें अध्याय के दूसरे पाद से चौथे पाद तक दूसरा वृत्त है, जिसे क्रमशः सपादसप्ताध्यायी और त्रिपादी कहते हैं। त्रिपादी बाह्यवृत्त है। अन्तः वृत्त बाह्यवृत्त की दृष्टि से असिद्ध है।[8] अर्थात नये सिरे से बाह्यवृत्त में नियमों का प्रवर्तन अनुवृत्ति के द्वारा होता है।[9] 'अशिष्यम्'[10] की अनुवृत्ति के आधार पर, पाणिनि ने अष्टाध्यायी के द्वारा सिद्ध किया है कि- भाषा से बहिर्भूत कोई संधारणा या युक्ति भाषा की व्याख्या में या भाषा के किसी अवयव को परिभाषित करने में निर्धारक नहीं होती, क्योंकि भाषा का प्रामाण्य भाषा से बाहर नहीं हो सकता। अर्थात् जहाँ अर्थ का अन्य प्रामाण्य हो, भाषा से भिन्न जगत् में प्रामाण्य हो, वहाँ किसी वर्गीकरण को व्याकरण में कोई स्थान नहीं दिया जा सकता।[11] इसलिए पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त राशियाँ या कोटियाँ भाषागत वस्तुनिरीक्षण के आधार पर निर्मित हैं और इनका निष्कर्षण वैज्ञानिक आधार पर है।[12] इसलिए अष्टाध्यायी की संज्ञाएँ या तो वितरण (परिस्थितियों के योग के) द्वारा[13] परिभाषित होती हैं या सूची के द्वारा[14] या सूत्रों के परिगणन के द्वारा[15] या द्वितात्मक पद्धति (binary) को[16] अपनाकर पारिशेष्य (Elimination) के द्वारा।[17] इस प्रकार सिद्ध होता है कि अनुवृत्ति पद्धति पाणिनीय व्याकरण का अङ्ग होती हुई व्यावहारिक भाषा (लोक-भाषा) का भी अङ्ग है।[18]

पाणिनि ने स्वरितेनाधिकारः''[19] द्वारा, अनुवृत्ति और अधिकार के स्वरूप का अभिज्ञान किया है। यहीं से पाणिनि की संगणकीय दृष्टि का प्रारम्भ होता है। अर्थात् पाणिनि को अधिकार एवं अनुवृत्ति के द्वारा, केवल अनुवर्तन ही अभीष्ट था। जिससे वह अष्टाध्यायी का शरीरगत लाघन कर सकें। स्वरितेनाधिकारः के दो पक्ष है।[20] (1) अर्थाधिकारः, (2) शब्दाधिकारः। जिसका जिस सूत्र में स्वरितत्व ज्ञात है, वहाँ उसका जो अर्थ है, वही उत्तरोत्तर सूत्रों में अधिकृत या अनुवृत्त होता है। इसे ही अर्थाधिकार कहते हैं।[21] जहाँ स्वरित से युक्त शब्द का निदर्शन है, वहाँ उसके शब्द का ही उत्तरोत्तर सूत्रों में अनुवर्तन होता है। इसे शब्दाधिकार कहते है।[22] इसलिए इन दोनों को क्रमशः शब्दानुवृत्ति एवं अर्थानुवृत्ति भी कहा जाता है।[23] पाणिनि की इसी संगणकीय दृष्टि का विस्तार करते हुए, महाभाष्यकार ने अधिकार[24] को तीन प्रकार का माना है।

1. परिभाषा रूप अधिकार,[25] 2. अनुकर्षण रूप अधिकार[26] और अधिकार सूत्र।[27] परिभाषा रूप अधिकार एक स्थान पर बैठकर, सम्पूर्ण शास्त्रों (सूत्रों) में व्यापार करता है, परन्तु इसका अनुवर्तन पुनः पुनः नही होता। वस्तुतः यह यथोद्देश्य तथा कार्यकाल पक्ष को लेकर प्रवृत्त होता है।[28] अनुकर्षण रूप अधिकार चकार लगाने से खींचा चला आता है। जैसे रस्सी या लोहे से बँधी हुई लकड़ी खीचने वाले के द्वारा अभीष्ट स्थान पर खिंची हुई चली आती है।[29] अधिकार सूत्र प्रत्येक सूत्र में निर्दिष्ट नही होता, पुनरपि एक बार निर्दिष्ट किया हुआ ही स्वरित-बल से, प्रत्येक सूत्र में आकाङ्क्षावशात् उपस्थित होता है। अर्थात् अधिकार सूत्र अनुवृत्ति द्वारा प्रत्येक सूत्र में उपस्थित होता है। जहाँ तक उसका अधिकार है, वहाँ तक वह प्रत्येक सूत्र में उपस्थित होकर अपना कार्य करता है।[30] पाणिनि ने अष्टाध्यायी में अधिकारान्तर्गतानुवृत्ति का प्रयोग वैज्ञानिक ढंग से किया है। द्रष्टव्य हैं- उदाहरणार्थ-

आदि	अन्त	अवधि	प्रकरण
आकाडारादेका संज्ञा[31]	कडाराः कर्मधारये[32]	220 सूत्रों तक	नदी संज्ञा[33] /धि संज्ञा[34] लघु[35]/गुरु[36]/अङ्ग[37] पद[38]/भ[39]
कारके[40]	तत्प्रयोजकोहेतुश्च[41]	32 सूत्रों तक	वचनविनियोग-1-4-21-22 क्रमशः अपादान[42]/ सम्प्रदान[43]/ करण[44]/ अधिकरण[45]/कर्म[46]/ कर्तृ[47] निपात[48]/उपसर्ग[49]/गति[50]
		गत्युपसर्ग निर्देश[51])	का स्थान
कर्मप्रवचनीयाः[52]	विभाषा कृञि[53]	16 सूत्रों तक	परस्मैपद[54]/आत्मनेपद[55]/ तिङ्विभाग[56]/ सुब्विभाग[57]/ पुरुष[58]/संहिता[59] अवसान[60]/ समर्थ परिभाषा[61]/ पराङ्गवद्भवातिदेश[62]
प्राक्कडारात्समासः[63] सहसुपा[64]	कडाराः कर्मधारये[65]	108 सूत्रों तक	(अव्ययीभाव[66])
तत्पुरुषः[67]	क्त्वा च[68]	73 सूत्रों तक	(कर्मधारय[69]/बहुव्रीहि[70] द्वन्द्व[71]/ पूर्वनिपात[72]
अनभिहिते[73]	चतुर्थीचाशिष्यायुष्यद्र भद्रकुशलसुखार्थ हितैः		(द्वितीया विभक्ति[76]/ चतुर्थी[77]/[74]तृतीया[78]/ पंचमी[79] सप्तमी[80] प्रथमा[81]/आमन्त्रित संज्ञा[82]
(उपपदविभक्तियों में यह अधिकार प्रवृत्त नहीं होता है।[75])			सम्बुद्धि षष्ठी[83])

पुनः कारक विभक्तियों में प्रयुक्त होता है।

अतः स्पष्ट है कि अधिकार के अन्दर होने वाली अनुवृत्तियाँ अष्टाध्यायी को बाँधे हुए हैं।[84]

पाणिनि ने इस संगकीय पद्धति का उपयोग क्रमशः अष्टाध्यायी की रक्षा, सूत्रार्थ, योगविभाग और विभक्ति विपरिणाम के लिए किया है। परन्तु मुख्यतः इस पद्धति के दो उद्देश्य है- 1. अष्टाध्यायी की रक्षा में अनुवृत्ति का उपयोग जो निम्न चरणों में परिचालित होती है।

अष्टाध्यायी के सूत्रों का संहिता पाठ[85]--पद पाठ[86] चर्चा[87] अनुवृत्ति के द्वारा संहितापाठ एवं पद पाठ दोनों के बीच सेतु का निर्माण होता है इस प्रकार अष्टाध्यायी की रक्षा होती है। 2. सूत्रार्थपद्धति में अनुवृत्ति का उपयोग निम्न चरणों में परिचालित होता है। चर्चा-वाक्याध्याहार-विभक्तिविपरिणाम-अधिकार-संज्ञा/परिभाषा सूत्र पर चर्चा करने के पश्चात् यदि अर्थ का बोध न हो, तो उस सूत्र के पूर्व सूत्र से, स्वरितयुक्त सूत्रांशो

का अनुवर्तन (अध्याहार) कर अर्थ बोध कर लिया जाता है। जब पूर्वसूत्र से उस सूत्र में (जिस सूत्र का अर्थ करना चाहते हैं) अनुवर्तन करते हैं, तो अर्थ के सामर्थ्य से अनुवृत्त सूत्रांश की विभक्ति सूत्र के अर्थ के अनुसार परिवर्तित हो जाती है।[88]

अत: स्पष्ट है कि अनुवृत्ति एक संगणकीय पद्धति है जिसके द्वारा अष्टाध्यायी के सूत्रों का परिचालन क्रमबद्ध होता है।[89]

सन्दर्भटिप्पण्यः

'व्याकरणादौ पूर्वसूत्रस्थपदस्योत्तरसूत्रे आकांक्षापूर्णार्थमनुसंधानम्' स्वरित द्वारा अधिकृत सूत्र या सूत्रांश की आकांक्षावशात् अग्रिम सूत्रों में उपस्थिति अनुवृत्ति है।

1. "In the Astadhyayi the device of anuvrtti, which aims at avoiding repetition, supplies the elements from the preceding rules." The fundamentals of Anuvrtti- by Joshi and Bhate, University of Poona 1984 Page I (Introduction)
2. ''अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्। निर्दोषहेतुमन्तथ्यं सूत्रं षाड्गुण्य लक्षणम्''- व्याख्यान प्रक्रिया' शशिदेव सरस्वती सुषमा सम्वत् 2032 पृष्ठ-12
3. "Christopher strachy has defined a computer as a machine for processing symbols." John lyons- "New Horizons in linguistics"- Penguin- 1977
4. भारतीय भाषा चिन्तन की पाणिनीय पीठिका, पृ. 41 विद्यानिवास मिश्र
5. जैसे अष्टाध्यायी में वर्णित प्रकरण सर्वनाम संज्ञा है। जिसका आदिसूत्र- 'सर्वादीनि सर्वनामानि' - 1-1-27 है (क्योंकि इससे 'सर्वनामानि' सूत्रांश की अनुवृत्ति अष्टा0 1-1-36 तक ही होती है) तथा अन्तसूत्र-अन्तरंवहिर्योगोपसंव्यानयोः' है। क्योंकि इसमें अष्टा0 1-1-27 से सर्वनामानि की अनुवृत्ति आकर पुनः आगे के सूत्रों में नही जाती है।
6. भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन की पीठिका, पृ. 54, विद्यानिवास मिश्र
7. "an arrangement such that the relation of presupposition is maintained in a regular progression." How ordered are panini's rules? JAOS-85 (1965)
   Page 44-47, Murry Fowler ------------------More explicity, a sequence of rules R_i-------R_n is called well-ordered if and only if, for no rule R_j there is a later rule R_j presupposed by R_i or if: and only if (R_j) (ER_j). (1-i-J-n) (Rj presupposes Rj)- Panini Tested by fowler's Automation J.F. stall Computing Science in Ancient India Page- 54
8. भीतरी वृत्त (सपादसप्ताध्यायी) बाह्यवृत्त त्रिपादी)
   अष्टा. 1/1/1-75, 2/1-73, 3/1-93, 4/1-110 (अष्टा0 8/2/1-108, 3/1-117, 4/1-68)
   अष्टा. 2/1/1-72, 2/1-38, 3/1-73, 4/1-85
   अष्टा. 3/1/1-150, 2/1-188, 3/1-176, 4/1-117
   अष्टा. 4/1/1-176, 2/1-145, 3/1-166, 4/1-144
   अष्टा. 5/1/1-136, 2/1-140, 3/1-119, 4/1-160
   अष्टा. 6/1/1-220, 2/1-199, 3/1-138, 4/1-175
   अष्टा. 7/1/1-103, 2/1-118, 3/1-120, 4/1-97
   अष्टा. 8/1/1-74...
9. पूर्वत्रासिद्धम्- 8/2/1- यह सूत्र तीनों पादों के सूत्रों में जाकर अनुवृत्ति करता है किन्तु पूर्वशास्त्र में असिद्ध है। अर्थात् पूर्व की दृष्टि में, आपका कोई अस्तित्व नहीं इससे यह होता है कि इन तीनों पादों के सूत्र पूर्वपठित

सवा सात अध्यायों की दृष्टि में तथा इन तीन पादों में भी पूर्व के प्रति पर सूत्र असिद्ध होते हैं। यथा आद्गुण: 6/1/84 (सपादसप्ताध्यायी का सूत्र) इसकी दृष्टि में लोप: शाकल्यस्य सूत्र 8/3/19 असिद्ध है। इसलिए आद्गुण: सूत्र लोप:शाकल्यस्य सूत्र द्वारा किए गये यकार, वकार के लोप को नही देखता। मोऽनुस्वार: 8/3/23 पूर्व त्रिपादी सूत्र के प्रति मय उमो वो वा 8-3-33 पर त्रिपादी सूत्र से असिद्ध होता है।

10. तदशिष्यं संज्ञा प्रमाणत्वात्- अष्टा0 1/2/53
11. 'अशिष्यम्' की अनुवृत्ति 1-2-53 से होती हुयी ''कालोपसर्जने च तुल्यम्'' तक जाकर यह सिद्धान्त निगदित करती है।
12. "A full description of an organized mass of concrete data from a living speech (in other words, it is an a bstraction in Scientific and not philosophical terms)". The Descriptive technique of Panini-An Introduction. V.N. Mishra. Page-30, 1966
13. अलोन्त्याद् पूर्व उपधा-
14. भूवादयो धातु:
15. अव्ययसंज्ञा 1-1-3----1-1-41 (अव्ययम् की अनुवृत्ति से संगठित)
16. अर्थवद्धातुरप्रत्यय: प्रातिपदिकम्-
17. भारतीय भाषाचिन्तन की पीठिका-पृष्ठ सं0 55 - विद्यानिवास मिश्र
18. The Anuvrtti-Adhikar is not a new thing to panini's Grammar It is also used in ordinary language. The fundamentals of Anuvritti Note-2, Page-4
19. अष्टा. 1/3/11
20. स्वरितेनाधिकार: इत्यत्र द्वौ पक्षौ अर्थाधिकार: शब्दाधिकार: च। का. सू. 1-3-11 पृ.-109
21. तस्यापत्यम्-अष्टा. 4-1-92 के अर्थ की अनुवृत्ति अष्टा. 4-1-76 तक जाती है।
22. दामहायनान्ताच्च-4-1-27 सूत्र में संख्याव्यायादेर्ङीप् 4-1-26 सूत्र से केवल संख्या सूत्रांश अनुवृत्त होता है, अव्यय सूत्रांश नहीं। जबकि पूर्व सूत्र में ये दोनों सूत्रांश द्वन्द्वसमास के अवयव है। इसलिए समास के एक होने से यहाँ अर्थाधिकार पक्ष में उसके एकदेश संख्या सूत्रांश की अनुवृत्ति सम्भव न होने के कारण, शब्दाधिकार पक्ष स्वीकृत होता है।
23. Mathmatical Representation of some paninian sutras"-Page 150 Semantic Anuvrtti and formal Anuvrtti-M.D. Pandit
24. 'अधिकार' सूत्र का एक प्रकार है जिसके द्वारा विषय का प्रारम्भ होता है। जिसके अन्दर अभीष्ट सूत्रांशो का अनुवर्तन होता रहता है। अधिकार के अन्दर होने वाली अनुवृत्ति सूत्रों को संगणकीय क्रम में बांधे रखती है इसलिए अनुवृत्ति एवं अधिकार अष्टाध्यायी के दो महत्वपूर्ण अंग हैं-

    "It is well known to vaiyakarna's that the arrangement of the Asta is mainly based upon the devies anuvrtti and adhikar." Two methods of Interpreting panini-Page 55 S.D.Joshi JPU-H.S.23, Pune 1966
25. ''कश्चिदेकदेशस्थ: सर्व शास्त्रमभिज्वलयति यथा प्रदीप: सुप्रज्वलित: सर्व वेश्माभिज्वलयति।''

    म: भा. सूत्र.1-1-49
26. ''अपरोऽधिकारो यथा रज्वाऽयसा वा बद्धं काष्ठमनुकृष्यते तद्वनुकृष्यते चकारेण''

    म. भा. सूत्र. 1-1-49
27. ''अपरोधिकार: प्रतियोगं तस्याऽनिर्देशार्थ: इति योगे-योगे उपतिष्ठते।''

    म. भा. सूत्र. 1-1-49

28. जैसे ''इकोगुणवृद्धी'' 1-1-3 (परिभाषा सूत्र) एक स्थान पर रहते हुए, सम्पूर्ण शास्त्र में जहाँ-जहाँ गुण वृद्धि होती है, वहाँ-वहाँ इक के ही स्थान पर ही होती है। जैसे कोई दीपक भवन के कोने में रहते हुए भी सम्पूर्ण भवन को प्रकाशित करता है।
29. छन्दसिपुर्नस्वोरेकवचनम् 1-2-61 सूत्र से 'छन्दसि' एवं एकवचनम् सूत्रांश का 'विशाखयोश्व' 1-2-62 के चकार द्वारा अनुकर्षण कर लिया जाता है।
30. ''आकडारादेका संज्ञा'' इसकी अधिकार गति कडाराः कर्मधारये तक होती है। (2-2-38)
31. अष्टा. 1-4-1
32. अष्टा. 2-2-38
33. अष्टा. 1-4/-3-6
34. अष्टा. 1-4/7-9
35. अष्टा. 1-4-10
36. अष्टा. 1-4/11-12
37. अष्टा. 1-4-13
38. अष्टा. 1-4/14-17
39. अष्टा. 1-4/-18-20
40. अष्टा. 1-4-23
41. अष्टा. 1-4-55
42. अष्टा. 1-4-24-31
43. अष्टा. 1-4-32-41
44. अष्टा. 1-4-42-44
45. अष्टा. 1-4-45
46. अष्टा. 1-4-46-53
47. अष्टा. 1-4-54-55
48. अष्टा. 1-4-56-57
49. अष्टा. 1-4-58-59
50. अष्टा. 1-4-60-79
51. अष्टा. 1-4-80-82
52. अष्टा. 1-4-83
53. अष्टा. 1-4-98
54. अष्टा. 1-4-99
55. अष्टा. 1-4-100
56. अष्टा. 1-4-101-102
57. अष्टा. 1-4-103-104
58. अष्टा. 1-4-105-108
59. अष्टा. 1-4-109
60. अष्टा. 1-4-110
61. अष्टा. 2-1-1
62. अष्टा. 2-1-2
63. अष्टा. 2-1-3
64. अष्टा. 2-1-4
65. अष्टा. 2-1-38
66. अष्टा. 2-1-5-21
67. अष्टा. 2-1-22
68. अष्टा. 2-1-22
69. अष्टा. 2-1-49-72
70. अष्टा. 2-2-23-28
71. अष्टा. 2-2-29
72. अष्टा. 2-2-30-38
73. अष्टा. 2-7-1
74. अष्टा. 2-3-73
75. अष्टा. 2-3-15/2-1-3
76. अष्टा. 2-3-2-12
77. अष्टा. 2-1-13-17
78. अष्टा. 2-1-3
79. अष्टा. 2-3-28-35
80. अष्टा. 2-3-36-45
81. अष्टा. 2-3-46-47
82. अष्टा. 2-3-48
83. अष्टा. 2-3-49
84. अष्टा. 2-3-50-73
85. मूल पाठ जिसमें सभी सूत्रों को एक योगकर पाणिनि ने अपने शिष्यों को पढ़ाया था। सूत्रों का मूल पाठ में रहने के कारण ही सूत्र साकाङ्क्ष हुए।

    वृद्धिरादैजदेङ्गुणः वृद्धिरादैच्+अदेङ्गुणः-वृद्धिः+आदैच्-अदेङ्+गुणः
86. पद पाठ का तात्पर्य सूत्रों का सन्धिपूर्वक पाठ - द्रष्टव्य फुटनोट

87. चर्चा में पद पाठ के द्वारा प्राप्त सूत्रों में एक-एक अक्षर के महत्व को सिद्ध करते हैं।
म. भा. 1-1-50 पृ. 303

88. द्रष्टव्य है कि 'पूर्वसूत्र' से असमानविभक्तिक सूत्रांश का अनुवर्तन होता है, परन्तु यदि इतना होने के पश्चात् भी अर्थ बोध न हो, तो समान विभक्तिक सूत्रांश का अनुवर्तन विशेषण या विधेय के रहने पर ही किया जाता है।

89. इकोयणचि- इकः + यण + अचि+ संहितायाम् 6/1/72+ षष्ठी स्थाने योगा (1-1-49) + तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य (1-1-66)/क्ङिति च क्ङिति + च + न + इकोगुणवृद्धी

मूल ग्रन्थ

1. अष्टाध्यायी - पाणिनि सम्पादक श्री धर शास्त्री तथा सिद्धेश्वरशास्त्री भण्डारकर ओटियरल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना, 1935 ई.।

2. काशिका - वामन और जयादित्य (भाग 1 से भाग 6) जिनेन्द्र बुद्धि प्रणीत न्यास (काशिका विवरण पञ्जिका) तथा हरदत्तविरचित पदमञ्जरी सहित सम्पादक - स्वामी कारिका प्रसाद शास्त्री तथा पं कालिका प्रसाद शुक्ल प्राच्यभारती प्रकाशन, वाराणसी 1965-67 ई.

3. महाभाष्य - पतञ्जलि (भाग 1-5) कैयट विरचित प्रदीप तथा नागेश विरचित प्रदीपोद्द्योत टीकाओं के सहित सम्पादक- आचार्य वेद व्रत हरियाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर रोहतक -1961-63 ई.

4. सिद्धान्तकौमुदी - भट्टोजिदीक्षित वासुदेव दीक्षित की बालमनोरमा तथा ज्ञानेन्द्रस्वामी की तत्वबोधिनी टीका के सहित मोती लाल बनारसीदास, बनारस 1961 ई.

सहायक ग्रन्थ

1. मिश्र विद्या निवास - भारतीय भाषा शास्त्रीय चिन्तन राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर - 1976 ई.

5. शशिदेव - व्याख्यान प्रक्रिया सरस्वती सुषमा, वाराणसी सम्वत् 2032

कोशग्रन्थ

1. न्यायकोश - भीमाचार्य झलकीकर भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट पूना - 1997 (चतुर्थ संस्करण)

योगेश्वर शुक्ल
वरिष्ठ शोध अध्येता, बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल (मध्य प्रदेश)



Elements of Rasādi Dhvani in the Uttararāmacarita

Daya Shankar Tiwary

The dhvani-theory propounded by Ācārya Ānandavardhana (first half of ninth century A.D.) is the climax of the Sahṛdayas in Indian Literary Criticism that covers all the aspects of the creative writings; such as the drama ***Uttararāmacarita*** *of Bhavabhūti (last quarter of she 7th century A.D. and the first half of 8th Century A.D.) which is Sahṛdayaślāghya and like a luminary star in the field of Sanskrit drama. Dhvani is responsible for bringing beauty and aesthetic appeal in the creative writings. For this point of view, the revelation of Vastu-dhvani., Alaṅkāra-dhvani and Rasa-dhvani can be easily felt by the Sahṛdayas after pondering in the Uttararāmacarita. Among his three plays the* ***Uttararāmacarita*** *is universally accepted as best creative genius. Bhavabhūti is unrivalled in the treatment of tender human feelings i.e. pathos (Karuṇa). My view of writing research paper is going to be determined on Bhavabhūti's drama Uttararāmacarita mainly on the basis of* ***Rasādi dhvani (Asaṁlakṣyakramavyaṅgya dhvani)*** *with its divisions and sub-divisions so to find out how for Ānandavardhana's theory is applicable to his composition.*

The concept of Dhvani has been derived from **'Sphoṭa'** of Grammarians. As Ānandavardhana says-

''प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानां,
ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।''[1]

Ānandavardhana describes about the aesthetic charm deriving from poetry. He compares the poetic sense 'Pratīyamānārtha' with the beauty of a lady and states that both of them are suggestive but not denotative or indicative.

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।[2]

Ānandavardhana calls dhvani as the soul of poetry-काव्यस्यात्मा ध्वनिः

Ātmā is a philosophical concept which has been elaborated by Abhinavagupta and its commentators. S.K. De has also analysed this aesthetic concept of Dhvani theory.[3] Ānandavardhana has defined Dhvani-

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।[4]

Western philosophers and literateures have also accepted the Dhvani in their ways.

They call it 'Astho-Lingua Theory' in which Aesthetic indicates the suggestion i.e. Vyaṅgya. K. Krishnamoorthy has called it **Illumination in flesh.**[5]

Rasādi Dhvani (Asaṁlakṣyakramavyaṅgyadhvani) "Rasa, Bhāva, Rasābhāsa, Bhāvābhāsa, Bhāvaśānti, Bhāvodaya, Bhāvasandhi and Bhāvaśabalatā" has been described in the Uttararāmacarita. Abhinavagupta has accepted विप्रलम्भ शृङ्गार (love in separation) sweeter than सम्भोग शृङ्गार and Karuṇa as the sweetest.[6] P.B. Shelley has also established karuṇa as the sweetest and expressed this in the following stanza--

"We Look before and after, And pine for what is not,
Our sincerest laughter with some pain is fraught
Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts".[7]

Ācārya Bharata has shown three kinds of Karuṇa in his Nātyaśāstra-

धर्मोपघातजश्चैव तथार्थापचयोद्भवः।
तथा शोककृतश्चैव करुणस्त्रिविधः स्मृतः॥[8]

Rama's Karuṇa is 'धर्मोपघातज' Rāma sees that there is negligence of duty from both sides. To punish the innocent people like innocent child and on the other side to abandon the Goddess of chastity Sītā who is in the position of pregnancy. When two dharmas coincide then this is the duty of the follower to observe which dharma is narrow and which is in broader sense. Like Bharat, Vibhīṣaṇa is Rāmayaṇa. Vāsantī rebukes Rāma in the following padya:-

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं त्वं कौमुदी नययोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां तामेव शान्तमथवा किमितः परेण॥[9]

"You are my life; you are my second heart; you are moonlight to my eyes; you are nectar to my body" having deceived that simple natured (Sītā) with hundreds of such endearments, you did-Alas! Why need I say more?

Vāsantī falls into a swoon as she says these words. On regaining consciousness, she asks Rāma, why did you commit the unbecoming deed? Rāma replies, "Because the people would not brook her presence!"

Vāsantī then addresses him in the following heart-rending words-

अयि कठोर यशः किल ते प्रियं किमयशो ननु घोरमतः परम्।
किमभवद्विपिने हरिणीदृशः कथय नाथ कथं बत मन्यसे॥[10]

you hard-hearted! Fame is dear unto you, but is there any infamy more dreadful than this? What happened to the deer-eyed (Sītā) in that forest? Tell me my Lord! What do you think? Rama replies, "She must have fallen a prey to carnivorous animals (क्रव्यादिभिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता) And then, being overwhelmed with unbearable grief, he weeps bitterly, Then Tamasā remarks-

पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते॥[11]

When the tank is threatened by a flood, an overflow is the only remedy. The heart

overwhelmed with grief is sustained only by lamentation. In this third Act, dired distressed jānakī is the image of pathos (karuṇa) which is cleared by seeing her face lovely even with pale and emaciated cheeks and dangling braid of hairs:-

परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकवरीकमाननम्।
करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी॥[12]

Therefore, we see that Bhavabhūti has established the Karuṇa as principal (Aṅgī) rasa and the other rasas are aṅga like Śṛiṅgāra, Vīra, Vātsalya etc.-

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुद्तरङ्गमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥[13]

Several persons are shown to have been grieved by the abandonment of Sītā. For instance, Rāma is grieved for his wife, Janaka and Prithvī for their daughter, Kausalyā for her daughter-in-law, Vāsantī and Ātreyī for their friend and Sumantra for his queen. The same grief or dire distress appears in all these persons, just as though there are different outward forms of water such as whirlpools, bubbles and billows, they are all essentially nothing but water. Bhavabhūti has shown Rāma's Karuṇa like 'Puṭapāka':-

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः॥[14]

"Though the gravity of his nature the intense mental agony of Rāma is not noticed outwardly. It is like drugs boiling inside a closed pot." While Sītā is still asleep, Rāma puts down her head from his arm and says-'This Rāma has now no purpose left in his life.' The world has lost all its charm for me!

दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमागतम्।
मर्मोपघातिभिः प्राणैर्वज्रकीलायितं हृदि॥[15]

This is born only to suffer life-long misery. My life, cutting my vitals, is firmly fixed like an adamantine dart in my heart". So the Aṅgī rasa is Karuṇa and this suggests 'धर्मोपघातज'

Śriṅgārarasa

In the first Act, we see both types of Śriṅgāra-(a) Vipralambha (Love in Separation) and (b) Saṁbhoga. In the passages of the first Act where Rāma describes the pleasures he enjoyed in the company of Sītā in the verses as example-

अलसललितमुग्धान्यध्वम्पातखेदा.......
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता॥[16]
किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा.......
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्॥[17]

Rāma says-

तेन हि निरन्तरमवलम्बस्व मामत्र शयनाय।
जीवयन्निव ससाध्वसश्रम...स्यन्दिचन्द्रमणिहारविभ्रमः॥[18]

Rasa (sentiment) is Saṁbhoga Śriṅgāra while in those others which describe his

grief caused by separation due to Sītā's abduction, the rasa is Vipralambha Śriṅgāra. Natural Śriṅgāra originates from the following verse when Rāma describes the importance of wife in conjugal life.

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिनयनयो रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलचन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः किमस्या न प्रेयो? यदि परमसह्यस्तु विरहः॥[19]

Vīrarasa (Heroic Sentiment):

IVth Act and Vth Act of the drama are full of Vīrarasa. We also find beautiful expression of Vīrarasadhvani in the battle of Lava and Candraketu in the sixth Act. Angry Kuśa says to destroy the word "Rājā" from this mundane world.

अद्यास्तमेतु भुवनेषु च राजशब्दः।
क्षत्रस्य शस्त्रशिखिनः शममद्य यान्तु॥[20]

It suggests the "Utsāha" (enthusiam) of Kuśa.

Raudrarasa:

In the IVth Act, when Janaka gets the news of abandonment of Sītā due to the people of Ayodhyā. He becomes furious to destroy the whole people of Ayodhyā either by his bow or by his curse.

अहो, निर्दयता दुरात्मनां पौराणाम्।
अहो रामभद्रस्य क्षिप्रकारिता
एतद्वैशसवज्रघोरपतनं शश्वन्ममोत्पश्यतः।
क्रोधस्य ज्वलितुं झटित्यवसरश्चापेन शापेन वा॥[21]

Adbhutarasa (Marvellous):

In the description of Jṛimbha-ka missiles and in the miraculous emergence of Prithvī and Gaṅgā from the stream of the river in the VIIth Act.

Bhayānakarasa :

The description of this rasa is found at only some places of the drama. In the context of Citradarśana, when Sītā looks at the picture of Paraśurāma she thrills of fear- **ससम्भ्रम्, कम्पितास्मि।'**[22] In the II Act, there is the terrible description of frontier forest regions of Janasthāna.

Hāsyarasa (Humorous)

The drama which is full of Pathos (Karuṇa), there is no mention of Vidūṣaka (comedian). But, at some rare places we find the suggestion of Hāsya. In the first Act, after entering of Aṣṭāvakra Riṣi the audience laugh at him. Commentator Vīrarāghava has written that entrance of Aṣṭāvakra has shown far humour-

''हास्यानुप्रवेशार्थमष्टावक्रप्रवेशः''[23]

In this I Act, Sītā asks to Lakṣmaṇa- **''वत्स! इयमप्यपरा का?''**[24] this also indicates Hāsyarasa.

Vātsalyarasa ;

In many contexts, the poet has described beautiful expression of Vātsalyarasa. The poet has presented natural and sweet suggestion of vātsalya of Sītā by making base (ālambana) of Lava and Kuśa. Sita becomes emotional by remembering Lava and Kuśa and natural milk flows from her breasts. Therefore, Tamasā says that it is true. A child is indeed, the link that connects the hearts of the father and mother.

अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रायात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते।।[25]

Śāntarasa:

In the I Act, in Citradarśana having seen picture of keeping "Jaṭā" of Rāma, Lakṣmaṇa says that Ārya has adopted the rule of 'Vānaprastha' in childhood-

पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैर्यद्वृद्धेक्ष्वाकुभिर्धृतम्।
धृतं बाल्ये तदार्येण पुण्यमारण्यकव्रतम्।।[26]

In VIth Act, having seen one glimpse of Rāma, Lava says- अहो! पुण्यानुभवदर्शनोऽयं महापुरुषः'[27] Again he says- "विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिधनस्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति... यदि वा महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः।।"[28]

Here Śānta rasa emerges in the mind of Lava of which root is Rāma and ālambana is Lava. Appearance of great pious is uddīpanavibhāva Thrilling (romance) is anubhāva. Full of Harṣa, Nirveda, Smarana and mati etc are. transitory moods (Saṅcāribhāva) 'Śāma' sthāyībhāva appears in the form of Śāntarasa.

Bhāva

Beautiful examples of Bhāvadhvani are seen in Niṣādarāja Guha's description (1.21). Sītā says to Rāma., Remember this banyan tree-namely Śyāma "स्मरति वा तं प्रदेशमार्यपुत्रः[29] then Rāma replies 'अयि, कथं विस्मर्यते?'[30] Sītā reclined her head on Rāma's arm and fell asleep after being tired. Here 'Smriti' bhāvadhvani appears.

In IIIrd Act (3.41) "करपल्लवः स...स्विद्यतः स्विद्यन्।" 'Jaḍatā' bhāva arises.

Rasābhāsa:

In the III^rd Act, Addressing Vāsantī Rāma says- 'सखि वासन्ति! पश्य पश्य! कान्तानुवृत्तिचातुर्यमपि शिक्षितं वत्सेन'[31]

On the bank of Godāvrī the young elephant courting his mate, Rāma describes him- लीलोत्खातमृणाल......धृतम्।।[32]

When the mate had eaten the pieces of the lotus stalk which he had sportfully uprooted, he offered her trunkfuls of water perfumed with blooming lotuses; he then gave her a bath with a spray from his trunk, and out of love for her he held over her an umbrella of lotus-leaf with a straight stalk (to protect her from the hot rays of the sun). Here, appears (becomes 'abhāsa') Saṁbhoga Śṛiṅgāra by the example of Karikalabha.

Bhāvaśānti:

In the IVth Act Janaka's emotion of anger[33] becomes calm (Śānta) by the statement of Arundhatī- 'राजन्नपत्यं रामस्ते पाल्याश्च कृपणा जना:', This expression lies in twenty fifth no. padya of fourth Act. So, the emergence of anger sentiment changes into love and pity.

Bhāvodaya:

In the VIth Act, Lava's anger becomes calm when he looks at Rāma. and by the emergence of deep love 'harṣa' bhāva comes out. विरोधो विश्रान्त: ...... विनय: प्रह्वयति माम्।।[34]

Bhāvasandhi :

In the third Act, Sītā says-

किं वा मया प्रसूतया येनैतादृग मम पुत्रकयो-
रीषद्विरलधवल....... न परिचुम्बितमार्यपुत्रेण।।[35]

Here combination of both bhāvas Vātsalya 'sneha' and love to husband 'rati' bhāva appear.

Bhāvaśabalatā:

In the Third Act, Tamasā describes blending of various emotions in heart of Sītā-

तटस्थं नैराश्यादपि......... हृदयस्मिन् क्षण इव।।[36]

Apathetic through despair, estranged due to the wrong done to you, eager for reunion after this long continued separation, gracious on account of your (innate) goodness, overwhelmed with grief at the sight of your dear one's anguish; and melting with love-such is, as it were, the condition of your heart at this moment.

Here Viṣāda', 'Krodha', Jaḍata', 'Harṣa' and `Śoka' bhāvas appear together so there is Bhāvaśabalatā.

So, we see that the unfolded hidden plumages in the form of Rasādi Dhvani in Uttararāmacarita throws light in the mind of Sahṛdayas as well as in the mind of common readers, erudite scholars etc.

References:

1. Dhavanyāloka :1.13 Vritti
2. Dhvanyāloka; 1.4
3. History of Sanskrit Poetics
4. Dhavanyāloka; 1.13
5. Indian Literary theories, Dhvanyāloka and its Critics
6. सम्भोग शृङ्गारान्मधुरतरोविप्रलम्भ:, ततोऽपिमधुरतम: करुण:, Dhvanyāloka, Page 218
7. P.B. Shelly: To a Skylārk
8. Nāṭyaśāstra, 6.79, Page 760
9. Uttararāmacarita, 3.26
10. Ibid, 3.27

11. Ibid, 3.29
12. Ibid, 3.4
13. Ibid, 3.47
14. Ibid. 3.1
15. Ibid, 1.47
16. Ibid, 1.24
17. Ibid; 1.27
18. Ibid, 1.34
19. Ibid; 1. 38
20. Ibid, 6.16
21. Ibid; 4.24
22. Ibid, P. 35
23. Ibid, P. 17
24. Ibid, P. 34
25. Ibid; 3.17
26. Ibid, 1.22
27. Ibid: P- 330
28. Ibid, 6.11
29. Ibid; P. 42
30. Ibid, P. 42
31. Ibid, P 78
32. Ibid, 3.16
33. Ibid, 4.24, 'क्रोधस्य ज्वलितुं झटित्यवसरश्चापेनं शापेन वा' Page 123
34. Ibid; 6.11
35. Ibid; P. 165
36. Ibid; 3.13

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. ध्वन्यालोक – सम्पा. प्रो. शोभित मिश्रा, प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, वि.स. 2035
2. नाट्यशास्त्र – सम्पा. श्री मधुसूदनशास्त्री, प्रका. बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस, वाराणसी, वि. सं. 2028
3. उत्तररामचरितम् – डॉ. किशोरनाथ झा, प्रकाशन केन्द्र लखनऊ, प्रथम संस्करण 1974

Dr. Daya Shankar Tiwari
Asstt. Professor, Deptt. of Sanskrit Rajdhani College University of Delhi, Delhi



परिमाणमात्रे द्रोणो व्रीहिः

व्रजभूषण ओझा

प्रथमाविभक्त्यर्थविधायकं प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा इति सूत्रं वर्तते। सूत्रेऽस्मिन् भगवता पाणिनिना परिमाणग्रहणं कृतम्। तच्च परिमाणग्रहणमिष्टशाब्दबोधाय इति ब्रुवन् भट्टोजिदीक्षितः परिमाणग्रहणस्य द्रोणो व्रीहिरित्युदाहरणं प्राददात्। इदञ्चोदाहरणं भाष्यविरुद्धं, युक्तिविरुद्धं, बहुदोषग्रस्तञ्च इत्येत् सर्वं महता प्रयासेन प्रकटयितुं प्रवृत्तोऽयं शोधप्रबन्धः। अस्मिन् शोधप्रबन्धे भाष्यकारादिभिः प्रदत्तानि काशिकाकार-नागोजिभट्टप्रभृतिभिः वैयाकरणैरनुमोदितानि द्रोणः, खारी, आढकमित्यादीन्युदाहरणानि समीचिनानीति प्रतिपादित्। अथ च अस्मिन् शोधप्रबन्धे परिमाणग्रहणाभावे द्रोणशब्दात् प्रथमायाः सिद्धिः द्विविधा प्रतिपादिता। द्रोणशब्दस्य नियतलिङ्गकत्वे प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा इत्यंशेन प्रथमायाः सिद्धिः। अस्त्रियाम् आढकद्रोणौ इति कोशवचनेन द्रोणशब्दस्य अनियतलिङ्गकत्वे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये प्रथमेत्यंशेन वा प्रथमायाः सिद्धिर्बोध्या। अत्र प्रबन्धे दीक्षितोक्तस्य द्रोणो व्रीहिरित्युदाहरणस्य सूक्ष्मेक्षिकया रहस्योद्घाटनं कृत्वा युक्त्या द्रोणो व्रीहिरित्यस्योदाहरणत्वं न सम्भवतीति प्रतिपादितम्। पुनरत्र प्रबन्धे व्यक्तिविवक्षायां द्रोणो व्रीहय इति वाक्यस्य कथं साधुत्वं इत्यति प्रतिपादितम्। प्रसङ्गेऽस्मिन् सिद्धान्तरत्नाकरग्रन्थस्य खण्डनं क्वचिदंशविशेषे समर्थनञ्च कृतम्। एवमेव मूलार्थविद्योतिनिकारस्याप्यस्मिन् प्रसङ्गे खण्डनमत्र दृश्यते। दीक्षितमतेऽस्मिन् शोधप्रबन्धे तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा इति वार्तिकविरोधं प्रदर्श्य दत्त्वा तत् खण्डनं विहितम्। अन्ते भाष्यादिपर्यालोचनेन नागेशमतं युक्तमिति प्रतिपाद्य परिमाणग्रहणस्य चिन्त्यप्रयोजनत्वमिति प्रबन्धकर्तुर्हृदयम्।

वाक्यमिदं प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमेति सूत्रवृत्तौ परिमाणमात्रे इत्यस्य उदाहरणप्रदर्शनाय दीक्षितेन प्रयुक्तम्। कौमुद्यां दीक्षितेन प्रातिपदिकार्थादीनां कृष्णः, श्रीः, ज्ञानमित्यादीनि पदान्येवोदाहरणत्वेन निर्दिष्टानि किन्तु परिमाणग्रहणस्य द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यं दत्तम्। तत्र किमर्थं वाक्यमुदाहरणत्वेन दत्तमिति जिज्ञासाप्रशमनाय **द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः। प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः**[1] इत्युक्तम्। इदञ्चोदाहरन्न समीचीनमिति ब्रुवाणः नागोजिभट्टः परिमाणग्रहणस्य द्रोणः, खारी, आढकमित्यादीनि पदानि एव उदाहरणानि स्वीकरोति। काशिकाकारोऽपि परिमाणग्रहणं किम् ? द्रोणः, खारी, आढकम् इत्यत्रपि यथा स्यादित्युव् त्या द्रोणः, खारी, आढकमित्यादीनि पदानि एव उदाहरणत्वेन स्वीकरोति न तु द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यम्। भाष्यकारोऽपि **अथ परिमाणग्रहणं किमर्थम्?** द्रोणः, खारी, आढकमित्यत्रपि यथा [2]**स्यादित्युव् त्या** द्रोणः, खारी, आढकमित्यादीनि पदानि एव परिमाणग्रहणस्य उदाहरणत्वेन स्वीकरोति न तु वाक्यम्। अतो विदुषां संशयोऽयं जायते यत्परिमाणग्रहणस्य दीक्षितोक्तं द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यरूपमुदाहरणं समीचीनम्। आहोस्वित् नागेशादिसम्मतं द्रोणः, खारी, आढकमिति उदाहरणं समीचीनम्। किं वाऽत्र रहस्यम् ? इति सर्वं सयुक्तिकं विविच्य सिद्धान्तं स्थापयितुं प्रवृत्तोऽयं शोधप्रबन्धः। अत्र सर्वेषां मतानि समीक्ष्य सिद्धान्तः अवबोध्यते।

दीक्षितसम्मतं परिमाणग्रहणस्य द्रोणो व्रीहिरित्युदाहरणम् –

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमेति[1] सूत्रे मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगात् प्रातिपदिकार्थमात्रे, लिङ्गमात्रे, परिमाणमात्रे, वचनमात्रे च प्रथमेति सूत्रर्थः फलति। अत्र च सूत्रे लिङ्गग्रहणसामर्थ्यात् प्रातिपदिकार्थपदेन नियतोपस्थितिकार्थो गृह्यते न तु पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः। अन्यथा लिङ्गस्यापि प्रातिपदिकार्थत्वेन लिङ्गाधिक्ये प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमेत्यंशेनैव प्रथमायां सिद्धायां लिङ्गग्रहणं व्यर्थं स्यात्। एवञ्च नियतोपस्थितिकार्थस्यैव अत्र सूत्रे प्रातिपदिकार्थशब्देन ग्रहणात् **प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा** इत्यस्य अलिङ्गा उच्चैः, नीचैः इत्यव्ययशब्दाः नियतलिङ्गकाः कृष्णः, श्रीः, ज्ञानमित्यादिशब्दाः उदाहरणानि भवन्ति। तटः, तटी, तटमित्यादौ स्त्रित्वादिलिङ्गस्य अनियतोपस्थितिकत्वेन अप्रातिपदिकार्थत्वात् लिङ्गाधिक्ये प्रथमाविधानाय लिङ्गग्रहणं सार्थकम्। एवञ्च अनियतलिङ्गकाः तटः, तटी, तटमित्यादयः शब्दाः लिङ्गमात्रे प्रथमेत्यंशस्योदाहरणानि। सूत्रे परिमाणग्रहणं न प्रातिपदिकार्थादिवत् प्रथमाविधानाय अपितु इष्टशाब्दबोधायेति बुद्ध्या परिमाणग्रहणस्य द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यमुदाहरणं दीक्षितेन प्रदत्तम्। अन्यथा परिमाणग्रहणं व्यर्थमेव स्यात् प्रथमायाः प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमेत्यंशेन लिङ्गमात्रे प्रथमेत्यंशेन वा सिद्धेः। अयम्भावः– द्रोणशब्दविषयेऽस्ति मतद्वयम्। केचन् द्रोणशब्दस्य नियतलिङ्गकत्वमामनन्ति अपरे चानियतलिङ्गकत्वम्। यद्ययं द्रोणशब्दः कृष्णादिवत् नियतलिङ्गकः तदा प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमेत्यंशेनैव प्रथमा सिद्ध्यति। यदि चायं द्रोणशब्दः **अस्त्रियामाढकद्रोणौ**[5] इति कोषप्रामाण्यात् तटादिवत् अनियतलिङ्गकस्तर्हि लिङ्गमात्रे प्रथमा इत्यंशेन प्रथमा सिद्ध्यति। एवञ्च द्रोणशब्दात् प्रथमायां सिद्धायां परिमाणग्रहणन्न प्रथमाविधानाय अपितु द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यात् द्रोणाभिन्नं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरिति इष्टशाब्दबोधाय इत्यभिप्रायेण कौमुदीकारः भट्टोजिदीक्षितः द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यमेव उदाहरणत्वेन प्रदर्शयति। **तथा हि** – द्रोणो व्रीहिरिति वाक्ये द्रोणशब्दः परिमाणविशेषस्य वाचकः। तस्मात् परिमाणविशेभावाचकात् परिमाणसामान्येऽर्थे परिमाणमात्रे प्रथमा इत्यंशेन प्रथमाविभक्तिर्जायते। एवञ्च द्रोणः इत्यत्र प्रकृत्यर्थः परिमाणविशेषः द्रोणपदार्थः सुप्रत्ययार्थः परिमाणसामान्यम्। **सामान्यविशेषयोरभेदान्वयः** इति नियमात् प्रकृत्यर्थस्य परिमाणविशेषद्रोणस्य प्रत्ययार्थे परिमाणसामान्ये अभेदसम्बन्धेनान्वये द्रोणः इति पदस्य द्रोणाभिन्नं परिमाणमित्यर्थो जायते। पुनः सुप्रत्ययार्थस्य परिमाणसामान्यस्य व्रीहिरूपप्रातिपदिकार्थे योग्यतावशात् परिच्छेद्यपरिच्छेदकभाव–सम्बन्धेनान्वये द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यात् द्रोणाभिन्नं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरिति इष्टशाब्दबोधः जायते।

द्रोणशब्दात् प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा इत्यंशेन लिङ्गमात्रे प्रथमा इत्यंशेन वा प्रातिपदिकार्थे प्रथमायां द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यात् उपर्युक्तः इष्टशाब्दबोधः न स्यात्। अपितु द्रोणाभिन्नो व्रीहिरित्यनिष्टः शाब्दबोधः आपद्येत्। यतः द्रोणशब्दात् प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमायां प्रातिपदिकार्थस्य द्रोणप्रातिपदिकेन उक्तत्वात् सुप्रत्ययस्य प्रातिपदिकार्थद्योतकत्वमेव अङ्गीकार्यम्। तथा सति द्रोणो व्रीहिरिति वाक्ये सुप्रत्ययस्यातिरिक्तार्थाभावेन द्रोणप्रातिपदिकार्थस्य परिमाणविशेषस्य द्रोणस्य व्रीहिरूपप्रातिपदिकार्थेऽन्वयो वाच्यः। स चान्वयः **निपातातिरिक्तनामार्थयोरभेद एव संसर्गः**[6] इति व्युत्पत्त्या अभेद एव न तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावरूपः। द्रोणो व्रीह्योः मेयमापकयोः भेदस्य सर्वानुभावसिद्धत्वेन द्रोणाभिन्नो व्रीहिरिति शाब्दबोधो नेष्टः। अतः द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यजन्यशाब्दबोधे परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावस्य संसर्गविधया भानाय परिमाणसामान्ये प्रथमाविधानमावश्यकम्। यदा तु द्रोणशब्दात् परिमाणसामान्ये प्रथमाविधीयते तदा द्रोणरूपनामार्थः सुप्रत्ययार्थे परिमाणसामान्येऽभेदेनान्वयेति। सुप्रत्ययार्थश्च परिमाणसामान्यं परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावसम्बन्धेन व्रीहौ अन्वेति। तथा सति द्वयोः नामार्थयोरत्र अन्वयाभावेन **निपातातिरिक्तनामार्थयोरभेद एव संसर्गः** इति व्युत्पत्तिविषयत्वाभावेन परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावसम्बन्धेनान्वये इष्टः शाब्दबोधः जायते।

द्रोणो व्रीहिरिति वाक्ये व्रीहिरित्यत्र जातावेकवचनमन्यथा एकत्वविशिष्टस्य व्रीहेः द्रोणपरिमितत्त्वाभावेन

शाब्दबोधानापत्तिः। व्यक्तिपक्षे द्रोणपरिमितानां व्रीहिनामनेकत्वात् द्रोणो व्रीहयः इत्येव साधु। तथा चोक्तं सिद्धान्तरत्नाकरे - **व्यक्तिविवक्षायान्तु बहुवचनं भवत्येव तेन द्रोणो व्रीहय इत्यपि भवतीति**[7]। लक्ष्मीटीकाकारोऽप्याह व्यक्तिविवक्षायान्तु द्रोणो व्रीहयः इति भवत्येवेति[8] यत्तु सिद्धान्तरत्नाकरकृता द्रोणो व्रीहिरित्यत्र सुब्विभक्तेः बहुत्वे लक्षणायां जातिपक्षे व्यक्तिपक्षे वा एकवचनमेव भवतीत्युक्तं तच्चिन्त्यं विभक्तौ लक्षणायाः अनङ्गीकारात्।

अत्र कौमुदीमूलार्थविद्योतिनीकारः महामहोपाध्यायः दीनबन्धुझामहाभागः द्रोणो व्रीहयः[9] इति वाक्यं न भवतीति प्रतिपादितवान्। तत्र द्रोणो व्रीहयः इत्यापत्तिं वारयितुं तत्प्रत्ययार्थपरिमाणप्रकारकबोधे तत्सजातीयप्रत्ययान्तपदजन्योपस्थितेः कारणत्वं प्रथमाविभाजकधर्मेण सादृश्यञ्चाङ्गीकृतम्। एवञ्च प्रथमायाः विभाजको धर्म सुत्वम् औत्वं जस्त्वञ्च। द्रोणो व्रीहिरित्यत्र द्रोणपदोत्तरसुविभक्तेः व्रीहिपदोत्तरजस्विभक्तौ प्रथमाविभाजकसुत्वधर्मेण साजात्याभावात् स्वर्थपरिमाणप्रकारकशाब्दबोधे न द्रोणो व्रीहयः इति वाक्यस्य साधुत्वमपितु द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यस्यैव साधुत्वम्। द्रोणो व्रीहिरिति वाक्ये परिमाणार्थवाचकस्य सुप्रत्ययस्य व्रीहिपदोत्तरसुप्रत्यये प्रथमाविभाजकसुत्वधर्मेण साजात्यस्य सत्वेन सुप्रत्ययार्थपरिमाणप्रकारकशाब्दबोधे भवति द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यस्य साधुत्वम्।

इदमपि न युक्तं प्रतिभाति। द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यस्य साधुत्वे द्रोणो व्रीहयः इति वाक्यस्य असाधुत्वे च विनिगमकाभावेन द्रोणो व्रीहिरितिवत् व्यक्तिपक्षे द्रोणो व्रीहयरिति वाक्यस्येष्टत्वेन तत्प्रत्ययार्थपरिमाण-प्रकारकशाब्दबोधे तत्सजातीयप्रत्ययान्तपदजन्योपस्थितिः कारणमिति कल्पिते कार्यकारणभावे प्रथमाविभाजक-सुत्वादिधर्मेण साजात्यकथनमप्रमाणिकम्। अतः द्रोणो व्रीहयः इति वाक्यस्य साधुत्वबोधनाय अस्मिन् कार्यकारणभावे विभक्तिविभाजक-प्रथमात्वादिधर्मेण साजात्यं ग्राह्यम्। एवञ्च प्रकृते द्रोणपदोत्तरसुविभक्तेः व्रीहिपदोत्तरजस्विभक्तौ विभक्तिविभाजकप्रथमात्वेन साजात्यमस्तीति कृत्वा सुप्रत्ययार्थपरिमाणप्रकारकशाब्दबोधे द्रोणो व्रीहयः इति वाक्यस्याऽपि साधुत्वम्।

यदि चोच्यते प्रमाणिकग्रन्थेषु द्रोणो व्रीहयः इति वाक्यस्य प्रयोगाभावादेव असाधुत्वं तदा तादृशबोधाय प्रमाणिकग्रन्थेषु द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यस्याऽपि प्रयोगाभावादस्याऽपि असाधुत्वं स्यात्। यदि च सूत्रे परिमाणग्रहणसामर्थ्यादेव तादृशबोधाय द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यस्य साधुत्वमुच्यते, तदा व्यक्तिपक्षे द्रोणो व्रीहयः इति वाक्यस्याऽपि साधुत्वाङ्गीकारे न किञ्चिद् बाधकं भेदान्वयबोधमप्रति समानवचनकत्वस्य अकारणत्वात्। अत एव राज्ञः पुरूषौ, राज्ञः पुरूषाः इत्यादिवाक्यानां साधुत्वम्। यदि चोच्यतेऽत्र प्रत्ययार्थप्रकारकबोधो नास्तीति कृत्वा राज्ञः पुरूषौ इत्यादिवाक्यानां साधुत्वम्। द्रोणो व्रीहयः इत्यत्र सुप्रत्ययार्थप्रकारकबोधः, अतो नास्य वाक्यस्य साधुत्वम्, तदपि अविचारितरमणीयं प्रकारतावादिनये षष्ठ्यर्थस्वत्वप्रकारक-बोधस्याङ्गीकारात्। द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यस्य साधुत्वे लोकव्यवहार एव मानमित्यपि न। इदानीं तादृशबोधाय द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यमेव प्रयुज्यते न द्रोणो व्रीहयः इति वाक्यमित्यस्य वक्तुमशक्यत्वात्, अतः विनिगमकाभावेन द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यस्य इव द्रोणो व्रीहयः इति वाक्यस्याऽपि साधुत्वमङ्गीकार्यम्।

यत्तु लक्ष्मीटीकाकृखिः परिमाणग्रहणस्य दीक्षितसम्मतप्रयोजनकथनावसरे लिङ्गविशिष्टे प्रातिपदिकार्थे प्रथमायाः स्वीकारे द्रोणाभिन्नो यो नामार्थः तस्य व्रीहौ परिच्छेद्यपरिच्छेदक- भावसम्बन्धेनान्वयासम्भवः[10] इत्युक्तम्, तच्चिन्त्यम्। प्रातिपदिकार्थे प्रथमायां कृतायां प्रथमायाः प्रातिपदिकार्थद्योतकत्वेनानुवादकत्वेन वा अतिरिक्तार्थाभावेन साक्षात् द्रोणपदोपस्थापितस्य द्रोणपदार्थस्य व्रीहिपदार्थे परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ अन्वयाङ्गीकारे द्रोणपरिच्छिन्नो व्रीहिः इत्यपादनमेव युक्तम्, न तु द्रोणाभिन्नो यो नामार्थः तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरिति। अत्रेदमवधेयम्, प्रातिपदिकार्थमात्रे जातायाः प्रथमायाः न प्रातिपदिकार्थत्वसामान्यधर्मेण वाचकता

न वा घटत्वादिविशेषधर्मेण वाचकता। अन्यथा घटः इत्यत्र प्रातिपदिकार्थत्वेन वाचकताङ्गीकारेण घटाभिन्नो नामार्थ इति बोधः स्यात्। स च बोधः अनुभवविरुद्धः घटः इत्युच्यमाने घटत्वविशिष्टः इत्येव बोधानुभ्वात्। यदि च घटत्वादिविशेषधर्मेण प्रथमायाः वाच्यत्वस्वीकारे घटाभिन्नो घटः इति बोधावृत्तिः स्यात्। तथा सति घटो घटः इतिवत् शाब्दबोधानापत्तिः। अतः प्रातिपदिकार्थमात्रे कृतायाः प्रथमायाः प्रातिपदिकार्थद्योतकत्वमेव युक्तम्। अनुवादकत्वेन वा वाचकत्वमङ्गीकार्यम्। तथा चोक्तं कौमुदीमूलार्थविद्योतिन्याम् - **घट इत्यादौ घटाभिन्नो घटः इति वा घटाभिन्नो अर्थ इति वा न बोधः**[11] इति। एवञ्च प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमायां द्रोणाभिन्नो नामार्थः इति कथनं न युक्तं प्रतिभाति इति सुधिभिः विभावनीयम्।

न च भेदान्वयबोधम्प्रति समानविभक्त्यन्तपदजन्योपस्थितेरकारणत्वात् परिच्छेद्यपरिच्छेदक- भावसंसर्गबोधाय **द्रोणो व्रीहिमानय** इति वाक्यस्याऽपि साधुत्वं स्यादिति वाच्यम्, प्रत्ययार्थपरिमाणस्य प्रथमान्तार्थे एवान्वयात् प्रत्ययार्थपरिमाणनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबोधे प्रथमान्त- पदजन्योपस्थितिः विशेष्यतासम्बन्धेन कारणमिति कार्यकारणभावाङ्गीकारात्। द्रोणो व्रीहिमानय इत्यत्र तु व्रीहिपदार्थस्य द्वितीयान्तपदजन्योपस्थितिः न तु प्रथमान्तपदजन्योपस्थितिः। यत्र च द्रोणो व्रीहिरित्यत्र प्रथमान्तपदजन्योपस्थितिः कारणं तत्र भवत्येव तादृशः बोधः।

न च परिमाणार्थे प्रथमां विधाय परिमाणार्थस्य च परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावसम्बन्धेन व्रीहौ अन्वयाङ्गीकारे सर्पिः कुडवमित्यत्रपि तादृशान्वयबोधाङ्गीकारे परस्परान्वयित्वेन व्यपेक्षारूपसामर्थ्यस्य सत्वात् **इसुसोः सामर्थ्ये**[12] इत्यनेन षत्वापत्तिरिति वाच्यम्। **तिरसोऽन्यतरस्यामिति**[13] सूत्रदन्यतरस्यामित्यनुवर्त्य **इसुसोः सामर्थ्ये** इति सूत्रेण व्यवस्थितविभाषया षत्वविधानात्। एवञ्च दीक्षितमते इष्टशाब्दबोधाय परिमाणग्रहणमिति स्थितम्।

ननु द्रोणो व्रीहिरित्यत्र परिमाणार्थे प्रथमां विधाय प्रथमार्थे परिमाणसामान्ये प्रकृत्यर्थस्य परिमाणविशेषस्य द्रोणस्याभेदान्वयो न युक्तः प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोः क्वाप्यभेदान्वयस्यादृष्टत्वादिति चेन्न। देवतार्थकतद्धितादौ ऐन्द्रं हविः इत्यत्र देवतार्थकतद्धितादौ प्रकृतिप्रत्ययार्थयोरभेदान्वयस्य दृष्टत्वात्। तथा हि इन्द्रो देवता अस्य इन्द्रशब्दात् जातः अण्प्रत्ययः देवतां द्रव्यञ्च ब्रूते तत्र प्रकृत्यर्थस्य इन्द्रपदार्थस्याण्प्रत्ययार्थे देवतारूपेऽर्थेऽभेदेनान्वयो भवति। देवतापदार्थस्य च द्रव्येऽन्वये इन्द्रादिभिन्नदेवतासम्बन्धिद्रव्यम् इत्यर्थबोधो जायते। एवञ्च प्रकृतेऽपि प्रकृतिप्रत्ययार्थयोरभेदान्वये न किञ्चिद् बाधकम्।

अत्र परिमाणपदं परिच्छेदकसामान्यपरम्, न तु परिमाणन्तु सर्वतः इति लक्षणलक्षितपरिमाणविशेषपरम्। अत एव उन्मादिवाचकशब्देभ्योऽपि परिमाणसामान्यार्थे प्रथमा सिद्ध्यति। तथा च घृतं पलमित्यादावपि परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावस्य संसर्गविधया भानं भवति। तथा चोक्तम् - परिमाणग्रहणं परिच्छेदकमात्रेपलक्षणम्[14]।

काशिकाकारसम्मतं परिमाणग्रहणप्रयोजनम् -

काशिकाकृता **प्रातिपदिकार्थः सत्ता**[15] इत्युव् त्वा प्रातिपदिकार्थमात्रे इत्यस्य उच्चैः, नीचैः इत्युदाहरणं दत्तम्। पुनः लिङ्गग्रहणं किमित्युव् त्वा लिङ्गमात्रे इत्यस्य कुमारी, वृक्षः, कुण्डमित्युदाहरणानि दत्तानि। पुनः परिमाणग्रहणं किमित्युव् त्वा द्रोणः, खारी, आढकमित्यत्रपि यथा स्यादित्युक्तम्। काशिकाग्रन्थस्योदाहरणानि दृष्ट्वा ज्ञायते यत् परिमाणग्रहणं नेष्टशाब्दबोधाय अपितु प्रथमाविधानाय एव। अत एव कौमुदीग्रन्थवत् द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यमुदाहरणत्वेन काशिकाकृता नोक्तम्। इयं काशिकाग्रन्थं व्याचक्षाणः पदमञ्जरीकारः परिमाणग्रहणं किमिति प्रतीकमादाय अर्थ इति वा लिङ्ग इति वा सिद्धि[16] मन्यते इति प्राह। तस्यायं भावः प्रातिपदिकार्थेति सूत्रे प्रातिपदिकञ्च अर्थञ्च लिङ्गञ्च परिमाणञ्च वचनञ्चेति प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनानि इति इतरेतरयोगद्वन्द्वं समधिकृत्य मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगात् प्रातिपदिकमात्रे अर्थमात्रे लिङ्गमात्रे परिमाणमात्रे वचनमात्रे च प्रथमा स्यादिति सूत्रर्थो भवति।

प्रातिपदिकमात्रे प्रथमा इत्यंशस्तु निपातस्यानर्थकस्य प्रातिपदिकसंज्ञा वक्तव्या[17] इत्युक्त्या कृत्तद्धितसमासश्चेति सूत्रे चकारग्रहणेन वा यत्रनर्थकस्य निपातस्य प्रातिपदिकसंज्ञा तत्र प्रथमाविधानाय तद्यथा - अवद्यतीत्यादौ। अर्थे प्रथमेत्यंशस्तु काशिकाकारमते अलिङ्गेषु उच्चैः नीचैः इत्यादिषु प्रथमाविधानाय। अन्ये नियतलिङ्गकाः अलिङ्गकाः वा शब्दाः लिङ्गमात्रे प्रथमेत्यंशस्योदाहरणानि सन्ति। एवञ्च द्रोणशब्दस्य नियतलिङ्गकत्वे अनियतलिङ्गकत्वे वा लिङ्गमात्रे प्रथमेत्यंशेनैव द्रोणादिशब्देभ्यः प्रथमायां सिद्धायां परिमाणग्रहणं व्यर्थमित्याशयः परिमाणग्रहणं किमिति काशिकाग्रन्थस्यावधारितः। पुनः काशिकाग्रन्थमयम्भावः इत्युव् त्या व्याचष्टे। येनार्थेन विना प्रकृतेरप्रयोगः तस्मिन्नर्थे[18] प्रथमा इत्यर्थकेन **अर्थे प्रथमा** इत्यंशेन अप्राप्तावपि लिङ्गमात्रे प्रथमा इत्यंशेन वा प्रथमा भवति। यदा तु द्रोणादयः शब्दाः स्वशक्यार्थे परिमाणविशेषद्रोणे भवन्ति तदा लिङ्गमात्रे प्रथमेत्यंशेनैव द्रोणः, खारी, आढकमित्यादौ प्रथमायां सिद्धायां परिमाणग्रहणं व्यर्थम्, परन्तु यदा द्रोणादिशब्दानां तत्परिमितव्रीह्यादिषु प्रयोगः तत्परिमितानां व्रीहिणाञ्चानियतत्वादर्थे प्रथमा लिङ्गमात्रे प्रथमा वा इत्यंशेन प्रथमायामप्राप्तायां प्रथमाविधानाय परिमाणग्रहणं सार्थकम्। तथा चोक्तं द्रोणादयश्च लौहं दारुमयं परिमाणमेवार्थं न व्यभिचरन्ति। यदा तु द्रोणादिपरिमिते व्रीह्यादौ वर्तन्ते तदा तस्य व्यभिचारितत्वात् न स्यादिति। निष्कर्षतः पदमञ्जरीकारमते सूत्रस्थपरिमाणग्रहणं गौणेषु परिमेयेषु व्रीह्यादिषु यत्र द्रोणादीनां प्रयोगः तदा प्रथमाविधानायावश्यकम्।

एवं यदा द्रोणादय शब्दाः द्रोणपरिमितव्रीह्यादिपराः तदा प्रथमाविधानाय परिमाणग्रहणमिति इत्याशयं काशिकाग्रन्थस्योपवर्ण्य पुनः गौर्वाहीकः इत्यत्र प्रथमायाऽनुपपत्तिमाशङ्क्य गौणे मुख्ये वा यत्र गोशब्दः तत्र प्रथमा लिङ्गमात्रे प्रथमेत्यंशेनैव प्रथमां विधाय द्रोणादिशब्देभ्योऽपि लिङ्गमात्रे प्रथमेत्यंशेनैव प्रथमा सिद्ध्यतीति कृत्वा परिमाणग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनमित्युक्तम्। यद्यपि एतेषां विचारपद्धतिः नागेशसम्मता एव किन्तु व्याख्यानं तद्विरुद्धम्। एतेषां मते द्रोणशब्दः द्रोणत्वेन परिमाणविशेषं द्रोणं ब्रूते नागेशमते द्रोणशब्दः परिमाणाभिन्नद्रोणं ब्रूते। अत एव परिमाणत्वेन परिमाणस्याधिकस्य भानात् नागेशमते प्रथमाविधानाय परिमाणग्रहणमावश्यकम्। पदमञ्जरीकारमते द्रोणशब्देन द्रोणत्वेन द्रोणपदार्थस्य भानम्, न तु परिमाणत्वेन परिमाणस्याऽपि अत एव एतन्मते कुमारी, वृक्षः इत्यादिवत् द्रोणः, खारी, आढकमित्यत्रऽपि लिङ्गमात्रे प्रथमेत्यंशेनैव प्रथमायां सिद्धायां परिमाणग्रहणं नावश्यकम्।

अत्र न्यासकारः यदा द्रोणादयः शब्दाः परिमाणे लौहे दारुमये वा अर्थान्तरनिरपेक्षा प्रयुज्यन्ते तदा प्रातिपदिकार्थत्वादेव प्रथमा सिद्ध्यति। परन्तु यदा सोऽयमित्यभेदोपचारात् परिमेयेषु व्रीह्यादिषु द्रोणादयः शब्दाः प्रयुज्यन्ते तदा द्रोणादिशब्दानां गौणेषु परिमेयभूतेषु व्रीह्यादिष्वर्थेषु विद्यमानात् प्रथमा न प्राप्नोति अतः सूत्रे परिमाणग्रहणम्। तथा च यदा द्रोणशब्दात् द्रोणपदार्थस्य परिमाणविशेषस्य बोधः तदा प्रातिपदिकार्थत्वात् प्रथमा सिद्ध्यति। यदा तु द्रोणशब्दात् लक्षणया द्रोणपरिमितव्रीहेर्बोधः तदा गौणत्वात् प्रथमायामप्राप्तायां प्रथमाविधानाय परिमाणग्रहणम्। तथा चोक्तम् - **परिमाणग्रहणञ्च यत्र निमित्तादर्थान्तरे सोऽयमित्यभेदसम्बन्धाच्च शब्दः प्रवर्तते, तदुपलक्षणार्थं वेदितव्यमिति**[19]।

कैयटस्तु अथ परिमाणग्रहणं किमर्थम्? द्रोणः, खारी, आढकमित्यत्रपि यथा स्यादिति भाष्यम् व्याचक्षाणो **यदा मानमेयसम्बन्धात् व्रीह्यादौ द्रोणादयो वर्तन्ते तदा व्यभिचारान्नास्ति मेयस्य प्रातिपदिकार्थत्वमिति**[20] **प्राह**। एतन्मतेऽपि यदा द्रोणादयः शब्दाः परिमाणविशेषे वर्तन्ते तदा प्रातिपदिकार्थत्वादेव प्रथमा सिद्ध्यति। परन्तु यदा मानमेयसम्बन्धेन लक्षणया द्रोणादिशब्दानां व्रीह्यादिषु मेयेषु प्रयोगः तदा व्रीह्यादीनां मेयानामनियतत्वात् प्रातिपदिकार्थमात्रे इत्यंशेन लिङ्गमात्रे इत्यंशेन वा अप्राप्तायां प्रथमायां परिमेयेष्वर्थेषु प्रथमाविधानाय परिमाणग्रहणम्। एवञ्च एतन्मते परिमीयते परिच्छिद्यते यत् तत् परिमाणमिति व्युत्पत्या परिमाणशब्दः परिमेयपरः। तथा चोक्तमुद्योते - परिमाणशब्दे च कर्मणि ल्युट्, परिमेये इत्यर्थ इति तात्पर्यम्[21]।

नागेशसम्मतं परिमाणग्रहणप्रयोजनम् -

नागेशमते परिमाणग्रहणं नेष्टशाब्दबोधाय, अपि तु प्रथमाविधानाय। तथा हि द्रोणशब्दः परिमाणाभिन्नद्रोणं ब्रूते। एवञ्च यथा तटादिशब्दजन्यशाब्दबोधे प्रकारतया भासमानं स्त्रीत्वादिलिङ्गं न प्रातिपदिकार्थः तद्वत् द्रोणपदजन्यशाब्दबोधेऽभेदसम्बन्धेन प्रकारतया भासमानः परिमाणरूपोऽर्थः न प्रातिपदिकार्थः, प्रवृत्तिनिमित्ततदाश्रययोरेवात्र प्रातिपदिकार्थशब्देन ग्रहणात्। अतः परिमाणस्य प्रातिपदिकार्थभिन्नत्वे स्त्रीत्वादिलिङ्गभिन्नत्वेन च द्रोणशब्दात् प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमेत्यंशेन वा अप्राप्तायां प्रथमायां प्रथमाविधानाय परिमाणग्रहणं न तु दीक्षितोक्तेष्टशाब्दबोधाय। अतोऽत्र प्रातिपदिकार्थापेक्षया लिङ्गापेक्षया च परिमाणमात्रमधिकं भासते तत्रपि प्रातिपदिकात् स्वार्थे प्रथमा न परिमाणार्थे प्रथमा। एवञ्च एतन्मते द्रोणः, खारी, आढकमित्येकैकं परमेवोदाहरणं न तु द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यम्। अन्यथा एतन्मते द्रोणशब्दात्परिमाणाधिक्ये प्रातिपदिकार्थे प्रथमाया विधानात् प्रथमायाः अतिरिक्तार्थाभावेन प्रकृत्यर्थः परिमाणाभिन्नद्रोणरूपनामार्थः एव व्रीहिरूपनामार्थेऽन्वेति। तथा सति **निपातातिरिक्तनामार्थयोरभेद एव संसर्गः** इति नियमात् परिमाणाभिन्नद्रोणाभिन्नो व्रीहिरित्यनिष्टः शाब्दबोधः प्रसज्येत। अत एव भाष्यकृता द्रोणः, खारी, आढकमित्येवोदाहरणं दत्तम्। तथा चोक्तं भाष्ये - **अथ परिमाणग्रहणं किमर्थम् ? द्रोणः, खारी, आढकमित्यत्रपि यथा स्यादिति।**

किञ्च परिमाणेऽर्थे प्रथमां विधाय प्रत्ययार्थस्य परिमाणसामान्यस्य परिच्छेद्यपरिच्छेदकभाव- सम्बन्धेन व्रीहिपदार्थेऽन्वयं स्वीकृत्य द्रोणो व्रीहि इति वाक्यस्य साधुत्वाङ्गीकारे **तिङ्गसमानाधिकरणे प्रथमा**[22] इति वार्तिकविरोधोऽपि समायाति। तथा हि - रामोऽस्तीत्यत्र तिङ्गसामानाधिकरण्यात् रामशब्दात् प्रथमाविभक्तिर्भवति। तिङ्गसामानाधिकरण्यन्नाम तिङ्गवाच्यकारकवाचकत्वम्। प्रकृते: तिङस्तीत्यत्र तिप्रत्ययः तद्वाच्यं कर्तृकारकं तच्च रामपदार्थः तद्वाचकं राम इति प्रातिपदिकं तस्मात् प्रथमाविभक्तिर्भवति। **रामेण ग्रामो गम्यते** इत्यत्र तिङ् **गम्यते** इत्यत्र **तेप्रत्ययः** तद्वाच्यं कर्मकारकम्, तच्च ग्रामपदार्थः तद्वाचकात् ग्रामप्रातिपदिकात्प्रथमाविभक्तिः। एवमेव **सुन्दरो रामोऽस्तीत्यत्र** तिङ् **अस्तीत्यत्र तिप्रत्ययः** तद्वाच्यं कर्तृकारकं तच्च रामपदार्थः तदभिन्नःसुन्दरपदार्थः। अतः सोऽपि कर्ता एव। तथा च तद्वाचकादपि सुन्दरप्रातिपदिकादपि प्रथमा सिद्ध्यति। **राज्ञः पुरुषः अस्ति** इत्यत्र तिङ्वाच्यकर्तृपुरुषपदार्थवाचकात् पुरुषरूप्रातिपदिकात् प्रथमा भवति न तु राजनशब्दात्। राजपदार्थः न तिङ्वाच्यकर्तृकारकं न वा तिङ्वाच्ये कर्तृकारके पुरुषपदार्थेऽभेदेनान्वितः। अतः राजन्शब्दे तिङ्सामानाधिकरण्याभावेन न प्रथमा, अपितु स्वस्वामिभावसम्बन्धे भाष्ठी। प्रकृते द्रोणो व्रीहिरित्यत्र द्रोणरूपपरिमाणस्य व्रीहिपदार्थे परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावसम्बन्धेनान्वये अध्याहृतास्तित्रि या-वाचकपदघटकतिङ्वाच्यं कर्तृकारकं व्रीहिः न तु द्रोणपदार्थः न वा व्रीहिपदार्थे द्रोणपदार्थोऽभेदेनान्वितः। अतः तिङ्वाच्यकारकवाचकत्व-रूपसामानाधिव रण्यस्य द्रोणप्रातिपदिकेऽभावेऽपि प्रथमाविधाने **तिङ्समानाधिकरणे** इति वार्तिकविरोधः स्पष्ट एव। नागेशमते द्रोणः इत्येव उदाहरणम्। तथा सति **अस्तीति** त्रि याध्याहारेतिङ्वाच्यं कर्तृकारकम्, तच्च द्रोणपदोपस्थापितः परिमाणाभिन्नद्रोणः, तद्वाचकात् द्रोणरूपप्रातिपदिकात् प्रथमायां न वार्तिकविरोधः। एवञ्च परिच्छेद्यपरिच्छेदकभाव- सम्बन्धावगाहादिशाब्दबोधजनकं दीक्षितोक्तं द्रोणो व्रीहिरितिवाक्यमप्रमाणिकम्। यदा तु द्रोणशब्दात् स्वार्थे प्रथमां विधाय द्रोणो व्रीहिरितिवाक्येऽभेदान्वयानुपपत्या द्रोणपरिमिते लक्षणां कृत्वा द्रोणशब्देनोपस्थितस्य परिमाणाभिन्नद्रोणपरिमितरूपस्य लक्ष्यार्थस्य व्रीहिपदार्थेऽन्वये परिमाणाभिन्नद्रोणपरिमिताभिन्नो व्रीहिरितिशाब्दबोधावगाहि द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यं साधु।

न च नागेशमते द्रोणशब्दैनैव परिमाणार्थस्योपस्थितौ द्रोणः परिमाणमितिवाक्यप्रयोगो न स्यादिति वाच्यम्, द्वौ ब्राह्मणौ इतिवत् द्योतकवाचकसमुच्चयदर्शनात्, द्रोणस्य काकादौ शक्तत्वेन तद्व्यावृत्तये परिमाणमिति कथनस्यावश्यकत्वाच्च। किञ्च द्रोणो व्रीहिरित्यत्र द्रोणरूपपरिमाणस्य परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावसम्बन्धेन

व्रीहिपदार्थेऽन्वयस्वीकारे द्रोणो व्रीहिमानय इत्यस्यापत्तिः। यतोऽभेदान्वयबोधम्प्रति समानविभक्त्यन्तपदजन्योपस्थितिः कारणन्न तु भेदान्वयबोधम्प्रति। एवञ्च राज्ञः पुरुषमानय इतिवद् द्रोणो व्रीहिरितिवाक्यं साधु स्यात्। अनभिधानकल्पने संकुचितकार्यकारणभावाङ्गीकारे वा महद् गौरवम्। तथा चोक्तम् – मूलोक्तं तु न युक्तम्, व्रीहिमानये[23]त्यस्यापत्तेः।

न च परिमीयते परिच्छिद्यते यत् तत् परिमाणम् इति कर्मव्युत्पत्त्या परिमाणशब्दस्य मेयपरत्वे मेयस्य व्रीह्यादेरनियतोपस्थितिकत्वेन अप्राप्तप्रथमाविधानाय परिमाणग्रहणमावश्यकमिति वाच्यम्, प्रमाणाभावात् नियतोपस्थितिकार्थस्यात्रग्रहणादन्यथा **सिहो माणवकः** इत्यत्रपि लक्ष्यार्थस्य माणवकादेरनियतोपस्थितिकत्वे प्रथमा न स्यात्। यदि च शक्यार्थमादाय प्रथमायाः साधुत्वमुच्यते तर्हि अत्रपि परिमाणशब्दस्य परिच्छेदकपरत्वेऽपि शक्यार्थे प्रथमामादाय लक्षणया मेयार्थस्य बोधसम्भवात्। अतः कैयटोक्तमविचारितरमणीयम्।

विमर्शः– दीक्षितमते प्रातिपदिकार्थशब्देनात्र नीयतोपस्थितिकार्थस्य ग्रहणात् नियतलिङ्गकाः अलिङ्गकाश्च शब्दाः लिङ्गमात्रे प्रथमा इत्यंशस्य चोदाहरणानि भवन्ति। एवञ्च एतन्मते द्रोणो व्रीहिरिति वाक्ये द्रोणशब्दस्य नियतलिङ्गकत्वे प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमेत्यंशेन नियतलिङ्गकत्वे लिङ्गमात्रे प्रथमेत्यंशेन वा प्रथमायां सिद्धायां परिमाणग्रहणं प्रातिपदिकेनाप्रतीयमाने परिमाणत्वेन परिमाणसामान्ये प्रथमाविधानद्वारा द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यात् द्रोणाभिन्नं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरितीष्टशाब्दबोधाय।

प्रातिपदिकार्थे प्रथमायान्तु प्रत्ययस्य प्रातिपदिकार्थद्योत्तकत्वेनातिरिक्तार्थाभावेन द्रोणरूपनामार्थस्य- व्रीहिरूपनामार्थेऽन्वयोवाच्य। स च **निपातातिरिक्तनामार्थयोरभेद** एव संसर्गः इति नियमेनाभेद एव भवति। तथा सति द्रोणोव्रीहिरिति वाक्यात् द्रोणाभिन्नों व्रीहिरिति अनिष्टः शाब्दबोधः प्रसज्येत। अतः परिमाणत्वेन परिमाणसामान्ये प्रथमा विधानद्वारा इष्टशाब्दबोधः परिमाणग्रहणस्य प्रयोजनम्।

न च भेदान्वयबोधं प्रति सामानविभक्त्यन्तपदजन्योपस्थितेरकारणत्वात् द्रोणोव्रीहिमानय इति प्रयोगापत्तिरिति वाच्यम्, प्रत्ययार्थपरिमाणप्रकारक भेदसंसर्गक शाब्दबोधे समानविभक्त्यन्तपदजन्योपस्थितेः कारणत्वकल्पनात्। एवञ्च द्रोणोव्रीहिरित्यत्र प्रत्ययार्थपरिमाणप्रकारकशाब्दबोधस्यसत्त्वेन तादृशबोधाय समानविभक्तिकत्वस्य कारणत्वात् न द्रोणो व्रीहिमानयेत्यस्यापत्तिः।

न च परिमाणार्थेप्रथमां विधाय द्रोणाभिन्नपरिमाणस्य परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहिपदार्थेऽन्वये द्रोणौ व्रीहिरित्यत्रध्याहृतास्तित्रि या पदघटक तिङ्वाच्यकारकवाचकत्वरुप सामानाधिकरणस्य द्रोणप्रातिपदिकेऽभावेऽपि प्रथमाविधाने **तिङ्समानाधिकरणेप्रथमा** इति वार्तिकविरोध इति वाच्यम्? तिङ्समानाधिकरणे प्रथमैवेति अर्थनियमस्याङ्गीकारात्, अत एव अधिकरणशक्तिप्रधानेव उच्चैः नीच्चैः इत्यादिषु अव्ययेषु अपि तिङ्समानाधिकरणाभावेऽपि प्रथमासिद्ध्यति।

ननु प्रत्ययार्थपरिमाणस्य परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावरूपभेदसम्बन्धेनान्वयाङ्गीकारे सर्पिः कुडवमित्यादौ समानाधिकरणमसमर्थवदिति, अतिदेशाऽप्रवृत्त्या **इसुसोः सामर्थ्ये** इति वत्वविकल्पापत्तिरिति चेन्न। **तिरसोऽन्यतरस्याम्** इति सूत्रदन्यतरस्यामित्यनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणेनाऽऽपत्तिविरहात्।

न च द्रोणो व्रीहिरित्यत्र द्रोणपरिमितानां व्रीहिणामनेकत्वादेकवचनमसाधुरिति वाच्यम्? जातिपक्षाश्रयणेनैकवचनस्य साधुत्वात्। व्यक्तिपक्षे तु द्रोणो व्रीहयरिति इष्टमेव। एवञ्च दीक्षितमते समेषां दूषणानां समाधाने सत्यपि दीक्षितमतं न रोचते मह्यम्। यतोहि द्रोणप्रातिपदिकात् प्रातिपदिकार्थे प्रथमायामपि द्रोणो व्रीहिरित्यत्र द्रोणशब्दस्य द्रोणपरिमिते लक्षणायामभेदान्वये द्रोण परिमिताभिन्नो व्रीहिरिति इष्टस्य शाब्दबोधस्य सत्त्वेन सूत्रस्य परिमाणग्रहणस्य सार्थक्यप्रतिपादनं दुष्करम्। ध्वनितञ्च स्वयमेव मनोरमायामर्थे प्रथमेत्येवसारमित्युव्

त्या। परिमाणग्रहणस्य परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावसंसर्गबोधायावश्यकत्वेऽर्थे प्रथमा इत्येव सारमिति कथनमित्युक्तमेव स्यात्।

किञ्च प्रकृतिप्रत्ययार्थयोरभेदान्वयस्यादृष्टत्वात् द्रोणो व्रीहिरित्यत्र प्रकृतिप्रत्ययार्थयोरभेदकथनमप्ययुक्त मेव। यदि च मूलोक्तदिशा देवतार्थकतद्धितस्थले प्रकृतिप्रत्ययार्थयोरभेदन्वयः दृष्टः इत्युच्यते तदपि न युक्तम्। वैयाकरणनये तद्धितादिषु वृत्तिषु एकार्थीभावाङ्गीकारेण तत्रैकार्थोपस्थित्यान्वयाभावात्।

किञ्च प्रातिपदिकार्थे प्रथमायां द्रोणशब्दस्य द्रोणपरिमिते लक्षणायां द्रोणो व्रीहिरितिवत् द्रोणं व्रीहिमानय, द्रोणेन व्रीहिणा कृतमित्यादिवाक्यानामपि साधुत्वमिष्टम्। परिमाणार्थे प्रथमायान्तु द्रोणो व्रीहिमानय इतिवत् द्रोणं व्रीहिमानय इत्यस्यापि अनिष्टत्वेनार्थे प्रथमा इत्येव सारमिति स्वोक्तिविरोधः।

नागेशमते द्रोणशब्दः न केवलं द्रोणत्वेन द्रोणं ब्रूते अपितु परिमाणाभिन्नद्रोणं ब्रूते। एवञ्च द्रोणपदजन्यबोधे परिमाणत्वेन परिमाणमपि द्रोणपदार्थेऽभेदेन प्रकारतया भासते। प्रातिपदिकार्थशब्देनात्र लिङ्गग्रहणसामर्थ्यात् प्रवृत्तिनिमित्ततदाश्रयोरेव ग्रहणेन परिमाणाभिन्नद्रोणवाचकात् द्रोणत्वप्रवृत्तिनिमित्तकात् द्रोणप्रातिपदिकात् परिमाणाधिक्ये प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमेत्यंशेन लिङ्गमात्रे प्रथमेत्यंशेन वा अप्राप्तायां प्रथमायां प्रथमाविधानाय परिमाग्रहणन्तु इष्टशाब्दबोधाय। एवञ्च परिमाणमात्रे इत्यंशेन विधीयमाना प्रथमा लिङ्गादिवत् प्रातिपदिकार्थे परिमाणञ्चेह द्रोणशब्दवाच्यं प्रत्ययद्योत्यञ्च भवति। अत एव परिमाणमात्रे इत्यस्य द्रोणः, खारी, आढकमिति पदान्येवोदाहरणानि भवन्ति न तु द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यम्। एवञ्चैतन्मते **द्रोणः** इति पदात् परिमाणाभिन्नद्रोणरित्यर्थः प्रतीयते। दीक्षितमते द्रोणाभिन्नं परिमाणमिति **द्रोणः** इति पदात् प्रतीयते।

न च **द्रोणः** इत्यत्र प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमायां द्रोणो व्रीहिरित्यत्र **निपातातिरिक्तनामार्थयोरभेदे एव संसर्गः** इति नियमेनाभेदान्वये परिमाणाभिन्नद्रोणाभिन्नव्रीहिरित्यनिष्टः शाब्दबोधः स्यादिति वाच्यम्। द्रोणशब्दस्य द्रोणपरिमिते लक्षणायामभेदान्वयबोधस्य इष्टत्वात्। अतः द्रोणशब्दस्य द्रोणपरिमिते लक्षणायामिष्टशाब्दबोधोपपत्तौ परिमाणग्रहणमिष्टशाब्दबोधायेति दीक्षितमतमविचारितरमणीयम्।

न च द्रोणशब्देनैव परिमाणत्वेन परिमाणस्यापि लाभत् द्रोणः परिमाणमिति प्रयोगानुपपत्तिरिति वाच्यम्। द्वौ ब्राह्मणौ इत्यत्र द्योतकवाचकसमुच्चयस्य दर्शनेन द्रोणशब्देन परिमाणलाभेऽपि पुनः परिमाणपदप्रयोगेऽनुपपत्ति विरहात्।

न च द्रोणादिशब्दानां द्रोणत्वात् परिमाणत्वमपि प्रवृत्तिनिमित्तमिति वाच्यम्। प्रवृत्तिनिमित्तभेदे शक्तिभेदापत्ते अत एव नानाप्रवृत्तिनिमित्तकानां हर्यादिशब्दानां नानाशक्तिमत्त्वम्।

किञ्च नानाप्रवृत्तिनिमित्तकानां हर्यादिशब्दानां न यौगपद्येन सर्वेषामर्थानां विशेष्यविशेषणभावेन वा बोधो भवति तथैव प्रकृतेऽपि द्रोणशब्दात् परिमाणार्थस्य द्रोणपदार्थस्य च यौगपद्येन परिमाणाभिन्नद्रोणरिति विशेष्यविशेषणभावेन वा बोधानापत्तिः स्यात्। अतः द्रोणशब्दस्य परिमाणत्वमपि प्रवृत्तिनिमित्तमिति न युक्तम्।

भाष्यकृतापि परिमाणग्रहणस्य द्रोणः, खारी, आढकमित्यादीनि पदान्येवोदाहरणानि दत्तानि। काशिकाकारोऽपि द्रोणः, खारी, आढकमिति पदानि परिमाणग्रहणस्योदाहरणानि प्रदर्श्य नागेशमतमेव युक्तमिति प्रमाणयति। अतः दीक्षितोक्तं भाष्यविरिद्धत्वात् गौरवाच्च न युक्तं प्रतिभाति। अतः भाष्यसम्मतत्त्वात् लाघवाच्च नागेशमतमेव ज्यायः।

यदि तु प्रतीतिबलात् द्रोणशब्दस्य द्रोणत्वावच्छिन्ने शक्तिः न तु परिमाणाभिन्नद्रोणे परिमाणबोधस्तु प्राकरणिकस्तदा द्रोणशब्दात् प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमेत्यंशेन लिङ्गमात्रे प्रथमेत्यंशेन वा प्रातिपदिकार्थे प्रथमायां सिद्धायां परिमाणग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनम्। द्रोणो व्रीहिरित्यत्र तु लक्षणयाऽपि इष्टशाब्दबोधः सम्भवति अत एव

अर्थे प्रथमा इत्युक्तिरसङ्गत एव स्यात्। यद्यपि अर्थे प्रथमा इत्युक्तिः द्रोणशब्दस्य परिमाणाभिन्नद्रोणे शक्तिरिति नागेशमतेऽपि सङ्गच्छते तथापि द्रोणशब्दस्य लाघवात् प्रतीतिबलात् द्रोणः परिमाणमिति प्रयोगबलाच्च द्रोणशब्दस्य द्रोणे एव शक्तिः न तु परिमाणाभिन्नद्रोणे। एवञ्च परिमाणग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनम्। तथा च पदमञ्जर्याम् - तदेतत्परिमाणग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनम्।

द्रोणशब्दस्य द्रोणमात्रे शव् त्यङ्गीकारे लक्ष्यासिद्ध्यभावेऽपि अथ परिमाणग्रहणं किमर्थम्? द्रोणः, खारी, आढकमित्यत्रपि यथा स्यादिति भाष्यविरोधोऽस्त्येव। द्रोणशब्दस्य द्रोणत्वावच्छिन्ने द्रोणमात्रे शव् त्यङ्गीकारे द्रोणशब्दादपि लिङ्गमात्रे प्रथमायां सिद्धायां परिमाणग्रहणस्य द्रोणः, खारी, आढकमिति प्रयोजनकथनमसङ्गतमेव स्यात्। अत एव नागेशेन द्रोणशब्दस्य न केवलं द्रोणमात्रे शक्तिरङ्गीकृता, अपि तु परिमाणाभिन्ने द्रोणे। तथा सति परिमाणाधिक्येऽप्राप्तायां प्रथमायां परिमाणग्रहणस्य द्रोण, खारी, आढकमित्युदाहरणं भाष्योक्तं सङ्गच्छते।

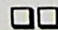
सन्दर्भटिप्पण्यः

1. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमेति सूत्रवृत्तौ पृ.सं-592।
2. काशिकाग्रन्थे प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमेति सूत्रवृत्तौ पृ.सं- 201
3. प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमेति सूत्रभाष्ये पृ.सं- 301।
4. पा. सू. 2/3/46पृ.सं- 18।
5. अमरकोशे 2 काण्ड 9 वर्ग 88श्लो. पृ.सं- 161।
6. इयं व्युत्पत्तिःप्रातिपदिकार्थसूत्रव्याख्यावसरे मनोरमायां शब्दरत्ने चोद्धृता पृ.सं-मनो.-613,शब्दरत्न-615।
7. प्रातिपदिकार्थसूत्रव्याख्यायां सिद्धान्तरत्नाकरे पृ.सं- 3।
8. प्रातिपदिकार्थसूत्रव्याख्यायां लक्ष्मीटीकायाम् पृ.सं-771।
9. कौमुदीमूलार्थविद्योतिन्यां प्रातिपदिकार्थसूत्रव्याख्यायाम् पृ.सं-122।
10. प्रातिपदिकार्थसूत्रव्याख्याने लक्ष्मीटीकायाम् पृ.सं-771।
11. कौमुदीमूलार्थविद्योतिन्यां प्रातिपदिकार्थसूत्रव्याख्यायाम् पृ.सं-122।
12. पा. सू. 8/3/44 पृ.सं-103।
13. पा. सू. 8/3/42 पृ.सं-103।
14. शब्दरत्नग्रन्थे प्रातिपदिकार्थसूत्रव्याख्याने पृ.सं-720।
15. काशिकाग्रन्थे प्रातिपदिकार्थसूत्रव्याख्याने पृ.सं-201।
16. पदमञ्जर्या प्रातिपदिकार्थसूत्रव्याख्याने पृ.सं-203।
17. वार्तिकमिदं कृत्तद्धितसमासश्चेतिसुत्रस्थप्रौढमनोरमायाम् पृ.सं-282।
18. पदमञ्जर्यां प्रातिपदिकार्थसूत्रव्याख्याने पृ.सं-203।
19. न्यासग्रन्थे प्रातिपदिकार्थसूत्रव्याख्याने पृ.सं-204।
20. प्रातिपदिकार्थसूत्रभाष्ये प्रदीपटीकायाम् पृ.सं-301।
21. प्रातिपदिकार्थसूत्रभाष्ये उद्योतटीकायाम् पृ.सं-301।
22. इदं वार्तिकं प्रातिपदिकार्थेतिसूत्रभाष्ये वर्तते पृ.सं-306।
23. लघुशब्देन्दुशेखरे प्रातिपदिकार्थसूत्रव्याख्याने पृ.सं-605।

सन्दर्भग्रन्थसूची

क्र.सं.	ग्रन्थनाम	लेखकः	प्रकाशकः	वर्षम्
1.	वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (बालमनोरमा-तत्त्वबोधिनी टीकासहिता-प्रथमो भागः)	श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितः	मोतीलालबनारसीदासः वाराणसी	2010
2.	काशिका (न्यासपदमञ्जरीसहिता-द्वितीयो भागः)	वामनजयादित्यौ	प्राच्यभारतीप्रकाशन, वाराणसी	1965
3.	महाभाष्यम् (प्रदीपोद्योतसहितम्)	पतञ्जलिः	रा.सं.सं.नई दिल्ली	2006
4.	अष्टाध्यायीसूत्रपाठः	पाणिनिः	ज्ञानभारती पब्लिकेशन्स, दिल्ली	2009
5.	अमरकोशः (रत्नप्रभाटीकासहितः)	अमरसिंहः	चौखम्भासुरभारती प्रकाशन, वाराणसी	2004
6.	प्रौढमनोरमा शब्दरत्नम्	भट्टोजिदीक्षितः हरिदीक्षितः	वाणीविलासप्रकाशनम् कचौड़ी गली वाराणसी -4	1977
7.	सिद्धान्तरत्नाकरः (वैयाकरणसिद्धान्त-कौमुदीटीका)	भट्टश्रीरामकृष्णः	रा.सं.सं.भोपालपरिसरः	2004
8.	लक्ष्मी(वैयाकरणसिद्धान्त-कौमुदीटीका)	सभापतिशर्मोपाध्यायः	मोतीलालबनारसीदासः, वाराणसी	1966
9.	कौमुदीमूलार्थविद्योतनी	दीनबन्धुझाः	कामेश्वरसिंह-दरभङ्गा-संस्कृत-वि.वि.	1986
10.	पदमञ्जरी (काशिकाटीका)	हरदत्तमिश्रः		
11.	न्यासः(काशिकाटीका)	जैनेन्द्रबुद्धिः		
12.	लघुशब्देन्दुशेखरः (चन्द्रकलाटीकासहितःप्रथमो भागः)	नागेशभट्टः	चौखम्भासंस्कृतसंस्थानम्, वाराणसी	2001

डा. ब्रजभूषण ओझा
सहायकाचार्यः, व्याकरणम्
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, लखनऊपरिसरः, विशालखण्डः-4,
गोमतीनगरम्, लखनऊ (उ.प्र.)



श्रीनिवासरथविरचित "बलदेवचरितम्" महाकाव्य में युगबोध

जर्नादन प्रसाद पाण्डेय 'मणि'

'बलदेवचरितम्' महाकाव्य आचार्य बलदेव उपाध्याय को नायक बनाकर उनके चरित्र को लोक तक पहुँचाने के उद्‌देश्य से उनके शिष्य प्रवर आचार्य श्रीनिवासरथ द्वारा विरचित है। अभी तक इसके पाँच सर्ग ही प्रकाश में आये हैं। अग्रेजों के भारत में आने के पश्चात् उनके रहन सहन, विचार, वेप-भूषा एवं शिक्षा पद्धति को अपनाने के बाद से भारतीय इतिहास का जो आधुनिक कालखण्ड आरम्भ होता है, उस आधुनिक कालखण्ड में भी भारतीय पारम्परिक शिक्षा, चिन्तन की दैवी पृष्ठभूमि, भगवदवतारों की परिकल्पना, स्वप्न में देवानुग्रह एवं देवनिर्देश की अनुभूति, आत्मगौरव का आत्मनाद, लोकोपकार की भावना, पारतन्त्रिक जीवन के प्रति विद्रोह का भाव, समष्टि के कल्याण का प्रयास तथा दुष्ट शासन के प्रतिरोधविषयक चिरन्तन युगीन भावबोध उसी दृढ़ता एवं ऊर्जा के साथ व्याप्त थे। आचार्य बलदेव उपाध्याय का सारस्वत व्यक्तित्व इस सम्पूर्ण भावराशि का निदर्शन था। इनके दर्शन चिन्तन के आलोक में आचार्य श्रीनिवासरथ ने सम्पूर्ण भारतीय युग बोध को, वैश्विक आन्दोलित चिन्तन को अपने ग्रन्थ में उकेरा है। जिससे साहित्य समाज का दर्पण है यह कथन चरितार्थता को प्राप्त हुआ है।

'बलदेवचरितम्' आचार्य श्रीनिवासरथ विरचित आधुनिक युग का नवीनतम महाकाव्य है। यह ग्यारह सर्गों का कवि द्वारा परिकल्पित है। इसका रचना कार्य अभी जारी है। पाँच सर्गों का प्रकाशन हो गया है। जिसके आधार पर महाकाव्य में प्रतिबिम्वित युगवोध से सहृदय पाठक कुछ परिचित हो पाता है।

संस्कृत महाकाव्य के इतिहास् का जब हम सर्वेक्षण करते हैं तो हमें विषयवस्तु की दृष्टि से संस्कृत महाकाव्य की तीन धारायें दिखाई पड़ती हैं। जिसमें पहली धारा पौराणिक इतिवृत्त गर्भा है। दूसरी धारा ऐतिहासिक इतिवृत्तगर्भा है तथा तीसरी धारा नितान्त नवीन महापुरुषचरित्रगर्भा है। 'बलदेवचरितम्' महाकाव्य संस्कृत महाकाव्य परम्परा की इसी तीसरी नितान्त जागरूक काव्यधारा में लिखा जा रहा महाकाव्य है। इसका नायक कोई राजा, राजनेता अथवा किसी सम्प्रदाय विशेष का अधिष्ठाता ऋषि महर्षि नहीं अपितु संस्कृत भाषा का एक प्रकाण्ड विद्वान् है, जिसे आचार्य बलदेव उपाध्याय के नाम से जाना जाता है। जिन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी को अपनी सेवायें दीं तथा जो जीवन के अन्तिम क्षणों तक संस्कृतसरस्वती देववाणी की सेवा करते हुए राष्ट्रभाषा हिन्दी को माध्यम बनाकर समीक्षात्मक ग्रन्थों का प्रणयन कर वाङ्मय की श्रीवृद्धि करते रहे।

इस सन्दर्भ से यह तो सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि बलदेवचरितम् महाकाव्य का नायक भी आधुनिक है तथा इसका रचनाकार भी आधुनिक है। इसके रचनाकार आचार्य श्री निवासरथ आचार्य बलदेव उपाध्याय के शिष्य रहे हैं। जो विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन के संस्कृत विभाग के विभागाध्यक्ष पद से तथा

कालिदास अकादमी उज्जैन के निदेशक पद से सेवा मुक्त होकर सम्प्रति महाकाल की नगरी में स्वतन्त्र रूप से काव्यलेखन में संलग्न हैं।

आधुनिक शब्द का प्रयोग आज के आज कल के अथवा आज के समय के अर्थ में प्रायः किया जाता है। जो आज का वर्तमान है वही कल का भूत हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक घटना प्रत्येक समस्या अपने समय में आधुनिक होती है। तत्कालीन साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति होती है तथा इसके चलते साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है।

आधुनिक-आधुनिकता एवं आधुनिकतावाद का एक अपर अर्थ क्रमशः पाश्चात्य विचारग्रस्त पाश्चात्य विचार पद्धति एवं पाश्चात्यसभ्यतासंस्कृतिवाद के रूप में भी ग्रहण किया जाता है। वर्तमान शिक्षापद्धति को पारम्परिक शिक्षा पद्धति एवं आधुनिक शिक्षा पद्धति के रूप में दो प्रकार से विभक्त किया जाता है। इसमें पारम्परिक शिक्षा पद्धति से आशय भारतीय गुरुकुल परम्परा एवं उपाधि के साथ ग्रहण की जाने वाली शिक्षा पद्धति से है। इस शिक्षा पद्धति से जुड़े विश्वविद्यालयों को पारम्परिक विश्वविद्यालय कहा जाता है। आधुनिक शिक्षा पद्धति से आशय लार्ड मैकाले द्वारा निरूपित एवं व्यवस्थापित शिक्षा पद्धति से है, जिसका आरम्भ अंग्रेजों के भारत में आगमन के बाद 1850 ई. से होता है। जब कलकत्ता, मद्रास एवं मुम्बई में उस पद्धति के विश्वविद्यालयों की स्थापना होती है तथा 1887 ई. में पूरब के ऑक्सफोर्ड के रूप में उत्तरप्रदेश में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना की जाती है। अंग्रेजों द्वारा अपनी शिक्षापद्धति से जुड़े विश्वविद्यालयों की स्थापना के मूल में एक ही भाव था, वह भाव था भारतीय शिक्षा पद्धति को अव्यावहारिक, सङ्कीर्ण एवं अनुपयोगी सिद्ध करना। भारतीयों को अपनी ही नजर से नीचे गिरा देना, जहाँ उन्हें अपनी ही शिक्षा अपनी ही संस्कृति अपनी ही सभ्यता एवं अपनी ही चीज मूल्यहीन एवं कमजोर दिखाई देने लगे। इसका क्या परिणाम हुआ, मैं इस कटुसत्य को तो नहीं कहना चाहता, किन्तु यह अवश्य कहना चाहता हूँ कि आज देश में पारम्परिक विश्वविद्यालय तो अङ्गुलिगण्य हैं, सारे विश्वविद्यायल आधुनिक विश्वविद्यालय ही हैं, क्योंकि यहाँ आधुनिक शिक्षा पद्धति से ही अध्ययन एवं अध्यापन हो रहा है।

मेरे उर्पयुक्त कथन का उद्देश्य मात्र पारम्परिकता एवं आधुनिकता के अन्तर को सङ्केतित करना है। यदि अंग्रेजी शिक्षा पद्धति सभ्यता एवं संस्कृति को हमने बहुत कम समय पूर्व प्रकाश में आने के नाते आधुनिक नाम दिया तो हमें उनके भारत में आगमन के बाद के कालखण्ड को आधुनिक कालखण्ड नाम देना चाहिए। क्योंकि विना एक कालखण्ड निर्धारित किए हुए हम आधुनिक संस्कृत साहित्य की सीमारेखा कैसे खींच सकते हैं? इसलिए हम अंग्रेजों के भारत आगमन के बाद से प्रवर्तमान काल खण्ड को आधुनिक कालखण्ड मानते हैं।

यह आधुनिक कालखण्ड विविध वैश्विक संस्कृतियों एवं सभ्यताओं, आदर्श एवं मूल्यों, नीति एवं शिक्षाओं तथा अभिरुचियों एवं मान्यताओं के अन्तर्द्वन्द्व का कालखण्ड है। इस बीच लिखा जा रहा संस्कृत साहित्य भावों व वेगों से असंस्पृष्ट नहीं है। क्योंकि इस कालखण्ड का संस्कृत कवि नितान्त जागरूक है। अपने काव्य की विषयवस्तु में आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन किया है। परम्परा को सहेजते हुए भी परम्परा से बहुत दूर की भीं यात्रा की है। नये नये प्रतिमानों एवं आयामों का आवाहन किया है। महाकाव्य-खण्डकाव्य-स्तोत्रकाव्य- गीतिकाव्य-नाट्यसाहित्य एवं कथासाहित्य में पूर्वकाल से चले आ रहे कथानकों एवं सिद्धान्तों में परिवर्तन हुआ है। काव्यशास्त्रीयसिद्धान्तों में विकासशीलता की प्रायोगिक प्रतिष्ठा हुई है। तभी तो आचार्य श्रीनिवासरथ ने किसी देव एवं सद्वंश क्षत्रिय को अपने महाकाव्य का नायक न

बनाकर एक संस्कृतविद्वान् ब्राह्मण को अपने महाकाव्य का नायक बनाया है, उसका लोककल्याणकारी व्यक्तित्व समग्र काव्यशास्त्रीय परम्परा पर भारी है।

आधुनिक विषयवस्तु को लेकर महाकाव्य की रचना करने के कवि के प्रयास में भी एक युग बोध है। युगबोध कवि की जागरूकता की ही एक सार्थक संज्ञा है। कवि जिस युग में जी रहा है उस युग की आवश्यकताओं मान्यताओं संघर्षों विडम्बनाओं वरदानों एवं अभिशापों का यदि वह चितेरा नहीं होगा, लोक की एवं लोक रक्षक की नब्ज यदि वह नहीं टटोल पायेगा तो फिर सबको जीकर सत्यं शिवम् एवं सुन्दरम् की समन्विति से युक्त सर्वमङ्गला कविता की रचना वह कैसे कर पायेगा? इसलिए युगबोध किसी भी कवि के कविधर्म का सर्वाधिक लोकोपयोगी जीवनोपयोगी एवं युगोपयोगी तत्त्व है। जिसके बिना कवि की सारी साधना सारहीन है। अब प्रस्तुत है महाकवि श्रीनिवासरथ का युगबोध उनके महाकाव्य 'बलदेवचरितम्' के परिप्रेक्ष्य में-

'बलदेवचरितम्' महाकाव्य के अब तक प्रकाशित पाँच सर्गों को क्रमशः बलदेवावतारसर्ग, कर्जनविजृम्भितसर्ग, वाराणसीनिवर्तनसर्ग, मन्त्रदृष्टिसर्ग तथा वर्षाविलाससर्ग के नाम से जाना जाता है। कवि आचार्यबलदेवावतार को साम्प्रतिकयुग में शेषावतार के रूप में स्वीकार करता है। जैसे संसार में अधर्म एवं अन्याय को समाप्त करने के लिए भगवान् शेष कभी लक्ष्मण के रूप में तो कभी बलराम के रूप में अवतार लिए। व्याकरणशास्त्र की रक्षा के लिए भगवान् पतञ्जलि के रूप में आये वैसे ही अनूदितसंस्कृतज्ञानविरहितलोक को हिन्दी भाषा के माध्यम से वेद शास्त्र, दर्शन एवं साहित्य आदि की जानकारी देने के लिए सारस्वत ग्रन्थभण्डार का समृद्ध करने के लिए बलदेव के रूप में अवतार लिया। यथा-

न स विवेद न मूर्तिमती स्वयं स्मृतवती कथिताऽपि कथान्वयम्।
परिचयेन विनाप्यनुभूयते भुवि रहस्यमयी भगवत्कृपा॥
चित्ते विशिष्य रजसा रहिते निबद्धा
श्रद्धा यथा फलवती भवतीह लोके।
रत्नोज्ज्वला वसुमतीव समृद्धदीप्ति-
मातृत्वमङ्गलमगाहत मूर्तिदेवी॥
शेषावतारमिव चारुचरित्रशीलं साऽसूत पुत्रमचिरात् कुलकीर्तियुक्तम्।
दृष्ट्वा सुतं कुजमगोचरमिन्द्रियाणां प्रीत्या दधौ जनयिताप्यनधीतपूर्वम्॥1॥

कवि के उपर्युक्त निरूपण में भारतवर्ष की चिन्तनधारा की आस्था-श्रद्धामयी दैवी पृष्ठभूमि की अभिव्यक्ति हुई है। भारतीय लोक का बहुत बड़ा भाग इस ईश्वर कृपा का अनुभव करता है। उसकी विराट्सत्ता पर विश्वास करता है। युग की किसी इकाई की आस्थालु प्रवृत्ति यहाँ उभर कर सामने आती है। युग को यह सन्देश भी कवि यहाँ देता है कि युग को भगवत्कृपा पर विश्वास करना चाहिए। महापुरुष विना परमेश्वरानुकम्पा के पैदा नहीं होते।

स्वप्न में आकर भगवती सरस्वती स्वयं आचार्य बलदेव उपाध्याय को हिन्दी माध्यम से संस्कृत ग्रन्थों की समीक्षा का आदेश देती है। कवि इस बात को कितने स्फुट पदों में स्पष्ट करता है। यथा -

तं तदा विपुलवाष्पकश्मलं बालमाशुतमसाऽऽकुलीकृतम्।
प्रायसानुगतिवत्सला स्वयं स्वप्नदर्शनपथेन शारदा॥
कोटिचन्द्रकिरणावदातया मन्दहासमधुरश्रियान्विता।
बालकेन ददृशे चकासती दुग्धसिन्धुधवला सरस्वती॥

वत मा व्रज शुच मुधाऽधुना बुद्धिमाकलय सार्वदेशिकीम्
सेवसे यदि न विश्वभारतीं भारतोदयकथाऽपि ते वृथा॥
तैरनूद्य निजभाषया स्वयं पुस्तकानि विविधानि सर्वशः।
भारताध्ययनसारसङ्ग्रहः सङ्कलय्य किमु नात्मसात्कृतः॥
सूक्तिसम्पदममुत्रसम्भवां पुत्र धारयसदर्थसाधिकाम्।
विश्ववाङ्मयसमादरं विना वैदुषी न भुवि शोभतेऽधुना॥
यावदध्ययनकालमाश्रितः सञ्चिनुष्व निखिलानुशासनम्।
तत्परं स्वजनदेशभाषयाऽभीप्सितं लिख समीक्ष्य सञ्चितम्॥2॥

साम्प्रतिक युग की जो माँग है वही बात भगवती सरस्वती बलदेव उपाध्याय से कहती हैं। सरस्वती एवं बलदेव के बीच यह वार्तासंरम्भ उपस्थापित कर कवि श्रीनिवासरथ अपने युगबोध का ही एक जीवन्त परिचय देते हैं। युग की आवश्यकता एवं अपेक्षा का उस संस्कृताराधक कवि को पता है। बलदेव उपाध्याय को कैसे एक दैवी अनुशासन से कवि तत्क्रिया में प्रवृत्त करता है। रचनाकार को यदि युगबोध न होता तो वह इस सन्दर्भ का काव्य में अभिनिवेश ही नहीं करता। लेकिन वह चाहता है कि जन जन तक संस्कृतभाषावाङ्मय पहुँचे। आंग्ल भाषानुवाद से भी कार्य सम्भव नहीं है इसलिए वह हिन्दी भाषा में संस्कृत वाङ्मय की समीक्षा का आवाहन करता है।

इस बात को कहने की काव्ययात्रा में देश की दुर्दशा एवं कर्जन के अत्याचार का तत्कालीन परिदृश्य कवि अभिव्यक्त करता है। यथा-

निजतस्करनीतिमायया विनियन्तुं वत भारतीयताम्।
जनजीवनभेदभूमिका चतुरस्त्रैः प्रहितः प्रशासकः॥
दुरितानुरतः कदर्जनः सितरक्षा कुलशाखिकण्टकः।
सयुत्य शशास भारतं जननीत्यैव स कर्जनासुरः॥
अधरं दशनैर्निपीडयन् निपुणं देशविदारणोद्यतः।
अकरोदचिरेण कर्जनः कदनं वङ्गधराविभाजनम्॥
अथ भारतभूर्विरूपिता विहताशा दयनीयदर्शना।
जनमानसवैशमातुरा कुटिलाऽऽघातकलङ्किताऽभवत्॥
जननीं पिशिताशघर्षितां पृथुचीत्कारविदीर्णदिङ्मुखीम्।
परितः परिदेवनारवैस्तुमुलोत्तप्तमिवाभवज्जगत्॥
शतशोऽनुदिनं निपातितान् रुधिरार्द्राभिन्दधती सुतान्भृशम्।
धरणी न शशाक कीलितुं हृदयं साथ रुरोद दारुणम्॥3॥

तत्कालीन परतन्त्र भारत की दशा का जीवन्त चित्र कवि यहाँ लार्ड कर्जन के अत्याचार के आलोक में अभिव्यक्त करता है। जिसे देखकर किसी भी भारतीय को यह बोध अवश्य ही होने लगता है कि फिर कभी अपने देश को गुलाम न होने देने की भावना से निर्मल राष्ट्रीयभाव से ही प्रवृत्ति आवश्यक है।

काशी में अध्ययन करते हुए बालक बलदेव उपाध्याय अपने एकमित्र को बचाने के लिए गंगा में तब कूद पड़ते हैं जब वर्षा ऋतु में गंगा में बाढ़ आयी हुई थी, तथा थोड़ी ही देर में वे उसे लेकर बाहर निकल आते हैं। यथा-

हा हाऽर्भक रक्षत रक्षतेति घोरं जनाक्रन्दविरावघोषम्।
उत्सृभृज्य पश्चाद्‌बलदेव आराद् हठात्तटाद्‌विद्युदिवोत्पपात।
निरुद्धनिःश्वासतया न यावन्मित्राणि वाऽन्येऽपि जनाः प्लवन्ते।
शब्देषु तावद्‌व्रसनेषु बालं मज्जन्तमादाय स उन्ममज्ज।।4।।

आचार्य बलदेव के जीवन की इस शौर्यमयी सत्यगाथा का प्रकाशन कर कवि आज के युग के मित्रवर्ग लोकवर्ग को मैत्री का सन्देश देना चाहता है। क्योंकि ''रामादिवत् वर्तितव्यम् न रावणादिवत्'' भारतीय संस्कृत कविता का उद्‌देश्य रहा है।

इस प्रकार 'बलदेवचरितम्' महाकाव्य के अब तक प्राप्त पाँच सर्गों को पढ़ने से उसके रचनाकार प्रो. श्रीनिवासरथ का युग बोधस्वर बलात् सहृदय सामाजिक को सुनाई देता है। जो एक जागरूक कवि का सबसे बड़ा गुण होता है।

सन्दर्भटिप्पण्यः

1. बलदेवचरितम् 1-66,6768
2. बलदेवचरितम् 3-22, 25, 45, 47, 48 ,49
3. बलदेवचरितम् 2-33, 34, 37, 38, 39, 40
4. बलदेवचरितम् 5-67, 68

सन्दर्भ-ग्रन्थ 'बलदेवचरितम्' स्वयं कवि श्रीनिवासरथ के द्वारा प्राप्त टङ्कित प्रतिकृति

डॉ. जर्नादन प्रसाद पाण्डेय 'मणि'
सह-आचार्य, साहित्यविभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
गङ्गानाथ झा परिसर, इलाहाबाद



Microcosmic Concept of Man in Sanskrit Literature

Shalini Shukla

We live on one of the most unique planet earth. Due to commercialization, industrialization and urbanization, it is changing rapidly not only from outer parts but inner part human being is changing. These changes influenced and modified many social values and traditions. Several notable changes are observed in family system. Due to absence of social security, net crimes within families and in the whole society are fast increasing. We are not only forgetting our value system but also ourselves. Are we not part of the cosmos? If we are a drop of fathomless ocean or divine being, why devil in us haunting the whole society? The answer lies itself in the question. We have to wipe out the dust of time and forgetfulness form our ancient Sanskrit literature. Although it is generally understood that 'Vedas' depict the panorama of primitive stages. But if we will go beyond prejudiced feeling it will be clear that in every realm of life 'Vedas' contribution is marvelous. In the whole ancient Sanskrit literature there are many gems of knowledge scattered unnoticed. This paper is a humble starting for unfolding the quest for man's own existence.

Man has undoubtedly discovered many new facts of nature. Many worldly things are making our life easy and comfortable. These comforts have soon become necessicities. Actually we live more for body than for soul. A story in *'Chāndogya Upniṣada'* is worth to read, *'Virochana'* and *'Indra'* went to *'Prajapati'* to know about self and *'Brahma'*. He asked them to dress themselves perfectly and see them in the mirror. They saw that they were looking good. *'Prajapati'* said that their reflection in mirror was *'Brahma'*. *'Virochana'* was satisfied but *Indra* came later dissatisfied and *Prajapati* taught him about *'Brahma'*. But question is what appears to our senses, our immoral body is true or truth is otherwise. These questions must have haunted our an sisters. In the *'Nāsadiya-Sukta'*[1]of *'Ṛgveda'* the quest for birth is well expressed.

1. "Then was not non-existent nor existent: there was no realm of air, no sky beyond it. What covered in, and where? And what gave shelter? Was water there, unfathomed depth of water?

2. Death was not then, nor was there any mortal: No sign was there, the day's and night's divider.

3. Darkness there was: at first concealed in darkness this All was indiscriminated chaos. All that existed then was void and formless: by the great power of Warmth was born the Unit.

4. Thereafter rose Desire in the beginning, Desire, the primal seed and germ of Spirit. Sages who searched with their heart's thought discovered the existent's kinship in the non-existent.

5. Transversely was their severing line extended: what was above it then, and what below it? There were begetters, there were mighty forces, free action here and energy up yonder.

6. Who verily knows and who can here declare it, whence it was born and whence comes this creation? The Gods are later than this world's production. Who knows then whence it first came into being?

7. He, the first origin of this creation, whether he formed it all or did not form it,

Whose eye controls this world in highest heaven, he verily knows it, or perhaps he knows not."

A cosmic origion of man is described in *'Atharvaveda'*[2]. Here heaven is said to be place of noble soul -

"In heaven, where our righteous friends are blessed.
Having cast off discuses from their bodies.
From lameness free and not deformed in members.
There may we see our parents and our children."

In *'Upniṣads'* the cause of birth of man is deeply discussed. Man's relation with cosmos is a matter of debate in *upnishads*. In *'Taittrīyopaniṣad's' 'Bhragu Vallī'*[3] *'Bhregu'* approached his father and said-

"-O sir, please speak to me about – *'Brahma'*. He (the father) said to him (the son) that matter, life, the eyes, the ears, the speech, the mind, all these are manifestations of *'Brahma'*. He (also) said, from which all these beings are born, and by which they live, and in which they merge in the end."

In most of vedic texts, man is considered a part of divine being and there is no difference between man and divine being. But those who go by this verdict that man is nothing but a beast, fail to realize the vedic view of man. No beast is conscious of its being as man is and was. In Vedas divine force is not only controlling from outside but a vitalizing force within. There are countless instances of origion of cosmos in *'Veda'* few are given here, *'Purus Sukta'*[4] of *'Ṛgveda'* gives a cosmic origion of man *'Hiranyagarbha sukta'*[5] of Ṛgveda reveals cosmic force and creator of the universe.

1. A Thousand heads hath Purusa, a thousand eyes, a thousand feet. On every side pervading earth he fills a space ten fingers wide.

2. So mighty is his greatness; yea, greater than his is Purusa.

All creatures are one-fourth of him, three-fourths eternal life in heaven.

'Hiranya garbha' sukta of Ṛgveda' reveals cosmic force and creator of the universe.

1. In the beginning rose Hiranyagarbha, born Only Lord of all created beings.

He fixed and holdeth up this earth and heaven. What God shall we adore with our oblation?

2. By him the heavens are strong and earth is steadfast, by him light's realm and sky-vault are supported:

By him the regions in mid-air were measured. What God shall we adore with our oblation?

3. What time the mighty waters came, containing the universal germ, producing Agni,

Thence sprang the Gods' one producing being. What God shall we adore with our oblation?

In *'Bhagwatgita'* cosmic form of *'Krishna'* revealed when *'Arjun'* insisted to see it. Man is nothing but one of multifarious divine forms of *'Krishna'*. *'Krishna'* says –

"Behold[6] the twelve *'Adityas'*, the eight *'vasus'*, the eleven *'Rudras'*, the twin-born *'Aświnikumaras'*, the *'Maruts'* and see also the many more wonderful forms of Mine, never see by you before, objects and anything else you wish to see, all in me."

"But as it would not possible for you to see me with your mortal eyes, I bestow upto you the celestial vision with which you can see my divine form and my power of yoga."

Man's vision are limited we can't see or explain divine powers. But *'Arjun'* saw it through celestial vision. And in most of the *'upniṣadas'* there is no difference between micro-cosmic and macro cosmic; the human being and divine. Man is just a drop of 'Wide Ocean' but due to ignorance he does not realizes his own real stature. The teachings of *'Krishna'* are more understandable because he is both man and God. He combines physical and metaphysical powers. Life is always changing nothing is permanent. "The cosmic[7] process is generally represented by a rotating wheel. It is ever moving, thanks to the greatness of God. It is the moving image of eternity."

Most of The ancient Sanskrit literature grant the utmost autonomy to the human being. The person is said to be nearest to God and if he has a capacity to realize his own self he can become God also. In the book 'Indian Myth and Legend' praises of *'Soma'* are worth to read[8] –

"This soma is a god; he cures
.....men feel God Within their veins"

If we analyze the successive stages of society and lay down the conditions for the coming of spiritual age we will find a gradual change in human behaviour. How long we will cover the dawn with clouds of doubt? The relation of man with it's body is nothing but an illusion which is realized only in final enlightnment. In the field of cosmogony *'śankhya'* has made contributions of far reaching importance. The process of evolution is from simple to complex. *'Sankhya Darshan'* explains the emergence of the cosmic order as possessor of infinited powers.

Is there any solution for the aggrieved human being as Buddhist say "The world is full of misery." or quoted in *'Sankhya Darshan'* solution for three types of sorrow. The answer is yes, there is a cure. The cure is ultimate reality, absolute or *'Moksha'*. According

to *'Nyaya Darshan'* *'moksha'* is attained by the knowledge of the sixteen categories – *'Pramana, Prameya'* etc.

According to *'Vaisheshik Darshan'* *'moksha'* is attained by the real knowledge of six categories *Dravya, Guna* etc. In *'Śwetaśwatropaniṣad'*[9] the realization of man is well depicted that when he realizes his own self then his all sorrows are gone-

"The self, the individual being deeply involved in this tree (The body) grieves with swooning heart. When he realizes his own self as included within the glory of God. Who is worshipped by all, then only are his sorrows gone. (He goes beyond all sorrow)"

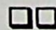
In *'Chandogeya Upaniṣad'* *'Aruni'* explains the real self to *'Svetketu'*. *'Tatwamasi'* is a famous saying in this direction. The concept of *'Moksha'* is very wide and needs a critical analysis. The supreme being has given man a freedom of will to return to the *'Brahma'*. He created the illusion of two just to realize one. Life is like a colourful texture, he has made the net of ignorance because one day man will tear the texture and will make himself free.

Actions desires and illusions are attached to the objects of earthly existence. They draw us back to earth and take us towards rebirth. Most of our actions are due to ignorance. Ignorance may seem to us something positive but with true knowledge it appears suffocative and with complete enlightenment it vanishes. The tragedy of modern man is that on lack of inherent information and absence of control over mind and body (which can be removed by inner and outer discipline), human being is often becomes slave of desires. We are lucky enough to have vast *'Sanskrit'* literature for our resqueand guidance. The true knowledge of self can give us contentment. The supernatural powers, the gods and saints all are blessed with impartial, critical knowledge of self. Realization of our true self can give us complete possession of ourselves, takes us permanently to greater cosmos and support us attaining 'Absolute Freedom'.

References

1. The Hymns of the Ṛgveda by R.T.H. Griffits page no – 633-634 (Rv. 10. 129)
2. Atharva-veda vi, 120-A history of Sanskrit literature page 199.
3. Upaniṣadas for all by Chitrita Devi- page no. -274
4. The Hymns of he Ṛgveda by R.T.H. Griftith page no – 602-03 Rv. 10.90.1,3,5
5. Same page no. 628-29 Rv. 10.121.1.2.3
6. The Bhagwatgita rearranged by N.S. Sebrahmanian page no. 7.
7. The principal upaniṣadas edited by S. Radhakrishnan page no. 743
8. Muir's original Sanskrit texts vol. v page no. 130 as quoted in 'Indian myth and legend ' by Donald A. Mackezino page no.3
9. Upniṣadas for all by Chitrita Devi page no 105.

Dr. Shalini Shukla
Assistant Professor, Dept. of Sanskrit,
Govt. P.G. College Kotdwara, Uttarakhand



कौटुम्बिककल्याणाय वास्तुविचारः

शैलजा पाण्डेय

सम्पूर्णस्य कुटुम्बस्य सुख-समृद्धि-वृद्धिभ्यः वास्तुशास्त्रस्य महत्त्वपूर्णं स्थानं भवति। षट् सांसारिकाणि सुखानि-'अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या' इति संस्कृतवाङ्मये सुखसाधन- रूपेणोक्तानि। एतेषां प्राप्तये रक्षणार्थं च वास्तुशास्त्रस्यापि परामर्शाः महत्त्वभाजो भवन्ति। तत्र मुख्यद्वारस्य स्थितिः, तदलङ्करणम्, द्वारवेधः, प्रवेशः, निर्गमद्वाराणां बाहुल्यम्, ब्रह्मस्थानविचारः, भूमिः, गृहदिशायामौन्नत्यम्, गृहे जलव्यवस्थायाः स्थानं दिशा च, सुखमयदाम्पत्यजीवनाय शयनकक्षः, सन्ततीनां कृते कक्षव्यवस्था, अध्ययनकक्षः, गृहे मातापित्रोः कक्षव्यवस्था इत्यादयो विषयाः विचार्यन्ते। परिवारसदस्यानामनुकूलव्यवस्था समुचितगृहनिर्माणं तदलङ्करणं च कुटुम्बस्य कल्याणाय कल्पते।

परिवारसंस्थायाः आधारशिला सुखदगृहस्थजीवनोपरि न्यस्ता वर्तते। भारतवर्षे कुटुम्बपदेन दम्पतिः, तयोः सन्ततिः इत्येव परिगणिताः न भवन्ति, अपितु अस्मिन् वृद्धपितरौ, अविवाहिताः भ्रातरः भगिन्यश्च, सन्ततिः, तेषां वयस्के जाते पुत्रैः सह पुत्रवध्वः, पौत्रादयोऽपि समायान्ति। इत्थं कस्यापि कौटुम्बिकजीवनस्य सुखं परिवारस्य समग्रसदस्यानां सौख्येन प्रसादेन च सम्बद्धं भवति। कुटुम्बे सुखशान्तिप्रसादनार्थं वास्तुशास्त्रे विविधाः नियमाः प्राप्यन्ते।

किं नाम सुखमिति जगतः शाश्वतप्रश्नोऽस्ति। विविधाः दार्शनिकाः विचारकाश्च पृथक्-पृथग्दृशा स्वमतानि स्थापितवन्तः। भौतिकदृशा गृहस्थजीवनस्य सुखमेतेषु षट्तत्त्वेषु निहितं विद्यते-सततं धनागमः, आरोग्यं, मनोनुकूला पत्नी (जीवनसहचरो वा) तस्याः प्रियवादिता, आज्ञाकारिणः पुत्राः, धनार्जनकारिणी विद्या च। उक्तं च-

> **अर्थागमो नित्यमरोगिता च।**
> **प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।**
> **वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या**
> **षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥**

अर्थागमः

शीलसदाचारौ - सुखदगृहस्थजीवनस्य मेरूदण्डः यथावश्यकं धनागमो भवति। तदेव धनार्जनं गृहस्थाय सुखकरं भवति, अभ्युन्नतिं प्रददाति यस्योपार्जनं सदाचारेण भवति। महाभारतस्य (शान्तिपर्व, 124/20-60) आख्यानानुसारं लक्ष्मीप्राप्तिः शीलेन सदाचारेण च भवति। कथा एवं वर्तते - एकदा प्रह्लादः स्वशीलप्रभावात् स्वर्गलोकस्याधिपत्यं प्राप्तवान्। इन्द्रः पदच्युतः सञ्जातः। पुनः स्वर्गस्य राज्यप्राप्त्यर्थं सः बृहस्पतिशुक्राचार्ययोः परामर्शानुसारेण ब्राह्मणवेषे शिष्यभावेन प्रह्लादस्य सेवां कृतवान्। इन्द्रः वारं वारं प्रह्लादं

पृष्टवान् यत् सः केनोपायेन स्वर्गस्य राज्यमधिगतवान्। पौनःपुन्येन पृष्टः प्रह्लादः तं स्वर्गस्य राज्यप्राप्तिः शीलधर्मादिकैरभवत् इत्युक्तवान्। एकदा प्रह्लादः ब्राह्मणवेषधरस्येन्द्रस्य सेवया प्रसन्नो भूत्वा 'तंवरं' ब्रूहि इत्युक्तवान्। इन्द्रः तस्य शीलमेव याचितवान्। शीलस्य गमनादेव प्रह्लादस्य शरीरतः धर्मसत्यसदाचार-बललक्ष्म्यादयः सर्वे निर्गतवन्तः। क्षुब्धः प्रह्लादः गमनोद्यतां लक्ष्मीं ब्राह्मणस्य विषये पृष्टवान् तथा ब्राह्मणः इन्द्रः आसीत्, इत्यपि ज्ञातवान्। इत्थं शीलरहितः प्रह्लादः स्वर्गराज्यतः भ्रष्टः राज्यलक्ष्मीरहितश्चाभवत् प्रह्लादं प्रति लक्ष्म्याः वचनमेवमासीत्-

धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव ह्यहम्।
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः॥[1]

शीलं व्याख्यायन् व्यासः उपदिष्टवान्-मनसा वाचा कर्मणा कस्यापि अनिष्टं न भवेत् अनुग्रहं दान[2], अहितकरं लज्जोत्पादकं कार्यं न कुर्यात्[3], येन कर्मणा सभायां श्लाघा भवेत्[4], तच्छीलं भवति। एवं शीलसदाचारसमन्विते गृहस्थस्य गृहे लक्ष्मीः सदैव निवसति।

मुखद्वारस्यालङ्करणम्

भवनं सर्वदा सुखसमृद्धियुतं भवेत्, अस्य कृते प्रवेशद्वारं मङ्गलप्रतीकैः घट-पत्र-नारिकेलादिभिः अलङ्कृतं कुर्यात्। उक्तञ्च बृहत्संहितायाम् -

मूलद्वारं नान्यैर्द्वारैरमिसंदधीत रूपर्द्धया।
घटफलपत्रप्रमदादिभिश्च तन्मङ्गलैश्चिनुयात्॥[5]

किन्तु गृहस्यान्यद्वाराणां सज्जा तथा न करणीया भवति।

द्वारवेधस्य बहुद्वारस्य च निषेधः

भवने प्रवेशद्वाराणि निर्गमनद्वाराणि बहुसंख्यकानि सुष्ठु न भवन्ति। यस्य भवनस्य निर्माणकार्यं नूतनपदार्थैः भवति, द्वारवेधो न भवति, दोषवाराहित्यं भवति तस्मिन् गृहे धन-धान्यं तिष्ठति -

न दोषो यत्र न वेधादिर्नव यत्राखिलं भवेत्।
बहुद्वाराणि नो यत्र स्याद्धान्यसञ्चयः॥[5]

आरोग्यम्

गृहस्थजीवनस्यापरसुखं 'नित्यमरोगिता' इत्युक्तमस्ति। कुटुम्बे सर्वे प्राणिनः शरीरेण मनसा च स्वस्थाः प्रसन्नाश्च भवेयुः। एतदर्थं वास्तुशास्त्रे विविधाः विचाराः प्राप्यन्ते। गृहे आरोग्यार्थं द्वाराणां समीचीनं प्रमाणं, द्वारवेधस्य निराकरणं, ब्रह्मस्थाने (गृहस्य मध्यभागे) स्तम्भादीनां परिहारः विचारणीयं भवति। द्वारस्य स्वयं पिधानमपिधानं वाः मानाधिक्यं, द्वारस्यातिनतत्त्वमेवमन्ये दोषाः रोगकारकाः भवन्ति। यथा उन्मादरोगः स्वयमुद्घाटितेन द्वारेणोक्तम्-

उन्मादः स्वयमुद्घाटितेऽथ पिहिते स्वयं कुलविनाशः।[7]

द्वारवेधः

प्रवेशद्वारस्य सम्मुखं यदि मार्ग-वृक्ष-कोण-स्तम्भ-कूप-जलमार्गादिकवेधकारणेष्वेकमपि भवेत् तर्हि भवने द्वारवेधदोषो भवति। किन्तु यदि कारणानामुपस्थितिः द्वारोच्छ्रायात् द्विगुणस्थानं विहाय भवेत् तर्हि दोषाः न भवति-

मार्गतरुकोणस्तम्भकूपभ्रमविद्धमशुभदं द्वारम्।
उच्छ्रायाद् द्विगुणमितां त्यक्त्वा भूमिं न दोषाय।[8]

उपर्युक्तवेधकारणेषु मार्गात् गृहस्वामिनः नाशः, वृक्षात् बालकेषु दोषः, पङ्कात् जलमार्गाद् वा शोकः, जलप्रवाहात् व्ययः, कूपात् अपस्मारः, देववेधात् विनाशः, स्तम्भात् स्त्रीषु दुःशीलता, ब्रह्मवेधात् (प्रतिमादिवेधात्) कुलनाशो भवति-

रथ्याविद्धं द्वारं नाशाय कुमारदोषदं तरुणा।
पङ्कद्वारे शोको व्ययोऽम्बुनिःस्राविणि प्रोक्तः॥
कूपेनापस्मारो भवति विनाशश्च देवताविद्धे।
स्तम्भेन स्त्रीदोषाः कुलनाशो ब्रह्मणोऽभिमुखे॥[9]

ब्रह्मस्थानम्

गृहस्य मध्यभागः ब्रह्मस्थानं निगद्यते। अत्र स्तम्भादिभागानां निर्माणकार्यं गर्हितं भवति। गृहस्य हृत्स्थानस्वरूपेऽस्मिन् भागे भारयुतानां पदार्थानां निक्षेपः, उच्छिष्टपदार्थानामपवित्रपदार्थानां तत्र स्थापनं गृहस्वामिनं कृते कुटुम्बिजनेभ्यश्चाधिव्याधिकारको भवति। उक्तञ्च बृहत्संहितायाम्-

सुखमिच्छन् ब्रह्माणं यत्नाद्रक्षेद् गृही गृहान्तःस्थम्
उच्छिष्टाद्युपघाताद् गृहपतिरुपतप्यते तस्मिन्॥[10]

गृहस्य मध्यभागे द्वारस्य निर्माणं द्रव्यान्ननाशकरं कलहशोकप्रदायकं भवति।

विश्वकर्मणा उक्तञ्च-

गृहमध्ये कृतं द्वारं द्रव्यधान्यविनाशनम्।
आवहेत् कनहं शोकं नारीर्वा सम्प्रदूषयेत्॥[11]

भारद्वाजोऽपि वास्तुमध्यस्थद्वारस्य निषेधं करोति-

शिरा मर्माणि वंशाश्च नालमध्यं च सर्वशः।
विहाय वास्तुमध्यं च द्वाराणि विनिवेशयेत्॥[12]

गृहोच्छ्रायविचारः

गृहाय भूमिचयने गृहनिर्माणकाले च भूमिभवनयोः उच्छ्रितिः नतिश्च विचारणीयं भवति। गृहस्य दक्षिणभागं पश्चिमभागञ्चोन्नतं कारयेत्। पूर्वप्लवमुत्तरप्लवञ्च दक्षिणे पश्चिमे च तुङ्गं भवनं गृहस्वामिनं धनधान्यसमन्वितमभ्युदयशीलञ्च करोति-

स्यादुन्नतिः पूर्वनते नराणां वास्तौ धनं दक्षिणभागतुङ्गे।
क्षयो घनानां विनते प्रतीच्यां उच्चैर्विनाशो ध्रुवमुत्तरेषु॥

यदि गृहं पूर्वदिशि उत्तरदिशि चोच्छ्रितं भवति, तदा गृहस्वामिनः धनहानिः सुतहानिश्च भवति, दुर्गन्ध युते भवने सुतवधः वक्रे भवने बन्धुबान्धवानां हानिः, भवने स्पष्टदिग्बोधस्याभावे जाते सन्ततिर्न भवति-

प्रागुत्तरोन्नते धनसुतक्षयः सुतवधश्च दुर्गन्धे।
वक्रे बन्धुविनाशो न सन्ति गर्भाश्च दिङ्मूढे॥[13]

गृहे जलस्य स्थितिः

गृहे जलस्य अनुकूला स्थितिरपि कुटुम्बे धनसुतानां वृद्धिं प्रददाति। जलस्थानस्य, प्रतिकूलता विविध कष्टानि उत्पादयति वराहमिहिरस्य मतानुसारमुत्तरदिशि ईशानकोणे च गृहे जलस्थितिः धनसुतवृद्धिकरको भवति, अन्यदिक्षु जलस्थानात् सुतहानिः, अग्निभयं, शत्रुभयं, स्त्रीजनेषु कलहकारिता, तासु दोषाः, निर्धनता च

गृहे जायन्ते-

प्राच्यादिस्थे सलिले सुतहानिः शिखिभयं रिपुभयं च।
स्त्रीकलहः स्त्रीदौष्ट्यं नैस्व्यं वित्तात्मजाविवृद्धिः॥[14]

सुखदं दाम्पत्यजीवनम्

भौतिकजीवनस्य षट्सुखेषु 'प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च' उक्तमस्ति। सुखमयजीवनस्य कारकं तत्त्वं मनोनुकूलः सहचरोऽपि भवति। दाम्पत्यजीवनस्य सन्दर्भे वास्तुशास्त्रीयं मतं दर्शनीयं वर्तते-

कामोपभोगसदनम्

दाम्पत्यजीवने कामस्य महत्त्वपूर्ण स्थानं वर्तते। पुरुषार्थचतुष्टये परिगणितस्य अस्य पुरुषार्थस्य सन्दर्भे इदमेव पर्याप्तमस्ति यत् गीतायां भगवान् श्रीकृष्णः स्वकीयं परिचयं धर्माविरुद्धकामरूपेण प्रस्तौति। गृहस्वामी स्वकीयं कामगृहं वायव्योत्तरयोः मध्ये कुर्यात् -

ततः कामोपभोगसदनं वायुकौबेरमध्यतः।[15]

मुहुर्तचिन्तामणिग्रन्थेऽपि इदं तथ्यं प्राप्यते। कक्षानां स्थिति पूर्वतः क्रमशः एवं प्राप्यते-

स्नानाग्निपाकशयनास्त्रभुजेश्च धान्य-
भाण्डारदैवतगृहाणि पूर्वतः स्युः
तन्मध्यस्तु मथनाज्यपुरीषविद्या-
भ्यासाख्यरोदनरतौषधसर्वधाम॥[16]

युवदम्पतीनां कृते यथासम्भवम् अत्रैव व्यवस्था समीचीना भवति।

शयनकक्षः

वास्तुशास्त्रे शयनकक्षस्य कामसदनात् पृथग् व्यवस्था प्राप्यते। शयनकक्षः, विशेषतया गृहप्रमुखस्य, दक्षिणे भवेत्-

याम्यायां शयनं वेश्म[17]

शयनकक्षे शय्यायाः शिरोभागं पूर्वदिशि दक्षिणदिशि वा कुर्यात्। शयनकाले यदा पूर्वे शिरो भवति तर्हि विद्यालाभो भवति। दक्षिणे सुखसम्पदः, पश्चिमे चिन्ता, उत्तरे च हानिर्मृत्यु भवति। उक्तमाचारमयूखे-

प्राक्शिरः शयने विद्या दक्षिणे सुखसम्पदः
पश्चिमे प्रबला चिन्ता हानिर्मृत्युः तथोत्तरे॥

अनुकूला सन्ततिः, तस्य शिक्षा विकासश्च

दाम्पत्यजीवनस्य सफला परिणतिः अनुकूलसन्ततिप्राप्तिर्भवति। आधुनिकजीवनसरण्यां पाश्चात्यसंस्कृत्याः प्रभावात् स्वपुत्रादीनां रक्षणं कस्यापि कृतेऽसम्भवं वर्तते। अस्मात् दुष्प्रभावात् सन्ततिषु औद्धत्यं, स्वार्थपरता, सङ्कीर्णमनोवृत्तिप्रभृतिदोषाः परिलक्षिताः भवन्ति। यद्यपि सर्वत्र व्याप्तात् सांस्कृतिकप्रदूषणात् पुत्रादिकानां पूर्णरूपेण रक्षणं दुष्करं वर्तते, तथापि कैश्चित् वास्तुगतैरुपायैः तेषां पूर्णतः प्रतिकूलता निराकृता भविष्यति। उपायाः एवं सन्ति-

बालकक्षः

गृहे यदि बालानां कृते कक्षव्यवस्था पृथग् भवेत्, तर्हि तेषां कक्षः पूर्वस्यां दिशि भवेत्। तस्याभावे दक्षिणे भवेत्। यदि तेषां कृते पृथक् कक्षव्यवस्था नास्ति, तर्हि तेषां शयनासनव्यवस्था पूर्वे भवेत्। यतो हि,

प्राक्शिरः शयने विद्याप्राप्तिः भवति। पूर्वदिशा बुद्धिप्रदायिनी भवति। पूर्वदिशि सूर्योदयो भवति। उदीयमानः सूर्यः वेदे 'सविता' इति पदेन स्तुतोऽस्ति। गायत्रीमन्त्रे सवितृदेवस्य प्रार्थना बुद्धिप्रेरणाय चेतनायै च कृतास्ति-

धियो यो नः प्रचोदयात्।[18]

बालकक्षस्यान्तःसज्जा

बालानां कक्षे शान्तिकराणि प्रसादकानि रमणीयानि चित्राणि स्थापनीयानि भवन्ति। यथासम्भवं हिंसापराणि, उद्वेजनीयानि, कामप्रभावयुतानि (चित्रपटतारिकादिकानां चित्राणि) चित्राणि तत्र वर्जयेत् यतो हि चित्रेपु सततं दृष्टिपातेपु तेषां प्रभावो बालानां चित्ते मस्तिष्के च भवति। शान्तचित्राणां दर्शनेन बालानां चित्ते शान्तिः प्रसन्नता च भवति। तद्विपरीतमुद्वेगकरचित्रदर्शनेन बालकेपु आक्रामकता उद्वेजनीयता जायते। विष्णुधर्मोत्तरपुराणस्य तृतीयखण्डे गृहेपु अमाङ्गालिकचित्राणां स्पष्टतया निषेधो वर्तते-

युद्धश्मशानकरुणामृतदुःखार्तकुत्सितान्।
अमङ्गल्यांश्च न लिखेत्कदाचिदपि वेश्मसु।।[19]

तद्विपरीतं शुभभावयुतानि चित्राणि गृहे माङ्गल्यप्रदानि भवन्ति-

कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम्।
माङ्गल्यं परमं ह्येतद् गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्।।[20]

बालानां कक्षे देवादीनां चित्राणि स्थापनीयानि भवन्ति। प्रत्यूषकाले देवादीनां दर्शनेन, तान् प्रणम्य दिनचर्यारम्भेन बालानां मनसि दिवसशुभतायाः विश्वासो भविष्यति, तेषां चिन्तनं सकारात्मकं भविष्यति।

बालकक्षे आसनव्यवस्था

बालानामध्ययनाय तेषां कक्षे आसनव्यवस्था एतादृशी भवेत्, यथाध्ययनकाले बालस्य मुखं पूर्वे उत्तरे वा भवेत्। आसनस्य पृष्ठभागे भित्तिः, सम्मुखञ्चावकाशो भवेत्। यदि विद्यार्थिनः आभिमुख्यं भित्तिः बाधा वा भवति तर्हि तस्य मानसिकक्षमता सङ्कुचिता भवति।

इत्थं कक्षव्यवस्थाकरणेन बालाः अन्येभ्यः अधिकतरं शान्ताः, संयताः, सुस्थिराः, अध्ययने एकाग्राः, परिणामतया सफलाः भविष्यन्ति।

वृद्धमातापित्रोः कक्षः

कस्मिन्नपि कुटुम्बे वृद्धौ पितरौ सघनवृक्षच्छायारूपौ भवतः। शरीरदृशा क्षीणे जाते तयोः जीवनस्यानुभवाः विविधजटिलावसरेषु कौटुम्बिजनानां दिशानिर्देशे समर्थाः भवन्ति। जीवनस्य सान्ध्यवेलायां तयोः यथोचितविश्रामार्थं कक्षव्यवस्थां पूर्वे दक्षिणे नैर्ऋत्यकोणे वा कारयेत्। वृद्धानां स्थानं परिवारे गौरवपूर्णं भवति। दक्षिणदिशा नैर्ऋत्यकोणञ्च गृहे गुरुभारवहनार्थं वास्तुशास्त्रे वर्णितमस्ति, अतः परिवारस्य गुरुजनानां कृते तत्र स्थानप्रदानं समीचीनं भवति।

एवं कुटुम्बे आबालवृद्धाः सर्वे जनाः स्वस्थाः प्रसन्नाः भवन्ति स एव परिवारः सुखी भवति। स्वस्थसुखीपरिवारार्थं वास्तुशास्त्रे एवं मङ्गलविधानं प्राप्यते।

पूज्यते देवता यत्र यत्रान्वेक्षणमादरात्।
रक्ता च जनिका यत्र यत्र सम्मार्जनादिकम्।।

यत्र ज्येष्ठकनिष्ठादिव्यवस्था सुप्रतिष्ठिता।
भामवीजो संतपति भानवो नैव यत्र च।।

दीप्यते कोपको यत्र पालनं यत्र रोगिणाम्।
श्रान्तसंवाहना यत्र तत्र स्यात्कमला गृहे।।[21]

यस्मिन् गृहे देवपूजा भवति, कौटुम्बिकजनेषु परस्परप्रीतिः आदरभावश्च, ज्येष्ठकनिष्ठयोः यथोचितप्रतिष्ठा, रुग्णानामशक्तानाञ्च परिचर्या भवति, श्रान्तजनाः यत्र विश्रान्तिं यान्ति, तस्मिन्नेव गृहे श्रीः श्रयति।

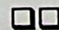
सन्दर्भटिप्पण्यः

1. महाभारत, शान्तिपर्व, 124/60
2. तत्रैव, 124/64
3. तत्रैव, 124/65
4. तत्रैव, 124/66
5. बृहत्संहिता, 53/82
6. वास्तुसौख्य, 370
7. बृहत्संहिता, 53/79
8. बृहत्संहिता, 53/76
9. तत्रैव, 53/77, 78
10. तत्रैव, 53/66
11. बृहत्संहिता, 53/77, पादटिप्पणी (प्रका.-मोती लाल बनारसी दास, 1981)
12. तत्रैव, 53/77 पादटिप्पणी
13. तत्रैव, 53/115
14. बृहत्संहिता, 53/119
15. वास्तुसौख्यम्, 284
16. मुहूर्त चिन्तामणि, 12/21
17. वास्तुसौख्यम्-279
18. ऋग्वेद, 3/62/10
19. विष्णुधर्मोत्तर, तृतीय, 3/43/14
20. तत्रैव, तृतीय, 3/43/38
21. वास्तुसौख्यम्, 371-373

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. ऋग्वेद, वैदिक संशोधन मण्डल, 1897
2. महाभारत, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाद्र, 1979
3. बृहत्संहिता, सम्पा.-एम. रामकृष्ण भट्ट, मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, 1981
4. वास्तु सौख्यम्, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, टेक्स्ट सिरीज 39, 1997
5. मुहूर्तचिन्तामणि।
6. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, तृतीयखण्ड, गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, 130, बड़ौदा, 1958
7. विष्णुधर्मोत्तरपुराणीयं चित्रसूत्रम्, इन्दिरा गाँधी नेशनल सेन्टर फार द आर्ट्स, नई दिल्ली, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली 2001
8. मुहूर्त चिन्तामणि, चौखम्वा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1990

डॉ. शैलजा पाण्डेय
सहायक आचार्या, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, गंगानाथ झा परिसर, इलाहाबाद



पाणिनीयाष्टाध्यायीव्याख्यानपरम्परायां शब्दामृतस्य स्थानं महत्त्वं च

ललित कुमार त्रिपाठी

पाणिनिव्याकरणे अष्टाध्यायीपरम्परायां विप्रराजेन्द्रकृतं शब्दामृतं व्याकरणशास्त्रेतिहासग्रन्थेषु प्रायेण अचर्चितमेव प्रतिभाति। शब्दामृतम् इति ग्रन्थः पाणिनीयाष्टाध्याय्याः श्लोकमयं व्याख्यानं प्रस्तौति। अत्र प्रायेण 2600 श्लोकाः सन्ति। ग्रन्थोऽयं यतो हि नव्यव्याकरणस्य प्रसरात् परं विलिखितः अतोऽत्र प्रक्रियाक्रमेण लिखितानां ग्रन्थानां प्रभावोऽपि वर्तते। अस्मिन् शोधपत्रे शब्दामृतग्रन्थस्य स्वरूपं वैशिष्ट्यं च संक्षेपेणोपस्थापितं वर्तते।

1. पाणिनीयव्याकरणपरम्परायामष्टाध्यायी वार्तिकानि महाभाष्यं च

1.1 वेदा भारतीयज्ञानपरम्पराया आधारभूता इति प्राचीनभारतीयविद्वत्सु प्रचलितो विश्वासः।[1] सर्वेषां विद्यास्थानानां बीजरूपं वेदेषु लभ्यत इति प्रायेण भारतीयमनीषिभिः स्वीकृतो वादः। व्याकरणशास्त्रस्यापि प्रवृत्तिः बीजरूपेण वेदषु लभ्यत इति प्रदर्शयन्ति व्याकरणशास्त्रेतिहासविदः।[2] व्याकरणं वेदाङ्गेष्वन्यतमं प्रधानं वेदाङ्गं विद्यते।[3] पाणिनेर्व्याकरणात् प्रागपि नैकानि व्याकरणानि भारते निर्मितानि प्रचलितानि चाभूवन्।[4] स्वयं महर्षिः पाणिनिरपि अष्टाध्याय्यां नैकेषां वैयाकरणानां नामानि उल्लिलेख।[5] पाणिनिपूर्ववर्तिषु व्याकरणेषु नूनमेव काश्चन न्यूनताः स्युः यस्मात् कारणात् पाणिनेर्व्याकरणस्य उदयात् परं प्रायेण पाणिनिप्राग्वर्तीनि व्याकरणानि लुप्तान्येवाभवन्।

1.2 महर्षिः पाणिनिः सत्स्वपि नैकेषु व्याकरणेषु तेभ्यो विलक्षणस्य यादृशस्य व्याकरणस्य रचनायै प्रावर्तत स तत्र तथा साफल्यमधिजगाम यथा तेनापि कदाचित् कल्पितं स्यान्न वेति सन्देहः। नैकवैशिष्ट्यसमन्वितं पाणिनीयं व्याकरणं शनैः शनैः संस्कृतव्याकरणस्य पर्यायतामेवाप्नोत्। अवश्यमेव महर्षिः पाणिनिः स्वस्मात् पूर्ववर्तिनां नैकेषां व्याकरणानां स्वरूपम्, वैशिष्ट्यम्, गाम्भीर्यम्, विस्तरम्, न्यूनता आलोचनाश्च विज्ञाय अष्टाध्यायीं निर्ममे येनास्य व्याकरणं पूर्ववर्तिनां व्याकरणानां वैशिष्ट्यं धारयद्, न्यूनताः परिहरद्, अभिनवं स्वरूपं च दधत् सुमहतीं परम्परामाविश्चकार। पाणिनिपूर्ववर्तिनां व्याकरणानां का आसन् न्यूनता इति विषयः स्यान्नाम विद्वद्भिर्गवेषणीयो विचारणीयश्च तथापि पाणिनेर्व्याकरणस्य किमस्ति वैशिष्ट्यमिति विषयस्तु नाविदितो विदुषाम्।

1.3 लक्ष्यलक्षणात्मकस्य[6] अस्य व्याकरणशास्त्रस्य द्विविधमस्ति कार्यम्- 1. निर्दुष्टस्य लक्षणस्य लाघवेन निर्वचनम् 2. लक्ष्येषु लक्षणस्य निर्दुष्टं प्रवृत्तिः। निर्दुष्टस्य लक्षणस्य लाघवेन निर्वचनार्थं पाणिनीयाष्टाध्याय्याम् अनुबन्धप्रत्याहारसंज्ञापरिभाषाऽधिकारानुवृत्तिप्रभृतय उपायाः समाश्रिताः सन्ति। लक्षणस्य लक्ष्येषु निर्दुष्टं प्रवृत्तये

पूर्वपरनित्यान्तरङ्गोत्सर्गापवादसिद्धासिद्धवत्सिद्धासिद्धव्यवस्था: समाश्रिता: सन्ति। महर्षि: पाणिनिरनुबन्धाश्रयणेन[7] चतुर्दशानां सूत्राणां साहाय्येन प्रत्याहारप्रयोगै:[8] अनेकव्याकरणशास्त्रीयसंज्ञानां[9] परिभाषाणां[10] चोपयोगैर्बहूनामधिकारसूत्राणां[11] सन्निवेशेन अनुवृत्त्युपयोगै:[12] अष्टाध्यायीसूत्ररूपेण निर्दुष्टं लक्षणमकार्षीत्। एवमेव लक्ष्ये लक्षणस्य निर्दोषं प्रवृत्तये क्वचित् पूर्वविप्रतिपेधव्यवस्थां[13] क्वचिद् उत्सर्गापवादव्यवस्थां[14] क्वचित् सिद्धासिद्धवत्व्यवस्थां[15] क्वचिच्च सिद्धासिद्धव्यवस्थां[16] समाश्रयत्। व्याख्यातृभिर्नित्यानित्यव्यवस्था[17] बहिरङ्गान्तरङ्गव्यवस्थापि[18] पाणिन्यभिप्रेतत्वेन समाश्रिता। उक्तासु व्यवस्थासु पूर्वपर-अधिकारानुवृत्ति-सपादसप्ताध्यायी-त्रिपादी- सिद्धासिद्धवद्भावादिविषयेष्वष्टाध्याय्यां सूत्राणां सन्निवेशस्थानमपि महतीं भूमिकामादधाति। एता: सर्वा व्यवस्था मनसि सन्निधाय सूत्राणां रचना, तेषां स्थाननिर्धारणमतीव दुष्करं कार्यं महर्षिणा पाणिनिना विहितं यदवेक्ष्य विश्वस्य श्रेष्ठा बुद्धिजीविनोऽपि आश्चर्यचकिता: सन्त: पाणिनेर्मेधां प्रति तदीयां कृतिं प्रति श्रद्धावनता भवन्ति। साम्प्रतमपि नैक आधुनिकभाषाविज्ञानविदो वैयाकरणा: संगणकविज्ञानविद: संगणकभाषाविज्ञानविशेषज्ञा: पाणिनीयाष्टाध्याय्या: संरचना-कार्यपद्धति-प्राचीनव्याख्यानसमीक्षण-नवव्याख्यानसम्भवानादिविपयेपु नवनवानुसन्धाने रता दृश्यन्ते।[19]

1.4 नेति नेति इति विचाररीत्या ज्ञानधारा न कदापि जडीभवति न वा तत्रैव विरमति। यत्किमपि शास्त्रं, या काचिदपि मानवकृतिरन्वेषणं वा सर्वथा परिपूर्णं न भवति, न वा पुनर्विचारनिरवकाशं भवितुमर्हति। तत्र भवत्येव पुनर्विचारणाया अवसर:। नैकवैशिष्ट्यसमन्वितायां सत्यामपि पाणिनेरष्टाध्याय्यां क्वचित् संशोधनं परिवर्तनं परिवर्धनं वा अनिवार्यमभूत्। कदाचित् तत्र न्यूनाधिक्यभाववशात्[20] कदाचिद् भाषापरिवर्तनवशाद्[21] वा अष्टाध्याय्यामुक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ताया अवसर: समजायत। अष्टाध्यायीमधिकृत्य महर्षिणा कात्यायनेन यानि वाक्यानि पठितानि तानि वार्तिकरूपेण प्रसिद्धिं गतानि।[22] वार्तिककार: कात्यायन: पाणिनिसूत्रणि यथालक्ष्यं परीक्ष्य यथापेक्षं परिवर्तनं परिवर्धनं संशोधनं वा प्रास्तावीत्।

1.5 पाणिने: कात्यायनाच्च परं महर्षि: पतञ्जलि: पाणिनीयव्याकरणस्य महामान्यो मुनिरजायत येन महाभाष्यं[23] विरचय्य पाणिने: सूत्राणि कात्यायनस्य च वार्तिकानि विस्तरेणाक्षेपसमाधानशैल्या[24] पुनरपि परीक्षितानि व्याख्यातानि च। एवंकरणे क्वचित् कानिचित् सूत्राणि प्रत्याख्यातानि, क्वचित् सूत्रेषु योगविभागव्यवस्था समाश्रिता। महाभाष्यकारेण क्वचित् सूत्राणां छेदपरिवर्तनं विहितम्, क्वचित् सूत्राणां सन्निवेशस्थानस्य परिवर्तनप्रस्तावो विहित:, नैकेपु स्थलेपु वार्तिकानां गतार्थता पाणिनिसूत्रेष्वेव प्रदर्शिता, अपि च नैकानि वार्तिकानि खण्डितानि, क्वचिद् यत्र सूत्रवार्तिकाभ्यामपि न लक्ष्यसिद्धिस्तत्र स्वोपज्ञा इष्टयोऽपि पठिता:।[25] इत्थं च महर्षिणा पतञ्जलिना कात्यायनस्य वार्तिकानां व्याख्यानपरीक्षणपूर्वकम् अष्टाध्यायीपरम्परा पुनरपि निरीक्षिता, परीक्षिता, संशोधनसंवर्धनपरिवर्धनप्रस्तावै: संस्तुता, अव्याप्त्यतिव्याप्तिदोपपरिहारै: परिष्कृता, व्याकरणशास्त्रीयदर्शन-सिद्धान्तैर्गुम्फिता अजस्रं प्रवाहिता च। इत्थं च पाणिनिकात्यायन- पतञ्जलिमहर्षीणामवदानेन पाणिनीयं व्याकरणं नैकविधिना परीक्षितं सुविचारितं पूर्वोत्तरपक्षाभ्यां पुन: पुनरपि विमृष्टं सुदृढं तन्त्रमजायत।[26]

2. पाणिनीयाष्टाध्यायीव्याख्यानपरम्परा

2.1 पाणिनीयाष्टाध्याय्यां पाणिनिकालादेव वृत्तिनिर्माणस्य प्रमाणानि लभ्यन्ते। पाणिनिना स्वयमेवाष्टाध्याय्यां वृत्तिर्विरचितेति सप्रमाणं निरूपयन्ति व्याकरणशास्त्रेतिहासविद:।[27] पाणिनेर्वृत्तिमतिरिच्यश्वोभूति-व्याडि-कुणि-माथुर-नववररुचि-देवनन्दी-दुर्विनीत-चुल्लि- निर्लूर-चूर्णि-प्रभृतिभिराचार्यै- र्वृत्तिग्रन्था विलिखिता आसन्निति व्याकरणशास्त्रेतिहासग्रन्थेषु सप्रपञ्चं निरूपितं विद्वद्भि:।[28]

2.2 पाणिनीयाष्टाध्यायीमधिकृत्य महाभाष्यमतिरिच्य सर्वप्राचीना व्याख्या वामनजयादित्य- विरचिता काशिकैव लभ्यते साम्प्रतम्। काशिकाग्रन्थो व्याकरणशास्त्रस्य वृत्तिनामपरायणादिरूपेण विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य

सन्निवेशं कुरुते। वृत्तिरियं पाणिनीयाष्टाध्यायीं सरलया सुबोधया च गिरा विवृणोति। अष्टाध्याय्याः सुगमव्याख्यानेन प्राचीनकालादेवेयं वृत्तिरष्टाध्याय्या अध्ययनार्थं सुप्रथिता आसीत्। काशिकायां महाभाष्यापेक्षयापि सूत्रवार्तिकयोः स्वरूपदृष्ट्या, भेदोऽपि दृश्यते। काशिकायां चान्द्रव्याकरणस्य कातन्त्रव्याकरणस्य च प्रभावो वर्तत इति प्रतिपादयन्ति विद्वांसः। महाभाष्येऽनुक्तानि नैकानि वचनानि काशिकायां लभ्यन्ते। नैके विद्वांस इमानि अप्रमाणत्वेन संगिरन्ते। विशेषेण कैयटहरदत्तभट्टोजिदीक्षितनागेशभट्टप्रभृतयो विद्वांसः काशिकोक्तानां बहूनां वचनानामप्रमाणत्वं प्रतिपादयन्ति। तथापि काशिकाग्रन्थोऽयमष्टाध्याय्या अध्ययनार्थं महदुपकारकमजायत।[29] काशिकामधिकृत्य जिनेन्द्रबुद्धिकृतो न्यासः, हरदत्तविरचिता पदमञ्जरी चातिमहत्त्वभाजौ टीकाग्रन्थौ काशिकाध्ययने अत्यधिकं समुपकारकौ टीकाग्रन्थौ स्तः।

2.3 अष्टाध्याय्या अनुशीलनक्रमे प्रक्रियापक्षस्यापि उपयोगो भवत्येव। पुरा कुशाग्रमतयोऽ- ष्टाध्यायीक्रमेण पाणिनीयाष्टकमधीयानाः सम्पूर्णां प्रक्रियामपि यथासूत्रं साधयन्ति स्म। किं च व्याकरणान्तरे संस्कृतभाषाशिक्षणार्थं प्रकरणक्रमानुरोधेन प्रक्रियानुरोधिनो ग्रन्था विरचिताः। तेषां प्रभावात् पाणिनीयव्याकरणेऽपि अल्पधियां प्रक्रियाक्रमेण व्याकरणं बोधयितुं प्रक्रियाग्रन्थानां निर्माणमारब्धम्। पाणनीयं व्याकरणमधिकृत्य लिखितेषु प्रक्रियाग्रन्थेषु धर्मकीतिना 'रूपावतार'[30] इत्याख्यो ग्रन्थो विलिखितः। श्रीकृष्णलीलांशुकमुनिना 'प्रक्रियारत्नम्'[31] इत्याख्यो ग्रन्थो व्यरचि। प्रक्रियाग्रन्थेषु श्रीरामचन्द्राचार्येण विरचितः प्रक्रियाग्रन्थः 'प्रक्रियाकौमुदी'[32] इति सर्वानपि पूर्ववर्तिप्रक्रियाग्रन्थानतिशेते। यद्यपि ग्रन्थेऽस्मिन् पाणिनेरष्टाध्याय्याः सर्वाणि सूत्राणि नैव व्याख्यातानि तथापीयं प्रक्रियाकौमुदी पाणिनीयप्रक्रियाग्रन्थेषु महतीं प्रसिद्धिमियाय। ग्रन्थेऽस्मिन् महाभाष्यकाशिकाग्रन्थैः साकमेव रूपावताररूपमालामुग्धबोधादिव्याकरणग्रन्था अपि पर्यालोचिता दृश्यन्ते। प्रक्रियाकौमुदीमाश्रित्य नैके महत्त्वभाजो टीकाग्रन्था अपि विरचिताः।[33]

2.4 प्रक्रियाकौमुद्याः परं पाणिनीयं व्याकरणमाश्रित्य श्रीमता भट्टोजिदीक्षितेन वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी इत्याख्यो ग्रन्थः प्रणीतः।[34] पूर्ववर्तिषु पाणिनीयप्रक्रियाग्रन्थेषु सम्पूर्णानां पाणिनीयसूत्राणां समावेशो नासीत्। भट्टोजिदीक्षितेन विरचितायां वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां सर्वेषां पाणिनीयसूत्रणां समावेशः कृतो दृश्यते। समस्तेऽपि भारते पाणिनीयव्याकरणस्य प्रमुखग्रन्थेषु वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी प्रथिता। वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीमाश्रित्य नैके टीकाग्रन्थाः प्रणीताः।[35] तेषु भट्टोजिदीक्षितेनैव विरचितो व्याख्याग्रन्थः प्रौढमनोरमा, ज्ञानेन्द्रसरस्वतीमहाशयेन लिखिता तत्त्वबोधिनी, रामकृष्णभट्टेन कृतः सिद्धान्तरत्नाकरः, श्रीनागेशभट्टेन विरचितौ बृहच्छब्देन्दुशेखरः लघुशब्देन्दुशेखरश्चेति ग्रन्थौ, वासुदेववाजपेयिविरचिता बालमनोरमा, अन्ये चानेके वैयाकरणसिद्धान्त-कौमुदीव्याख्याग्रन्था अत्यधिकं प्रसिद्धिं गताः।

3. पाणिनीयाष्टाध्यायीव्याख्यानपरम्परायां विप्रराजेन्द्रविरचितं शब्दामृतम्

3.1 पाणिनीयाष्टाध्याय्या वैशिष्ट्यं तस्य लक्ष्यलक्षणात्मकस्वरूपस्य निर्दुष्टतया सम्पादनेन वर्तते। अष्टाध्याय्यां यानि लक्षणानि अर्थात् सूत्राणि तेषां विस्तरेण व्याख्यानं महाभाष्ये कृतम् किं च तत्र नैकेषां पक्षाणामुपस्थापनात् नैकेषां शङ्कासमाधानानामुपस्थापनाद् लाघवेनेदमित्थमितिरूपेण सूत्रव्याख्यानं ज्ञातुमल्पधियां क्लेशः स्यात्। तद्दृष्ट्या वामनजयादित्याभ्यां काशिका वृत्तिर्महते समुपकाराय कल्पते। किं च सापि नैकत्र व्याकरणान्तरप्रभावाद् महाभाष्यानभिप्रेतानपि सूत्रार्थान् व्याचष्टे क्वचिच्च महाभाष्यसिद्धान्तविरुद्धमपि व्याचष्ट इति प्रतिपादयन्ति महाभाष्ये कृतभूरिश्रमा महान्तो वैयाकरणाः। अतो महाभाष्यं परमं प्रमाणं स्वीकुर्वताम् अत्र कदाचिद् विप्रतिपत्तेरस्त्यवसरः। प्रक्रियाक्रमेण पाणिनीयसूत्रार्थानां पुनः पुनरपि परिष्कारेण महाभाष्यस्य परमं प्रामाण्यं स्वीकुर्वद्भिः भट्टोजिदीक्षित-नागेशभट्टप्रभृतिभिर्विद्वद्भिः पाणिनीयसूत्राणामर्थविमर्शः सम्यक् परीक्ष्य निष्कर्षरूपेण प्रस्तुतस्तथापि प्रक्रियाक्रमेण लिखितेषु वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी-प्रौढमनोरमा-शब्दरत्न-

लघुशब्देन्दुशेखर-बृहच्छब्देन्दुशेखरादिग्रन्थेषु पाणिनीयाष्टकक्रमस्याभावात् पाणिनीयाष्टाध्याय्याः सूत्रसन्निवेशक्रमस्य यद् वैशिष्ट्यं तदभावाच्च पाणिनीयसूत्रार्थविमर्शस्य तथा लाभोऽध्येतृभिः प्राप्तुमशक्य एव। अत एव महती खलु अपेक्षा आसीत् तादृशस्यैकस्य ग्रन्थरत्नस्य यः पाणिनीयाष्टाध्याय्याः क्रमवैशिष्ट्यमनुपालयन् पाणिनीयव्याकरणव्याख्यानपरम्परायां सर्वविधं वैशिष्ट्यं क्रोडीकृत्य पाणिनीयामष्टाध्याय्याः पुनरपि व्याख्यानं प्रस्तुयात्। महदेतत् कार्यं सम्पादितं महावैयाकरणेन विदुषा विप्रराजेन्द्रेण अष्टाध्याय्यां 'शब्दामृतम्' इति श्लोकमयीं व्याख्यां विरचय्य। व्याख्याग्रन्थोऽयं पाणिनीयाष्टाध्याय्या व्याख्यानपरम्परायामत्यधिकं महत्त्वं दधाति।

4. शब्दामृतस्य स्वरूपम्

4.1 श्लोकमयं व्याख्यानम्

व्याख्येयं श्लोकमयी वर्तते। पाणिनीयाष्टाध्यायीसूत्राणि धातुपाठं गणपाठं लिङ्गानुशासनं उणादिसूत्राणि व्याकरणदर्शनसिद्धान्तांश्चाश्रित्य शब्दामृते प्रायेण 2600 श्लोका लभ्यन्ते। श्लोकसंख्याविषये ग्रन्थस्यान्ते ग्रन्थकारः स्वयमेव लिखति – 'द्विसहस्रैस्तथाधिक्यैश्श्लोकैरेभिरनुत्तमम्।'[36] अयं ख-लीथो पाठो वर्तते। यद्यपि अस्य ग्रन्थस्य क-लीथोमध्ये श्लोकानां संख्याविषये ग्रन्थान्ते एवं पाठो लभ्यते – 'त्रिसहस्रैस्तथाधिक्यैश्श्लोकैरेभिरनुत्तमम्' इति।[37] किं च क-लीथोपाठः त्रुटिग्रस्तो वर्तत इति शब्दामृतस्य सम्पूर्णानां श्लोकानां गणनया ज्ञायते। शब्दामृते प्रतिपादं श्लोकसंख्या प्रायेण एवं वर्तते-

प्रथमाध्याये प्रथमपादे	254	श्लोकाः
प्रथमाध्याये द्वितीयपादे	101	श्लोकाः
प्रथमाध्याये तृतीयपादे	252	श्लोकाः
प्रथमाध्याये चतुर्थपादे	80	श्लोकाः
द्वितीयाध्याये प्रथमपादे	72	श्लोकाः
द्वितीयाध्याये द्वितीयपादे	37	श्लोकाः
द्वितीयाध्याये तृतीयपादे	39	श्लोकाः
द्वितीयाध्याये चतुर्थपादे	65	श्लोकाः
तृतीयाध्याये प्रथमपादे	207	श्लोकाः
तृतीयाध्याये द्वितीयपादे	80	श्लोकाः
तृतीयाध्याये तृतीयपादे	191	श्लोकाः
तृतीयाध्याये चतुर्थपादे	48	श्लोकाः
चतुर्थाध्याये प्रथमपादे	170	श्लोकाः
चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे	39	श्लोकाः
चतुर्थाध्याये तृतीयपादे	39	श्लोकाः
चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे	31	श्लोकाः
पञ्चमाध्याये प्रथमपादे	57	श्लोकाः
पञ्चमाध्याये द्वितीयपादे	50	श्लोकाः
पञ्चमाध्याये तृतीयपादे	46	श्लोकाः

पञ्चमाध्याये चतुर्थपादे	50	श्लोकाः
षष्ठाध्याये प्रथमपादे	129	श्लोकाः ख-132
षष्ठाध्याये द्वितीयपादे	79	श्लोकाः
षष्ठाध्याये तृतीयपादे	69	श्लोकाः
षष्ठाध्याये चतुर्थपादे	69	श्लोकाः ख- 72
सप्तमाध्याये प्रथमपादे	54	श्लोकाः ख- 52
सप्तमाध्याये द्वितीयपादे	84	श्लोकाः ख- 85
सप्तमाध्याये तृतीयपादे	68	श्लोकाः
सप्तमाध्याये चतुर्थपादे	28	श्लोकाः
अष्टमाध्याये प्रथमपादे	37	श्लोकाः
अष्टमाध्याये द्वितीयपादे	59	श्लोकाः
अष्टमाध्याये तृतीयपादे	72	श्लोकाः
अष्टमाध्याये चतुर्थपादे	55	श्लोकाः

4.2 शब्दामृते छन्दःप्रयोगाः[38]

शब्दामृते प्रायेण अनुष्टुप्छन्दसः प्रयोगः कृतः। किं च क्वचित् अन्येषामपि छन्दसां तद्यथा उपजाति-वंशस्थ-भुजङ्गप्रयातप्रभृतिछन्दसां प्रयोगो लभ्यते।

4.2.1 शब्दामृते उपजातिछन्दस उदाहरणम् -

न तद्धितादेः प्रकृतिस्तिङन्ता
न धातुरूपा तु भवेत् प्रमाणात्।
सार्वो भवन्नैव दुरूहकल्पन
उच्छादितः पाठबलाद्धि भाष्यात्।।[39.1]
शुचेति शोके कुच शब्दतारे
कौटिल्यमल्पत्वमतिं विधत्ते।
व्रुञ्चेति क्रुञ्चेति नलोपिनौ वै
मुञ्चापनाये गतिपूजनेऽञ्चुः।।[39.2]

4.1.2 शब्दामृते वंशस्थछन्दस उदाहरणम्

अथात्र वर्गेष्वनुनासिकान्तका
दिगाख्यया तत्र कृतामुदात्तकाः।
घिणिर्घुणिश्चापि घृणिर्ग्रहे किल
घुणेति घूणेति च घूर्णने मतौ।।[40]

4.1.3 शब्दामृते भुजङ्गप्रयातछन्दस उदाहरणानि-

कृता योगतः कर्तृकर्माभिधेयाद्
भवत्येव षष्ठी न चेष्टान्यरूपा।

कृतीत्येतदत्राथ नो चेत् प्रवाच्यं
भवेत् तद्धितं दूषणं तच्छृणुष्व।।[41.1]

तमालो विशालो विडालो मृडालं कुलालः कपालं पलालं विभाव्यम्।
पतङ्गस्तरङ्गो लवङ्गं विहङ्गो मृदङ्गः कुरङ्गस्तथात्वेन वेद्यम्।।[41.2]

करेणुर्हरेणुर्हथः कुष्ठनीथौ
रथश्चात्र काष्ठं तथा वा भृञश्च।
प्रवाच्यं तथोष्ठञ्च कोष्ठञ्च गाथा
तथार्थस्तथा शोथसार्थाविहाद्यैः।।[41.3]

जराया जरस्वात्वजादौ विभक्तौ
पदाङ्गाधिकारे तदन्तस्य युक्तम्।
श्रुताया तु तस्याः परन्त्वत्र शास्त्रे
तथैवैकदेशस्य भाष्याद्विमृग्यम्।।[41.4]

इसन्तादुसन्तादुकस्तातुकत्वम्
भवेठ्ठस्य सिद्धन्त्वचस्स्थानिवत्त्वात्।
तथा चौषिकादौ न तच्छब्दवाक्यात्
सुसिद्धन्तथा दौष्क इत्यन्यतो हि।।[41.5]

4.2 शब्दामृते व्याकरणस्य विविधानामङ्गानां व्याख्यानम्

शब्दामृते पाणिनीयव्याकरणस्य विविधानामङ्गानां श्लोकमयं व्याख्यानं लभ्यते। तथाहि सूत्रपाठः, धातुपाठः, गणपाठः, लिङ्गानुशासनपाठः, उणादिपाठश्च अत्र श्लोकैर्व्याख्याताः संगृहीता वा सन्ति।[42]

4.2.1 श्लोकात्मकः सार्थो धातुपाठः

अष्टाध्यायीसूत्रे समागतानां भ्वाद्यदादिधातुगणानां तस्मिन्नेव सूत्रे पाठः प्रदीयते। तथा च तस्मिन् सूत्रे धातूनामर्थनिर्देशपूर्वकं धातूनां श्लोकमयमुपस्थापनं क्रियते। तत्र 'भ्वादयो धातवः'[43] इति सूत्रे चतुः सप्तत्युत्तरैकशतेन (174) श्लोकैः भ्वादिगणः, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः[44]' इति सूत्रे द्वादशभिः (12) श्लोकैः अदादिगणः, 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः[45]' इति सूत्रे षड्भिः (6) श्लोकैः जुहोत्यादिगणः, 'सत्यापपाश..[46]' इति सूत्रे त्रिंशता (30) श्लोकैः चुरादिगणः, 'कण्डवादिभ्यो यक्'[47] इति सूत्रे सप्तभिः (7) श्लोकैः कण्ड्वादिगणः, 'दिवादिभ्यः श्यन्[48]' इति सूत्रे चतुर्विंशत्या (24) श्लोकैः दिवादिगणः, 'तुदादिभ्यः शः[49]' इति सूत्रे षोडशभिः (16) श्लोकैः तुदादिगणः, 'रुधादिभ्यः श्नम्[50]' इति सूत्रे सप्तभिः (7) श्लोकैः रुधादिगणः, 'तनादिकृञ्भ्यः उः[51]' इति सूत्रे एकेन (1) श्लोकेन तनादिगणः, 'क्र्यादिभ्यः श्ना[52]' इति सूत्रे दशभिः (10) श्लोकैः क्र्यादिगणः, तत्तद्धातूनामर्थनिर्देशपूर्वकमुपस्थापितो वर्तते।

4.2.2 गणपाठस्य श्लोकमयः पाठः

तत्तद्गणपठितानां शब्दानां प्रायेण तत्तत्सूत्रेष्वेव श्लोकमयमुपस्थापनं वर्तते यत्रायं गणः पठ्यते। प्रमुखानां गणानां श्लोकशो विवरणमेव वर्तते- 'सर्वादीनि सर्वनामानि[53]' इति सूत्रे त्रिभिः (3) श्लोकैः सर्वादिगणः, 'स्वरादिनिपातमव्ययम्[54]' इति सूत्रे पञ्चविंशत्या (25) श्लोकैः तद्गणस्थशब्दानामर्थनिर्देशपूर्वकं स्वरादिगणः, अष्टाभिः (8) श्लोकैर्निपाताः, 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्'[55] इति सूत्रे अष्टाभिः (8) श्लोकैः कुटादिगणः,

द्युद्भ्यो लुङि'[56] इति सूत्रे पञ्चभिः (5) श्लोकैः द्युतादिगणः, 'वृद्भ्यः स्यसनोः'[57] इति सूत्रे द्वाभ्यां (2) श्लोकाभ्यां वृतादिगणः, 'सप्तमी शौण्डैः'[58] इति सूत्रे द्वाभ्यां (2) श्लोकाभ्यां शौण्डादिगणः, 'मयूरव्यंसकादयश्च'[59] इति सूत्रे द्वाभ्यां (2) श्लोकाभ्यां मयूरव्यंसकादिगणः,।

4.2.3 लिङ्गानुशासनस्य श्लोकमयं व्याख्यानम्

'अव्ययीभावश्च'[60] इति सूत्रेण अव्ययप्रकरणं समाप्य सम्पूर्णं लिङ्गानुशासनं श्लोकरूपेण सोदाहरणमुपस्थापितं विद्यते। तत्र 'स्त्री'[61] इति लिङ्गानुशासनसूत्रस्य अधिकारे समागतानां सूत्राणां व्याख्यानं षोडशभिः (16) श्लोकैः, 'पुमान्'[62] इति लिङ्गानुशासनसूत्रस्य अधिकारे समागतानां सूत्राणां व्याख्यानं त्रयस्त्रिंशदुत्तरैकशतेन (133) श्लोकैः, 'नपुंसकम्'[63] इति लिङ्गानुशासनसूत्रस्य अधिकारे समागतानां सूत्राणां व्याख्यानं षोडशभिः (16) श्लोकैः, 'स्त्रीपुंसयोः'[64] इति लिङ्गानुशासनसूत्रस्य अधिकारे समागतानां सूत्राणां व्याख्यानं द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां, 'पुंन्नपुंसकयोः'[65] इति लिङ्गानुशासनसूत्रस्य अधिकारे समागतानां सूत्राणां व्याख्यानमेकेन श्लोकेन कृतं वर्तते। अत्र लिङ्गानुशासनस्य व्याख्यानं सोदाहरणं कृतं विद्यते।

4.2.4 उणादिपाठस्य श्लोकमयं व्याख्यानम्

'उणादयो बहुलम्'[66] इति सूत्रे एव उणादिसूत्राणां पाठोऽपि प्रदत्तो वर्तते। अत्र पञ्चसु पादेषु विभक्तानाम् उणादिसूत्राणाम् एकनवत्युत्तरैकशतेन (191) श्लोकैर्व्याख्यानं विहितं विद्यते।

4.2.5 केषाञ्चन सूत्राणां विस्तरेण व्याख्यानम्

शब्दामृते पाणिनीयाष्टाध्याय्याः प्रायेण सूत्राणि व्याख्यातानि। बहूनि सूत्राणि विस्तरेणापि व्याख्यातानि सन्ति। विस्तरेण व्याख्यातानि कतिचन सूत्राण्यत्र संगृह्यन्ते। तद्यथा - आदिरन्त्येन सहेता'[67] इति सूत्रं पञ्चदशभिः (15) श्लोकैः, 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'[68] इति सूत्रं पञ्चभिः (5) श्लोकैः, 'हलन्त्यम्'[69] इति सूत्रं पञ्चभिः (5) श्लोकैः, 'ङिति ह्रस्वश्च'[70] इति सूत्रं त्रिभिः (3) श्लोकैः, 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्'[71] इति सूत्रं चतुर्भिः (4) श्लोकैः, 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'[72] इति सूत्रं पञ्चभिः (5) श्लोकैः, 'अकथितं च'[73] इति सूत्रं त्रिभिः (3) श्लोकैः, 'समर्थः पदविधिः'[74] इति सूत्रं चतुर्भिः (4) श्लोकैः, 'अव्ययं विभक्तिसमीप.'[75] इति सूत्रं सप्तभिः (7) श्लोकैः, 'नञ्'[76] इति सूत्रं चतुर्भिः (4) श्लोकैः, 'आतश्चोपसर्गे'[77] इति सूत्रं अष्टाभिः (8) श्लोकैः, 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट.'[78] इति सूत्रं चतुर्भिः (4) श्लोकैः, 'अजाद्यतष्टाप्'[79] इति सूत्रं चतुर्भिः (4) श्लोकैः, 'वोतो गुणवचनात्'[80] इति सूत्रं सप्तभिः (7) श्लोकैः, 'अषडक्षाशितं .'[81] इति सूत्रं त्रिभिः (3) श्लोकैः, 'हल्ङ्याभ्यो दीर्घात्.'[82] इति सूत्रं त्रिभिः (3) श्लोकैः, 'एङि पररूपम्'[83] इति सूत्रं त्रिभिः (3) श्लोकैः, 'अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ'[84] इति सूत्रं पञ्चभिः (5) श्लोकैः, 'अङ्गस्य'[85] इति सूत्रं त्रिभिः (3) श्लोकैः, 'असिद्धवदत्राभात्'[86] इति सूत्रं त्रिभिः (3) श्लोकैः, 'वाह ऊठ्'[87] इति सूत्रं त्रिभिः (3) श्लोकैः, 'एकाच उपदेशेनुदात्तात्'[88] इति सूत्रं त्रयोदशभिः (13) श्लोकैः, 'बहुवचने झल्येत्'[89] इति सूत्रं एकादशभिः (11) श्लोकैः, 'दीर्घो लघोः'[90] इति सूत्रं पञ्चभिः 5 श्लोकैः, 'सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा'[91] इति सूत्रं पञ्चभिः (5) श्लोकैः, 'पूर्वत्रासिद्धम्'[92] इति सूत्रं त्रिभिः (3) श्लोकैः, 'नलोपः सुप्स्वर..'[93] इति सूत्रं त्रिभिः (3) श्लोकैः, 'समः सुटि'[94] इति सूत्रं पञ्चभिः (5) श्लोकैः, 'ओतो गार्ग्यस्य'[95] इति सूत्रं त्रिभिः (3) श्लोकैः, 'अ अ'[96] इति सूत्रं पञ्चभिः (5) श्लोकैः व्याख्यातं वर्तते।

4.3 शब्दामृते समागतानि अष्टाध्यायीसूत्राणि, लिङ्गानुशासनसूत्राणि, उणादिसूत्राणि चाहत्य प्रतिपादं सूत्रसंख्याविवरणम्

शब्दामृते ग्रन्थकारः स्वयमेव प्रतिपादं सूत्रसंख्यां श्लोकेन निर्दिशति। सर्वत्र पादान्ते प्रदत्ते श्लोके पूर्वार्द्धभागः समानो वर्तते– 'इति श्रीविप्रराजेन्द्रकृतं शब्दामृतं महत्' उत्तरार्द्धभागे च सूत्रसंख्यायाः निर्देशो वर्तते। तथाहि–

1.1 द्वीपेन्दुसाक्षिसंयुक्ते प्रथमे प्रथमं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 219)
1.2 गुणाद्रिभिस्समायुक्ते प्रथमे द्वितीयं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 73)
1.3 गुणखण्डैः समायुक्ते प्रथमे त्रितयं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 93)
1.4 (क-लीथो) अङ्काम्बरेन्दुभिर्युक्ते प्रथमे तुर्यगं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 109)
(ख-लीथो) अम्बरेन्द्विन्दुभिर्युक्ते प्रथमे तुर्यगं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 110)
2.1 शशिसिन्धुसमायुक्ते द्वितीये प्रथमं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 71)
2.2 वस्वाग्निभिस्समायुक्ते द्वितये द्वितयं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 38)
2.3 त्रिसमुद्रसमायुक्ते द्वितये तृतयं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 73)
2.4 भूताष्टकसमायुक्ते द्वितीये तुर्यगम्पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 85)
3.1 अग्निवाणेन्दुसंयुक्ते तृतीये प्रथमं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 153)
3.2 रसवस्विन्दुसंयुक्ते तृतीये द्वितयं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 186)
3.3 (क-लीथो) अब्ध्यग्निसागरैर्युक्ते तृतीये तृतयम्पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 734)
(ख-लीथो) मीराग्निसप्तसमायुक्ते तृतीये तृतयं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 736)
3.4 मीरेन्दुचन्द्रसंयुक्ते तृतीये तुर्यगं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 117)
4.1 (क-लीथो) समीराब्धीन्दुसंयुक्ते चतुर्थे प्रथमं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 177)
(ख-लीथो) वस्वब्धीन्दुसमायुक्ते चतुर्थे प्रथमं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 178)
4.2 (क-लीथो) सरवेदेन्दुसंयुक्ते चतुर्थे द्वितयं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 145)
(ख-लीथो) वेदवेदेन्दुसंयुक्ते चतुर्थे द्वितयं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 144)
4.3 वस्वृत्विन्दुसमायुक्ते चतुर्थे तृतयं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 168)
4.4 द्व्यब्धिचन्द्रैस्समायुक्ते चतुर्थे तुर्यगम्पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 142)
5.1 वाणाग्निचन्द्रसंयुक्ते पञ्चमे प्रथमं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 135)
5.2 द्विवेदेन्दुसमायुक्ते पञ्चमे द्वितयम्पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 144)
5.3 अङ्केन्दुचन्द्रसंयुक्ते पञ्चमे तृतयं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 119)
5.4 नभश्शास्त्रेन्दुभिर्युक्ते पञ्चमे तुर्यगं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 160)
6.1 (क-लीथो) गुणाक्ष्यक्षिसमायुक्ते षाष्ठेऽत्र प्रथमं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 223)
(ख-लीथो) वेदाक्ष्यक्षिसमायुक्ते षाष्ठेऽत्र प्रथमं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 224)
6.2 नवाङ्केन्दुसमायुक्ते षाष्ठेऽत्र द्वितयं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 199)
6.3 शून्यवेदेन्दुसंयुक्ते षाष्ठेऽत्र त्रितयं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 150?)
6.4 (क-लीथो) शास्त्राब्धीन्दुसमायुक्ते षाष्ठे च तुर्यगं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 176)
(ख-लीथो) वेदाब्धीन्दुसमायुक्ते षाष्ठे च तुर्यगं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 174)
7.1 गुणाम्बरेन्दु सँय्युक्ते सप्तमे प्रथमं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 103)

7.2 (क-लीथो) चन्द्राक्षिवसुभिर्युक्ते सप्तमे द्वितयं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 128?)
(ख-लीथो) खेताक्षीन्दुभिर्युक्ते सप्तमे द्वितयं पदम्।।

7.3 चन्द्राक्षीन्दुसमायुक्ते सप्तमे तृतयम्पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 121)

7.4 समीराङ्कसमायुक्ते सप्तमे तुर्य्यगम्पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 97)

8.1 वेदाद्रिभ्यां समायुक्ते त्वष्टमे प्रथमम्पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 74)

8.2 अङ्काम्बरेन्दुभिर्य्युक्ते त्वष्टमे द्वितयम्पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 109)

8.3 (क-लीथो) अङ्केन्दुचन्द्रसय्यँुक्ते त्वष्टमे त्रितयम्पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 119)
(ख-लीथो) अम्वराक्षीन्दुसंयुक्ते त्वष्टमे त्रितयम्पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 120)

8.4 अङ्काद्व्यशास्त्रसंयुक्तेत्यष्टमे तुर्यगं पदम्।। (प्रदत्तसूत्रसंख्या 69)

5. शब्दामृते सूत्रार्थव्याख्यानसरणिः

5.1 प्रायेण भट्टोजिदीक्षितमतानुसरणम्

5.1.1 शब्दामृते पाणिनिसूत्रार्थः प्रायेण भट्टोजिदीक्षितविचारितदिशा प्रवर्तते। क्वचिद् नागेशभट्टस्य मतमपि स्वीकृतं दृश्यते। यथा भट्टोजिदीक्षितेन वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां चतुर्दशसु सूत्रेषु हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः प्रतिपादितः। किं च लण्-सूत्रस्थाकार इत्संज्ञकः प्रतिपादितः।[97] तत्फलं तु लण्-सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो वर्णो रेफो रलयोः संज्ञा इत्युक्तम्।[98] विप्रराजेन्द्रेणापि शब्दामृत एवमेव व्याख्यातम्। तथा हि 'आदिरन्त्येन सहेता' इति सूत्रे शब्दामृते विप्रराजेन्द्र आह - 'लेत्यकारादपि ग्राह्यो रेति भाष्यार्थकोविदैः'।[99] इति। 'उरण् रपरः' इति सूत्रेऽपि शब्दामृते उक्तम्- 'ऋलृवर्णेति सावर्ण्यात् तयोस्त्रिंशत् प्रभेदतः। स्थाने स्याद् रपरस्तद्वत् पूर्वेणैवाण् विनिश्चिनु।।'[100] इति।

5.1.2 'उपदेशेजनुनासिक इत्'[101] इति सूत्रे 'हलन्त्यम्'[102] इति सूत्रे च भट्टोजिदीक्षितेन उपदेशशब्दो भावघञन्तः स्वीकृतो दृश्यते।[103] विप्रराजेन्द्रेणापि अत्र उपदेशपदस्य व्याख्यानं तथैव कृतं वर्तते। तथा च 'उपदेशेजनुनासिक इत्' इति सूत्रे आह विप्रराजेन्द्रः - 'आद्यमुच्चारणं संज्ञि चोपदेशस्य मन्त्रवत्'[104] इति।

5.1.3 भट्टोजिदीक्षितेन 'हलन्त्यम्'[105] 'आदिरन्त्येन सहेता'[106] इति सूत्रयोर्मध्ये अन्योन्याश्रयदोषपरिहाराय 'हलन्त्यम्' इति सूत्रस्य आवृत्त्या व्याख्यानं विहितम्।[107] तथाहि हल्सूत्रान्त्यमित् स्यात् इत्यर्थकेन 'हलन्त्यम्' इति प्रथमसूत्रेण हल्-सूत्रान्त्यस्य लकारस्येत्संज्ञां विधाय 'आदिरन्त्येन सहेता' इति सूत्रेण 'हल्' प्रत्याहारं विधाय 'हलन्त्यम्' इति द्वितीयसूत्रस्यार्थम् - उपदेशे अन्त्यं हल् इत्स्यादिति सम्पादयति भट्टोजिदीक्षितः।[108] विप्राजेन्द्रेणापि 'हलन्त्यम्' इति सूत्रं तथैव व्याख्यातं वर्तते। तथाह विप्रराजेन्द्रः- 'तन्त्रावृत्त्येकशेषेण हलस्सूत्रान्त्यमिद् भवेत्'[109] इति।

5.1.4 'इको गुणवृद्धी'[110] इति सूत्रे भट्टोजिदीक्षितेन 'वृद्धिरादैच्'[111], 'अदेङ् गुणः'[112] इति सूत्रद्वयात् गुणवृद्धिपदमनुवर्त्य 'गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्रेक इति पदमुपतिष्ठते' इति सूत्रार्थो वर्णितः।[113] विप्रराजेन्द्रेणापि एवमेव सूत्रर्थो व्याख्यातः। तथाह विप्रराजेन्द्रः शब्दामृते 'इको गुणवृद्धी' इति सूत्रे - 'गुणवृद्धिपदावृत्त्या गुणवृद्धिपदेन ते। तत्र चेकः पदं सार्थं चोपतिष्ठेन्निरन्तरम्।।'[114] इति।

5.1.5 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'[115] इति सूत्रार्थोऽपि विप्रराजेन्द्रेण भट्टोजिदीक्षितविचारितदिशा[116] व्याख्यातः। तथा चोक्तं विप्रराजेन्द्रेण - प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च धातुं चाप्यत्र वर्जयेत्। तन्त्रादिनोभयार्थत्वाच्चार्थवत्त्वान्नाम ' संज्ञकम्।। वृत्त्यार्थबोधकं चात्र चैकार्थीभावमग्रतः। प्रत्ययग्रहं चात्र कुर्वतो हि द्विधा मतम्।।'[117] किं बहुना

विप्रराजेन्द्रेण सूत्रेऽस्मिन् भट्टोजिदीक्षितविचारितदिशा अत्र श्लोकरूपेण परिष्कारपक्षोऽपि उपस्थापितो वर्तते। तथा चोक्तं विप्रराजेन्द्रेण - एतत्संज्ञाफलभूतो यः प्रत्ययो यावदीरितः। ततोऽनपेक्षया लोके चार्थवत्त्वं प्रदर्शितम्।[118] इति। अयं विषयो दिङ्मात्रमेवात्र प्रदर्शितः। एवमन्यत्राप्यनुसन्धेयम्।

5.2 क्वचिन्नागेशमतानुसरणम्

5.2.1 किं च क्वचिद् विप्रराजेन्द्रेण भट्टोजिदीक्षितमतं नापि स्वीक्रियते। यथा 'नाज्झलौ' इति सूत्रे आकारप्रश्लेषं विनैव सूत्रार्थो वर्णितो विप्रराजेन्द्रेण।[119]

5.2.2 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा'[120] इति सूत्रे 'नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः' इति प्रतिपादयता भट्टोजिदीक्षितेन 'कृष्णः', 'श्रीः', 'ज्ञानम्' इति प्रातिपदिकार्थमात्रस्योदाहरणं प्रदत्तम्।[121] किं च नागेशेन 'कृष्णः' इत्यादिकं तु लिङ्गमात्राधिक्यस्योदाहरणं स्वीकृतम्। नागेशमते व्यक्तिः प्रवृत्तिनिमित्तं वा प्रातिपदिकार्थः स्वीकृतः।[122] विप्रराजेन्द्रः शब्दामृते प्रातिपदिकार्थसूत्रे नागेशभट्टमतं स्वीकुर्वाण एव दृश्यते।[123] एवमेव अन्यत्राप्यनुसन्धेयम्।

5.3 शब्दामृते महाभाष्यस्य विविधपक्षोपस्थापनम्

शब्दामृते सूत्रार्थव्याख्याने महाभाष्ये समुपस्थापितानां विविधानां पक्षाणां क्वचित् संक्षेपेणोल्लेखपूर्वकं सिद्धान्तपक्षः प्रस्तूयते। महाभाष्ये प्रत्याख्यातसूत्राणामपि तत्तत्सूत्रव्याख्याने एव सङ्केतः प्रदीयते। महाभाष्ये नैकानि सूत्राणि प्रत्याख्यातानि सन्ति। विप्रराजेन्द्रेण शब्दामृते प्रायेण महाभाष्ये प्रत्याख्यातसूत्राणां व्याख्यानप्रसङ्गे प्रत्याख्यानस्यापि निर्देशः प्रदत्तो वर्तते। तथा हि न 'धातुलोप आर्धधातुके'[124], 'दीधीवेवीटाम्'[125], 'सर्वादीनि सर्वनामानि'[126], 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः'[127] 'न वेति विभाषा'[128], 'इग्यणः सम्प्रसारणम्'[129], 'एच् इग्घ्रस्वादेशे'[130], 'आदेः परस्य', 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्,'[131] 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'[132] इत्यादिसूत्राणां व्याख्याने प्रत्याख्यानप्रसङ्गोऽपि उपस्थापितो वर्तते।

5.4 शब्दामृते दार्शनिकविषयोपस्थापनम्

शब्दामृते यथास्थानं व्याकरणदर्शनस्य सिद्धान्ता अपि समुपस्थापिता वर्तन्ते। शब्दामृतस्य आरम्भादेव दार्शनिकविषयाणामुपस्थापनं लभ्यते। तथा हि मङ्गलश्लोक एव स्फोटब्रह्मवादस्योल्लेखः कृतो वर्तते।[133] एवमेव चतुर्दशानां माहेश्वरसूत्राणां दार्शनिकी व्याख्या विस्तरेण कृता वर्तते।[134] 'स्वरादिनिपातमव्ययम्'[135] इति सूत्रे धात्वर्थविचारः, 'समर्थः पदविधिः'[136] इति सूत्रे समासविचारः, 'विभाषा'[137] इति सूत्रे वृत्तौ जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थेति विचारः, 'प्रातिपदिकार्थ..'[138] इति सूत्रे नामार्थविषये विविधाः पक्षा वर्णिताः सन्ति। 'सम्बोधने च'[139] इति सूत्रे सम्बोधनस्य क्रियामन्वयो निरूपितः। 'वोतो गुणवचनात्'[140] इति सूत्रे गुणविषये विचारणा कृताऽस्ति। दार्शनिकविचारणायां बहवः श्लोकाः पूर्ववर्तिग्रन्थेभ्यस्तथैव स्वीकृता दृश्यन्ते।

6. शब्दामृतकर्तुः विप्रराजेन्द्रस्य परिचयः

शब्दामृतस्य अन्ते ग्रन्थकृता स्वयमेव स्वपरिचय एवमुपस्थापितो वर्तते -
वेदानां सामवेदैकस्तत्र शाखास्सहस्रशः। तास्वेका कौथुमीशाखा मध्यदेशे प्रतिष्ठिता।।
तस्यां विनिर्गतो देवाच्छैव्या धर्मधुरन्धरः। मन्युदत्तस्ततो जातश्शिवतत्त्वात्मनिर्वृतः।।
विप्रराजाह्वया मान्यो भूभृतामपि मानदः। मया तेनाद्भुतं मत्वा शिवयोः प्रीतिकारणात्।।
शब्दामृतं शब्दशास्त्रं निर्मथ्यामृतमद्भुतम्। सर्वविद्याभिसंयुक्तं पाणिनीयाष्टके परम्।।
वेदवेदाङ्गसारार्थसर्वविद्योपकारकम्। प्रियतामुयया शम्भुर्यत्तदाज्ञावशागमः।।[141]

उक्तश्लोकस्य अनुसारं विप्रराजेन्द्रस्य पितामहस्य नाम देवदत्तः मातामह्याः नाम शैवी आसीत्। तस्य पितुः नाम मन्युदत्तः आसीत्। अस्य वंशजाः सामवेदीया आसन्। राजेन्द्रदिग्विजयम्[142] इत्याख्ये लघुग्रन्थे काशीनरेशस्य सभायां विप्रराजेन्द्रस्य संजातायाः शास्त्रचर्चाया विवरणं लभ्यते। तदनुसारं विप्रराजेन्द्रः वाराणस्यां सुप्रसिद्धस्य विदुषः गङ्गाधारशास्त्रिणः समकालिक आसीत्। गङ्गाधारशास्त्रिणः कालः 'काशी की पाण्डित्य परम्परा'[143] इत्याख्ये ग्रन्थे सम्वत् 1910-1970 (ई. 1853-1913) उल्लिखितो वर्तते। विप्रराजेन्द्रस्य स्थितिरपि अस्मिन् कालखण्डे न्यूनाधिकभावेन स्यादिति मन्ये। अधिकमत्रानुसन्धेयम्।

7. शब्दामृतग्रन्थस्य लीथो विवरणम्

राष्ट्रिसंस्कृतसंस्थानस्य गङ्गानाथझापरिसरस्य सङ्ग्रहालये विप्रराजेन्द्रविरचितस्य शब्दामृतस्य लीथोग्रन्थस्य द्विविधं संस्करणं सुरक्षितं लभ्यते। राष्ट्रिसंस्कृतसंस्थानस्य गङ्गानाथझापरिसरस्य सङ्ग्रहालये सुरक्षितस्य एकस्य लीथोग्रन्थस्य Acc. No. 37159 इति वर्तते। एतस्य लीथो ग्रन्थस्य मुद्रणकालस्य स्थानस्य च विषये ग्रन्थान्ते एवमस्ति उल्लेखः- कर्तिक ब.पं.सं. 1932, बनारस। अस्य लीथोग्रन्थस्य अन्ते मुद्रणालयस्य एवमस्त्युल्लेखः- विद्योदयो निराकुर्यादविद्यातिमिरं सदा। सहस्रांशुरिवाशेषं मुद्राकिरणराजिभिः।।

राष्ट्रिसंस्कृतसंस्थानस्य गङ्गानाथझापरिसरस्य सङ्ग्रहालये सुरक्षितस्य अपरस्य लीथो-ग्रन्थसंस्करणस्य Acc. No. 35996 इति वर्तते यस्य मुद्रणकालः संवत् 1941 वर्तते। एतस्य संशोधानं विप्रराजेन्द्रस्य शिष्येण शिवदासेन कृतमिति लीथोग्रन्थस्यान्ते उल्लिखितं वर्तते। अस्मिन् लीथोग्रन्थे अन्ते अस्त्ययमुल्लेखः-

विद्योदयो निराकुर्यादविद्यातिमिरं सदा। सहस्रांशुरिवाशेषं मुद्राकिरणराजिभिः।।

अलभ्यं यद्यदन्यस्मात् तल्लभ्यमितो ध्रुवम्। विद्याविभूषणे यन्त्रे मुद्रितोऽयं शिलाक्षरैः।।

गुरुपुङ्गवविप्रसु राजगुरुस्तत आर्यवर्यसुशिष्यवरुः।
द्विजवेशमणिशिवदाससुधीकृतयन्त्रसुयन्त्रितशुद्धकृतिः।।

8. शब्दामृतस्य सम्पादनम्

उक्तयोर्लीथोर्ग्रन्थयोराधारेण शब्दामृतग्रन्थो राष्ट्रिसंस्कृतसंस्थानस्य गङ्गानाथझापरिसरस्थेन प्रकृतलेखलेखकेन सम्पादितो वर्तते।

9. उपसंहारः

महावैयाकरणोऽयं विप्रराजेन्द्रः तस्मिन् काले अष्टाध्यायीक्रमेण शब्दामृतम् इति व्याख्यानमकार्षीद् यस्मिन् काले प्रक्रियाक्रमस्यैव सर्वत्र डिण्डिमघोषः श्रूयमाण आसीत्। भट्टोजिदीक्षतनागेशभट्ट-प्रभृतिभिर्विचारितदिशा सूत्रार्थविमर्शस्य महत्त्वमवगम्यापि पाणनीयष्टकक्रमस्य महत्त्वमपरित्यज्य पाणिनीयाष्टाध्यायीव्याख्यानपरम्परा एतेन विदुषा भृशं संवर्धिता। सूत्रार्थविचारे प्रक्रियाक्रमेण समागतानां परिष्कृतविचाराणामप्यत्र समावेशो दृश्यते। धातुपाठलिङ्गानुशासनगणपाठानाम् अष्टाध्यायीक्रमेण समावेशः ग्रन्थस्य महत्त्वं वर्धयति। दार्शनिकविषयाणामुपस्थापनं ग्रन्थस्य पूर्णतां गमयति। व्याकरणशास्त्रस्य नीरसानामपि विषयाणां श्लोकैरुपस्थानं ग्रन्थस्य सरसतां प्रकटयति। नैकवैशिष्ट्यसमन्वितोऽयं शब्दामृत-ग्रन्थोऽष्टाध्यायीक्रमेण पाणिनीयं शास्त्रमधीयानानां कृते महते समुपकाराय कल्पिष्यते इति मे प्रतिभाति।

सङ्केताः

पा.सू. - पाणिनिसूत्रम् (पाणिनीयाष्टाध्यायीसूत्रम्)

सं. व्या. शा. इति. – संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास
वै. सि. कौ. – वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

सन्दर्भटिप्पण्यः

1. सर्वज्ञानमयो हि सः। मनु. 2/7 मेधातिथिटीका, उद्धृत व्या.शा.का इति., युधिष्ठिरमीमांसक
2. द्र. सं.व्या.शा. का इति. 1, युधिष्ठिरमीमांसक, पृ. 51
3. 'प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृते यत्ने फलवान् भवति'। महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्, पृ. 19, गुरुप्रसादशास्त्रीसंस्करणम्
4. 'पाणिनि पूर्व प्राचीन 85 व्याकरणप्रवक्ता'। द्र. व्या. शा. का इति.,युधिष्ठिरमीमांसक, पृ. 51
5. आपिशलिः-पा.अ.6.1.92। काश्यपः-पा.अ.1.2.25। गार्ग्यः-पा.अ.8.322। गालवः-पा.अ.7.1.74। चाक्रवर्मणः-पा.अ.6.1.130। भारद्वाजः-पा.अ.7.2.63। शाकटायनः-पा.अ.3.4.11। शाकल्यः-पा.अ. 1.1.16। सेनकः-पा.अ.5.4.112। स्फोटायनः-पा.अ.3.1.122
6. 'लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्। लक्ष्यं च लक्षणं चैतत्समुदितं व्याकरणं भवति'। महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्, पृ. 7
7. पाणिनीयव्याकरणे अनुबन्धानामुपयोगप्रयोजनादिदृष्ट्या द्रष्टव्यो ग्रन्थः- ANUBANDHAS OF PANINI, G.V.DEVASTHALI, UNIVERSITY OF PUNE, 1967

8.1 'वृत्तिसमवायार्थो वर्णानामुपदेशः।' महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्, पृ.72, गुरुप्रसादशास्त्रीसंस्करणम्

8.2 'वृत्तिसमवायश्चानुबन्धकरणं च प्रत्याहारार्थम्।' महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्, पृ.74, गुरुप्रसादशास्त्रीसंस्करणम्

9. अष्टाध्याय्यां प्रमुखाः संज्ञाः- वृद्धि-गुण-संयोग-अनुनासिक-सवर्ण-प्रगृह्य-निपात-घ-संख्या-षट्-सर्वनाम-अव्यय- सर्वनामस्थान-लोप-लुक्-लुक्-श्लु-लुप्-टि-उपधा-वृद्ध-ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-उदात्त-अनुदात्त-स्वरित-अपृक्त-कर्मधारय-उपसर्जन-प्रातिपदिक-धातु-इत्-आत्मनेपद-परस्मैपद-नदी-घि- ह्रस्व-अङ्ग-गुरु-पद-भ-कारक-अपादान-सम्प्रदान-करण-अधिकरण-कर्म-कर्ता-हेतु-निपात-उपसर्ग-गति-कर्मप्रवचनीय-प्रथम-मध्यम-उत्तम-संहिता-विराम-समास-अव्ययीभाव-तत्पुरुप-बहुव्रीहि-द्वन्द्व-कृत्-कृत्य-तद्धित-गोत्र-युव-तद्राज-विभक्ति-अभ्यस्त-षट्-आम्रेडित-प्रभृतयः।
10. अष्टाध्याय्यां प्रमुखाः परिभाषाः- आद्यन्तौ टकितौ-पा.सू. 1.146, मिदचोऽन्त्यात् परः- 1.1.47, एच इग्घ्रस्वादेशे- पा.सू. 1.148, षष्ठी स्थानेयोगा-पा.सू.1.1.49, स्थानेऽन्तरतमः-पा.सू.1.1.50, उरण् रपरः-पा.सू.1.1.51, अलोऽन्त्यस्य-पा.सू. 1.1.52, ङिच्च - पा.सू. 1.1.52, आदेः परस्य- पा.सू.1. 1.54, अनेकाल् शित्सर्वस्य पा.सू. 1.1.55, तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य-पा.अ.1.1.66, तस्मादित्युत्तरस्य 1.1.67, स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा 1.1.68, तपरस्तत्कालस्य 1.1.70, येन विधिस्तदन्तस्य 1.1.7।
11. अष्टाध्याय्यां प्रमुखाः अधिकाराः- आकडारादेका संज्ञा - पा.सू. 1.4.1, कारके -पा.सू. 1.4.23, प्राग्रीश्वरान्निपाताः -पा.सू.1.4.56, कर्मप्रवचनीयाः - पा.सू.1.4.83, प्राक्कडारात् समासः- पा.सू. 2. 1.3, अव्ययीभावः -पा.सू. 2.1.5, तत्पुरुषः 2.1.22, बहुव्रीहिः -पा.सू. 2.2.23, अनभिहिते -पा.सू 2.3.1, प्रत्ययः- पा.सू. 3.1.1, परश्च -पा.सू. 3.1.2, आद्युदात्तश्च पा.सू. 3.1.3, धातोः -पा.सू. 3. 1.91, कृत्याः -पा.सू. 3.1.95, भूते - पा.सू. 3.2.84, लस्य - पा.सू. 3.4.77, ङ्याप्प्रातिपदिकात् - पा.सू. 4.1.1,स्त्रियाम् - पा.सू. 4.1.2, अनुपसर्जनात् - पा.सू. 4.1.14, तद्धिताः - पा.सू. 4.1.76,

प्राग्दीव्यतोऽण् - पा.सू. 4.1.83, शेषे - पा.सू. 4.2.92, प्राग्वहतेष्ठक् - पा.सू. 4.4.1, प्राग्घिताद् यत् - पा.सू. 4.4.76, प्राक् क्रीताच्छः - पा.सू. 5.1.1, प्राग्वतेष्ठञ्- पा.सू. 5.1.18, कालात् - पा.सू. 5.1.78, प्राग्दिशो विभक्तिः -पा.सू. 5.3.1, प्रागिवात् कः - पा.सू. 5.3.70, समासान्ताः - पा.सू. 5.4.68, एकाचो द्वे प्रथमस्य - पा.सू. 6.1.1, अजादेर्द्वितीयस्य - पा.सू. 6.1.2, संहितायाम् - पा.सू. 6.1.72, एकः पूर्वपरयोः - पा.सू. 6.1.84, सुट्कात्पूर्वः - पा.सू. 6.1.135, आदिरुदात्तः - पा.सू. 6.2.64, अन्तः- पा.सू. 6.2.143, अलुगुत्तरपदे - पा.सू. 6.3.1, सँहितायाम् - पा.सू. 6.3.114, अङ्गस्य - पा.सू. 6.4.1, असिद्धवदत्रभात् - पा.सू. 6.4.22, आर्धधातुके - पा.सू. 6.4.46, भस्य - पा.सू. 6.4.129, मपर्यन्तस्य - पा.सू. 7.2.91, उत्तरपदस्य - पा.सू 7.3.10, सर्वस्य द्वे -पा.सू 8.1.1, पदस्य - पा.सू. 8.1.16, पदात् - पा.सू. 8.1.17, अनुदात्तं सर्वमपादादौ - पा.सू. 8.1.18, पूर्वत्रसिद्धम् - पा.सू. 8.2.1, वाक्यस्य टेः उदात्तः - पा.सू. 8.2.82

12. पाणिनीयव्याकरणे अनुवत्तिपद्धतेरनुशीलनार्थं द्रष्टव्यो ग्रन्थो The Fundamentals of anuvritti by S.D.Joshi and Saroja Bhate, University of Pune, Pune, 1984
13. विप्रतिषेधे परं कार्यम् - पा.सू. 1.4.2
14. 'किंचित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। कश्चिदुत्सर्गः कर्तव्यः कश्चिदपवादः। सामान्येनोत्सर्गः कर्तव्यः। तद्यथा कर्मण्यण् तस्य विशेषेणापवादः। तद्यथा आतोनुपसर्गे कः।' महाभा., पस्प.पृ. 44, गुरुप्रसादशास्त्रीसंस्करणम्
15. असिद्धवदत्राभात् - पा.सू. 6.4.22
16. पूर्वत्रासिद्धम् 8.4.1
17. द्र. 'परान्नित्यं बलवत्'। परिभाषा 42, परिभाषेन्दुशेखरः, नागेशभट्टः
18. द्र. 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' परि. 50, परि. शे. नागेशभट्ट
19. जार्ज कार्डोना - एस.डी. जोशी-रमानाथशर्म-प्रभृतिविदुषाम् अष्टाध्यायीमाश्रित्य कृतानि कार्याणि अवश्यं द्रष्टव्यानि सन्ति।
20. उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्वं वार्तिकलक्षणमेव सूत्रेषु क्वचिद् न्यूनाधिकभावं गमयति।
21. द्र. Evolution of the Sanskrit Language From Panini to Patanjali, S.D.Laddu, Centre of the Advanced Study in Sanskrit, 1974
22. उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्वं हि वार्तिकत्वम्, उद्योतः, नागेशभट्टः, महाभाष्यम् 7.3.59, गुरुप्रसादशास्त्री संस्करणम्,
23. सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।। (विद्वत्सु प्रथितं वचः)
24. 'आक्षेपसमाधानपरो भाष्यम्'
25. महाभाष्यस्य महत्त्वं च इष्ट्युपसङ्ख्यादिना वर्तते।
26. अतएव त्रिमुनिव्याकरणम् इति प्रसिद्धिः।
27. द्र. सं.व्या.शा. का इति. 1, युधिष्ठिरमीमांसक, पृष्ठ 436-437
28. तत्रैव, पृ. 439-447
29. काशिकाया वैशिष्ट्यमनुशीलयितुं द्रष्टव्यो ग्रन्थः काशिकावृत्तिवैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्योः तुलनात्मकमध्ययनम्,

डा. महेशदत्तशर्मा, संस्कृतप्रगताध्ययनकेन्द्रम्, पुण्यपत्तनम्,1974

30. द्र. सं.व्या.शा. का इति. 1, युधिष्ठिरमीमांसक, पृ. 524

31. तत्रैव, पृ. 527

32. तत्रैव, पृ. 527-529

33. तत्रैव, पृ. 529-534

34. तत्रैव, पृ. 534-535

35. तत्रैव, पृ. 535-542

36. शब्दामृतम् लीथो ख. ACC No. 35996, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्, गङ्गानाथ झा परिसरः, इलाहाबाद

37. शब्दामृतम् लीथो क. ACC No. 37158, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्, गङ्गानाथ झा परिसरः, इलाहाबाद

38. प्रायेण पञ्चाशत् श्लोकेषु अनुष्टुपो भिन्नानां छन्दसां प्रयोगो वर्तते। अन्यत्र श्लोकेषु अनुष्टुप्-छन्दस एव प्रयोगो वर्तते।

39.1 शब्दामृतम्, श्लोक 1.1.75

39.2. शब्दामृतम्, श्लोक 1.3.44

40. शब्दामृतम्, श्लोक 1.3.92

41.1 शब्दामृतम्, श्लोक 2.3.65

41.2 शब्दामृतम्, श्लोक 3.3.32

41.3 शब्दामृतम्, श्लोक 3.3.40

41.4 शब्दामृतम्, श्लोक 7.2.75

41.5 शब्दामृतम्, श्लोक 7.3.26

42. लेखस्यास्य 4.2.1, 4.2.2, 4.2.3, 4.2.4, 4.2.5 अंशाः द्रष्टव्याः।

43. पा.सू. 1.3.1

44. पा.सू. 2.472

45. पा.सू. 2.4.75

46. पा.सू. 3.1.25

47. पा.सू. 3.1.27

48. पा.सू. 3.1.69

49. पा.सू. 3.1.77

50. पा.सू. 3.1.78

51. पा.सू. 3.1.79

52. पा.सू. 3.1.81

53. पा.सू. 1.1.27

54. पा.सू. 1.1.37

55. पा.सू. 1.2.1

56. पा.सू. 1.3.91

57. पा.सू. 1.3.92

58. पा.सू. 2.1.40

59. पा.सू. 2.1.72

60. पा.सू. 1.1.41

61. शब्दामृतम्, श्लोकः 1.1.43

62. शब्दामृतम्, श्लोकः 1.1.74

63. शब्दामृतम्, श्लोकः 1.1.155

64. शब्दामृतम्, श्लोकः 1.1.179

65. शब्दामृतम्, श्लोकः 1.1.183

66. शब्दामृतम्, श्लोकः 3.3.1

67. पा.सू. 1.1.71

68. पा.सू. 1.2.45

69. पा.सू. 1.3.3

70. पा.सू. 1.4.6

71. पा.सू. 1.4.13

72. पा.सू. 1.4.49

73. पा.सू. 1.4.51

74. पा.सू. 2.1.1

75. पा.सू. 2.1.6

76. पा.सू. 2.2.6

77. पा.सू. 3.1.136

78. पा.सू. 3.3.161

79. पा.सू. 4.1.4

80. पा.सू. 4.4.44

81. पा.सू. 5.4.7

82. पा.सू. 6.1.68

83. पा.सू. 6.1.94
84. पा.सू. 6.1.98
85. पा.सू. 6.4.1
86. पा.सू. 6.4.22
87. पा.सू. 6.4.132
88. पा.सू. 7.2.10
89. पा.सू. 7.3.103
90. पा.सू. 7.4.94
91. पा.सू. 8.1.26
92. पा.सू. 8.2.1
93. पा.सू. 8.2.2
94. पा.सू. 8.3.5
95. पा.सू. 8.3.20
96. पा.सू. 8.4.68
97. चतुर्दशसूत्रवृत्तौ वै.सि.कौ., पृ. 2।
98. 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति सूत्रे वै.सि.कौ., पृ. 3
99. 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (पा.सू. 1.3.2) इति सूत्रे शब्दामृतम्, श्लो. 1.3.182
100. 'उरण् रपर:' (पा.सू. 1.1.51) इति सूत्रे शब्दामृतम्, श्लो. 1.1.207
101. पा.सू. 1.3.2
102. पा.सू. 1.3.3
103. प्रौढमनोरमा पृ. 25-34 (प्रौढमनोरमा, वाणीविलासग्रन्थमालायाश्चतुर्थरत्नम्, द्वितीय संस्करणम्, संवत् 1997)
104. शब्दामृतम्, श्लोक: 1.3.183
105. पा.सू. 1.3.3
106. पा.सू. 1.1.71
107. वै.सि.कौ. पृ. 2
108. तत्रैव, पृ. 2-3
109. शब्दामृतम्, श्लोक: 1.3.184
110. पा.सू. 1.1.3
111. पा.सू. 1.1.1
112. पा.सू. 1.1.2
113. 'इकोगुणवृद्धी' इति सूत्रे वै.सि.कौ. पृ. 9
114. शब्दामृतम्, श्लोक: 1.1.18
115. पा.सू. 1.2.45
116. 'अर्थवदधातुप्रत्यय: प्रातिपदिकम्' इति सूत्रे प्रौढमनोरमा, पृ. 250
117. 'शब्दामृतम्' श्लोक: 1.2.70-71
118. तत्रैव, श्लो. 1.2.73
119. शब्दामृतम्, श्लोक: 1.1.42-43
120. पा.सू. 2.3.46
121. वै.सि.कौ., पृ. 130
122. लघुशब्देन्दुशेखर:, पृ. 601 (लघुशब्देन्दुशेखर:, अव्ययीभावसमासान्त: द्वितीयो भाग:, गुरुप्रसाद शास्त्रिग्रन्थमालाया: द्वितीयं कुसुमम्, सम्पा. बालशास्त्री, विक्रम सं. 2048)
123. शब्दामृतम्, श्लोक: 2.3.26
124. पा.सू. 1.1.4
125. पा.सू. 1.1.5
126. पा.सू. 1.1.27
127. पा.सू. 1.1.69
128. पा.सू. 1.1.44
129. पा.सू. 1.1.45
130. पा.सू. 1.1.48
131. पा.सू. 1.1.62
132. पा.सू. 1.1.68
133. शब्दामृतम्, श्लोक: 1.1.1
134. शब्दामृतम्, श्लोक: 1.1.3-8
135. पा.सू. 1.1.37
136. पा.सू. 2.1.1
137. पा.सू. 2.1.11
138. पा.सू. 2.3.46

139. पा.सू. 2.3.47 140. पा.सू. 4.1.44

141. शब्दामृतस्य अन्ते

142. राजेन्द्रविजयम् ACC. No. 39729, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, गङ्गानाथ झा परिसरः, इलाहाबाद।

143. 'काशी की पाण्डित्यपरम्परा, पृ. 238, 243, आ. पण्डित बलदेव उपाध्याय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1983 ई.

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. अष्टाध्यायी, पाणिनि, सम्पा. म.म. पण्डितराज डॉ. गोपालशास्त्री दर्शन केशरी, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

2. 'काशी की पाण्डित्यपरम्परा, पृ. 238, 243, आ. पण्डित बलदेव उपाध्याय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी,

3. प्रौढमनोरमा- महामहोपाध्यायश्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता, श्रीहरिदीक्षितविरचित- लघुशब्दरत्नव्याख्ययालङ्कृता, श्रीकन्हैयालालव्रजभूषणदासगुप्तेन प्राकाश्यं नीता, द्वितीयसंस्करणम्, संवत् 1997

4. महाभाष्यम् - श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिमुनिविरचितम्, महामहोपाध्यायश्रीनागोजिभट्टविरचित- महाभाष्यप्रदीपोद्योतोद्भासितेन कैयटोपाधयायविरचितेन प्रदीपेन विराजितम्, नन्दकिशोरशास्त्रिणा सम्पादितस्य 1938 ईश्व्याः वाराणसीसंस्करणस्य पुनर्मुद्रितं संस्करणम्, प्रतिभाप्रकाशन, दिल्ली 1999

5. राजेन्द्रविजयम् ACC. No. 39729, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, गङ्गानाथ झा परिसरः, इलाहाबाद।

6. लघुशब्देन्दुशेखरः- महामहोपाधयायनागेशभट्टविरचितः, षट्टीकोपेतः, द्वितीयो भागः, श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिग्रन्थमालाया द्वितीयं कुसुमम्, वाणीविलासप्रकाशन, वाराणसी, विक्रम सं. 2048

7. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी - श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानेन्द- सरस्वतीविरचित - तत्त्वबोधिनीव्याख्यासंवलिता सिद्धान्तकौमुदी, चौखम्भासंस्कृतप्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रितसंस्करण ई. 2002

8. शब्दामृतम् लीथो ख. ACC No. 35996, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्, गङ्गानाथ झा परिसरः, इलाहाबाद

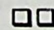
9. शब्दामृतम् लीथो क. ACC No. 37158, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्, गङ्गानाथ झा परिसरः, इलाहाबाद

10. शब्दशास्त्रमहार्णवः ACC No. 28640 लीथो, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्, गङ्गानाथ झा परिसरः, इलाहाबाद

11. ANUBANDHAS OF PANINI, G.V.DEVASTHALI, UNIVERSITY OF PUNE, 1967

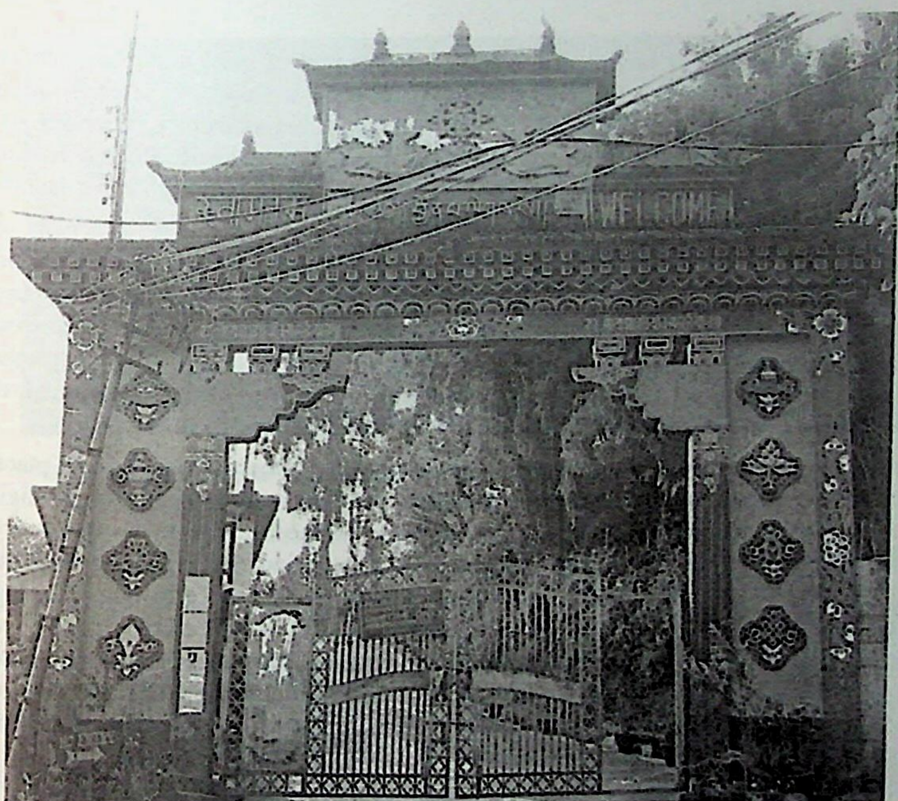
12. The Fundamentals of anuvritti by S.D.Joshi and Saroja Bhate, University of Pune, Pune, 1984

ललित कुमार त्रिपाठी
सह-आचार्यः, व्याकरणे
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, गंगानाथझापरिसरः, इलाहाबाद



Eight Auspicious Symbols of Buddhist Art of Sikkim

Ritu Gaur



The gate of Rumtek Monastery, East Sikkim is decorated with eight auspicious symbols.

सिक्किम प्रदेश जो कि भारत के उत्तर-पूर्व में स्थित है अपने प्राकृतिक व भौगोलिक सौंदर्य के कारण देश में अपना अभूतपूर्व स्थान रखता है। यहाँ की बौद्ध भित्ति चित्रकला जो कि बौद्ध मठों में ही देखनें को मिलती है तिब्बती बौद्ध प्रभाव के कारण जो इसमें विशिष्टता दिखाई देती है वो इसे भारत की अन्य सभी बौद्ध कलाओं से भिन्न करती है। बौद्ध चित्रकला का

प्रारम्भिक स्वरूप हमें प्रतीकात्मक रूप में ही देखने को मिलता है जैसे-बोधि वृक्ष, धर्म चक्र, पद चिन्ह इत्यादि। इन्हीं में से प्रसिद्ध अष्टमंगल चिन्हों के बारे में इस लेख में बताने का प्रयास किया गया है। सिक्किम के प्रमुख निवासी लेप्चा व भूटिया जाति के लोग ही मुख्यतया बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं जिसका इतिहास 15वीं-16वीं शताब्दी के लगभग का है। बौद्ध धर्म से सम्बन्धित प्रतीकात्मक चित्र भी हमें बौद्ध मठों में ही देखने को मिलते हैं। शाक्यमुनि बुद्ध के बुद्धत्व प्राप्ति के समय उन्हें दिव्य वस्तुओं के रुप में प्रदान की गई भेंट स्वरूप 'अष्टमंगल' बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध प्रतीक चिन्हों में से है जैसे- मत्स्य, छत्र, शंख, श्रीवत्स, ध्वज, कलश, पद्म, चक्र आदि और ये चिन्ह ही अष्टमंगलदेवी के विशेष लक्षण हैं सिक्किम के बौद्ध मठों में दीवारों पर ये प्रतीक चिन्ह बड़े ही अलंकारिक ढंग से इनैमल पेंट या खनिज रंगों द्वारा चित्रित किये गये हैं किन्तु तिब्बती बौद्ध चित्रकला के नियमों पर आधारित होने के बावजूद उनके संयोजन व रंगांकन में भिन्नता दिखाई देती है जो कि चित्रकारों की निजी शैली के प्रभाव के कारण है किन्तु उनके आकार व स्वरुप में कोई अंतर नही है।

Sikkim state which is established in north-eastern part of India and recognized as a different place due to it's natural variation, cultural life, religion and art. After visiting the monasteries of this place in 2006 I came to know through lamas and by observing some mural paintings the culture and religious art of sikkim shows strong Tibetan Buddhist influence that's way peculiarity is found in it and differenciate it from all other Buddhist art of India.

Buddhist art reflects very faithfully all the important aspects of Buddhism. In primitive Buddhism, Gautama Sakyamuni has been regarded as an ideal human being and quite naturally we find that the early Buddhist art of Bharhut, Sanchi, Bodh-Gaya, Amaravati and other places like Sikkim shows no anthropomorphic representation of the Master. His presence is indicated by means of an empty throne, or a Bodhi tree or a pair of foot-prints, or a dharma-chakra, symbolizing one or the other event of his life[1].

Along with Hinduism, the thought of Buddhism also occupies a prominent place in the secular land of Sikkim. The school of Buddhism, which is also referred as a'religion' with its main followers in Sikkim being the Tibetans and the Bhutias, traces its history in the land back to the 15th-16th centuries. It was in this period that a friction took place among the Tibetan Buddhists over the supremacy and the difference in other ideologies based on Tantric rituals. This discord resulted in the arrival of the old sect Nyingmapa(who believed in Tantric rituals) to Sikkim, while the liberal sect, Gelugpa leaded by the Dalai Lama gained ascendency in Tibet.Today, Sikkim hosts a number of Buddhist temples, monasteries and learning centres which further reflect upon the tradition, culture and values of the Buddhist life in the Himalayan regions[2]

Buddhist art of sikkim mainly based on the life of Gautam Buddha (6th to5 "' BCE). Firstly this art is originated on the Indian subcontinent, and thereafter evolved by contact with others cultures as it spread throughout Asia and the world. Early Buddhist art followed the Indian aniconic tradition,which avoids direct representation of human figure, that is the main cause of the imagery and symbolic richness of Buddhist art[3].

The eight auspicious symbols of Buddhism which are believed to represent the gifts given by celestial beings to Sakyamuni on his attainment of buddhahood. The English,

sanskrit and Tibetan word of these symbols have been given below:-

	English	Sunskrit	Tibetan
1.	The Golden Fish	matsya	gser-na
2.	The Umbralla ("Lord of the white Umbralla)	chatra	gdugs
3.	Conch-Shell Trumpet-of Victory	sankha	dun
4.	Luck Diagram[3]	srivatsa	dpal-be
5.	Victorious Banner	dhvaja	rgyal-mts'an
6.	Vase	kalasa	bum-pa
7.	Lotus	padma	padma



This "Ashtamangala" is painted in the middle of two dragons on the front side upper wall of Cottage Industry, Gangtok.



(The golden fish are painted on a boundry Wall of Gonjang Monastery, East Sikkim.)



(The golden fish are painted on a pillor of New Rumtek Monastery, East Sikkim.)

8.	Wheel	cakra	'k'or-lo[4]

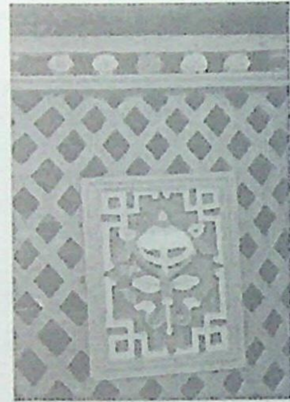
These "Eight Auspicious Signs" are also known in Sanskrit as "ashtamangala",ashta means eight and mangala means auspicious which is attributes of ashtamangaladevi,The goddess of good fortune. In Hinduism this is Lakshmi,the goddess of wealth.The eight signs are usually depicted individually as a frequent decorative motif on wall decor, ornaments on curtains, on doors or windowsand on paintings.[5]

These eight symbols of Buddhism are very meaningfull and of religious importance as given below with picture :-

1. The Golden Fish (Skt. suvarnamatsva; Tib. gser nya)



(This Parasol is painted on a Boundry Wall of Gonjang Monastery, East Sikkim.)



(This Parasol is painted on the railing of Old Rumtek Monastery, East Sikkim.)

These two fishes originally symbolic of the two main sacred rivers of India-the Ganga and Yamuna. These rivers are associated with the Tuner and soler channels which originate in the nostrils and carry the alternating rhythms of breath or praṇa. They have religious significance in Hindu,jain and Buddhist traditions but also in Christianity (the sign of the fish, the feeling of five thousand). In Buddhism the fish symbolize happiness.[6]

They also came to represent good fortune in general Buddhists.Within Buddhism it also symbolizes that living beings who practice the dharma need have no fear to drown in the ocean of suffering, fertility and can freely mifrate (chose their rebirth) like fish in the water.[7] The pair of golden fish also represents fecundity.[8]

2. The Umbralla or parasol (Skt. chattra; Tib. gdugs)

Above the mountain is the dome of sky.This is symbolized by the Umbrella, whose important function is to cast a shado, the shado of protection. The dictionary defines a parasol as an umbrella used for protection from the sun. Thus it's function is to protect



(This Conch-Shell is painted on a boundry wall of Gonjang Monastery, East Sikkim.)



(This Conch-Shell is painted on a railing of old Rumtek Monastery, East Sikkim.)

exclusively from the heat rather than the rain -as the word 'parasol', meaning 'to hold of the sun',and 'Umbrella'meaning 'little shade',similarly imply. The sanskrit term 'chhatra',also means 'mushroom',in an obvious reference to its shape.The dome of the Umbrella.[9] It embodies wealth or royalty, for one had to be possess such an item, and further, to carry it. It points to be "royal ease" experienced in the Buddhist life of detachment.[10]

It also stands for high rank,and is usually used by Tibetan high lamas.It is the symbol of goddess, such as panchnaksa and Usnasasita.[11] Like a shield, it protects against all evil and also symbolizes the wholesome activities to keep beings from harm (sun) like illness, harmfull forces, obstacles and so forth, and the enjoyment of the results under its cool shade.[12]

According to Hindu mythology, it is the emblem of varuna, also considered an embodiment of kingship. Chhatra is also a deity,yidam and ishta-devata. In various Dharmik Tradition it is an accounterment of chakravartin. A number of deitys are depicted with Chhatra,and thay include Revanta,Surya and Vishnu (in his Vamana avatar.) The Chhatra is cordoned amongst the symbols that approach universality within the numerous octavalent suits sets of Ashtamangala;e.g.:in the Digambar Jain tradition, and Vajrayana tradition. In Dharmic Tradition iconography, Traditional.

Tibetan medicine thankas and Ayurvedik diagrams, The chhatra is uniformly represented as the sahasrara. In Vajrayana Buddhism, the Umbrella or parasol is included in the 'Eight Auspitious Signs' or Ashtamangala.The Chhatra shares a similer symbolic value to the baldachin,refer image of Vishvakarma.[13]

3. Conch-Shell or Sankha (Skt. shankha; Tib: Lhasa dialect: [thunkar])

Translated from Tibetan is literally "White Conch" (Tibetan-English Dharma

Dictionary, 2003), and true to its name is formed from a white conch shell. The Conch shell has, throughout Indian history, been a symbol of great power, authority and sovereignty. A conch is one of the Ashtamangala. Each mythological hero in ancient Indian epics is described as having a great White Conch shell, which usually has a name. When the hero sounds his White Conch it invokes terror in his opposing forces and symbolises the start of a battle. It is this ancient belief that is thought to have influenced the image of the White Conch in Tibetan music in that the white conch is a sacred symbol of peace and good energy.The dung-dkar has been used as a religious instrument throughout the recorded history of religious music in Tibet. Before Buddhism was introduced to Tibet the religion was the shamanistic "Bon", and the dung-dkar was used to invoke and call the spirits to help grow cattle or food and even banish evil spirits that caused illness and destruction. Nowadays the dung-dkar is mainly found only in Buddhist monasteries and performances, very rarely used as a secular instrument.[14]

The conch shell has survived as the original horn trumpet since time immemorial. Ancient Indian epics describe how each hero of mythical warfare carried a mighty white conch shell, which often bore a personal name. It is one of the main emblems of Vishnu, and his conch bears the name of Panchajanya, meaning 'having control over the five classes of beings.' Arjuna's (hero of the Mahabharata) mighty conch was known as Devadatta, whose triumphant blast brought terror to the enemy. As a proclaiming battle horn, the conch is akin to the bugle. It is an emblem of power, authority and sovereignty whose blast is believed to banish evil spirits, avert natural disasters, and scare away poisonous creatures. Today, in its greatly tamed avatar, the conch is used in Tibetan Buddhism to call together religious assemblies. During the actual practise of rituals, it is used both as a musical instrument and as a container for holy water.

Ancient Indian belief classifies the conch into male and female varieties. The thicker-shelled bulbous one is thought to be the male (purusha), and the thin-shelled slender conch to be the female (shankhini).

The fourfold caste division is also applied as follows:-

a). The smooth white conch represents the Brahmin caste.

b). The red conch the kshatriyas (warriors).

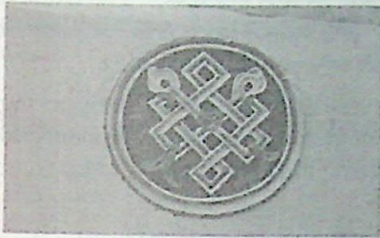
c). The yellow conch the vaishyas (merchants).

d). The grey conch the shudras (labourers)

Additionally, there is a fundamental classification of conch shells occurring in nature: those that turn to the left and those which turn to the right.

Shells which spiral to the right in a clockwise direction are a rarity and are considered especially sacred. The right-spiralling movement of such a conch is believed to echo the celestial motion of the sun, moon, planets and stars across the heavens. The hair whorls on Buddha's head spiral to the right, as do his fine body hairs, the long curl between his eyebrows (urna), and also the conch-like swirl of his navel.

Vajrayana Buddhism absorbed the conch as a symbol which fearlessly proclaimed the truth of the dharma. Among the eight symbols,it stands for the frame of the Buddha's teaching, which spreads in all directions like the sound of the conch trumpet. In addition to



(The endless knot is painted on a boundry Wall of Gonjang Monastery, East Sikkim.)



(The endless knot is painted on a pillor of New Rumtek Monastery, East Sikkim.)

Buddha's throat, the conch also appears as an auspicious mark on the soles, palms, limbs, breast or forehead of a divinely endowed being.[15]

It symbolizes the blessedness of turning to the right and proclaim the glory of the saints by its humming sound.It is also used as a horn, symbolizes the deep, far reaching the melodious sound of the teachings,which is suitable for all disciples at it awakens them from the slumber of ignorance to accomplish all beings' welfare.[16] That's way it is known as a sign of good luck, because it stands_ for the absence of all evil and as attribute, symbolizes the glory of holy men.[17]

4. Lucky Diagram or Endless Knot (Skt. "Srivastsa ; Tib. dpal be'u)

The Sanskrit term means 'beloved of the goddess Shri.' Shri refers to Lakshmi, the consort of Vishnu, wherein the shrivatsa term in particular is the curl of hair in a 8 looped



(This Victory Banner is painted on Boundry Wall of Gonjang Monastery, East sikkim.)



(This Victory Banner is painted with swastikand lotus on a pillor of the main gate of Enchy Monastery, East sikkim.)

knot on the breast of Vishnu (just to further complicate the origins).[18] Endless knot or mystic diagram, symbolizes of the endless cycle of rebirth, i.e. nature of reality where everything is interrelated and only exists as a part of web of karma and its effect. Having no beginning or end, it also represents illusory character of time, and long life as it is endless.[19] The endless knot is a closed, graphic ornament composed of right-angled, intertwined lines. It is conjectured that it may have evolved from an ancient naga symbol with two stylized snakes.

This latter image signifies the dramatic interplay and interaction of the opposing forces in the dualistic world of manifestation, leading to their union, and ultimately to harmony in the universe. This fact is amply reflected in the symmetrical and regular form of the endless knot.

The intertwining of lines reminds us how all phenomena are conjoined and yoked together as a closed cycle of cause and effect. Thus the whole composition is a pattern that is closed on in itself with no gaps, leading to a representational form of great simplicity and fully balanced harmony.[20]

5. Victorious Banner (Skt. dhvaia; Tib. rgyal mtshan)

In Sanskrit, the banner or sign of victory is known as the dhvaja, meaning standard, flag or ensign. Originally, the victory banner was a military standard carried in ancient Indian warfare, and bore the specific insignia of its champion. For example in the Mahabharata, Krishna's chariot was adorned with a banner showing the image of the monkey-god Hanuman.[21]

The Dhvaja is comprised amongst the Ashtamangala, the 'eight auspicious symbols'. Vedic (Rigveda) sacrifices originated with a cosmic 'self-sacrifice' (atma-yaina) of Purusha for the creation, maintenance and redemption of the entire Universe. Purusha was called Yupa Dhvaja ('Stake-flagged') because the instrument of his cosmic sacrifice was a sacred cross or post ('Axis Mundi Yupa Stake' - simply Yupa), to which Purusha was fixed in the primal 'Purusha Sukta Hymn'. Thus the developed Vedic sacrificial system, sacrificial victims were fixed to Yupa, in memory of Purusha's cosmic sacrifice. Dhvaja in the Brahmanic cults, takes on the appearance of a high column (dhvaja-stambha) erected in front of temples In the epic book Ramayana the messenger, warrior and servant of Rama was Hanuman who had extraordinary skill in warfare and terror of Rakshasas. In a conflict with Ravana he accidentally set the island fortress Lanka on fire. In order to cool himself down, Hanuman jumped into the sea. A drop of his perspiration fell into the mouth of a great fish which gave birth to a mighty hero named Makara Dhvaja (also or Makar-Dhwaja; Magar Dhwaja; Makardhwaja). Makara Dhvaja is considered the son of Hanuman.[22]

Makara Dhvaja has become latter an emblem of the Vedic god of love and desire - Kamadeva. As the 'tempter' (Skt. *mara),* or 'deluder' (Skt. Maya (illusion)), Kamadeva was the Hindu counterpart of the Mara, the 'evil one', who attempted to obstruct the Buddha from attaining enlightenment. In early Buddhism the concept of Mara as a demonic obstructor to spiritual progress was presented as group of four 'maras' or 'evil influences'. As a symbol of the Buddha's victory over the four *maras,* the early Buddhists adopted Kamadeva's emblem of Makara Dhvaja (also *makaradhvaja),* and four of those banners were erected in the cardinal directions surrounding the enlightenment stupa of the Tathagata

or Buddha.'

The victory banner was adopted by early Buddhism as an emblem of the Buddha's enlightenment, heralding the triumph of knowledge over ignorance. It is said to have been placed on the summit of Mt. Meru by Buddha himself, symbolizing his victory over the entire universe. Again, Mount Meru here is believed to be the central axis supporting the world.

The flag of victory also denotes Buddha's triumph over Mara, who personifies hindrances on the path to spiritual realization. Specifically, there are said to be four types of Maras, each one representing an individual hurdle on the path to spiritual progress. These are:

1). The Mara of Emotional Defilement

2). Mara of Passion

3). Mara of the Fear of Death

4). Mara of Pride and Lust

It was only after conquering these four negative traits that Buddha could proclaim victory over ignorance, and achieve nirvana.

Cylindrical victory banners made of beaten copper are traditionally placed at the four corners of monastery and temple roofs. These signify the Buddha's victorious dharma radiating to the four directions and also his triumph over the four Maras mentioned above.[23]

This victory banner symbolizes the victory of the buddhas's teachings over death, ignorance disharmony and all the negetivities of this world, and victory over. The roofs of Tibetan monasteries are often decorated with victory banners of different shapes and sizes.[24]



(This vase is painted on the boundry Wall of Gonjang Monastery, East Sikkim.)



(This vase is painted on the pillor of new Rumtek Monastery, East Sikkim.)

6. Vase (Skt. nidhana kumbha; Tib. eter Eyi bum pa)

The vase is a fat-bellied vessel with a short, slim neck. On top, at the opening, there is a large jewel indicating that it is a treasure vase.

Its symbolic meaning was almost always associated with the ideas of storage and the satisfaction of material desires. In the sagas and fairytales of many different cultures, for water pot or kumbha with a flat base, round body, narrow neck and fluted upper rim. However much is removed from it, this vase remains perpetually full. Wealth vases, sealed with precious and sacred substances, are commonly placed upon altars and on mountain passes, or buried at water springs, where their presence is believed to attract wealth and bring harmony to the environment. In relation to Buddhism it specifically means the spiritual abundance of the Buddha, a treasure that did not diminish, however much of it he gave away.

It is a ritual vase with a spout used in Tibetan Buddhist rituals and empowerments. It is understood to be, in some contexts, the vessel or the expanse of the Universe.

There are two kinds of *bumpa:* the *tso bum,* or main vase, and the *le bum* or activity vase. The main vase is usually placed in the center of the mandala, while the activity vase is placed on the Lama's table and is used by the Chopon, or ritual specialist, during rituals and empowerments.[25]

The treasure vase or Urn of Wisdom represents health, longevity, wealth, prosperity, wisdom and the phenomenon of space. Indeed, to disambiguate, "Space" (Sanskrit: *dkdsa)* is a rendering of the particular denotation of the element of the 'mahabhuta' (Sanskrit; English: "Great Elements") and the Five Pure Lights. Space is that elemental matrix which contains, holds and conducts all phenomena. Space is the repository and conduit of everything that is manifest, embodied or incarnate; symbolises Sunyata (Sanskrit); the iconographic representation of the 'wisdom urn' is often very similar to the 'water pot' (Sanskrit: *Kumbha)* which is one of the few allowable possessions of a Theravadin bhikku



(This lotus is painted on a boundry Wall of Gonjang Monastery, East Sikkim.)



(This lotus is painted on a pillor of new Rumtek Monastery, East Sikkim.)

or bhikkuni; the wisdom urn or treasure vase is used in many vajrayana empowerments and initiations;.[26]

This vase or Kalasa is a sign of the inexhaustable riches available in the Buddhist teachings. (There is even a practice which envolves burying or storing treasure vase at certain locations to generate wealth, eg. For monasteries or dharma centers.[27]

This water vessel which is full also stands for abundance.It is conciderd to contain the elixir of immortality and spiritual wealth.[28]

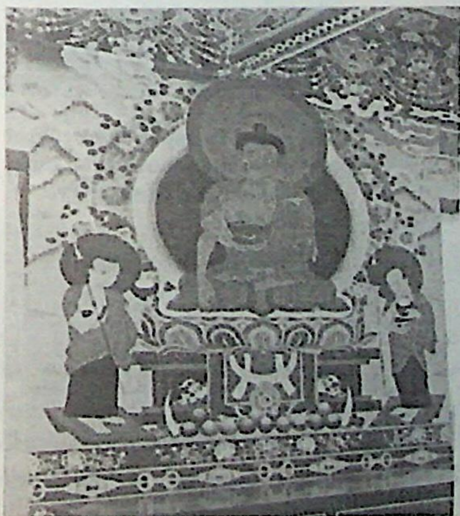
7. Lutos (Skt. padma; Tib. pad ma)

The lotus is a very important symbol in India and of Buddhism for beauty and purity. It refers to the complete purification of body, speech and mind, and the blossoming of wholesome deeds in liberation. The lotus refes to many aspects of the path, as it grows from the mud (samsara), up through muddy water it appears clean on the surface (purification), and finally produces a beautiful flower (enlightenment). The white blossom represents purity, the stem stands for the practice of Buddhist teachings raise the mind. An open blossom signifies full enlightenment; a closed blossom signifies the potential for enlightenment.[29]

It is one of the Eight Auspicious Symbols and one of the most poignant representations of Buddhist teaching.

The roots of a lotus are in the mud, the stem grows up through the water, and the heavily scented flower lies pristinely above the water, basking in the sunlight. This pattern of growth signifies the **progress of the soul** from the primeval mud of materialism, through the waters of experience, and into the bright sunshine of enlightenment.

Though there are other water plants that bloom above the water, it is only the lotus which, owing to the strength of its stem, regularly rises eight to twelve inches above the surface. According to the Lalitavistara, "the spirit of the best of men is spotless, like the lotus in the muddy water which does not adhere to it." According to another scholar, "in



(The Sakyamuni Buddha seated on the lotus thorne. This wall painting is painted on the inner wall of old Rumtek Monastery, East Sikkim.)

esoteric Buddhism, the heart of the beings is like an unopened lotus: when the virtues of the Buddha develop therein, the lotus blossoms; that is why the Buddha sits on a lotus bloom."

The lotus is one of Buddhism's best recognized motifs and appears in all kinds of Buddhist art across all Buddhist cultures. Scrolling lotuses often embellish Buddhist textiles, ceramics and architecture.

Every important Buddhist deity is associated in some manner with the lotus, either being seated upon a lotus in full bloom or holding one in their hands. In some images of standing Buddhas, each foot rests on a separate lotus.

The lotus does not grow in Tibet and so Tibetan art has only stylized versions of it, yet it appears frequently with Tibetan deities and among the Eight Auspicious Symbols.The color of the lotus has an important bearing on the symbology associated with it:

• **White Lotus** (Skt. *pundarika;* Tib. *pad ma dkar po):* This represents the state of spiritual perfection and total mental purity (bodhi). It is associated with the White Tara and proclaims her perfect nature, a quality which is reinforced by the color of her body.

• **Pink Lotus** (Skt. *padma;* Tib. *pad ma dmar po):* This the supreme lotus, generally



(This wheel is painted on the Boundry Wall of Gonjang Monastery, East Sikkim.)



(This wheel is upper right corner is painted on the pillor of the main Gate of Gonjang Monastery, East Sikkim.)

reserved for the highest deity. Thus naturally it is associated with the Great Buddha himself.

• **Red Lotus** (Skt. *kamala;* Tib: *pad ma chu skyes):* This signifies the original nature and purity of the heart (hrdya). It is the lotus of love, compassion, passion and all other qualities of the heart. It is the flower of Avalokiteshvara, the bodhisattva of compassion.

· **Blue Lotus** (Skt. *utpala;* Tib. *ut pa la):* This is a symbol of the victory of the spirit over the senses, and signifies the wisdom of knowledge. Not surprisingly, it is the preferred flower of Manjushri, the bodhisattva of wisdom.[30]

8. Wheel or Dharmachakra (Skt. chakra; Tib. 'khor lo)

It is said that after Siddhartha Gautama achieved enlightenment,Brahma came to him, offered a Dharma-Wheel and requested the Buddha to teach, so it represenets the Buddhist teachings. (Website-exoticindiaart.com.) It's eight spokes represent the Eightfold path. It signifies completion and salvation through the teaching of the Dharma.[31]

The wheel consists of three basic parts: the hub, the rim, and spokes (generally eight in number). Its underlying form is that of a circle, which is recognized across all traditions as a shape that is complete and perfect in itself, qualities which inform the teachings of the Buddha too. Individually, the rim represents the element of limitation, the hub is the axis of the world, and the eight spokes denote the Eightfold Path set down by the Buddha, which leads to the cessation of all suffering.

A further esoteric interpretation makes reference to the three trainings which form an integral part of Buddhist meditative practice, associating each of the three parts of the wheel with one such practice. This symbolism is as follows:

a). The hub stands for training in moral discipline. Through this practise the mind is supported and stabilized. Thus it is the practise of moral discipline that upholds our meditation, just like the supporting axis of the world.



This is the picture of wheel (dharmachakra) with two deers at the top of Rumtek Dharma Chakra Centre, East Sikkim.

b). The spokes stand for the correct application of wisdom, which cuts off ignorance and ends suffering.

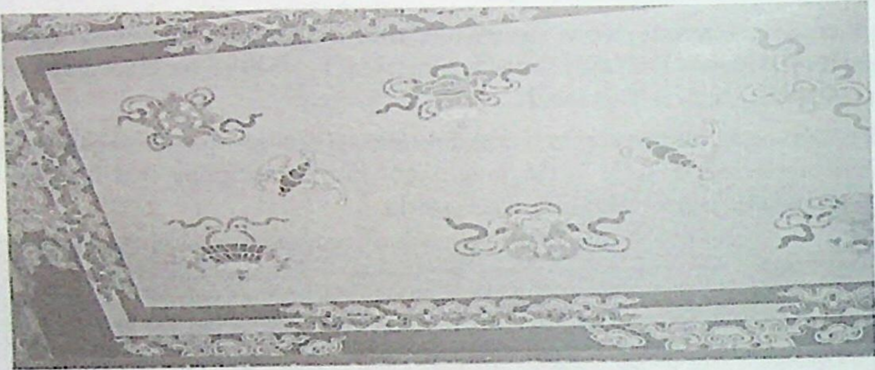
c). The rim denotes concentration, which holds the entire meditative practise together,



The eight auspitious symbols are painted on the backside wall of cottage industry, Gangtok.



The eight auspicious symbols are painted on the backside wall of cottage industry, Gangtok.



The eight auspicious symbols are painted on the ceiling of Gangtok Monastery, East Sikkim.

just as the wheel of life is held together by its rim.

The wheel evolved as a symbol of the Buddha's teachings and as an emblem of the Chakravartin or 'wheel turner,' identifying the wheel as the Dharmachakra or 'wheel of law.' The Tibetan term for Dharmachakra (chos kyi'khor lo) literally means 'the wheel of transformation.' The wheel's swift motion serves as an apt metaphor for the rapid spiritual



The eight auspicious symbols are painted on the ceiling of Gonjang Monastery, East Sikkim.

change engendered by the teachings of the Buddha. Hence, Buddha's first discourse at the Deer Park in Sarnath is known as the 'first turning of the wheel of dharma.' Likewise, his subsequent discourses at Rajgir and Shravasti are known as the 'second and third turnings of the wheel of dharma.'.[32]

CONCLUSION

Through these eight holy symbols we can understand Some religious facts of Buddhism easily because Everytime it is not possible to elaborate it in general language. Symbolic forms easily indicate those facts to our mind.The question still remains of the association of these eight symbols with the Buddha's actual physical body. An ancient text called the Heap of Good Fortune Sutra (Aryamangalakutanama-mahayanasutra), while addressing the Buddha, has this to say on the issue:

Veneration to you with your head like a protecting parasol,
With eyes like the precious golden fishes,
With neck like a precious, adorned vase of good fortune,
With speech like a right-turning Dharma shell,
With a mind infinite with wisdom like the never ending knot,
With a tongue open like the auspicious pink lotus,
With a body proclaiming triumph over the attacking armies of Mara,
With feet that tread the path of dharma like the auspicious wheel.

Artistically, these motifs may be depicted individually, in pairs, in fours, or as a composite group of eight. Designs of these eight symbols adorn all manner of sacred and secular Buddhist objects, such as carved wooden furniture, metalwork, wall panels, carpets and silk brocades.

They are also frequently drawn on the ground in sprinkled flour or colored powders to welcome visiting religious dignitaries. Indeed, no Tibetan ceremony, be it religious or secular (for e.g. a marriage), is complete without some depiction of the eight auspicious symbols of Buddhism, which are believed to propitiate the environment and grant protection to the activity being undertaken.[33]

(In my opinion these eight symbols are painted in different colours and style because they are made by the artists of different places of sikkim. Though the of Sikkim is totally depend on Tibetet before independence for religion, culture and art but when I saw the Buddhist art of Sikkim I observe that in all monasteries these eight symbols are painted in different style, as in 'Labrong Gonpa,Phudong, North Sikkim' eight auspitious symbols are painted in different colours with flowers,leaves and corner design on orange colour background and with floral or single coloured border near enterance gate in enamel paint and on the wall(outside) of the monastery these symbols are painted in one or two colour without shading (exept lotus) in earth colour on blue and brown coloured background. In 'Phudong Gonpa, North Sikkim' multicoloured symbols are painted with light & dark green leaves on the wall (outside) of monastery.In 'Chimchim Gonpa,Mangan,North Sikkim' two symbols are painted together as 'chatra' and 'matsya', 'lotus' and 'kalas' victory banner and chakra etc.with lotus and leaves on red coloured background in enamel paint. In 'Phensong Gonpa,North Sikkim' these symbols are painted on yellow and white four times big sized lotus with blue background in rectangular shape. In 'Palace Monastery, Gangtok' symbols

and flowers of same size are painted in square shape on blue background.In 'Kargu Gonpa,Chandmari,Gangtok' auspitious symbols are painted without floral design on red background.In Gonjang Monastery,West Sikkim The eight auspitious symbols are painted by rhythemic lines on yellow background in enamel paint.So these versatility are seen here due to own style of artists but the shape is made according to the rules and regulations of Tibetan Buddhism.They all looks attractive and colourfull with religious effects.)

References :

1. Website- Buddhism Symbols And Their Evolution.htm.
2. . Website- Sikkim Buddhism, Travel to Sikkim Buddhism,Guide to Buddhism in Sikkim, Buddhist Tour to Sikkim India.htm.
3. Website- en.wikipedia.org/wiki/Buddhist art.
4. The Buddhism of Tibet OR Lamaism by L.Austine Waddell-page393.
5. Sacred symbols of Buddhism by J.R.Santiago-page 65
6. Web.-Ashtamangala-Wikipedia,the free encyclopedia firefox document.
7. Website- view on Buddhism. org/general _ symbols buddhism.html
8. Sacred Symbols of Buddhism by J.R.Santiago-page 68
9. Web.-The eight auspicious symbols/ Buddhist symbols
10. Website-view on Buddhism. org/general_ symbols buddhism.html (Sacred)
11. Sacred Symbols of Buddhism by J.R. Santiago. page-66
12. Website-view on Buddhism. org /general symbols buddhism. html
13. Web.-chhatraratna-wikipedia,the free encyclopedia
14. Website- Dung-Dkar - Wikipedia,the free encyclopedia.
15. Website-: www. .exotic Indiaart.com/ article/ symbols- The Eight Auspicious Symbols Buddhist Symbols. htm.
16. Website-view on Buddhism. org /general _ symbols ,Buddhism . html
17. Sacred Symbols of Buddhism by J.R. Santiago.page-67
18. Website-Buddhist symbols and iconography
19. Website-view on Buddhism. org /general _ symbols ,Buddhism . html
20. Website-: www exotic indiaart.com/article/symbols- The Eight Auspicious Symbols Buddhist Symbols. htm.
21. Website-: www exotic indiaart.com/article/symbols- The Eight Auspicious Symbols Buddhist Symbols. htm.
22. Website-: Dhvaja - Wikipedia, the free encyclopedia.htm
23. Website-: www.exoticindiaart.com/article/symbols- The Eight Auspicious Symbols Buddhist Symbols. htm.
24. Website-view on Buddhism. org /general_ symbols _ buddhism. html
25. Website:- Bumpa - Wikipedia, the free encyclopedia.htm
26. Website: -Ashta man gala-wikiped ia the free encyclopedia-Mozilla Firefox.
27. Website-view on Buddhism. org /general _ symbols - buddhism. html
28. Sacred Symbols of Buddhism by J.R.Santiago. page-67
29. Website-view on Buddhism. org /general _symbols - Buddhism. html
30. Website: http://www. religionfacts. com/buddhism/ symbols/ lotus. htpn (Sardo's garden-The Lotus Symbol in Buddhism,Mozilla Firefox)
31. Book-Sacred symbols Of Buddhism by J.R.Santiago.page-69
32. Website-: www.exoticindiaart.com/article/symbols- The Eight Auspicious Symbols Buddhist Symbols. htm.
33. Website: www.exoticindiaart.com/ article / symbols The Eight Auspicious Symbols Buddhist Symbols.htm

Ritu Gaur

Researcher, Department of fine art, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapeeth, Varanasi, U.P.



आधुनिक-संस्कृतकथासाहित्ये नारी-समस्या

अर्चना तिवारी

समाजस्य प्रत्येकेन वर्गेण सम्बद्धानां समस्यानां परिस्थितीनां मनोदशानाञ्च चित्रणं कुर्वतीषु वर्तमान-कथासु जीवनं प्रति गहना संसक्तिः, परिवर्तितानां मूल्यमानकानां च विशेषाग्रहाः सन्ति। संवर्द्धमानवैदेशिकप्रभावाः ह्रासोन्मुखनैतिकमूल्यानि जर्जरसांस्कृतिकमान्यताश्च अद्यतनकथालेखकानां प्रियविषयाः भवन्ति, समाजस्याभिनवाकरङ्क्षाणां नवीननैतिकमूल्यानां च स्वीकारोक्तिरूपासु एतासु कथासु सामाजिकन्यायस्य प्रतिष्ठां प्रत्याग्रहः दरीदृश्यते। सामाजिक-गतिशीलताभिः मूल्यगतास्थिरताभिश्च पारिवारिकसम्बन्धेषु आगताः संघर्षपूर्णस्थितयः आधुनिक- कथाकारान् नैकानि कथासूत्रणि प्राददत्। एतेषां सूत्रणां मध्ये समयुगीनैः कथाकारैः नारीजीवनेन सम्बद्धानां विविधसमस्यानां चित्रांकनं तेषां प्रियविषयं दृश्यते। प्रस्तुतालेखे डा. राजेन्द्रमिश्र, डा. प्रभुनाथ द्विवेदी, डा. केशवचन्द्रदाश, डा.वनमाली विश्वाल, डा. प्रशस्यमित्रशास्त्री, डा. प्रमोदकुमार नायक, डा. रवीन्द्रकुमार पण्डा, डा. नारायणदाश, डा. प्रमोदभारतीय, डा. नलिनी शुक्लाः आदिभिः कथाकारैः विरचितासु कथासु नारीसमाजस्य विभिन्नाः विसंगतीः विडम्बनाश्च विवेच्यते।

समकालिक-संस्कृतकथासु नारीणां परिवर्तितस्वरूपस्य समाजे तत्परिवर्तन-प्रभावस्य, नारीणामाधुनिकशक्तीनां, तासां समस्यानानामावश्यकतानां, यथार्थानुभवानां, प्रवृत्तीनां, भाववृत्तीनां समग्रताभिः सह चित्रणं क्रियते। वस्तुतः एतासु कथासु नारीणां समस्त-भाववृत्तीनां मनोवैज्ञानिकाधारेण विश्लेषणाय प्रयत्नः दृश्यते।

डा. राजेन्द्रमिश्रस्य अनेकासु कथासु नारीजीवनस्य संघर्षाः विविध-परिस्थितिषु रूपायिताः सन्ति। परिवर्तनम्[1], वाग्दत्ता[2], भग्नपञ्जरः[3], शतपर्विका[4] इत्यादिकथानां केन्द्रेषु नारीजीवनमेव प्रतिबिम्बितमस्ति। कथाकारः नार्याः प्रेम, तस्याः व्यथाम्, अन्तर्द्वन्द्वं तथा समर्पणं च चित्रयति। सहैव च तत्र सपत्नीनाम् ईर्ष्याज्वलनरूपाणि च उद्घाटितानि करोति सः। संयतस्नेहं प्रश्रयं प्रदद सः प्रायः मौनतया प्रेमप्रदर्शनं प्रति आग्रही दृश्यते। जिजीविषायाः[5] सेवती, सुखशयितप्रच्छिकायाः[6] सुभद्रा, एकहायिन्याः[7] विमला, इक्षुगन्धायाः[8] बिटी, अधर्मणः[9] इति कथायाः सत्यवती, चञ्चा[10] इत्यस्याः कथायाः मुन्नीबाई, महनगरीति[11] कथायाः बालिका, सिंहसारि[12] इति कथायाः विदिशादिनारीपात्राणि लेखकः तन्मयताभिः, मनोवैज्ञानिकविश्लेषणैः स्वाभाविकपरिवेशैश्च प्रस्तुतवान्। 'परिवर्तनम्'[13] इत्यस्यां कथायां छात्राणां मार्गावरोधं कृत्वा तैः बाधिताः घटनाः प्रस्तुतीकृताः। अस्यां कथायामाधुनिकसमाजे नार्याः स्थितेः चित्रणं कृतमस्ति। 'भग्नपञ्जरः'[14] इत्यस्यां कथायां कस्याश्चिद् विधवायुवत्याः व्यथा चित्रिताऽस्ति। स्नातकोत्तीर्णायाः वन्दनायाः विवाहः केनचित् अशिक्षितग्रामीणेन गुणहीनपुरुषेण सह भवति। एतेन समाजे नार्याः परतन्त्रमोबोध्यते। विवाहोपरान्तं वन्दनायाः श्वसुरगृहे सामञ्जस्यस्थापनं तस्याः गम्भीरप्रवृत्तिम् उच्चसंस्कारांश्च द्योतयति। किन्तु दुर्भाग्यवशात् तस्याः पत्युः मृत्योः समनन्तरं तस्याः पिता तां श्वसुरगृहात् प्रत्यावर्तयति। अत्र सर्वे तां दुर्भाग्यां, कुलघातिनीं, भारस्वरूपां च मन्वते। स्वयं पितुः कटुवचनानि भारतीयविधवायाः स्थितिः स्पष्टी कुर्वन्ति-

''यतः प्रभृतिः समागतेयमत्र गृहस्य हासो लुप्तः। कियद् वारमुपदिष्टम्मया- वत्से! रामायणं पठ। गीताभ्यासं कुरु।.......न वयं संस्कारहीना निम्नजातीया वा। पुत्रि! त्वां पाणिभ्यां ग्राहयितुं न वयं समर्था।.......परन्तु इयं हतभाग्या तत्सर्वं न करिष्यति।''[15] विविध-विधानां पण्डितस्य सर्वकारीयसेवानिवृत्तस्यैवं च परिपक्वविवेकवतः स्वपितुः उपेक्षापूर्ण-व्यवहारेण सा अधिकतया दुःखिनी भवति। स्वपुत्रस्य सुखसुविधानां ध्यानं सः प्रतिक्षणं करोति। अत्र विधवायाः अन्तर्व्यथायाः चित्रणं लेखकः मार्मिकतातन्मयताभिश्च सह कृतवान्। वन्दना चिन्तयति- **''विधवाऽस्मि जाता किमपराद्धम्मया? यो मामसहायां विहायोपद्रुतः मां विधवाममङ्गलकारिणीञ्चोद्घोष्य पलायितः, मम सौख्यं सौधं भस्मसात्कृत्य विलीनः, किन्तेन नापराद्धम्''**[16]। अन्ततः स्ववृद्धपितुः भोगलिप्सां तां प्रति च तस्योपेक्षितं दृष्टिकोणं ज्ञात्वा सा स्वयमेव स्वभाग्यस्य निर्णयं कुर्वती चैकस्मिन् दिवसे गृहाद् बहिः निर्गच्छति। एवं लेखकः भारतीय-समाजे विधवास्थितीनां विश्लेषणात्मकं वर्णनं समग्रताभिः सहजताभिश्च सह अकरोत्। अत्र शिक्षितसमाजस्य रूढिवादितासु प्रहारं कृत्वा स्त्रीचेतनामुद्बोधनाय प्रयत्नः कृतः।

'शतपर्विका'[17] इत्यस्यां कथायां सप्तकन्यकानां पितुः पुत्रं प्रति मोहपूर्णावधारणायाः चित्रणं वर्तते। पुत्रलालसया सन्तप्तः पिता रामलालः स्वसप्तकन्याभिः सह कदापि सप्रेम न अवादीत्। रक्षा-लेखाविभागे लिपिकेन चत्वारिंशद्वर्षीयेन पित्रा सर्वदा भयभीताः सङ्कुचिताश्च पुत्र्यः एव तस्याश्रयभूताः भवन्ति यदा वार्धक्ये सः रोगग्रस्तोऽजायत। वंशदीपेच्छायां सः स्वभागिनेयं श्यामलालं दत्तकपुत्ररूपेण स्वीकरोति। श्यामलालः लम्पटो व्यसनी सप्तदशवर्षीयः युवकोऽस्ति यस्य सकाशात् पिता सर्वदा असन्तुष्टः एव तिष्ठति। कार्यालयात् प्रत्यावर्त्तनकाले पुत्र्या रमया पितुः समक्षं जलपानानुरोधः तस्याः पितुः क्रोधभाजनमेव भवति। अभ्यन्तरे रूदतीं रमां दृष्ट्वा भगिन्यः विचारयन्ति-''सर्वा भगिन्या पुञ्जीभूताः। अग्रजा रोदिति। किमर्थं रोदिति। केन किं कथितम् ? पित्रा किञ्चिदप्रियं भाषितम् इति बहुविधा प्रश्ना क्षणमात्रेणैव समुत्थिताः।''[18] रुग्णपितुः सेवां रमा तस्य चयनानन्तरं रात्रौ करोति। जागृतः रामलालः तृप्तो भूत्वा पुत्रीं प्रति वात्सल्यभावेन पश्यति। कथायां पुत्रीणां मातापितरौ प्रति सेवाभावसमर्पणयोः तथा भारतीयसमाजे व्याप्तस्य पुत्रमोहस्य विश्लेषणात्मकानि वर्णनानि सन्ति।

'चञ्चा'[19] इत्यस्यां कथायां मुन्नीबाई इति नामधेयां वेश्यां कृत्वा निरञ्जनः अद्य समाजे सम्मानितं जीवनं यापयति। दुन्दुभिवादकेन महेश्वरेण सह पारिवारिकजीवनं यापयन्त्या मुन्नीबाईत्यस्याः पुत्र्याः सीमायाः प्रेमविवाहः विश्वविद्यालयस्य केनचिदाचार्येण सह भवति। तथ्यमिदं निरञ्जनाय न रोचते। सः सीमायाः वैवाहिकं जीवनं नष्टं कर्तुं मुन्नीबाई न्यायालये नीत्वा तिरस्काराय प्रयासं कृतवान्। अत्र मुन्नीबाईत्यस्याः रूपे महिलासशक्तीकरणं स्त्रीसंघर्षं च चित्रितं कुर्वन् लेखकः न्यायालये न्यायाधीशसमक्षं निरञ्जनस्य जीवनस्य कुत्सितरहस्यमुद्घाटयन् तस्य भर्त्सनां करोति। डा. मिश्रः नार्याः मनोगतभावानां चित्रणेन सहैव तस्याभ्यन्तरे सुप्तां नारीचेतनां प्रबोधयितुं प्रयत्नमपि कृतवान्।

डा. प्रमोदभारतीयस्य कथासंग्रहः 'सहपाठिनी'[20] संस्कृतकथाजगति नारीचेतना-विमर्शस्य केन्द्रं भवति। द्वादशलघुकथासु कथाकारः नार्याः पारम्परिकादर्शरूपेभ्यः बहिरागत्य तासामत्याधुनिकयथार्थरूपस्य प्रस्तुतीकरणेन सहैव नारीणामस्मिताप्रकाशने जिजीविषेत्याद्यभिव्यक्तीकरणेऽसफलः प्रतीयते। अत्र नारी-मनसां विश्लेषणात्मकाङ्गेन सहैव नारीः प्रति समाजस्य दृष्टिकोणस्याभिव्यक्तिर्दृश्यते। एतेषां लक्ष्यानां प्राप्तये लेखकः विविध-परिस्थितीनां सर्जनं यथार्थपरिवेशेऽकरोत्। 'पारितोपिकम्'[21] इत्यस्यां कथायां न केवलं नारी-मनोभावानां किन्तु नारीः प्रति पुरुषस्य प्रगतिशीलभावानामप्यभिव्यक्तिर्द्रष्टुं शक्यते। नायिकायाः निशायाः रूपसौन्दर्यं दिवाकरस्यैक-मेवावलम्बनमिवास्ति। निशायाः शोधकर्मणि सहायतामाचर्य पारितोपिकरूपेण सः तस्याः प्रणयभावनायाः

स्वीकृतिं वाञ्छति। किन्तु सांस्कृतिक-मर्यादा-मूल्यानाञ्च चित्रणं प्रति लेखकस्य सतर्कतायाः फलस्वरूपमत्रांशकालिकसंयोगेन सह पुनःसंयोगस्याशया सह वियोगः परावर्तते। 'व्यभिचारिणी'[22] इत्यस्यां द्वितीयकथायां कथानायिकाया क्षुरिण्या यौवने पथभ्रष्टस्य तथा समाजेन तस्यै स्वत्रुटिसंशोधनाय क्षमादानस्य प्रतिष्ठा-प्रदानस्य वर्णनमस्ति। अत्र त्रुटिशोधनेन सह समाजगतस्यौदार्यस्याङ्कनमस्ति। अन्ततः महिलेयं सामाजिककार्येषु राजनीतिक-जनसेवावासु च स्वप्रभावपूर्णं योगदानं कुर्वन्ती महिलाप्रकोष्ठस्य अध्यक्ष्या निर्वाचिता भवति। 'पक्षपातः'[23] इत्यस्यां कथायां एकश्छात्रः नार्याकर्षणस्यावद्धात् सुरक्षार्थं कस्यचिद्गुरोः कठोरानुशासनस्य वर्णनं कुर्वन् कथाकारः नारीभ्यः नवयौवने सम्भाविताभ्यः तीव्रोत्कण्ठा-चपलताभ्यः रक्षणाय प्रेरणाः प्राददत्। यथार्थसमये प्राप्तैः गुरोःसमुचितनिर्देशैः सफलतां लब्धमानः छात्रः स्वयं कथयति- **''यदि गतवर्षे सः मां मोहिन्या इन्द्रजालात् न बहिरानेष्यत् ममेदृशः परिणामो न अभविष्यत्।''**[24] 'मलिनवसनम्'[25] इत्यस्यां कथायां प्रगतिशील-विचारान् प्रतिपादयन् सामाजेन तिरस्कृतां स्वपुत्रस्य प्रियतमां वेश्यापुत्रीं पुत्रवधुरूपेण स्वीकुर्वन् कथाकारः आत्मिकपवित्रताः सुन्दरताश्च मान्यताः प्रायच्छत्। एतस्यां कथायां कथाकारः अमुं शरीरं वस्त्रसदृशं वर्णयति। अत्र वेश्याः प्रति सामाजिकस्य दृष्टिकोणस्य स्वाभाविक्यभिव्यक्तिः चित्रिताऽस्ति। एतया सहैव कयाचित् मात्रा तस्यै पुत्रवधूरूपेण स्वीकृतिं प्रददन् कथाकारः तस्याः क्रान्तिकारिविकासशील-स्वागतयोग्यविचारान् प्रकटयति।

'आश्चर्यम्'[26] इत्यस्यां कथायां कश्चन सच्चरित्रः प्रणयी नायकः स्वप्रेयसीं देहव्यापारे संलिप्तां दृष्ट्वा स्तब्धो भवति। अत्र नार्याः चारित्रिकदुर्बलताः व्यक्तीकृत्य महानगराणामेवं च शिक्षणसंस्थानां छात्रावासेषु निवसतां छात्राणां जीवनस्य यथार्थमङ्कनं कृतवान्। अत्र पारिवारिक-पारम्परिकादर्शसंस्कारेभ्यो दूरेऽवस्थितानां छात्राणां चित्तेषु विभिन्नप्रसारमाध्यमैः वितरितायाः पाश्चात्त्यसंस्कृतेः दुष्प्रभावा अपि संकेतिताः सन्ति। अत्र भोगवादिभौतिकवादिदृष्टिकोणानां प्रभावेषु युवप्रौढेषु जायमानं नैतिकपतनं चित्रितं वर्तते। 'चतुष्कोणः'[27] इति कथा प्रेमसंबन्धानां किशोरशारीरिकाकर्षणानां च निराशपरिणत्याधृताऽस्ति। अत्र अपरिपक्वप्रेम्णः तथा नार्याः शारीरिकसौन्दर्यं प्रति आकर्षणस्येवं च बहुकोणीयप्रेमसंबन्धानां यथार्थाङ्कनं कृतमस्ति। सहैव कथाकारः नार्याः भोगवादप्रवृत्तिं यौतुकलोलुपतां च दर्शयति। 'अंशकालिकः पतिः'[28] इत्यत्र काचिदाधुनिका नायिका स्वपत्युः आचारव्यवहाराभ्यामसन्तुष्टा भूत्वा तं तिरस्कृत्य निरन्तरं तं दुःखिनं करोति, तस्मै पीडां च ददाति। अत्र नायिकायां स्वपत्युरन्यपुरुषैः तुलनाकरणस्य प्रवृत्तेरङ्कनमस्ति। अत्र कथाकारः स्त्रीपुरुषयोः वादविवादस्य सजीवं चित्रणमकरोत्। अत्र कथाकारः पत्न्याः स्वच्छन्दामर्यादितव्यवहारस्य मनोवैज्ञानिक-कारणान्यपि सङ्केतयति। यथा- पत्युरन्तर्मुखिसंवेदनशील-प्रवृत्तिः, पत्न्याश्च बहुर्मुखी व्यवहारवादी स्वभावः, प्रतिवेशीषु पत्युरधिकप्रशंसापात्रता लोकप्रियता तथा च आदर्शपत्युः स्वभावोऽत्र चित्रितो वर्तते। सामान्यतयेदृशं पतिं प्राप्य स्त्रियः आत्मानं सौभाग्यवतीं धन्यां च मन्यमानाः श्रेष्ठाचरणं प्रस्तुवन्ति। किन्त्वद्यतनीयात्याधुनिकनार्यः पत्युः प्रशंसायामीर्ष्यां लभन्ते। **''वस्तुतः कालोन्याः स्त्रिणां मध्ये भवतः विषयेऽस्ति बहु सुन्दरो विचारः। मम गृहिणी तु भवतः प्रशंसिकैवास्ति।..सा कथयति यद् यदि पतिर्भवेत् तदा भवत्सदृशः स्यात् ..।''**[29]

'हृदयवेदना'[30] इत्यस्याः कथायाः नारी मल्लिका न केवलं सुन्दरी अपितु तस्यां स्वसुन्दरतायाः ततश्चोत्पन्नानां सामाजिककाठिन्यानां ज्ञानमप्यस्ति। अत एव सा स्वसहकर्मिणां मध्ये स्वात्मानं कठोरानुशासनप्रियनारीरूपेण प्रस्तौति येन शारीरिकसौन्दर्येणाकर्षणादुत्पन्नानां समस्यानां रक्षा स्वयमेव भविष्यति। स्वाभिमानिनो नायकस्यात्मिकं प्रणयं प्राप्य मल्लिकाऽपि भावप्रवणतायाः शिखरमारोहति। अत्रादर्शाधुनिकनार्याः कार्यक्षेत्रं गृहाद्बहिः विस्तारितमस्ति, तस्याः मनोविज्ञानं च प्रस्फुटितं दृश्यते। विषम-विवाहस्य विसङ्गतीनां विधावाविवाहगत-समस्यानाम् अथवा विकृतीनां प्रतिबिम्बनं कुर्वन्त्यां 'सौप्रस्थानिकम्'[31] इत्यस्यां कथायां निर्धननायिकायाः विवाहः स्वस्याः त्रिगुणायुर्युक्तेन सुखदेवेन सह जायते। तस्यैव सुखदेवस्य पुत्राणां

तिरस्कारग्लान्युपेक्षाभिः विवशा भूत्वा सा गृहत्यागं करोति। अन्ततः सामाजिकादर्श प्रस्तुतवत्यास्तस्याः विवाहः केनचित् सुयोग्येन पुरुषेण सह भवति। 'अनुमतिः'[32] इत्यस्यां कथायां नायकः द्वादशवर्षोपरान्तं नायिकया संयोगस्यानुमतिं प्राप्यापि विवाह-संस्कारं प्रत्यास्थां प्रदर्शयन् आशावादीनमादर्श च दृष्टिकोणं व्यनक्ति। 'चक्रवातः'[33] इति कथायां कस्याश्चिद् विवाहितायाः पुत्रद्वयस्य च जनन्याः दाम्पत्यं यन्त्रवत् प्रदर्शितमस्ति। व्यवसायिनः पत्युः अतिव्यस्तताभिः असन्तुष्टा नायिका वाहिका मधुपेभ्यः समर्पिता भवति। अतिव्यस्त- जीवनशैल्युत्पन्नानां विसङ्गतीनां तथा नैतिक-मूल्यानामवमूल्यानां तथा विवाहेतरसंबन्धानां वर्द्धमानाः स्वीकार्यताः दर्शयता कथाकारेणात्र समाजस्य यथार्थाङ्कनं कृतमस्ति। 'सहपाठिनी'[34] इत्यस्यां कथायामाधुनिकयुवत्याः विचाराः प्रतिफलिताः सन्ति। अत्र नायकस्य स्वसहपाठिनीं प्रति विशेषाकर्षणस्य, परस्परवार्तालापस्य स्नेहव्यवहारस्य च चित्रणं स्वाभाविक- सहज-परिवेशे प्रस्तुतमस्ति। नायकः एताः भावनाः परिणयसूत्रं यावत् न प्रापयति। किन्तु केतक्याः व्यावहारिकाधुनिकदृष्टिकोणः कथायै यथार्थसंवेगात्मकमन्तं ददाति। सा कथयति- ''सहपाठिनी केवलं सहपाठिनी भवति, सहजीवनी न भवति।''

एवमेषः कथासंग्रहः नारीजीवनस्य विविधपक्षैः संलग्नाभ्यः, विसङ्गतिभ्यः, विडम्बनासमस्याभ्यश्च प्रति समर्पितः सन् तासां नैतिकानैतिक- मर्यादितामार्यादितादर्शयथार्थरूपाणामभि-व्यंजनां मनोविज्ञानिक-परिवर्तन-शीलसामाजिक- मूल्यमानकानां सन्दर्भे प्रस्तौति।

डा. बनमाली बिश्वालः सर्वहारावर्गीय-संस्कृतेः यथार्थाङ्कनं कुर्वन् नानाविधनारीपात्राणां च सर्जनं कुर्वन् तासां जीवनानां विसङ्गतीनां तासाञ्च क्रियाकलापानां विश्लेषणानि सामाजिकस्थितीनामाधारेषु प्रस्तौति। यथा चम्पी,[35] अभीप्सा,[36] भ्रान्ततारका,[37] सुमित्रा,[38] अपमृत्योः पुनर्जन्म,[39] आस्थायाः अनास्था[40], दुश्चरित्रा[41], जिजीविषा[42], मध्येस्रोतश्चेत्यादयोऽनेकाः[43] कथाः। 'चम्पी'[44] इत्यस्यां कथायां सामाजिक-शोषणग्रस्तायाः कस्याश्चिद् विक्षिप्तनार्याश्च वात्सल्यपरकानुभूतीनां यथार्थाङ्कनमस्ति। 'अभीप्सा'[45] इत्यत्र विधवानार्याः जीवन्त-जिजीविषायाः जीवन-शक्तिश्च मरणान्तकः जीवनसंघर्षः रूपायितोऽस्ति। 'भ्रान्ततारका'[46] इत्यस्यां कथायां कथानायिकायाः सरितायाः प्रेम्णि कपटविश्वासघाताभ्याम् समुत्पन्नायाः व्यथायाः एवं च तया निर्देशितस्य तस्याः आचरणस्य मनोविश्लेषणात्मकं वर्णनमस्ति। सरितायाः सौन्दर्येणान्यगुणैश्चाबद्धः शेखरः तस्यां प्रीणाति। परन्तु केनचित् रुजा पीडिता सरिता यदा कुरूपा संजाता। तदा शेखरः तया सह न विवाहं रचितवान्। अत्र विश्वासघातेना पीडितायाः नायिकायाः कार्य-व्यवहारमानसिकव्यथानाञ्च यथार्थाङ्कनं प्राप्यते। 'सुमित्रा'[47] इति कथायां लेखकः कस्यचित् पत्युः जीवने पत्न्याः महत्त्वस्य निरूपणं मनोव्यापारात्मक-पृष्ठभूमौ रूपायितं करोति। कथा 'आस्थायाः-अनास्था'[48] इत्यत्र लेखकः कस्याश्चित् चतुराया आधुनिकयुवत्याः दूरगामिनः चिन्तनहीनस्यास्थाविहीनजीवनस्य चित्रणेन सहैव पुरुषसमाजस्य नारीगतदुर्बलतालोलुपतादीनां क्षणिकसंवेदनाद्यभिव्यक्तीनां स्वार्थपरकवृत्तीनां प्रकाशनं कृतमस्ति। 'निसङ्गजीवनम्'[49] इत्यस्यां कथायां लेखकेन कस्याश्चिद् वृद्धायाः अदम्यजिजीविषायाः मार्मिकं चित्राङ्कनं कृतम्। 'मध्येस्रोतः'[50] इत्यत्र नायिकायाः नाचम्मायाः पत्युः प्रत्यावर्तने संशयात्मिकायां स्थितौ जीविकार्थे समाजस्य कुतत्त्वानां समक्षमात्मसमर्पणं कुर्वती पतनस्य गर्ते गच्छति। पक्षान्तरे 'वासुदेवस्य जन्मदिनम्'[51] इत्यस्यां कथायां शङ्करी पत्युरत्याचाराणि सहन्ती अपि स्वसतीत्वरक्षार्थं कस्यचिदधिकारिणः हत्यां कृत्वा स्वस्य स्वपुत्रस्य च जीवनं सङ्कटे पातयितुं पश्चात्पदा न भवति। तस्य कस्याञ्चित् कथायां नार्याः दुर्बलचरित्रम् अपरस्यां कथायां तु मर्यादोत्प्रेरितादर्शाचरणस्य चित्रणमस्ति। लेखकः दलितनार्याः पतनोन्मुखिनो जीवनस्य गहनानुभूतिः प्रायः स्वकथासु विषयीकरोति।

डा. केशवचन्द्रदाशस्यानेकाः कथाः नारीमनो-मस्तिकं सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूपेणोद्घाटयन्ति। ऊर्मिचूडा[52], पन्था[53], प्रतिवेशी[54], अपरपर्यायः,[55] युगान्तिका[56], स्मितस्यन्दा[57], निकटतमाः[58], व्याहृतिः[59], तिरस्करिणीच्छाया[60], माहेन्द्रलिपिः[61], इत्यादयो नैकाः कथाः नारी-पात्राणां चित्रणं यथार्थपरकमनोविश्लेषणात्मकशैल्यां कुर्वन्ति। 'युगान्तिका[62]' इत्यस्यां कथायां कस्याश्चिदुन्मादिन्याः नायिकायाः बहुविधशोषणं कुर्वतः समाजस्य चित्रणमस्ति। अस्यां कथायां स्वनवजातशिशुं प्रति विक्षिप्तायाः मातुः वात्सल्यभावः मर्मस्पर्शी वर्तते। नार्याः मातृत्वमेव तस्योदात्तत्वं सर्वमान्यास्तित्वञ्चास्ति। डा.वनमाली विश्वालस्य कथा 'चम्पी'[63], डा.केशवचन्द्रदाशस्य कथा 'युगान्तिका'[64] इत्यनयोः नारीशोषणोपरि मार्मिकाभिव्यक्तिः चित्रिताऽस्ति यत्र अबलाया नार्याः विक्षिप्तताजन्यदुर्दशायाः यौनशोषणस्य सामाजिक-विकृत-परिहासानामङ्कनं दृश्यते। मानवसमाजस्यामानवीयपक्षस्योजागरणैः सहैवैकाकिन्या असहायाया नार्याः बहुमुखिनः शोषणस्य विवशमानसिकतायाश्च प्रभावपूर्णं चित्रणं वर्तते।

'निकटतमः[65]' इत्यस्यां कथायां कस्याश्चिदत्याधुनिकाया नार्याः चारित्रिक- विशेषतानां गुम्फनं साङ्केतिकरूपेण प्रदत्तमस्ति। पुरुषप्रधानसमाजे नायिकायाः सावित्र्याः दुर्दशायाः चित्रणं कुर्वन्त्यां 'पन्था[66]' इति कथायाम् असहाया अविवाहिता च कथानायिका गर्भधारणरूपाम् असह्यपीडां सहन्ती यदा मृत्योः शरणं जिगमिषति तदैव मधुकरः तस्याः प्राणरक्षायै तया सह पुनर्विवाहं कृत्वा स्वगृहम् आनयति। यत्रागत्य सावित्री मधुकरस्य पूर्वपत्नीविषये तस्य सामान्यार्थिकस्थितिविषये च जानाति। मधुकरः सावित्र्यै स्वनामाश्रयं पृथक् निवासं ददाति। कालान्तरे नगरीय-जीवनस्य महत्वाकांक्षाप्रभावात् संस्कारेषु च पतनप्रभावात् परिस्थितयः परिवर्तिताः भवन्ति। परिवर्तितपरिवेशे सावित्र्याः उच्चस्तरीयनिवासस्य तस्याः उच्चवर्गे प्रवेशस्य प्रमुखतायाः तथा राजनेत्रधिकारिभिः सह घनिष्ठसंबन्धानां माध्यमेन तस्याः अमर्यादितानि अनैतिकाचरणानि व्यञ्जितानि भवन्ति। या सावित्री गर्भवती भूत्वा आत्महत्यायै उद्यताऽऽसीत् सा एव परिवर्तनशीले पतनशीले च पुरुषसत्तात्मके समाजेऽद्य मधुकरस्य नामाश्रये कुसंस्काराणां गुल्मानि वर्धयति। मधुकरोऽपि सावित्री-माध्यमेन स्वार्थिकसमस्यानां सहजसमाधानं प्राप्य प्रसन्नोऽस्ति। अत्र वस्तुतः संबन्धानां नवीन-परिभाषा वर्णिताऽस्ति।

डा. नारायणदाशस्य 'चिन्नामायाश्छुरिका[67]', मानसी[68], श्रावणी[69], दुश्चरित्रा[70], कर्णपुष्पम् इत्येतासु कथासु विविधनारीपात्राणां नानाविधसमस्यानां च रूपायनं कृतमस्ति। 'चिन्नामायाश्छुरिका' इत्यस्यां कथायां दुराचारिणः शिक्षामन्त्रिणोऽन्धकामनाया शोषितायाः नायिकायाः प्रतिशोधाग्नौ दग्धमाना जीवनचर्या, अन्ततः स्वप्रतिशोधापूर्तेश्च वर्णनमस्ति।

डा. प्रमोदकुमारनायकस्य प्रेरणादायिनी[71], पापिनी[72], प्रेम[73], रूपाजीवा[74], जयन्ती[75], परित्यक्ता[76], अभिजात्यं पत्रमित्यादिषु[77] कथासु नारीजीवनस्य यथार्थाभिव्यक्तिः द्रष्टुं शक्यते। 'रूपाजीवा' इत्यस्यां कथायां समाजस्य निर्ममतायाश्चित्रणमस्ति। अत्र कस्याश्चिद् विवशायाः पीडितायास्तथाऽसहायायाः नार्याः सर्वस्वमपहृत्य समाजः तां बहिष्कृतामपि करोति। अपरं चान्तहीनानि शारीरिक-मानसिक-दुःखानि निर्वोढुमपि विवशीकरोति- ''अपरूपा दारिद्राघातेन मरणोन्मुखिनः पितुः औषधिक्रियार्थं यदा श्रेष्ठिनो गृहं गतवती, तदानीं श्रेष्ठिपुत्रेण एतस्याः सर्वमपहृतम्। ततः ग्रामवासिभिः एषः निर्णयः विहितः यत्सा ग्रामे स्थास्यति चेत्तद् ग्रामस्य पतनं भवेत्। परिशेषे मृतं पितरं विहाय अपरूपा ग्रामस्य बहिर्भागे निर्जनप्रदेशे निवसति। एवमेकदा रात्रिकाले सा कस्यचित् कराघातं कपाटे शृणाति। अपरूपा एतत् किं पश्यति ? ग्रामस्य मुख्यन्यायाधीशः तस्याः निकटे भिक्षां याचते। अन्यथा तस्याः प्राणनाशः भविष्यति इति भाययत्यपि न्यायाधीशः। अङ्गीकरोति अपरूपा।''[78]

'परित्यक्ताया आभिजात्यम्'[79] इत्यस्यां कथायां पितुः मरणोपरान्तं त्रिभिः भ्रातृभिः परित्यक्तायाः कस्याश्चिद् भगिन्याः व्यथाऽत्र संकेतिता वर्तते। समाजस्य नियामकानां रक्षकानामेव भक्षकरूपं प्रस्तुतीकरोति कथा 'पापिनी'[80]। अस्यां कथायां नायिकायाः विमलायाः दुःखद-मर्मान्तिकावस्था वर्णिताऽस्ति।

डा. रवीन्द्रकुमारपण्डा-महोदयस्य 'महाप्रसादम्'[81], नष्टनक्षत्रम्[82], छिन्नच्छाया:[83], नरपशु:[84], जञ्जालजालम्[85], स्वर्णपिञ्जरम्[86] इत्यादीनां कथानां रचना-तन्त्रं नारी-जीवनस्य काठिन्य-परिस्थितीनां परिपार्श्वे आधृतमस्ति। 'नरपशु:'[87] इत्यस्यां कथायां परस्त्री-प्रेमासक्तेन पतिना सर्वतोपेक्षिताया: नन्दिन्या: व्यथा-कथानां निरूपणं कृतमस्ति। नन्दिनी असह्य-दु:खानि सोढ्वा अन्तत: गृहत्यागं करोति। पुरुषप्रधानसमाजेऽपि सैकाकिनी स्वपुत्राभ्यां सह सफलजीवनं यापयति। अत्र स्त्री- संघर्षस्य तथा तन्मनोबलस्याङ्कनमस्ति। 'जञ्जालजालम्'[88] इत्यस्यां कथायां कस्याश्चिद् गृहिण्या: व्यस्ततमदिनचर्याया: समस्तपारिवारिकसदस्यान् प्रति कर्तव्यभावानां मौनसमर्पणमूकव्यथानाञ्च स्वरा: उपस्थिता: सन्ति- ''**गृहं तस्या: गगनम्। परिवारस्तस्या: पृथिवी। पतिस्तस्या: परमेश्वर:। सन्तानानां प्रमोदे सा पश्यति स्वर्गसौन्दर्यम्। दु:खेऽस्ति तस्या: दु:खम्। परिवारस्य सुखेऽस्ति तस्या: सुखम्। सर्वेषां प्रसन्नतायां तस्य प्रमोद:। तस्मात् प्रतिपदं कर्म, कर्म, कर्म। कर्म विना नास्ति यथा किञ्चित् तस्या: जगति। तस्या: प्रात: प्रारभ्यते कर्मणा। संध्या समाप्यते कर्मणा।.....।**''[89]

अत्र ग्रामीणाल्पशिक्षिताया: सङ्कोचशीलाया: युवत्या: समस्यानां कश्चन साक्षात्कारोऽस्ति। 'छिन्नच्छाया'[90] इत्यस्यां कथायां पत्यु: सुनामीतरङ्गेषु निमग्ने सति मधुरिमाया: दु:खपूर्णजीवनस्य समग्र-व्यथाया: भावपूर्ण वर्णनमस्ति। कथानायिकाया: स्मिताया: अध्ययनशीलताया:, निर्धनताया:, तस्या: विवाहस्य, विवाहोपरान्तञ्च तस्या: पारिवारिकसामाजिकस्थितीनां विवेचनं 'स्वर्णपिञ्जरम्'[91] इति कथायां कृतं वर्तते। अत्रैकस्या: प्रतिभावत्या: बालिकाया: असमयेऽयोग्यगृहे च विवाहादुत्पन्नाया: विवशावस्थाया: प्रभावि वर्णनं कृतमस्ति।

एतासु कथासु नार्या: मातृत्व- पत्नीत्व- प्रेयसीत्व-छात्रात्व- पुत्रीत्वादि-विविधरूपाणां वर्तमानसामाजिक-सन्दर्भेषु वर्णनं दृश्यते। डा. बिश्वालस्य, डा.नारायणदाशस्य च 'दुश्चरित्रा'[92] इति समानशीर्षकाङ्कितयो: कथयो: नारी: प्रति पूर्वधारणा: पूर्वानुमानानि पश्चात्तापस्य च हेतुं मत्वा समाजस्य सङ्कीर्णपुरातन-विचारधारासु प्रहारा: कृता:। डा. बिश्वालस्य 'वासुदेवस्य जन्मदिनम्'[93] इत्यस्यां कथायां, डा.नारायणदाशस्य 'श्रावणी'[94] इत्यत्र च कस्याश्चित् मातु: विवशता चित्रिताऽस्ति। एवंप्रकारेण नारीजीवनजगत: प्रकाशितानाम् अप्रकाशितानाञ्चेत्युभयेषां कोणानां क्षणानां चै एतासु कथासु स्थानं दृश्यते।

डा. बनमाली बिश्वालस्य 'बलिदानम्[95]', नलिनीशुक्लाया: 'यौतुकाभिशप्ता'[96], डा.प्रमोदकुमारनायकस्य 'पत्रम्'[97], प्रभुनाथद्विवेदिन: 'यौतुककौतुकम्'[98], सुकन्या[99], डा. नारायणदाशस्य 'कर्णपुष्पम्'[100], डा. राजेन्द्रमिश्रस्य 'जामाता'[101] इत्येतासु कथासु यौतुकसमस्याया: विविधरूपाणामङ्कनं द्रष्टुं शक्यते। 'बलिदानम्'[102] इति कथायां परिवारं प्रत्युत्तरदायित्वस्नेहभाव- निर्धानतायौतुकोत्पीडनादिभिश्चोत्पन्नस्य जीवनसंघर्षस्य करुण-व्यथा वर्णिताऽस्ति। गृहस्य चतुर्णा सदस्यानां भरणपोषणयोरुत्तरदायित्वं पितु: मरणानन्तरं लेखनपठनावस्थायां राजू 'गैरेज'- मध्ये कार्य कर्तुं विवशीकरोति। तस्य षोडपवर्षीयाया: भगिन्या: सुहासिन्या: विवाह: परेशेन सहाभवत्। यौतुकं नाम सामाजिकप्रतिष्ठाया: प्रश्न इति मन्यमानै: श्वसुरपक्षीयजनै: चत्वारिंशसत्हस्त्ररूप्यक- मूल्ययुतं 'हीरोहाण्डा' नामकं यानं याचते। अन्ततस्तद्व्यवस्थायामसत्यां सुहासिनी श्वसुरालये प्रताडिता भवति। व्यथितया सुहासिन्या लिखितं पत्रं यौतुकोत्पीडनस्य गम्भीरां स्थितिं व्यक्तीकरोति। पत्रं पठित्वा मातु: रोदनेन किंकर्तव्यविमुढ: राजू: 'गैरेजत:' सामान्यदोषनिवारणार्थम् आगतं कस्यचिद् ग्राहकस्य वाहनं नीत्वा भगिनीगृहं पलायते। वाहनं तत्रैव त्याक्त्वा स: आगत्य स्वेच्छया आरक्षिण: समक्षमात्मसमर्पणं करोति। यौतुकसमस्याया: कारणेनैव सुहासिनी प्रताडिता भवति। 'राजू:' च किशोरवयसि चौर्यापराधमाचरति। यौतुकप्रथया पीडिताया: कस्याश्चित् नववध्वा: व्यथायाश्चित्रणं कुर्वती कथा 'यौतुकाभिशप्ता'[104] डा.नलिनीशुक्लया विरचिताऽस्ति। अस्यां कथायां सुसज्जितस्य स्वर्णिमभविष्यस्य स्वप्नानि साकाराणि कर्तुं श्वसुरालगमागताया: वध्वा: यौतुकार्थम् अग्निना भस्मीकृत्य हत्या

क्रियते। अत्र नारीजीवनस्य मर्मान्तकवेदना साकारत्वं प्राप्नोति। डा. प्रमोदकुमारनायकस्य 'पत्रम्' इत्यस्यां कथायां यौतुकपीडितायाः कस्याश्चनात्यल्पशिक्षितायाः युवत्याः व्यथायाः परिप्रकाशः दृश्यते। नायिका मल्लिका श्वसुरालयेऽनेकानि दुःसहानि कष्टानि सह्यमानाऽन्ततः स्वमात्रे लिखिते पत्रे स्वीयाकथनीयव्यथायै मार्मिकाभिव्यक्तिं ददाति। पत्राचारसङ्केतस्थाने केवलं मातापितरौ विलिख्य पत्रपेटिकायां पातयति। प्रस्तुत-कथा मल्लिकाया अन्तहीनां व्यथां पूर्णसंवेदनाभिः प्रकटयितुं समर्थाऽस्ति। 'सुकन्या'[105] इत्यस्यां कथायां नायिकायाः सुकन्यायाः यौतुकसमस्याकारणाद् विवाहो न भवति अतः सा दुःखिता सती आत्महत्यामाध्यमेन प्राणपरित्यागाय प्रस्तुता भवति। किन्तु सौभाग्यवशादेवं कश्चन सज्जनः तस्याः रक्षां कृत्वाः गृहं प्रापयति। अन्ततः तेनैव युवकेन सह तस्याः विवाहोऽपि जायते।

अलौकिकदर्शकानां लौकिकपात्राणां च माध्यमेन गृहे गृहे वीथ्यां वीथ्यां च जायमानस्य यौतुकोत्पीडनस्य चित्रमुपस्थापयन्त्यां 'यौतुककौतुकम्' (डा. प्रभुनाथद्विवेदिनः) इत्यस्यां कथायां यौतुक-हत्याभिः चिन्तितौ श्रीनारदनारायणौ स्वर्देशं परित्यज्य समाजे जायमानानि यौतुक-जन्यानि नित्यनवीनानि कौतुकानि पश्यतः- **"प्रभो, यस्यां भुवि भवान् धर्मरक्षणायावतरति सैव मही यौतुकत्रासेनाधुना विक्षुब्धा वर्तते। असंख्याकाः कन्यकाः यौतुकदानवैः भृशं पीडिता नित्यमेव स्वप्राणाहुतं वितरन्ति। आर्यावर्ते भरतखण्डे शोणितपिपासिता यौतुकलीलापिशाचिनी नग्ना नृत्यति। यौतुकलिप्सया मानवास्तथा निष्ठुरमाचरन्ति यथा शोणितजिह्वः हिंसकाः पशवोऽपि नैव कुर्वन्ति। ये कन्यकानां पितरस्तेषां दुर्दशा त्वनिवर्चनीया।"**[106]

भगवान् विष्णुः नारदश्च यौतुकोत्पीडितानां सहायतां कुरुतः। तौ कुत्रचिद् कस्यचिद् धनिकस्य विशालप्रासादाङ्गणे प्रताडितायाः सुन्दरीयुवत्याः रक्षां कुरुतः, कुत्रचिच्च तौ नारीमेव नार्याः शत्रुमिति अनुभवन् तद् वर्णयंश्च अग्रेसरतः। कुत्रचिद् यौतुकलुब्धयोः वरपित्रोरनावश्यकधनयाचनेन पीडिताः कन्यापक्षीयाः वरं वरयात्रां च परावर्तयन्ति। कुत्रचिच्च निश्चित-धनराश्यभावेन वरस्य पिता स्वयं वरयात्रिभिः सह वरस्य प्रत्यावर्तनमादिशति। कुत्रचिद् भगवान् स्वयं यौतुकं दत्वा समस्यायाः समाधानं करोति। अत्र लेखकः साक्षाद् भगवता एतादृशं समाधानं कारयित्वा प्रकारान्तेरण यौतुकव्यवस्थायाः स्वीकृतिमेव ददातीति वक्तुं शक्यते। यतोहि यौतुकदानमपि यौतुकग्रहणवदपराधकोट्यामन्तर्भवति। कस्याञ्चिदपरस्यां कथायां पिता स्वभूमिं विक्रीय पर्याप्तयौतुकदानेन पुत्र्याः सुखं प्रत्याश्वस्तोऽस्ति। 'जामाता'[107] (डा. राजेन्द्रमिश्रस्य) इत्यस्यां कथायां पित्रा स्वकन्यायाः वन्दनायाः विवाहार्थम् आनीतानि द्विसहस्त्ररूप्यकाणि चौर्यैः लुण्ठितानि। तेन पिता अतीव दुःखी भवति। संयोगेन शोभनः शिक्षितश्च सर्वकारीयः कर्मचारी चन्द्रकान्तः वीरतापूर्वकं लुण्टाकेभ्यः धनं स्वीकृत्य कन्यापित्रे प्रयच्छति। सः विना यौतुकेन विवाहस्य प्रस्तावमपि प्रस्तौति। 'कर्णपुष्पम'[108] (डा. नारायणदाशस्य) इत्यस्यां कथायां मिता वाञ्छित-यौतुकाभावे श्वसुरालये श्वश्रुप्रेरितान्यनेकानि दुर्वाक्यानि श्रोतुं विवशा भवति। पदे पदे तया मानसिकी प्रताडना सह्यते। अत्र मातृपत्न्योर्मध्ये निष्पीडितस्य पुत्रस्य व्यथायै यथार्थस्वरः प्रदत्तः लेखकेन। एवं मिता वर्षत्रयपर्यन्तं मातृगृहे व्यतीय अन्ततः स्वमातुः आभूषणं विक्रीय यौतुकरूपं कर्णपुष्पं धारयित्वैव श्वसुरालयम् आगच्छति। अत्र लेखकः कथान्ते विशेषमार्मिकतामुत्पादयति। तस्य कर्णुपुष्पस्य दर्शनाय श्वश्वाः नेत्रेऽपि न स्तः। एतेन अन्धायाः श्वश्वाः व्यथा अपि सङ्केतिता।

वर्तमानकथासु उच्चवर्गीय-नारीणां परम्पराध्यः मोहभङ्गस्य स्वच्छन्दाचरणस्य तथा निम्नवर्गीय-नारीणाञ्च शोषणस्यानेकविधाङ्कनं कृतम्। स्वाधिकारार्थ स्वरमुत्थापयन्तीनां स्त्रीणां चित्रम् कन्याभ्रूणहत्यायाः तथा च मध्यवर्गीय-स्त्रीणां मनोवैज्ञानिक-परिवर्तनान्यपि यत्र तत्र कथासु वर्णितानि भवन्ति। 'वंशरक्षा'[109] (डा. बनमाली-बिश्वालस्य) इत्यस्यां कथायां कन्याभ्रूणहत्यायै पतिश्वश्रूभ्यां प्रेरितायाः पीडितायाश्च प्रभायाः मनोदशानामङ्कनेन सहैव नियत्याः न्यायपूर्णं विधानमपि रूपायितमस्ति। अन्ततः चिकित्सकः भविष्यत्काले प्रभायाः मातृशक्तिरहितां दशां सूचयित्वा प्रभायाः पतिं श्वश्रूं च पश्चात्तापगर्ते पातयति।

जयपुरस्थेन डा. नन्दकिशोरेण यौतुकेनाभिशप्ताः नैके जीवनक्षणाः स्थितयश्च स्वकथासंग्रहस्य 'यौतुकवर्तनम्'[110] इत्यस्यां कथायां वर्णिताः। अत्र वरपितुर्यौतुकलिप्सातुलायां वधूपक्षस्यार्थिकस्थितिः तोलयित्वा कथागतानि पात्राणि मनोविश्लेषणपूर्वकं प्रस्तूयन्ते।

विविध-सामाजिकपरिस्थितिषु नारीजीवनस्य नैकाः समस्याः विसङ्गतयो विडम्बनानि च तासामाशाऽऽकांक्षाभिः सह कथासु सूक्ष्मरूपेण व्यापकतया च अभिव्यक्तानि।

सन्दर्भटिप्पण्यः

1. ईक्षुगन्धा, डा.राजेन्द्रमिश्रः
2. तत्रैव
3. तत्रैव
4. तत्रैव
5. तत्रैव
6. तत्रैव
7. तत्रैव
8. तत्रैव
9. राङ्गडा, राजेन्द्रमिश्रः
10. तत्रैव
11. तत्रैव
12. तत्रैव
13. ईक्षुगन्धा, डा.राजेन्द्रमिश्रः
14. तत्रैव
15. भग्नपञ्जरम्, ईक्षुगन्धा, डा.राजेन्द्रमिश्रः
16. तत्रैव
17. तत्रैव
18. शतपर्विका, ईक्षुगन्धा, डा.राजेन्द्रमिश्रः
19. तत्रैव
20. तत्रैव
21. तत्रैव
22. तत्रैव
23. तत्रैव
24. पक्षपातैतः, सहपाठिनी, डा. प्रमोदभारतीयः
25. तत्रैव
26. तत्रैव
27. तत्रैव
28. तत्रैव
29. अंशकालिकपतिः, सहपाठिनी, डा. प्रमोदभारतीयः
30. सहपाठिनी, डा. प्रमोदभारतीयः
31. नीरवस्वनः, डा. बनमाली विश्वालः, पृ.1
32. तत्रैव
33. तत्रैव
34. तत्रैव
35. तत्रैव
36. तत्रैव, पृ.10
37. तत्रैव, पृ.20
38. तत्रैव, पृ.76
39. तत्रैव, पृ.102
40. तत्रैव, पृ.127
41. बुभुक्षा, डा. बनमाली विश्वालः, पृ.21
42. जिजीविषा, डा. बनमाली विश्वालः, पृ.32
43. तत्रैव, पृ.1
44. नीरवस्वनः, डा. बनमाली विश्वालः, पृ.1
45. तत्रैव, पृ.10
46. तत्रैव, पृ.20
47. तत्रैव, पृ.76
48. तत्रैव, पृ.127।
49. राङ्गडा, डा. राजेन्द्र मिश्रः, पृ.111
50. तत्रैव
51. छिन्नच्छाया, डा. रवीन्द्रकुमार पण्डा, पृ. 40
52. ऊर्मिचूडा, डा. केशवचन्द्र दाशः
53. तत्रैव
54. तत्रैव
55. तत्रैव
56. निम्नपृथिवी, डा. केशवचन्द्रदाशः पृ1
57. तत्रैव, पृ.2
58. तत्रैव, पृ.6

59. तत्रैव, पृ.46
60. तत्रैव, पृ.67
61. तत्रैव, पृ.69।
62. गङ्गे च यमुने चैव, डा.नारायणदाशः, पृ.1
63. नीरवस्वनः, डा. बनमाली विश्वालः पृ.1
64. निम्नपृथिवी, डा. केशवचन्द्रदाशः पृ1
65. तत्रैव, पृ.6
66. तत्रैव
67. गङ्गे च यमुने चैव, डा.नारायणदाशः, पृ.9।
68. तत्रैव, पृ.29
69. तत्रैव, पृ.45
70. तत्रैव, पृ.72
71. कथासप्ततिः, डा.प्रमोदकुमार नायकः, पृ.24
72. तत्रैव, पृ.45
73. तत्रैव, पृ.13
74. तत्रैव, पृ.3
75. तत्रैव, पृ.8
76. तत्रैव, पृ.34
77. तत्रैव, पृ.13
78. रूपाजीवा, कथासप्ततिः, डा.प्रमोदकुमार नायकः पृ.3
79. तत्रैव, पृ.34
80. तत्रैव, पृ.45
81. छिन्नच्छाया, डा. रवीन्द्रकुमार पण्डाः
82. तत्रैव
83. तत्रैव
84. तत्रैव
85. तत्रैव
86. तत्रैव
87. तत्रैव
88. तत्रैव
89. जञ्जालः, छिन्नच्छाया, डा. रवीन्द्रकुमार पण्डा, पृ.59
90. छिन्नच्छाया, डा. रवीन्द्रकुमार पण्डा
91. तत्रैव
92. गङ्गे च यमुने चैव, बुभुक्षा
93. बुभुक्षा, डा. बनमाली विश्वालः, पृ.24
94. गङ्गे च यमुने चैव, डा.नारायणदाशः,पृ. 43
95. बुभुक्षा, डा. बनमाली बिश्वालः, पृ. 68
96. कथासप्तकम्, डा. नलिनी शुक्ला
97. कथासप्ततिः, डा.प्रमोदकुमारनायकः, पृ.54
98. कथा कौमुदी, डा. प्रभुनाथ द्विवेदी, पृ. 47
99. तत्रैव
100. नीरवस्वनः, डा. बनमाली बिश्वालः, पृ.35
101. चित्रपर्णी, डा.राजेन्द्र मिश्रः
102. आषाढस्य प्रथमदिवसे, डा. प्रशस्यमित्रशास्त्री, पृ. 44
103. निम्नपृथिवी, डा. केशवचन्द्रदाशः पृ.69
104. माहेन्द्रलिपिः, निम्नपृथिवी, डा. केशवचन्द्रदाशः पृ.69-70
105. कथाकौमुदी, डा. प्रभुनाथ द्विवेदी, पृ. 31
106. कथाकौमुदी, डा. प्रभुनाथ द्विवेदी, पृ. 47
107. यौतुक-कौतुकम्, कथाकौमुदी, डा. प्रभुनाथद्विवेदी, पृ. 48
108. चित्रपर्णी, डा.राजेन्द्र मिश्रः
109. नीरस्वनः, डा. बनमाली बिश्वालः, पृ.35
110. जिजीविषा, डा. बनमाली बिश्वालः, पृ.62

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. बुभुक्षा, डा. बनमाली बिश्वालः, प्रका. पद्मजा प्रकाशन, 57-बसन्त विहार, झूसी, इलाहाबाद, 2001
2. नीरस्वनः, डा. बनमाली बिश्वाल, प्रका. पद्मजा प्रकाशन, 57-बसन्त विहार, झूसी, इलाहाबाद, 1998
3. छिन्नच्छाया, डा. रवीन्द्रकुमार पण्डा, प्रका. माणिक प्रकाशन, 13341/6, रेलवे कालोनी, अम्बाला छावनी, हरियाणा, 2005
4. निम्नपृथिवी, डा. केशवचन्द्रदाशः,

5. ऊर्मिचूडा, डा. केशवचन्द्र दाशः, प्रतिभा प्रकाशन, 29/5, शक्तिनगर, दिल्ली 1995
6. गङ्गे च यमुने चैव, डा. नारायणदाशः, प्रका. लोकभाषा प्रचार समिति, पुरी, 2001
7. सहपाठिनी, डा. प्रमोदभारतीयः, प्रका. माणिक प्रकाशन, 13341/6, रेलवे कालोनी, अम्बाला छावनी, हरियाणा, 1999
8. जिजीविषा, डा. बनमाली बिश्वालः, प्रका. पद्मजा प्रकाशन, 57-बसन्त विहार, झूसी, इलाहाबाद, 2006
9. कथासप्ततिः, डा. प्रमोदकुमार नायकः, प्रका. लोकभाषा प्रचार समिति, पुरी, 2003
10. कथासप्तकम्, डा. नलिनी शुक्ला
11. कथा कौमुदी, डा. प्रभुनाथ द्विवेदीः, प्रका. श्रुतिप्रकाश द्विवेदी, एस-12/40 पियरिया पोखरी, वाराणसी, 1988
12. चित्रपर्णी, डा.राजेन्द्र मिश्रः, वैजयन्त प्रकाशन, 8, बाघम्बरी, इलाहाबाद।
13. आषाढस्य प्रथमदिवसे, डा. प्रशस्यमित्रशास्त्रीः, अक्षयवट प्रकाशन, 26, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद।
14. ईक्षुगन्धा, डा. राजेन्द्रमिश्रः, वैजयन्त प्रकाशन, 8, बाघम्बरी, इलाहाबाद।

डॉ0 अर्चना तिवारी
ग्रा.+पो. - कोरसम, जिला - फतेहपुर- 212665



आचार्य भरत : एक वास्तुशिल्पी

अरुण कुमार त्रिपाठी

रङ्गमञ्च की व्यवस्था नाटक का अनिवार्य अङ्ग है। प्रेक्षागृह तथा नेपथ्यगृह की व्यवस्था भी रङ्गमञ्च का ही अभिन्न अङ्ग है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में जहाँ नाटक विधा से सम्बद्ध समस्त पक्षों का विस्तृत वर्णन किया है वहीं नाटकमञ्चन के लिए अपेक्षित रङ्गमञ्च आदि के निर्माण से सम्बद्ध नियमों तथा विधियों का भी सविस्तार वर्णन किया है। इन विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य भरत को वास्तुशास्त्र सम्बन्धी गहन ज्ञान भी था। इस शोध-पत्र में आचार्य भरत द्वारा दिए गए मण्डपगृहों, प्रेक्षागृह, नेपथ्य तथा तत्सम्बन्धी अन्यान्य महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों की विशद विवेचना की गई है तथा आधुनिक रङ्गमञ्चीय व्यवस्था से उसका साम्य तथा वैषम्य भी प्रतिपादित किया गया है-

नाटक नेत्रों के माध्यम से हमारे हृदय में प्रवेश कर जाता है, तथा रङ्गमञ्च के ऊपर अभिनीत किये जाने पर ही आनन्द प्रदान करता है। इस प्रकार से नाटक का अभिनय करने के लिए सर्वप्रथम हमें रङ्गमञ्च की आवश्यकता होगी। जिस पर पात्रगण अभिनय करेंगे। पात्रों को तैयार होने के लिए नेपथ्यगृह एवं दर्शकों को बैठने के लिए प्रेक्षागृह की आवश्यकता होगी, जिसकी सहायता से वर्षा-धूप एवं नाटक के मञ्चन में व्यवधान पहुंचाने वालों से बचा जा सकेगा। आचार्य भरत को तो पहले ही नाटक में नाट्यगृह की आवश्यकता पड़ी थी। इसी को ध्यान में रखते हुए आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में नाट्यगृह के प्रकार एवं उसके निर्माण की विधि को सविस्तार बतलाते हुए अपने वास्तुशास्त्रीय ज्ञान का परिचय दिया है-

श्रूयतां तद्यथा तत्र[1] कर्तव्यो नाट्यमण्डपः।
तस्य वास्तु च पूजा च यथा योज्या प्रयत्नतः।।[2]

अपने वास्तु सम्बन्धी ज्ञान को बताने के लिए आचार्य भरत ने सर्वप्रथम मापने के लिए दूरी की इकाईयों का प्रयोग किया है।[3] नाट्यशास्त्र द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में भरत-मुनि ने नौ (9) मात्रकों को बतलाया है, जिनमें अणु, रज, बाल, लिक्षा, यूका, यव, अङ्गुल, हस्त और दण्ड हैं।[4]

इसमें अणु सबसे छोटी इकाई तथा हस्त सर्वप्रमुख इकाई है।[5] जिस प्रकार आधुनिक इकाईयां 10 के गुणन फल में है उसी प्रकार भरतमुनि द्वारा बतायी गयी इकाइयाँ 8 के गुणनफल (या गुणक) होती हैं, इसमें बड़ी इकाई अपने छोटी इकाई का आठ गुना बड़ा होती है। यदि हम एक हाथ बराबर (=) 18 इन्च मान लें तो इन दोनों इकाइयों में सम्बन्ध बनाया जा सकेगा, जिसकी सहायता से हम आज भी उसे आसानी से समझ सकेंगे तथा भरतकालीन इकाईयां सामान्य जन के लिए भी सुग्राह्य होंगी।

इकाइयों का परस्पर सम्बन्ध[6]

यदि 1 हाथ = 18 इन्च (Inch.), तथा 1 इन्च = 25 मि.मी. तब
8 अणु = 1 रज = एक धूलकण

8 रज	= 1 वाल= 1 बाल के मोटाई के बराबर		
8 वाल	= 1 लिक्षा	= 3/1408 इन्च = 75/1408 मिलीमीटर	
8 लिक्षा	= 1 यूका= 3/176 इन्च = 75/176 मि.मी.		
8 यूका	= 1 यव	= 3/32 इन्च = $2\frac{11}{32}$ मि.मी.	
8 यव	= 1 अङ्गुल	= 3/4 इन्च = $18\frac{3}{4}$ मि.मी.	
(8×3)	= 24अङ्गुल	= 1 हाथ = 18 इन्च = 450 मि.मी.	
4 हाथ	= 1 दण्ड= 6 फुट या 72 इन्च = 1800 मि.मी.		

उपर्युक्त मात्रकों के आधार पर आचार्य भरत ने नाट्यमण्डप का वर्णन द्वितीय अध्याय की कारिका 8 से 11 तक में किया है। कारिकाओं में वर्णित विधि के द्वारा हस्त परिमाण मानकर नव (9) प्रकार के मण्डप बनाये जा सकते हैं। उन्होंने 108 हाथ, 64 हाथ, 32 हाथ, 16 हाथ का प्रयोग किया है, जिन्हें सर्वप्रथम आधुनिक इकाई में परिवर्तन निम्नलिखित प्रकार से कर सकते हैं-

चूँकि	1	हाथ	= 18	इन्च		
इसलिए	108	हाथ	= 1944	इन्च	= 162	फुट
	64	हाथ	= 1152	इन्च	= 96	फुट
	32	हाथ	= 576	इन्च	= 48	फुट
	16	हाथ	= 288	इन्च	= 24	फुट

उपर्युक्त परिमाणों के आधार पर आचार्य भरत ने आयताकार, वर्गाकार, समत्रिभुजाकार तथा प्रत्येक को मध्यम, अवर और ज्येष्ठ प्रकार का बताया गया है, जो निम्न सारणी से स्पष्ट हो जाता है-

मण्डपगृहों के प्रकार एवं उनके परिमाण[7]

आकार	प्रकार	परिमाण		उपयोग
		हाथ	फुट (Feet)	
विकृष्ट	ज्येष्ठ	108 × 64	162 × 96	देवताहेतु
(आयताकार)	मध्यम	64 × 32	96 × 48 राजाहेतु	
	अवर	36	48 × 24	सामान्यजनहेतु
चतुरस्त्र	ज्येष्ठ	108 x 108	162 x 162	देवताहेतु
(वर्गाकार)	मध्यम	64 x 64	96 x 96	राजाहेतु
	अवर	32 x 32	48 x 48	सामान्यहेतु
त्र्यस्त्र	ज्येष्ठ	108	162	देवताहेतु
(समत्रिभुजाकार)	मध्यम	64	96	राजाहेतु
	अवर	32	48	सामान्यहेतु

आचार्य भरत ने उपर्युक्त 9 (नव) प्रकार के मण्डपगृहों का विभाजन करने के पश्चात् मण्डपगृहों के निर्माणहेतु भूमि का चयन किस प्रकार किया जाय इसका वर्णन किया है। उनका कहना है कि "जो भूमि समतल, मजबूत, ठोस, काली अथवा पीली हो उसी स्थान पर नाट्य-मण्डप बनवाना चाहिए।"[8] इस प्रकार की भूमि को सर्वप्रथम साफ करके हल से जोतें और हड्डी, कील, कपालादि और घास-फूस एवं झाड़-झंखाड़ आदि को उसमें से निकाल दें। तत्पश्चात् पृथ्वी का शोधन करके परिमाण का निश्चय करें तथा परिमाण के मापन के लिए पुण्य नक्षत्र का योग होनेपर सूत डाले।[9] इस प्रकार भूमि के शोधन के पश्चात् विभिन्न प्रकार के मण्डपों को बनाना चाहिए।

आयताकार (विकृष्ट) मण्डप बनाने के लिए सर्वप्रथम चौंसठ हाथ (96 Feet) लम्बा मध्यम प्रकार का मण्डप लेते हैं। इस प्रकार से इस 64 × 32 (96 × 48 Feet) के मण्डप को लेकर लम्बाई वाले हिस्से को आधा कर लेते हैं। आधा करने के बाद वह 32 × 32 हाथ के दो भागों में बँट जाता है। पुनः पीछे के बचे भाग को लम्बाई के तरफ से आधा करने पर 16 × 32 के दो भाग बच जाते हैं। अब इन दोनों भागों में से आगे वाले को रङ्गशीर्ष तथा पीछे वाले को नेपथ्यगृह कहना चाहिए (द्रष्टव्य चित्र संख्या-1)[10]। इसी प्रकार से वर्गाकार तथा त्रिभुजाकार मण्डप को भी बनाना चाहिए (द्रष्टव्य चित्र संध्या 2 एवं 3)। आचार्य भरत तथा अभिनवगुप्त दोनों ने सर्वप्रथम आयताकार मण्डप का ही वर्णन किया है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोगों ने इसी मण्डप को ही श्रेष्ठ माना होगा। आज भी इसी प्रकार के मण्डप प्रचलन में अधिक हैं।

आचार्य भरत द्वारा बताये गये इस मण्डप को लेकर विद्वानों में मतभेद है। श्री मनमोहन घोष[11] ने दो बातों पर अपना मतभेद प्रकट किया। पहली बात यह थी कि रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष दो नहीं हैं वरन् एक ही स्थान के वाचक पर्याय हैं और दूसरा यह है कि प्रेक्षकों को बैठने के लिए आधे नहीं वरन् तीन चौथाई भाग होनी चाहिए तथा एव चौथाई भाग में नेपथ्यगृह एवं रङ्गपीठ की रचना होनी चाहिए। पहली बात को सिद्ध करने के लिए घोष महोदय ने पाँच प्रमाण रखे-

1. प्रथम अध्याय में ब्रह्म ने नाट्यमण्डप के विभिन्न स्थानों की रक्षा की जो व्यवस्था की थी उसमें 'रङ्गशीर्ष' का कोई उल्लेख नहीं किया गया है।[12]

2. द्वितीय अध्याय के श्लोक 32-33 में नाट्यमण्डप के विभिन्न भागों का निर्देश किया गया है किन्तु यहाँ भी 'रङ्गपीठ' का कोई उल्लेख नहीं है।

3. द्वितीय अध्याय के श्लोक 72, 73 और 75 में केवल 'रङ्गशीर्ष' का ही उल्लेख है।

4. त्यस्त्र रङ्गमण्डप की रचना में द्वितीय अध्याय के 102, 103 और 104 श्लोकों में केवल रङ्गपीठ का उल्लेख किया गया है।

5. द्वितीय अध्याय की श्लोक संख्या 88 से 101 तक चार स्थानों पर स्पष्ट रूप से रङ्गशीर्ष का उल्लेख है। केवल एक स्थान पर रङ्गपीठ का उल्लेख है।

घोष की उपर्युक्त बातों की प्रत्यालोचना करते हुए डा. मनकद ने द्वितीय अध्याय के 100वें तथा 68वें श्लोक को लेते हुए कहा कि 100वें श्लोक में समुन्नत तथा सम दो प्रकार के रङ्गशीर्षों की चर्चा करते हुए विकृष्ट मण्डप में समुन्नत तथा चतुरस्र मण्डप में सम रङ्गशीर्ष के बनाने का विधान किया गया है। यहाँ किसकी अपेक्षा समुन्नत अर्थात् अधिक ऊँचा रङ्गशीर्ष बनाना चाहिए जिज्ञासा होती है उसकी निवृत्ति रङ्गपीठ के द्वारा होती है। इसके अतिरिक्त 68वें श्लोक में रङ्गशीर्ष तथा रङ्गपीठ का अलग-अलग

उल्लेख किया गया है।[13] इनके अतिरिक्त डा. राघवन महोदय ने भी अभिनवभारत के विविध उद्धरणों के द्वारा रङ्गशीर्ष और रङ्गपीठ को अलग-अलग सिद्ध करने का यत्न किया है। किन्तु सभी मतों में हमें डा. नगेन्द्र का मत उचित प्रतीत होता है। डा. नगेन्द्र[14] का कहना है कि यह समस्या पाठ भेद के कारण पैदा हुई जहाँ 34वें श्लोक में रङ्गशीर्षे की जगह रङ्गशीर्ष एकवचनान्त शब्द छप गया है। अत: रङ्गपीठ एवं रङ्गशीर्ष दो अलग-अलग स्थान हैं।

आचार्य भरत ने रङ्गपीठ के दोनों ओर मत्तवारणी[15] बनाने को कहा है। मत्तवारणी की समस्या नाट्यशास्त्र की सबसे जटिल और महत्त्वपूर्ण समस्या है। अभिनवगुप्त से लेकर आधुनिक काल के विद्वान् डा. मनकद, प्रो. सुब्बाराव, प्रो. भानु तथा कु. गोदावरी केतकर ने इसके विषय में विचार कर तथ्य निर्णय करने का यत्न किया है, किन्तु वे किसी ठीक परिणाम पर नहीं पहुँच सके हैं। मत्तवारणी की सारी जटिलता का कारण मूल नाट्यशास्त्र का प्राचीन संस्करणों में पाये जाने वाला 'रङ्गपीठस्य पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारिणी' यह पाठ ही है। किसी प्रारम्भिक लिपिकार ने प्रमाद से 'कर्तव्यौ मत्तवारणौ' के स्थान पर 'कर्तव्या मत्तवारणी' पाठ मूल में आ गया और इससे ही सारी समस्यायें उत्पन्न हो गयीं कोश में मत्तवारणी शब्द का अर्थ बरामदा है।[16] शब्द कल्पद्रुम में 'मत्तंवारयतीति मत्तवारण:' यह व्युत्पत्ति करके 'प्रसादवीथीनां वरण्ड:' यह मत्तवारणशब्द का अर्थ किया है। मत्तवारणीशब्द नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त कहीं और प्राप्त नहीं होता है। अन्य सभी स्थानों पर मत्तवारण ही पाया जाता है। अभिनवगुप्त ने भी मत्तवारणी ही माना है। मत्तवारणी की स्थिति बताते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है, कि रङ्गपीठ के दोनों ओर मत्तवारणियों या वरण्डों की रचना होनी चाहिए (द्रष्टव्य चित्र 4 एवं चित्र 5)। यह मत्तवारणी आयताकार और वर्गाकार भेद से दो प्रकार की होती है। वर्गाकार मत्तवारणी 8 × 8 हाथ की तथा आयताकार मत्तवारणी 16 × 8 हाथ की होगी। डा. मनमोहन घोष, डा. मनकद ने मुख्य मण्डप के भीतर ही मत्तवारणी बनाने का यत्न किया है। प्रो. सुब्बाराव ने एक ही मत्तवारणी का प्रतिपादन किया है। उन्होंने 'मत्तानां वारणानां श्रेणि: मत्तवारणी' यह मत्तवारणी शब्द का अर्थ किया है और रङ्गपीठ के सामने की ओर धरातल से एक हाथ उठे हुए भाग की दीवार पर जो प्लास्टर किया जाय, उसमें मत्त हाथियों के चित्र बनाये जाएँ। यह प्लास्टर में बनी हुई मत्तहाथियों की पंक्ति की मत्तवारणी है।[17] प्रो. भानु का मत है कि 'मत्तों का वारण करने वाली' मत्तवारणी होती है।[18] उनका कहना है कि नाटक को देखते समय किसी अत्यन्त भावपूर्ण दृश्य को देखकर कभी-कभी प्रेक्षकों में कुछ व्यक्ति उन्मत्त हो उठते हैं वे उग्र भावावेश में मञ्च पर अभिनय करने वाले पात्रों के पास पहुँचना चाहते हैं। इन लोगों को रोकने की दृष्टि से रङ्गपीठ के सामने की ओर छोटी-छोटी दीवार या कटहरा आदि लगा देना आवश्यक है। इस रोक के कारण मञ्च पर जाने के लिए उतावले मत्त लोगों का वारण हो जाता है, इसलिए उस रोक को ही मत्तवारणी कहते हैं मेरा मत है कि यदि इन सभी विद्वानों के मतों को मिला दिया जाय तो मत्तवारणी शब्द की सार्थकता सिद्ध हो जायेगी एवं आधुनिक समय में इसका उपयोग भी किया जा सकेगा। इस प्रकार से रङ्गपीठ पर आने के लिए बगल के दो बरण्डे और दर्शकों को रङ्गपीठ पर आने से रोकेन के लिए ऊँचाई वाले भाग में छोटी दीवार पर हाथियों का सुन्दर चित्र छपा होना चाहिए, यह सब मत्तवारणी के ही अन्तर्गत आ जाएगा (द्रष्टव्य चित्र-7)। पुनः आचार्य भरत ने यह भी स्पष्ट किया है कि मत्तवारणी डेढ़ हाथ (27 Inch)की ऊँचाई की बनानी चाहिए एवं उन दोनों मत्तवारणियों के ऊँचाई का ही रङ्गपीठ भी होना चाहिए।[19] अर्थात् मत्तवारणी तथा रङ्गपीठ दोनों की ऊँचाई पृथ्वीतल से 27 इन्च ऊँचा होना चाहिए। इसको ऊँचा उठाने के लिए घास-फूस, ईंट-पत्थर से रहित काली मिट्टी का ही प्रयोग करना चाहिए।[20]

नाट्यमण्डप की रचना में सर्वप्रमुख स्थान रङ्गपीठ का है। सारा अभिनय इस रङ्गपीठ पर ही अभिनीत होता है तथा यह प्रेक्षक गृह में बैठे प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि का केन्द्र होता है। यद्यपि आचार्य भरत ने रङ्गपीठ को ऊँचा बनाने को कहा है, किन्तु फिर भी पाठ भेद के कारण विद्वानों में इसको लेकर मतैक्य नहीं है। पहला विवाद रङ्गपीठ को प्रेक्षकों के बैठने के स्थान से ऊँचा रखा जाय या नीचा, यह है। इस पर प्रो. डी. आर. मनकद और डा. मनमोहन घोष का मत है कि इसे प्रक्षकों के बैठने के स्थान से नीचा रखना चाहिए। यह समस्या पैदा होने का कारण द्वितीय अध्याय के 64वें श्लोक का 'रङ्गमण्डपम्' शब्द है।[21] यह मुख्यतः दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। कभी रङ्गमण्डपम् सारे नाट्यमण्डप का वाचक होता है। कभी सामाजिकों के बैठने के स्थान के लिए प्रयुक्त होता है। यदि इसका दूसरा अर्थ लिया जाय तब डा. घोष तथा प्रो. मनकद की बात सिद्ध हो जाती है। किन्तु इन विद्वानों ने आचार्य भरत के 69 श्लोक को ध्यान नहीं दिया जिसमें रङ्गपीठ को ऊँचा करने के लिए काली मिट्टी लाने के लिए कहा गया है। इतना ही नहीं पाश्चात्य विद्वानों के मत में यह दोष है कि वे केवल प्रेक्षकोपवेश से रङ्गपीठ को नीचा करने की ही नहीं अपितु नेपथ्यगृह की अपेक्षा भी रङ्गपीठ को नीचा मानते हैं। केवल डा. बेबर ही ऐसे व्यक्ति हैं जो नेपथ्यगृह की अपेक्षा रङ्गपीठ को ऊँचा मानते हैं। पाश्चात्य विद्वानों की भ्रामक धारणा का मुख्यतः दो कारण हैं-

1. नेपथ्य शब्द का निर्वचन 'नि-पत्र' धातु से करते हैं, अर्थात् जिससे नीचे की ओर उतरा जाय वह नेपथ्य है। नेपथ्य गृह से रङ्गपीठ पर ही आया जाता है, इसलिए नेपथ्यगृह को रङ्गपीठ से ऊँचा होना चाहिए अर्थात् रङ्गपीठ नीचा होना चाहिए।

2. नाटकों में प्रयुक्त होने वाले 'रङ्गावतरण' शब्द का अर्थ लेते हैं कि रङ्गपीठ पर नेपथ्य से उतरना होता है इसलिए रङ्गपीठ को नीचा बनाते हैं।

किन्तु पाश्चात्त्य विद्वानों के मत समीचीन प्रतीत नहीं होते हैं, क्योंकि अमरकोष के टीकाकार भानुजिदीक्षित ने 'नेत्रस्य नेतुर्वा पथ्यं नेपथ्यम्' यह नेपथ्य शब्द का निर्वचन किया है। अवतरण शब्द के आधार पर थोड़ा सा नीचा माना जा सकता है, लेकिन रङ्गशीर्ष की तुलना में ना कि प्रेक्षक गृह के।[22] इसे अभिनवगुप्त ने भी माना है। इसीलिए उन्होंने रङ्गशीर्ष को चित्त सोये हुए पुरुष के शिर के समान माना है। स्वयं भरतमुनि ने भी विकृष्ट मण्डप में रङ्गशीर्ष को रङ्गपीठ की अपेक्षा कुछ उन्नत बतलाया है।[23] इसलिए नेपथ्यगृह भी रङ्गपीठ से कुछ ऊँचा हो सकता है। आज भी भरतमुनि के विचारों का ही अनुकरण किया जाता है। प्रायः भारतीय रङ्गपीठ (Stage), प्रेक्षकगृह (Auditorium) एवं नेपथ्यगृह (Green Room) से ऊँचा ही होता है। रङ्गपीठ के ऊँचा होने से दर्शकगण को अभिनय आसानी से दिखाई पड़ता है, अन्यथा प्रेक्षकगृह में पीछे बैठे व्यक्ति उसे देख नहीं पायेंगे। जहाँ तक नेपथ्य गृह का सवाल है आज उसे पीछे की तरफ ही बनाया जाता है, इससे पात्रों को रङ्गपीठ पर आने में सुविधा भी होती है। उपर्युक्त के आधार पर नाट्यमण्डप इलाहाबाद में देखे जा सकते हैं उत्तरमध्य सांस्कृतिक केन्द्र एवं संगीतसमिति के नाट्यमण्डप भरतमुनि के अनुसार ही बना है, किन्तु राजर्षिमण्डपम् का नाट्यमण्डप भरतमुनि एवं पाश्चात्य नाट्यमण्डपों का मिश्रण प्रतीत होता है।

आचार्य भरत के अनुसार षड्दारूक(छह काष्ट खण्डे) से युक्त रङ्गशीर्ष की रचना करनी चाहिए और उसमें नेपथ्यगृह के दो द्वार बनाने चाहिए।[24] इस छः सुन्दर लकड़ी को किस प्रकार से लगाया जाय इस पर अनेक विद्वानों ने अपना-अपना मत प्रस्तुत किया है। स्वयं अभिनवगुप्त ने ही इसकी तीन तरह से व्याख्या किया है, जिसे डॉ. नगेन्द्र ने अपने अभिनव भारत में चित्र के माध्यम से भी प्रस्तुत किया है।[25] (द्रष्टव्य चित्र-8) अभिनवगुप्त का पहला मत यह है कि नेपथ्य गृह की भित्ति के सामने एक दूसरे से आठ हाथ

के अन्तराल पर स्थित दो स्तम्भों को उनके मुख्यादि की अपेक्षा से चार हाथ के अन्तर पर और दो खम्भे तथा उनके ऊपर-नीचे की दो लकड़ियाँ मिला कर छह काष्ठ खण्ड होते हैं। जिसमें छह दारू हों वह 'षड्दारूक' कहलाता है। जो विचित्र रचना से युक्त होना चाहिए।[26]

2. अभिनवगुप्त का दूसरा मत है कि दोनों किनारों के दो खम्भों, उनके ऊपर तथा नीचे की दो लकड़ियों और उनके बीच के दो खम्भों से युक्त तिहरीं षड्दारूक कहलाती है।[27]

3. तीसरी व्याख्या में अभिनवगुप्त ने प्रत्येक काष्ठ का नामकरण कर दिया है।[28]

1. 'ऊह' अर्थात् स्तम्भ के ऊपर के सिरे से निकला हुआ काष्ठ।

2. 'प्रत्यूह' अर्थात् उससे आगे निकली हुई तुला।

3. 'निर्यूह' अर्थात् तुला के किनारे से निकले हुए तख्तों की दीवार।

4. 'संजवन' अर्थात् भित्ति के समान आकाश में निकले हुए तख्ते।

5. खम्भों पर बने हुए सिंह आदि और सांप या हाथी आदि 'अनुबन्ध'।

6. 'कुहर' अर्थात् तख्तों के ऊपर खुदे हुए पर्वत नगरों की कुञ्जें तथा गह्वर आदि रूप से षड्दारूक हैं।

प्रो. डी. सुब्वा राव ने भी षड्दारूक की कल्पना की है।[2929]

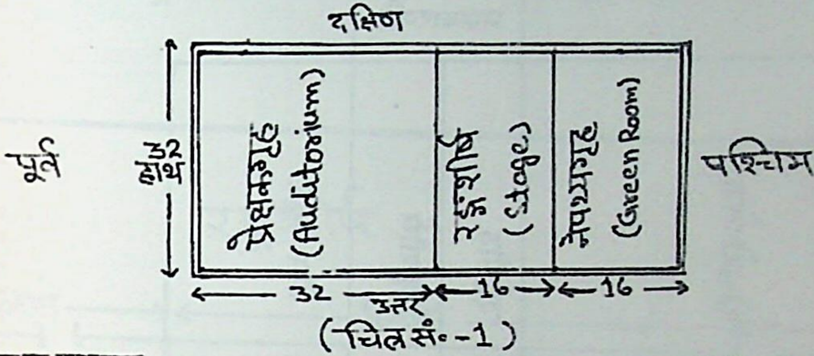
प्रो. डी. सुब्बा राव का थियेटर सम्बन्धी लेख, नाट्यशास्त्र ऑफ भरतमुनि, ओ. इ. बड़ोदरा, सं. उनके अनुसार चौखट के चारों ओर की चार लकड़ियाँ और उनके कोनों को मिलाती हुई दो लकड़ियाँ ये सब मिलकर छः काष्ठ खण्ड हो जाते हैं। (द्रष्टव्य चित्र-9) इस प्रकार से काष्ठ खण्डों की स्थिति जानने के बाद आचार्य भरत ने दारूकर्म अर्थात् रङ्गशीर्ष के ऊपर की जाने वाली लकड़ी की कारीगरी के विषय में बताया है।[30] सभी व्याख्याओं में आचार्य भरत की सत्यता के पास कोई भी नहीं पहुँच पाया है। इसमें सभी को दिग्भ्रमित करने का कार्य अभिनवगुप्त की तीनों व्याख्याओं ने किया है। वास्तव में आचार्य भरत ने छह दारू का प्रयोग आगे आने वाले श्लोक 75 से 78 में होने वाले दारूकर्म के लिए बताया था। अर्थात् रङ्गशीर्ष को सजाने के लिए जो ऊह, प्रत्यूह से युक्त नाना प्रकार की कारीगरी से समन्वित भित्ति के समान प्रतीत होने वाले अनेक तखतों से विभूषित, अनेक सर्प से, नाना प्रकार की जालियों एवं झरोखों से युक्त जो दारुकर्म करने के लिए भरतमुनि ने बताया है, उन्हीं को बनाने के लिए ही छह प्रकार की लकड़ियाँ प्रयोग में लानी होती है, इन्हें ही षड्दारूक कहते हैं। अभिनव गुप्त का तीसरा मत इसके कुछ नजदीक पहुँचता है। किन्तु इसके आधार पर डॉ. नरेन्द्र द्वारा बनाया गया चित्र निरर्थक प्रतीत होता है।

आचार्य भरत का कहना है कि चारों तरफ से मण्डप में भित्ति बनानी चाहिए जिससे निर्वात बना रहे तथा भित्ति बन जाने के पश्चात् बाहर की ओर से लेप करायें तथा बाहर की ओर सफेदी कराना चाहिए तथा चिकना हो जाने पर उस पर चित्र रचना करवानी चाहिए।[31] इन दीवारों पर किस तरह का चित्र बनाया जाय इसको भी स्पष्ट करते हुए आचार्य भरत कहते हैं कि चित्र रचना में पुरूष और स्त्रियों का चित्र लताबन्ध तथा अपने योग-विलास की रूचि के अनुसार चरित्रों का चित्रण करवाना चाहिए।[32] इस प्रकार से मण्डप की दीवारें भी सजी-धजी होनी चाहिए।

अन्त में आचार्य भरत मण्डप के अन्दर लगने वाले खम्भों की व्यवस्था के बारे में कहते हैं। चूँकि आचार्य भरत ने चतुरस्त मण्डप में खम्भों की व्यवस्था सुन्दर तरह से बताया है इसलिए हम चतुरस्रमण्डप

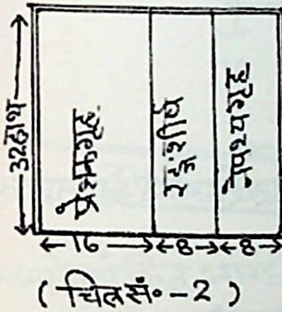
Scale 1 Cm = 8 Hands

1. आयताकार (विकृष्ट) मण्डप



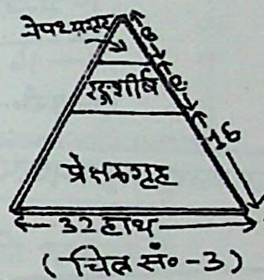
(चित्र सं.-1)

2. वर्गाकार मण्डप

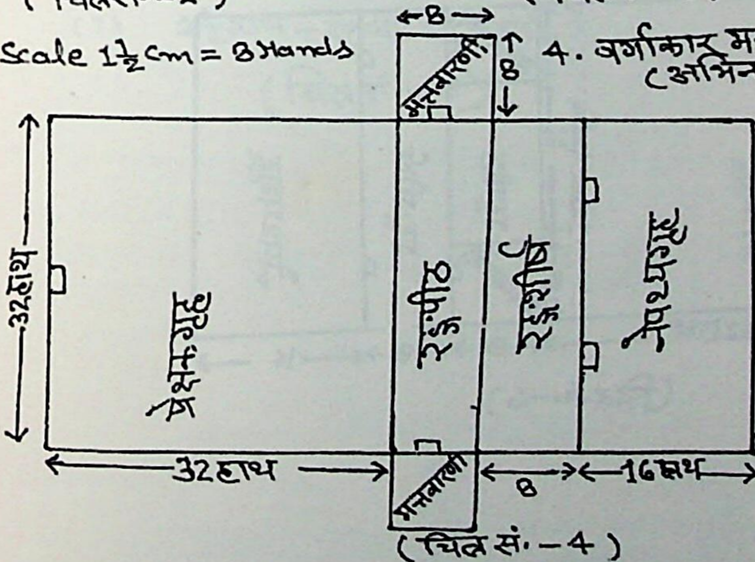


(चित्र सं.-2)

3. त्रिभुजाकार मण्डप



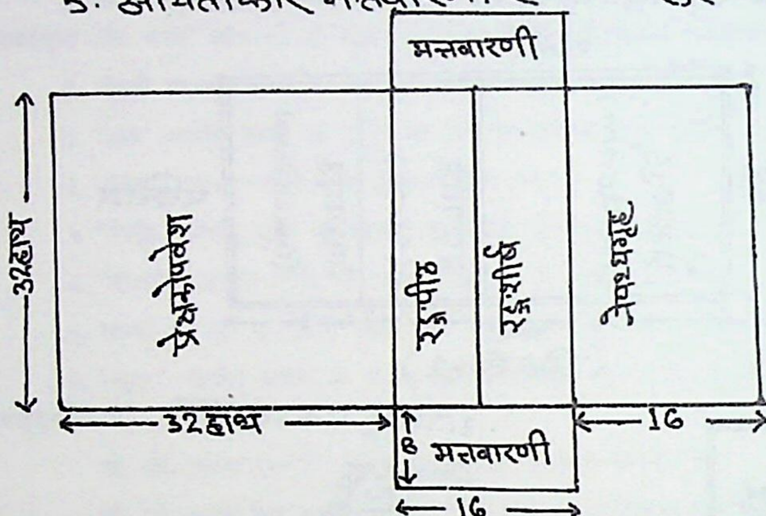
(चित्र सं.-3)



(चित्र सं.-4)

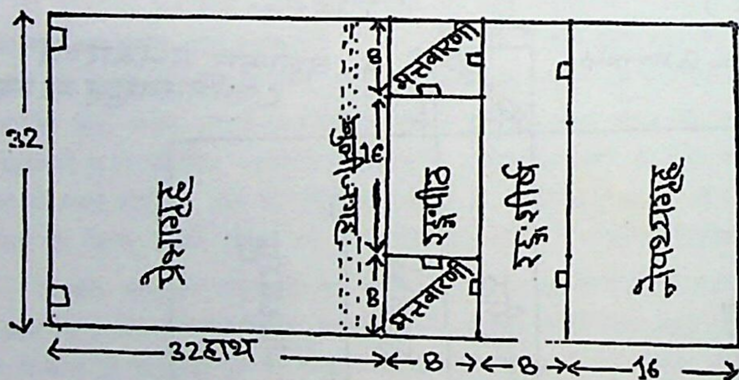
Scale 1½ cm = 8 Hands

5. आयताकार मत्तवारणी (अभिनवगुप्त का मत)



(चित्र सं.-5)

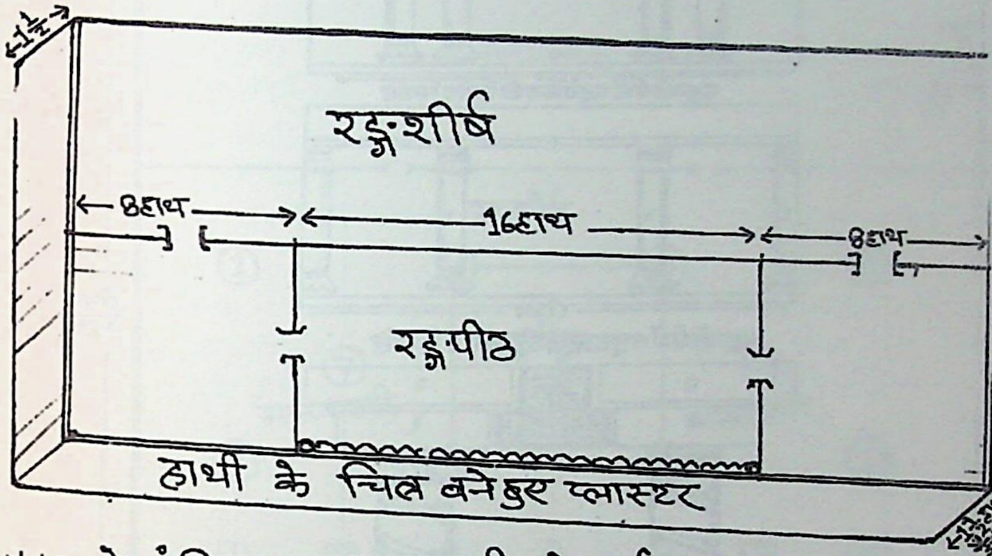
6. आयताकार नाट्यमण्डप मत्तवारणीसहित (हमारा अपनामत)



(चित्र सं.-6)

Scale 2 Hand = 3cm

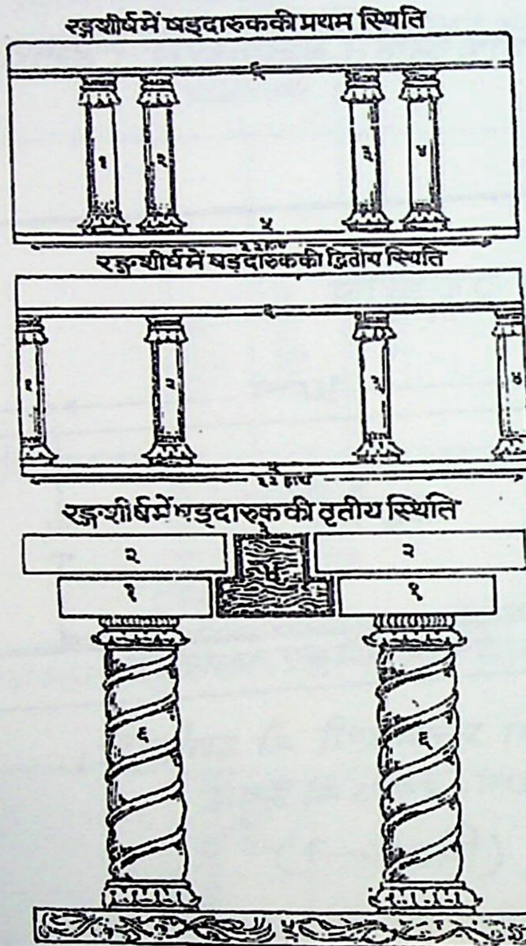
7. रङ्गपीठ सहित मत्तवारणी (हमारा अपना मत)



Note (1) रेखांकित भाग मत्तवारणी को दर्शाता है।
(2) 1½ हाथ – रंगपीठ की ऊँचाई

(चित्र सं.–7)

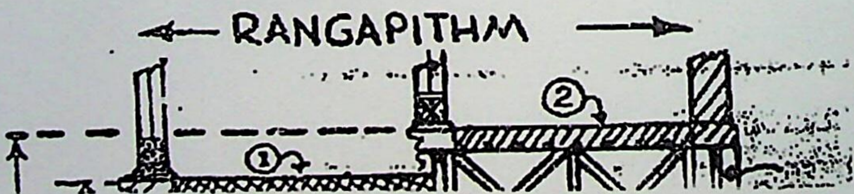
रङ्गशीर्षपर षड्दारुकं की तीन स्थितियां



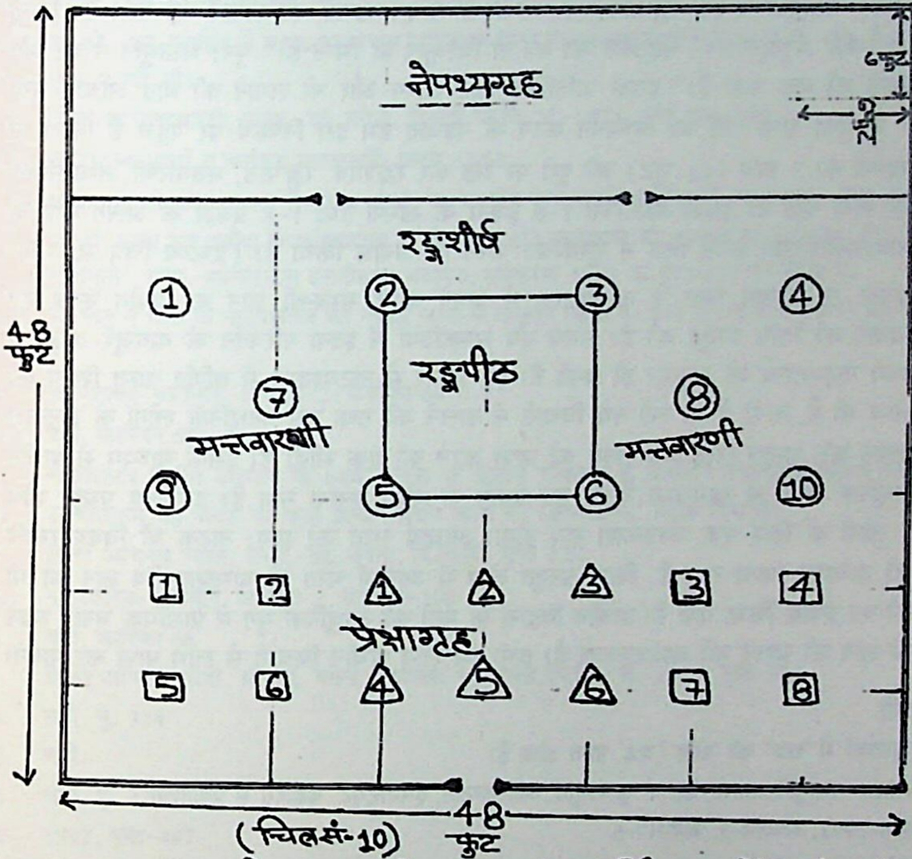
अभिनवगुप्त के तीन षड्दारुक (चित्र संख्या - 8)

श्री सुब्बाराव द्वारा प्रस्तुत

षड्दारुकका चित्र



चतुरस्र मण्डप में खम्भों की व्यवस्था (हमारा अपना मत)
Scale 1 Hand = 18 Inch ⇒ 32 Hands = 48 feet



(चित्र सं. 10)

स्तम्भ नं. 1 से 10 तक गोला (O) से प्रदर्शित (खम्भों के बीच की दूरी=1:
स्तम्भ नं. 1 से 8 तक वर्ग (□) से प्रदर्शित (खम्भों के बीच की दूरी = (
स्तम्भ नं. 1 से 6 तक त्रिभुज (Δ) से प्रदर्शित (खम्भों के बीच की दूरी=

में ही खम्भों की चर्चा करेंगे। आचार्य भरत के अनुसार चतुरस्र मण्डप (32 × 32 हाथ) में खम्भों की व्यवस्था बताते हुए कहा कि भीतर की ओर मत्तवारणी सहित रङ्गपीठ पर अर्थात् रङ्गपीठ के समीप मण्डप को धारण करने में समर्थ दस खम्भें प्रयोक्ताओं को खड़े करने चाहिए।[33] इस सन्दर्भ में शङ्कुक तथा भट्टलोल्लट एवं भट्टतोत के मत को तो अभिनवगुप्त ने स्वयं उल्लेख किया है। दश स्तम्भों की व्यवस्था तो शङ्कुक एवं भट्टलोल्लट दोनों ने एक ही प्रकार से की है इसमें 9वाँ एवं 10वाँ खम्भा भरतमुनि से भिन्न है।[34] अर्थात् भरतमुनि ने इसे रङ्गशीर्ष एवं मत्तवारणी में इन खम्भों को लगाने को कहा है। किन्तु वार्तिककार का इसके अनुकूल है।[35] भट्टतोत का मत तो बिल्कुल ही भिन्न है।[36] पुनः भरतमुनि ने छः और खम्भों को लगाने की बात कहा है।[37] इसके अतिरिक्त आठ स्तम्भ और भी लगाने की बात आचार्य भरत ने किया है।[38] उपर्युक्त सभी मतों का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 1 से 10 तक के खम्भों को 3 हाथ (12 फुट) की दूरी पर रख कर रङ्गशीर्ष, रङ्गपीठ, मत्तवारणी, तथा नेपथ्य गृह को आधार दिया गया है। इसके अतिरिक्त 1-6 प्रकार के खम्भों तथा 1-8 प्रकार के अलग तरह के खम्भों की आवश्यकतानुसार हमने चित्र में सुसज्जित करने का प्रयास किया है। (द्रष्टव्य चित्र सं.-10)।

इस प्रकार से आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में अपने वास्तु सम्बन्धी ज्ञान का प्रयोग करते हुए नाट्यमण्डप बनाने की विधि प्रस्तुत की है। समय एवं संस्कृतियों में इतना परिवर्तन के बावजूद आज भी रङ्मञ्च लगभग नाट्यशास्त्र के अनुसार ही बनते हैं। इस प्रकार से नाट्यशास्त्र में वर्णित वास्तु शिल्प की प्राषंगिकता आज भी है, कमी है तो उसे नये विचारो में ढालने की तथा उसे आधुनिक लोगों के अनुकूल एवं सुग्राह्य बनाने की। प्रस्तुत लेख इसी लक्ष्य को प्राप्त करने की एक सीढ़ी है। इसके माध्यम से प्राचीन कला को आधुनिक कला से सामंजस्य बैठाते हुए प्रयोग के योग्य बनाया गया है। इसीलिए प्रस्तुत शोध पत्र आज के लोगों के लिए एक नवप्रकाश रूप होगा। आचार्य भरत को प्रायः नाटक के विषय रसादि से जोड़कर ही अध्ययन किया गया है, किन्तु प्रस्तुत लेख में आचार्य भरत के वास्तुशास्त्रीय ज्ञान को भी प्रकाश में लाने का प्रयास किया गया है। प्राचीन विद्वानों के मतों को आधुनिक युग में प्रासंगिक बनाये रखने के लिए उनके ज्ञान को जानने की आवश्यकता है। तभी हम लोग प्राचीन विचारों से लाभ प्राप्त कर पायेंगे।

सन्दर्भटिप्पणी

1. कुछ पुस्तकों में 'तत्र' की जगह 'यत्र' प्राप्त होता है।
2. नाट्यशास्त्र-भरतमुनि, सम्पा.-डा. के कृष्णमूर्ति, ओरियण्टल, इन्स्टीट्यूट, बड़ोदरा से प्रकाशित, संस्करण-1992, अध्याय-2, कारिका-6
3. आचार्य भरत के गणितीय ज्ञान का वर्णन 'हिन्दुस्तानी' के अङ्क-4 वर्ष 2006 में मेरे ही लेख में छपा है। आवश्यक होने के कारण उसकी कुछ पंक्तियां यहाँ भी ली गयी हैं।
4. अणू रजश्च वालश्च लिक्षा यूका यवस्तथा।
   अङ्गुलं च तथा हस्तो दण्डश्चैव प्रकीर्तितः।। नाट्यशास्त्र 2/13
5. प्रमाणमेज़ां निर्दिष्टं हस्तदण्डसमाश्रयम्। - नाट्यशास्त्र 2/9
6. नाट्यशास्त्र-भरतमुनि, अध्याय-2, कारिका 14 से 16 तक
7. वही, 8-11
8. समा स्थिरा तु कठिना कृष्णा गौरी च या भवेत्।
   भूमिस्तत्रैव कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः।। नाट्यशास्त्र-भरत, प्रका.-बड़ोदरा, 2/25

9. वही, 2/26-24
10. वही, 2/33-35
11. डा. मनमोहन घोष ने सन् 1933 के 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली' पृष्ठ 591 पर छपे एक लेख के द्वारा इसी पत्रिका में छपे 1932 के तृतीय अङ्क में प्रो. डी. आर. मनकद के लेख की आलोचना करते हुए नाट्यशास्त्र पर प्रकाश डाला था।
12. जबकि 'रङ्गपीठ की दो बार चर्चा प्रथम अध्याय के श्लोक संख्या 90-95 में की गयी हैं।
13. प्रो. डी. आर. मनकद ने यह प्रत्यालोचना 'इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली' के 1933 के अङ्क में पृष्ठ 973 से 977 में की थी।
14. हिन्दी अभिनवभारती, सम्पा.-डॉ. नगेन्द्र, दिल्ली वि.वि. सं.-1973, पृष्ठ 289-290
15. रङ्गपीठस्य पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी। नाट्य.-2/63
16. संस्कृत हिन्दी कोश-वामन शिवराज आप्टे, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन दिल्ली, सं. 1998, (मुद्+क्त+वारणम्)
17. प्रो. डी. सुब्बा राव बड़ौदा विश्वविद्यालय में डीन थे। इन्होंने मत्तवारणी की समस्या का समाधान 'नाट्यशास्त्र आफ भरतमुनि', प्रका.-ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट वड़ोदरा, संस्करण-1992 के पृष्ठ 437 पर किया है।
18. प्रो. भानु ने भरत के नाट्यशास्त्र का मराठी भाषा में अनुवाद किया है। उसी में इन्होंने मत्तवारणी की व्याख्या की है।
19. नाट्यशास्त्र-भरतमुनि, अध्याय-2, कारिका 64
20. वही, कारिका 69
21. नाट्यशास्त्र द्वितीय अध्याय के 64वें श्लोक के द्वितीय पंक्ति में 6 उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रङ्गपीठम्' में रङ्गपीठकम् की जगह पर कुछ प्राचीन लिपि कारों ने 'रङ्गमण्डपम्' लिख दिया है।
22. हिन्दी अभिनव भारत, सम्पा.-डॉ. नगेन्द्र, दि.वि.वि. पृष्ठ 322
23. नाट्यशास्त्र-भरतमुनि, अध्याय-2, कारिका-100
24. वही, कारिका 68
25. हिन्दी अभिनवभारती, सं.-डॉ. नगेन्द्र प्रकाशक - दिल्ली वि.वि., सं.-1973, पृष्ठ 326
26. वही, पृ. 324
27. वही,
28. वही, पृ. 325
29. 1992, पृष्ठ-447
30. नाट्यशास्त्र-भरतमुनि, अध्याय-2, कारिका 75 से 78 तक
31. वही, कारिका 81 से 83 तक
32. वही, 2/84
33. वही, 2/89
34. अभिनवभारती, सं. डॉ. नगेन्द्र, दि. वि. वि., पृष्ठ 348 एवं 351
35. वही, पृ. 355
36. वही, पृ. 365
37. नाट्यशास्त्र-भरतमुनि-2/92
38. वही, 2/93

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. नाट्यशास्त्र-भरतमुनि, सम्पा. डॉ. के कृष्णमूर्ति, प्रकाशक-ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट बडौदरा, संस्करण - 1992
2. इण्डियन हिस्टारिकलक्वार्टरली, सं., नरेन्द्र नाथ लॉ, प्रकाशक-कॉक्सन पब्लिकेशन दिल्ली, संस्करण - 1933
3. इण्डियन हिस्टारिकलक्वार्टरली सं. नरेन्द्र नाथ लॉ, प्रकाशक-कॉक्सन पब्लिकेशन दिल्ली, संस्करण - 1932
4. हिन्दी अभिनवभारती, सम्पा. डॉ. नरेन्द्र, प्रकाशक दिल्ली विश्वविद्यालय, सं. - 1973
5. हिन्दुस्तानी, सं. प्रो. योगेन्द्रप्रताप सिंह, अङ-4, प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, सं. - 2006
6. शब्दकल्पद्रुम, ले. राधाकान्त देव, प्रकाशक - 71 नं. पाथुरियाघाटस्ट्रीट कलकत्ता, सं. शकाब्द - 1808
7. संस्कृत हिन्दी कोश - वॉमन शिवराज आप्टे, प्रकाशक - न्यू भारती बुक कार्पोरेशन दिल्ली, सं. - 1998

अरुण कुमार त्रिपाठी

(तिघरा, नगहरा, बस्ती) 329-सी, अशोकनगर, इलाहाबाद, उ. प्र.



कालिदास द्वारा वर्णित- काननोदुम्बराणां के अनुसार उदुम्बर का स्वरूप

ज्योत्स्ना निगम

कालिदास का साहित्य विविध विधाओं का आकर है। इसमें संगीतशास्त्र विविध प्रकार के पशु-पक्षियों, वृक्षों, ऋतुओं एवं फलों तथा पुष्पों आदि से सम्बद्ध प्रचुर सामग्री भी उपलब्ध होती है, परन्तु उनके द्वारा वर्णित स्थलों, पशु-पक्षियों तथा पुष्पों के अभिज्ञान के सम्बन्ध में कहीं कहीं विद्वानों में वैमत्य है। इस शोध-पत्र में कालिदास द्वारा 'मेघदूत' में उल्लिखित 'काकोदुम्बर' नामक फल की पहचान के विषय में भारतीय एवं पाश्चात्य व्याख्याकारों के विषय में भारतीय एवं पाश्चात्य व्याख्याकारों के परस्पर भिन्न मतों के विश्लेषण का प्रयास किया गया है।

कालिदास ने मेघदूत में मेघ को अलकापुरी का मार्ग बताते समय उज्जयिनी के पश्चात् देवगिरी पर्वत का वर्णन करते समय मेघ को काकोदुम्बर नामक फल को पकाने वाले के रूप में वर्णित किया है–

नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वम् गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम्।[1]

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कालिदास द्वारा वर्णित उदुम्बर नामक फल के वन मालवा क्षेत्र में बहुतायत से प्राप्त होते होंगे तथा फल वर्षा में पकते हैं। अब प्रश्न उठता है कि वह कौन सा फल है? जिसका उल्लेख महाकवि कालिदास ने किया है। उपर्युक्त अंश की संस्कृत टीका[2] में विद्वानों ने सामान्यतया उसे फल्गु या जन्तुफल कहा है। हिन्दी व्याख्याकारों[3] ने इसे गूलर कहकर पारिभाषित किया है किन्तु अंग्रेजी व्याख्याकार इसे Fig या Wild fig[4] कहकर वर्णित करते हैं।

अपने इस शोधपत्र में मैंने यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि कालिदास द्वारा वर्णित उदुम्बर को Fig कहना उचित नहीं है क्योंकि Fig का अर्थ[5] सामान्यतया अंजीर होता है।

यद्यपि यह सत्य है कि Fig और उदुम्बर या गूलर दोनों ही वनस्पति विज्ञान की Ficus प्रजाति के वृक्ष है। Fig को Encyclopedia of Britanica[6] में Ficus carica कहा गया है जबकि उदुम्बर Ficus racemosan के नाम से जाना जाता है। स्पष्ट है कि दोनों ही वृक्षों की प्रजाति एक है। इसी प्रजाति के अन्य वृक्ष है- बरगद, पांखुड, पीपल इत्यादि। इन सभी वृक्षों के बाह्य स्वरूप, आकार, स्थान, पत्ती इत्यादि में पर्याप्त अंतर है।

गूलर पर्णपाती (deciduous tree) है जो उत्तरी भारत में गंगा के पश्चिमी भाग एवं मध्य भारत में बहुतायत से पाया जाता है[7]। वस्तुतः कालिदास जिस उदुम्बर का उल्लेख करते हैं वह यही गूलर है।

इसके विपरीत Fig जो सामान्यतया अंजीर के नाम से जाना जाता है उसका उत्पत्ति स्थल अफगानिस्तान और पर्शिया माना जाता है[8] तथा भारत में यह उत्तर पश्चिमी पंजाब, पश्चिमी हिमालय, सिन्ध, बलूचिस्तान, मुम्बई, मद्रास, बर्मा और अंडमान द्वीप समूह में पाया जाता है किंतु श्री वॉट ने मध्यभारत में इसके पाये जाने का उल्लेख नहीं किया है जो कालिदास को अभीष्ट है जहां उन्होंने उसके वनों का उल्लेख किया है।

अतः स्पष्ट है कि कालिदास द्वारा वर्णित उदुम्बर और Fig के स्वरूप एवं प्राप्ति स्थल में पर्याप्त अंतर है।

साहित्यिक साक्ष्यों का विश्लेषण करने पर भी यह स्पष्ट होता है कि काकोदुम्बर के पर्यायवाची के रूप में फल्गु या जन्तुफल शब्द का प्रयोग ही सामान्यतया किया गया है। अमरकोश काण्ड 2 वनौषधि वर्ग में भी उदुम्बर (काकोदुम्बर) और फल्गु का उल्लेख है-

काकोदुम्बरिका फल्गुमलपूर्जघनेफला।

सुश्रुत संहिता में फल्गु शब्द का प्रयोग है-

विष्टम्भि मधुरं स्निग्धं फल्गुजं तर्पण गुरु।

चरक संहिता में भी फल्गु का प्रयोग है-

तर्पणं वृंहणं फल्गु गुरु विष्टम्भि शीतलम्।

वाग्भट्ट I (सातवीं शती) एवं वाग्भट्ट II (आठवीं या नवीं शती) दोनों ने ही फल्गु का उल्लेख किया है-

''सौवीरबदराड़ोलफल्गुश्लेष्मातकोभवम्।।

अष्टांग हृदय पर अरूण दत्त (1220ई.) एवं हेमाद्रि (1260ई.) द्वारा की गई टीकाओं में फल्गु की व्याख्या करते समय कहा गया है-

''फल्गुः:-काकोदुम्बरिका''[9]

इसके अतिरिक्त ''धन्वन्तरि निघण्टु'' जो कि अमरकोश से पूर्व का है उसमें भी उदुम्बर एवं काकोदुम्वर का उल्लेख है तथा उनकी विशेषताओं का वर्णन है लेकिन वहां अंजीर का उल्लेख भी नहीं है।

फल्गु, काकोदुम्बर और अंजीर का पर्यायवाची के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख हमें वाग्भट्ट के आष्टांगसंग्रह की पं. रामचन्द्र शास्त्री किंजवेडेकर कृत टीका शसविलेख[10] सूत्र स्थान 1940 में मिलता है-

''फल्गुः काकोदुम्बरिका स्वानामख्यातः खरपत्री वृक्षविशेषः (काला उबंर) अत्र केचन फल्गुशब्देन रामोदुम्बरिका फलम् (अंजीर) इत्याहुः।

श्रीरामचन्द्र शास्त्री की उपर्युक्त टीका के संबंध में मेरा ऐसा मानना है कि श्रीरामचन्द्र शास्त्री ने फल्गु शब्द से अंजीर का जो तात्पर्य लिया है वहां उन्होंने केचन् कहकर उसके प्रति अपनी अनास्था ही व्यक्त की है अर्थात् उन्हें उदुम्बर का अंजीर अर्थ अभीष्ट नहीं है।

अंजीर और काकोदुम्वर का साथ साथ उल्लेख 1374 A.D में मंडनपाद ने भी किया है-

अंजीरं मंजुलं मेहं काकोदुम्बरिकाफलम्।
अंजीरं शीतलं स्वादु गुरुपित्ताश्रवातजित्।
तस्मादल्पगुणं ज्ञेयमंजीरं लघु तद्गुणै:।।[11]

उपर्युक्त उदाहरण के संवंध में मेरा यह अभिमत है कि यहां पर मंडनपाद ने अंजीर और काकोदुम्बरिकाफल को पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त नहीं किया है। बल्कि मंडनपाद के अनुसार अंजीर (Fig) तथा काकोदुंबरिका (गुलर) इन दोनों ही वृक्षों से सफेद द्रव निकलता है अत: ये दोनों Ficus प्रजाति के अलग-अलग प्रकार की किस्म है।

श्री पी.के. गोंड[12] ने अनेक साक्ष्यों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि Fig अंजीर (Ficus Carica) भारत में काफी बाद में आया तथा Fig का अंजीर के रूप में उल्लेख 1374 ई. में मंडनपाद ने किया है। अत: स्पष्ट है कि कालिदास द्वारा वर्णित उदुम्बर गूलर है।

ऐतिहासिक साक्ष्यों से भी मेरा यह मत पुष्ट होता है क्योंकि श्री स्मिथ[13] के अनुसार बिन्दुसार, जो सम्राट अशोक का पिता था उसने कुछ Figs और rasin wine, सीरिया के राजा एण्टियोचस सॉटर से मंगवाये थे। ये Figs साटर द्वारा बिन्दुसार को भेजे गये थे। बिन्दुसार 298 ई. पू. में गद्दी पर बैठा तथा एण्टियोचस सॉटर की 261 ई.पू. में मृत्यु हो गई। अत: स्पष्ट है कि तीसरी शती ई.पू. में Fig बाहर से मंगाया गया था जबकि मेघदूत में कालिदास ने उदुम्बर के वनों (काननोदुम्बराणां) का वर्णन किया है। कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ई.पू. ही स्थापित किया गया है। अत: इसकी संभावना अति न्यून है कि Fig (अंजीर) के वनों का उल्लेख कालिदास ने उदुम्बर शब्द से किया हो। वस्तुत: सीरिया से आने वाला Fig अंजीर है जो वहाँ बहुतायत से प्राप्त होता है और कालिदास ने गूलर के वनों का ही वर्णन मेघदूत में किया है।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर अंग्रेजी व्याख्याकारों को उदुम्बर की व्याख्या करते समय Fig नही कहना चाहिए बल्कि Gular Tree (A Variety of Ficus tree) ही कहना चाहिये। जिस प्रकार नीम के पेड़ को Neem tree पीपल के पेड़ को Peepal tree कहा जाता है उसी प्रकार गूलर के पेड़ को Gular tree कहना उचित एवं तर्क संगत है।

सन्दर्भटिप्पणी

1. मेघदूत/पूर्वमेघ 45
2. वनेषूदुम्बराणाम् जन्तुफलानम्' मेघदूत पर सञ्जीवनी टीका, पृ. 106
3. प्रभुदयाल अग्निहोत्री - महाकवि कालिदास सांस्कृतिक अवदान -
4. The Meghduta of Kalidasa- M.R. Kale, Page No.77 &
   Works of Kalidasa-Devadhara Page 15 -
5. English-Hindi Dictionary-Bhargava
6. Encyclopedia of Brianica. Vide Page 228 of Vol. IX of the fourteenth Edn. 1920
7. A manual of Indian Timbers, J.S. Gamble, 1972, Page No. 94

8. Watt.- Dictionary of Economic Products of India.
9. अष्टांग हृदय - हरिशास्त्री पारदकर, N.S. Press, मुम्बई 1939 P.P. 110-111
10. चित्रशाला प्रेस, पूना सूत्र स्थान 1940
11. मदनविनोद निघण्टु, मण्डलपाद, Government MSS Library at the B.O.R.I. Poona No. 110 of 1873-74 folio 21 (फलवर्ग: षष्ठ:)
12. Indian Historical Quarterly Vol XIX PP. 62-65
13. वी. स्मिथ Early History of India (Oxford 1914 Page 147)

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. मेघदूत, पूर्वमेघ 46, पृ. 106 डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ।

डॉ. ज्योत्स्ना निगम
बरकतुल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल



कालिदाससाहित्यम्-व्यक्तिविकासः

नीलकण्ठः

भारतीयवाङ्मयं सर्वमपि विज्ञानमयमेवेति विश्वे सर्वस्मिन् विपश्चिद्भिः अङ्गीकृतमेव। "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्" इति भगवता व्यासमहर्षिणोक्तं सहस्रेभ्यः वर्षेभ्यः पूर्वम्। अनेन ज्ञायते यत् साधारण-मानवस्य सर्वाङ्गीणविकासाय यद्यदावश्यकं तत्सर्वमत्र निक्षिप्तमिति। तत्रस्थं विज्ञानमवगन्तुं तद्दृष्ट्या विलोकनीयं, नो चेत् न किमपि लभ्यते। तद्ज्ञातुमशक्ताः केवलं तस्मात् अनूदितान् गन्थान् पठित्वा अस्माभिः किमप्यधिगतमिति, आंग्लादिभाषास्विदं वर्तत इति चिन्तयन्ति। तदेव पुनः पाठशालासु कलाशालासु विश्वविद्यालयेषु च छात्रान् बोधयितुं प्रयत्नं कुर्वन्ति जनाः।

अस्तु, इदानीन्तनकाले समाजे जनाः तत्रापि युवानः युवतयश्च भारतीयां संस्कृतिं विस्मृत्य वैदेशिकीं संस्कृतिम्प्रत्यत्यन्तमाकृष्टाः भवन्ति। खाद्यपदार्थेषु वेषभूषादिषु सङ्गीतादिकलासु क्रीडास्पर्धासु सर्वेष्वपि प्रायः आधुनिकतामिच्छन्ति। इयं परिपाटिः अध्ययनाध्यापने च कलुषीकरोति। प्राचीन शिक्षासाम्प्रदायनुसारं छात्रलोकः शास्त्राध्ययनेन साकं जीवनयाने यद्यदावश्यकं तत्सर्वमपि अधिगन्तुं प्रयतते स्म। अध्यापकाश्च छात्राणां सर्वविधं विकासमिच्छन्ति स्म। किन्तु आधुनिकविद्याभ्यासः तथा न प्रचलति। तस्मादेव युवलोकः अधीयमानम् ऐच्छिकं पाठ्यांशं विहाय अन्यांशे किमपि न जानाति। अत एव अध्ययनानन्तरं 'व्यक्तिविकासः' personality development कथं वा भवति, तत् कथं जानीमः, स्वयं विकसिताः कथं भवामः इत्यादिभिः चिन्ताभिः इतस्तत्र परिभ्रमन्ति। पूर्वोक्तप्रकारं बाल्यावस्थातः प्रभृतिकक्षासु नैकविधविज्ञानशास्त्र- सम्बन्धिविषयैस्साकं संस्कृतादिभाषासूपनिबद्धान् नीतिबोधकान् बहून् विषयान् अधिगच्छन्त्यपि, तत्रस्थं मूल्यं, तेषां माहत्म्यमपि अवगन्तुं न पारयन्ति, तदनन्तरकाले जीवने प्रतिदिवसं प्रतिक्षणं चागतान् क्लेशान् स्वबुद्धिबलेन अपाकृत्य सुखं मार्गमनुसर्तुं न शक्नुवन्ति। अत एव तदा 'व्यक्तिविकासः' personality development इति व्याजेन आंग्लभाषया बोध्यमानानि वाक्यानि श्रोतुं, तेन स्वमुद्धर्तुं प्रभवाम इति धिया जनाः, तत्रापि युवानः युवतयश्च तत्तत्संस्थानामभितः परिभ्रमन्ति नैकसहस्ररूप्यकाणि व्ययीकुर्वन्ति च।

किन्तु वैदिकसाहित्ये रामायणे महाभारते पुराणेषु काव्येषु नाटकेषु विभिन्नरचनासु तत्तदितिवृत्तवर्णनेन सह आचारव्यवहारादीनि संस्कृतिः सम्प्रदायः धर्माधर्मौ नीतिः मानवजीवनस्य विकाससम्बन्धिविषयान् बहून् सन्दर्भानुसारं विशेषेणोद्घोषयन्तः प्राचीनाः ऋषयः मुनयः मन्त्रद्रष्टारः महाकवयः सर्वेऽपि लोकान् सर्वथा जागरूकान् कर्तुं प्रायतन्त। यदि मानवः तदवगन्तुं प्रयतते तर्ह्यवश्यं स्वजीवनं सुखं यापयितुं शक्नोति, सुखदुःखे जयाजयादीन् सर्वानपि विनायासमनुभवितुं शक्नोतीत्यत्र न संशयः। एतत् ज्ञातुं भाषाणां साहित्यस्य चाध्ययनमेव परमोपकारि भवतीत्यत्रापि शास्त्रज्ञेषु न विप्रतिपत्तिः। अत एव वैज्ञानिकशास्त्राणाम् अर्थात् भौतिक-रसायनिक-जीवशास्त्र- वृक्षशास्त्र-वाणिज्यशास्त्र-गणांकशास्त्रादीनां नैकेषामध्ययनेन सह छात्रलोकस्य विकासायोपयुक्तानां भाषाणामध्यापनं प्राथमिककक्षातः आरभ्य सर्वेष्वपि विद्यालयेषु सर्वत्राप्यावश्यकमिति प्राचीनकालादेव पालयितारः विद्वांसश्चाभिप्रयन्ति स्म। काव्यस्य रचनैव विश्वस्य श्रेयसे भवतीति लाक्षणिकाः

उदघोषयन्। किन्तु आधुनिकयुगेऽस्मिन् छात्रलोकः तत् कथं वा विनियोक्तुं प्रयतत इतीदृशी चर्चाऽत्राप्रस्तुतैव।

व्यक्तिविकासः इत्यस्मिन् विषये – मानवजीवनस्याशयः, दृढनिश्चयः, कार्यदक्षता, परोपकारिता, धृतिः, क्षमा, सहभावना, स्वकर्तव्यपालना, स्वविहाभ्यासः, जीवनयाने अनुभूयमानानां क्लेशानामपाकरणं, कर्तव्याकर्तव्यानां यथावसरं विचारः, स्वजाड्यस्य निर्मूलनं, दुर्जनानां परिहरणं, सज्जनसंगतौ वाञ्छा, विपदि धैर्यम्, अभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता, युधि विक्रमः, यशसि चाभिरतिः, प्रशान्तचित्तता इत्यादयः बहवः अंशाः वर्तन्ते। एतानेवांशान् आंग्लभाषया बोधयन्तः personality development संस्थासु स्वाश्रितानां जनानां मनोविकासाय प्रयतन्ते पण्डितम्मन्याः।

किन्तु एतत्सर्वमस्माकं वैदिकसाहित्ये, उपनिषत्सु, श्रीमद्रामायणे, महाभारते, ततश्च लौकिकसंस्कृतसाहित्ये अनेकधोपनिबद्धमस्ति। तत्र भर्तृहर्यादिभिः कविभिः रचितेषु सहस्राधिकेषु श्लोकेषु, पञ्चतन्त्रहितोपदेशादिकथाग्रन्थेषु च व्यक्तिविकासोपयोगिविषयः सर्वत्र दृश्यते। अमरशक्तिमहाराजस्य पुत्राणां बुद्धिविकासायैव विष्णुशर्मणा पञ्चतन्त्रं रचितमित्याबालवृद्धाः विदन्त्येव। संस्कृतमहाकाव्यप्रणेतृष्वाद्यः महाकविः कालिदासोऽपि स्वग्रन्थेषु तत्तदितिवृत्तादिवर्णनेन सह यथासन्दर्भं व्यक्तिविकाससम्बन्धिविषयान् बहून् अवेदयत्। कविचक्रवर्तिनः तस्य साहित्यरसवैचित्र्यं, भावौन्नत्यम्, अलंकारवैशिष्ट्यं, भाषासौष्ठवं, पात्रौचित्यं, प्रकृतिवर्णनानैपुण्यं, कथासंयोजना-विधिञ्चाश्रित्य नैके विपश्चितः व्यवृण्वन् विवृण्वन्ति च। कवेस्तस्य ग्रन्थानाम् अध्ययनेन परिशीलनेन नैके नूत्ना अंशाः ज्ञायन्ते। तादृशतत्वानभिज्ञाः अल्पधियः ''कालिदासः केवलं शकुन्तलां, ऊर्वशीं, पार्वतीं, मालविकामेवावर्णयत्, तस्य ग्रन्थेषु श्रृङ्गाररसं विना न किमपि दृश्यते'' इत्यभिप्रयन्ति। तत्तु तादृशानां अलोचनापरिधिं ज्ञापयति। मानवानां जीवनविधिवर्णने वाल्मीकिव्यासयोरनन्तरं कालिदास एव महान् कविरित्यत्र न सन्देहः। अनेके पण्डिताः विमर्शकाश्च अंशममुं विश्लेषितवन्तः। महाकवेस्तस्य ग्रन्थेषु व्यक्तिविकासाय उपयुक्तानाम् अंशानां केषाञ्चन परिशीलनमेवास्य निबन्धस्योद्देशः।

'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।

इति श्लोकेन पार्वतीपरमेश्वरयोरर्धनारीश्वरतत्त्वम्, अद्वैतभावं च वर्णयित्वा रघुवंशस्यारम्भे गुरुतुल्येषु वाल्मीकिव्यासादिषु स्वं विनयं प्रकटीकर्तुं श्लोकद्वयमरचयत् कालिदासः।

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्।।
मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः।।[1] इति।

एतयोः साधारणोऽर्थः सर्वविदित एव। किन्तु 'कार्यारम्भात् पूर्वमेव त्वया तस्य महत्त्वमवगन्तव्यं, यदि तत् बृहत्तमं भवति तर्हि अल्पैः प्रयत्नैः साधयितुं न शक्यते, कार्यस्यौन्नत्यमाश्रित्य प्रयत्नेन भवितव्यम्, अनालोचनया कार्यारम्भं कृत्वा असहनेन अशक्तत्त्वाद्वा तन्मध्ये त्यज्यते चेत् अपहास्यता प्राप्यते' इत्यादि विषयान् कालिदासः बोधयति। कालिदासः स्वमुद्दिश्यैवाकथयत् अत्र, तत्र न सन्देहः, परन्तु सः पठितॄनपि जागरितुमत्र प्रायतत। कार्यास्यारम्भे एव तत्परिपूर्णतया साधयितुमुपायानां तत्सम्बन्धिमार्गाणां पर्यवेक्षणमावश्यकम्। नो चेत् क्रियमाणं कार्यं कदाचित् फलवन्न भवति, तेन साधकः शोकतप्तो भवति, मानसिकी चिन्तां प्राप्नोति, कदाचित् रुग्णोऽपि भवति। एतादृशक्लेशानां कृते अवकाशो यथा न भवति साधकेन तथा प्रयतनीयम् इति कालिदासस्याभिप्रायः। एनमेवाभिप्रायं दृढयति–

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदं।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥

इत्ययं श्लोक:। सम्यगालोच्य क्रियते चेत् विकास: अनालोचनेन तु विनष्ट:। यदि भवान् भवतां विकासं वाञ्छति तर्हि आलोच्यैव सर्वं कुरु, तेन परमाह्लदं प्राप्नोति इत्येव वदन्ति आधुनिकव्यक्तिविकाससमितय:।

रघुवंशराज्ञां षोडशलक्षणानि कथयन् कालिदास: **'आफलोदयकर्मणाम्'**[2] इति वदति। तत्र तु रघुवंशराजान: स्वमनोभीष्टसिद्धिपर्यन्तं विनालसत्वालोचनम् आरब्धं कर्म कुर्वन्ति स्मेति। अजमहाराजं वर्णयन्नपि पुन: वदति **'न नव: प्रभुराफलोदयात्'**[3] इति। अत्र केवलं रघुवंशराज्ञां चरिताख्यानमिति न चिन्तनीयम्। तेषां राज्ञां पात्राणि आदर्शरूपेण गृहीत्वा तदनुगुणं व्यवहृत्य लोके तादृशीं कीर्तिमाप्तुं प्रयतनीयमिति सन्दर्भोऽयं ज्ञापयति। भर्तृहरिरपि वक्ति खलु-**'न निश्चितार्थात् विरमन्ति धीरा:'**[4] इति। अस्मिन् एव प्रसङ्गे कालिदास: 'यथाकालप्रबोधिनाम्' इत्यादिना रघुवंशराज्ञ: वर्णयति। व्यक्ते: विकासाय सततं जागरूकता अत्यन्तावश्यकी। तदेव वदत्याधुनिका: 'be alert always' इति। यत्र यस्मिन् समये यदावश्यकं भवति तत्साधयितुमपि जागरूकता आवश्यकी। अत्र 'जागरूकता' इत्यस्य 'अवधानता' इत्यपि अर्थ: वक्तुं शक्यते। सूर्यवंशीया: सर्वथा जागरूकतया अवर्तन्त, यदैच्छन् तदलभन्त। अत्रैव दिलीपस्यानवधानत्वम् अथवाऽजागरूकता कीदृशमनर्थं तं प्रत्यकल्पयदिति वर्णयति कालिदास:। अनवधानकारणादेव मार्गे स्थितां कामधेनुं नापश्यत् स:। अध्ययनसमयेऽपि यदि छात्र: अजागरूक: तर्हि तदनर्थायैव भवति। अत: यत्र यस्मिन् काले यदावश्यकं तत्साधयितव्यं, तदेवाकुर्वन् रघुवंशचक्रवर्तिन:। तदेव बोधयति कालिदास: यत् रघुवंशराजान इव काले जागरूका: भवन्तु सर्वे, अभीष्टं साधयन्त्विति।

मानव: सदा सज्जनसङ्गतिमेव वाञ्छति। तेनैवैहिकामुष्मिकं सुखं लब्धुं शक्नोति। भर्तृहरिरपि अवोचत् खलु **'सत्संगति: कथय किं न करोति पुंसाम्'**[5] इति। आत्मन: विकासम् इच्छता जनेन सतां मित्राणां विदुषां सज्जनानां संगति: एव अभिलषणीया। मालविकाग्निमित्रे कालिदास: वदति यत् 'मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चित:'[6] इति। सज्जनस्य पण्डितस्य संसर्गेण कीदृशं प्रयोजनमाप्यते जनैरिति स्पष्टीकरोति स पण्डित:। 'सज्जनविलोकनं हितं हितमेतेषां च भाषितश्रवणम्'[7] इति खलु सुभाषितमुद्घोषयति। सज्जनसङ्गतिरपि व्यक्तिविकासायात्यन्तम् उपयोगिनी।

अपि च जगति मानव: कदाचित् साधारण: असाधारण: च स्यात्। किन्तु सर्वेभ्योऽपि सुखं दुखं च सममेव। कदाचित् स: विजयी कदाचिच्च विनष्टो भवति। विजये गर्विष्ट: अपजये च भग्नाश: न स्यात् अहङ्कारनिर्वेदौ द्वावपि विकासाय प्रतिबन्धकावेव। कालिदास: विक्रमोर्वशीये वदति - **'अनुत्सेक: खलु विक्रमस्यालङ्कार:'**[8] इति। मानव: विजयेन, सम्पदा, उन्नतस्थानप्राप्त्या च गर्विष्ठो भवति। ततु तस्य जनस्य तिरोगमनहेतुर्भवतीति तादृशं जनं न कोऽप्यादरतीत्यपि चावगन्तव्यम्। निरहंकारित्वम् औन्नत्यस्य हेतुर्भवति।

अन्यत्र च विक्रमोर्वशीये एव **'अनिर्वेदप्राप्याणि श्रेयांसि'**[9] इति निगदति कालिदास:। निर्वेदेन श्रेय:प्राप्तिर्न भवतीति तस्याभिप्राय:। अत: मानवस्य विकासाय निर्वेद:, शोक:, निरुत्साह: प्रतिबन्धक एव। तस्मात् तादृशान् सर्वथा दूरे एव परित्यक्तव्यम्। उत्साहेनैव कार्यं फलवद् भवति। अपरत्र शाकुन्तले वदति कालिदास: **''कदापि सत्पुरुषा: शोकवास्तव्या: न भवन्ति''**[10] इति। अत्र दुष्यन्तं विदूषक: प्रोत्साहयति। सत्पुरुषा: न कदापि शोकमग्ना: भवन्तीत्युक्त्वा शोकेनास्माभि: शक्यत इति धीरो भवेति तमनुनयति। आंग्लकक्षासु तदेव वदन्ति जना: इदानीन्तनकाले-"don't get dissappointed and discouraged, put more efforts, don't get into the harmful thoughts" इति।

शाकुन्तले एव कालिदासः अन्यत्र इत्थं ब्रवीति यत् **'न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम'**[11] इति। धीमतां लोके न किमप्यसाध्यं कार्यं वर्तते इति। अनेनापि ज्ञायते यत् धीमन्तः न कदापि शोकतप्ताः भवन्ति, इतोऽपि अधिकं प्रयत्नेन फलमाप्तुं प्रयतन्ते, तेषां कृते लोके असाध्यं किमपि नास्तीति। अन्योऽपि कश्चन कविः ईदृशमेवाभिप्रायं प्रकटीकरोति–'नास्त्यसाध्यं प्रयत्नवतां' इति। आत्मनः अभिवृद्धिं कांक्षन्तः जनाः सदा प्रयत्नशीलाः भवेयुरित्यस्यार्थः स्पष्ट एव। अत्र विषये कालिदासकृतं दिलीपस्य कर्मनिष्ठतावर्णनमेवात्रोदाहरणमिति ज्ञातव्यमस्माभिः। दिलीपस्तु चक्रवर्ती आसीत्, स्वाभीष्टं साधयितुं सर्वमपि राज्यभोगं परित्यज्य अत्यन्तं विनम्रो भूत्वा गुरुणा वसिष्ठेनोक्तप्रकारं सर्वान् कठिनान् नियमान् अन्वसरत्। चक्रवर्ती अहम्, ईदृशं न करोमि इति नाचिन्तयत् सः। अतः स्वाभीष्टं साधयितुं जनाः सर्वथा प्रयत्नशीलाः, कटिबद्धाश्च स्युरिति अनेनावगन्तव्यं भवति। प्राचीनकाले विद्यामभ्यसितुं जनाः नैकयोजनपरिमितं दूरं यान्ति स्म। भर्तृहरेः 'उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः' इति श्लोकः विद्वद्विदित एव।

एवमेव धैर्यवतां लक्षणं वर्णयन् **'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि स एव धीराः'**[12] इति न्यगदत् कालिदासः। इदं तु पार्वतीपतिं परमेश्वरमुद्दिश्योक्तं स्यात्, किन्तु यदा कार्यहानिकराः विघ्नाः सन्त्यपि मनोवैकल्यं नाधिगच्छेज्जनः, तदैव सः धीरो भवितुमर्हतीति महान्तमुपदेशं लोकं प्रति ददौ कालिदासः। 'कृच्छ्रेऽपि न चलन्त्येव धीराणां निश्चलं मनः इत्यादिभिरपि ज्ञायते यत् धीराः कष्टैः अपि न परितप्ताः भवन्ति (courageous are not troubled by difficulties) इति।

अपि च स्वेन क्रियमाणानां कर्मणां विनिर्णयेऽपि मानवाय जागरूकता अत्यन्तावश्यकी। शास्त्रज्ञोऽपि कुलीनोऽपि बलवानपि स्वोपलब्धिं वाञ्छन्तः जनः अन्यैः सुहृद्भिः, गुरुभिः, आप्तैरपि सर्वं विचार्य कार्यं कुर्यादिति प्राचीनकालादेव अनुभवज्ञाः ब्रुवन्ति।

सर्वज्ञोऽहमित्यहङ्कारस्तु नैव कार्यः। यद्यपि 'आत्मबुद्धिः सुखं चैव' इति शास्त्राणि वदन्ति, तथापि अन्येषां सहृदयानाम् अभिप्रायोऽप्यवश्यं श्रोतव्यः, तेनान्यानप्युपायान् यैः स्वकार्यं सुसाध्यं भवति तान्यप्यवगन्तुं शक्यते। कालिदासः मालविकाग्निमित्रे वदति यत् **'सर्वज्ञस्यापि एकाकिनो निर्णयाभ्युपगमा दोषाय'**[13] इति। आधुनिके काले जनः इमं नानुसरति, अन्यान् न श्रुणोति सः। तस्मात् विघ्नैः प्रतिहतो भूत्वा खिद्यति, तत्र साध्विति निगदति कालिदासः। "Before you start, you discuss it with elders and welwishers. So that you may attain your goal easily and can overcome the obstructions, difficulties and afflictions that trouble you" इत्यादि आंग्ले अनूदितं मन्त्रं श्रावयन्ति।

अपि च यदि जनः आत्मनो विकासमभिलपति तर्हि तस्य कृते अन्यदपि मुख्यतमं साधनं वर्तते यत् 'मनो नैर्मल्यं। नैकविधचित्तवृत्तयः मनसः स्वच्छतां निरुन्धन्ति। तदर्थः योगः आवश्यकः इति वदति तत्र भवान् पतञ्जलिः 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति। मलोपहतचित्तस्त्वनर्थाय कल्पते। अतः चित्तस्य नैर्मल्यम् आवश्यकम्। कालिदासः अभिज्ञानशाकुन्तले निगदति यत् **''छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा''**[14] इति। यथा धूल्युपहतदर्पणे छाया न दृश्यते तथा चित्ते मलोपहतं भवति चेत् न किमपि श्रूयते दृश्यते अवगम्यते च। कक्ष्यायां स्थिताः छात्राः अध्यापकेन बोध्यमानान् पाठ्यांशान् अवगन्तुं न शक्नुवन्ति इत्यत्र केवलं मनसः निश्चलरहितत्वमेव कारणम्। अतः ये स्वाभिवृद्धिमिच्छन्ति तेऽवश्यं स्वचित्तस्य स्थैर्यमधिगन्तुं प्रयतन्ताम्। चित्तस्य नैर्मल्यं तु योगेनैव शक्यते। "unless you keep your mind pure and free from all other unwanted matters you cannot concentrate upon the studies" इत्यादिभिः आंग्लवाक्यैः जनान् प्रसन्नान् कर्तुं प्रयतन्ते संस्थासु तद्ज्ञाः।

व्यक्तिविकासे अन्यः प्रधानः अंशः वर्तते 'परोपकारिता।' **''अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः**

स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्''[15] इति ब्रवीति कालिदास: शाकुन्तल नाटके। सत्पुरुषा: सम्पद्भि: कदापि उद्धता: न भवन्ति, किन्तु ते अन्यान् उपकर्तुं प्रयतन्ते। '**यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति**' इति खलु वक्ति भर्तृहरि:। कालिदास: मेघसन्देशेऽपि वदति यत् '**आपन्नार्तिप्रशमनफला: सम्पदो ह्युत्तमानाम्**[16] इति। उन्नतानां सम्पद: आर्तिजनान् उपाकर्तुं सदा सन्नद्धा: भवन्तीत्यर्थ:। सदा स्वार्थमेव चिन्त्यते चेदपि स्वविकासो न वर्धते। अत: सज्जना: दीनानुपकृत्य लोके प्रतिष्ठां लभन्ते। "You should try to help others, otherwise nobody will care you and loose your prosperities and charm in the society" इत्यादिभि: वाक्यै: जनान् सम्मोहयन्ति आधुनिके काले।

व्यक्तिविकासे 'दृढनिश्चय:' इत्यन्य: प्रधान: अंश:। स्वै: क्रियमाणेषु कार्येषु, विचारे च दृढत्वमावश्यकम्। यदि मानव: दृढनिश्चयो न भवति तर्हि मध्ये एव भग्नकार्यो भवति। कालिदास: कुमारसम्भवे पार्वत्या: दृढनिश्चयत्वं वर्णयन् इत्थं ब्रवीति यत् ''**क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मन: पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्**''[17] इति। अत्र पार्वती दृढचित्ता आसीत्, तस्मात् तस्या: जनन्यपि उद्यमात् नियन्तुं नाशक्ता। अनेन स्वविकासाय 'दृढनिश्चय:' अत्यावश्यक: इति ज्ञायते। तदेव "You should have a very firm resolve, otherwise you get deviated" इति वदन्ति आंग्लभाषायाम्।

अपि च ''आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपु:'' इति वाक्यं प्रसिद्धमेव लोके। तस्मात् प्रयत्नेन तदलसत्वं नाम रिपु: परित्यक्तव्य:। तेन जीवने कदाचित् अत्यन्तं शीघ्रं क्रियमाणानि कार्यानि यानि भवन्ति तानि झटित्येव कर्तुं शक्नोति जन:। कालिदास: कुमारसम्भवे भणति यत् – '**कार्येष्ववश्यकार्येषु सिद्धयंते क्षिप्रकारिता**'[18] इति। अवश्यं क्रियमाणेषु कार्येषु क्षिप्रकारिता शीघ्रता आवश्यकी। तस्मात् मानवाय अस्मिन् जागरूकता आवश्यकी। कदाचित् सावधनेन क्रियमाणानि कार्याणि भवन्ति। यथा यथा फलवन्ति तथा तथा तान्याचरितव्यानि।

एवं प्रकारेण विचार्यते चेत् मानव: सदा सद्भावनाचित्त:, स्वकर्तव्यनिष्ठ:, जीवनावधिगमोत्सुक:, धैर्यवान्, गुणी, सद्विद्यायामासक्त:, निर्वेदरहित:, संयतेन्द्रिय:, दयावान् सदाचारयुत:, सत्यवाक्, त्यागशील:, परोपकारनिरत:, दृढव्यवसायी, युक्तायुक्तविचक्षण: च भूयात्। तदैव स्वं विकासं प्राप्नोति स:, लोके सर्वैरपि पूजार्हो भवति। पूर्वाचार्यपरम्परामनुसृत्य कालिदासोऽपि महन्ति श्रव्यकाव्यानि दृश्यकाव्यानि व्यरचयत्। तेषु काव्येषु कालानुगुणं शृङ्गारादिरसै:, वैदर्भीरीतिभि:, माधुर्यादिगुणैश्च स: स्वकविताकामिनीं समभूषयत् इत्यत्र रसज्ञा: सहृदयाश्च लोके बहव: प्रमाणम्। अपि चास्य निबन्धस्यादावुक्तप्रकारं मानवजीवनसम्बन्धिविषयान् बहूनत्रोपस्थापयत् स कविराट्। 'एकं सद्विप्रा: बहुधा वदन्ति' इति श्रुत्युनुसारं 'यादृशी भावना यस्य' इत्याभाणकानुसारं च यदि विचार्यते तर्हि महाकवे: साहित्ये नैकविधांशा: अवबोधिता: भवन्तीत्यत्र न सन्देह:। सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।

सन्दर्भटिप्पण्य:

1. रघुवंश: 1/7–8, पृ. 2
2. रघुवंश: 1/2–5, पृ. 1–2
3. रघुवंश: 8/22, पृ. 111
4. भर्तृहरि: धैर्यपद्धति:श्लोक 65, पृ. 26
5. भर्तृहरि: सुजनपद्धति:
6. मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चित:।

पङ्कच्छिद: फलस्येव निकषेणाविलं पय:।। - मालविकाग्निमित्रम् 2/7, पृ. 36

7. सुभाषितरत्नभाण्डागारात्
8. विक्रमोर्वशीयम्
9. विक्रमोर्वशीयम्
10. शाकुन्तलम्
11. शाकुन्तलम्
12. कुमारसम्भवम्1 सर्ग श्लोक 59, पृ. 316
13. मालविकाग्निमित्रम्
14. शाकुन्तलम् VII अङ्के श्लोक 32, पृ. 522
15. शाकुन्तलम् V अङ्के श्लोक 12, पृ. 434
16. मेघदूतम्, पूर्वमेघे श्लोक 53, पृ. 444
17. कुमारसम्भवम् III
18. कुमारसम्भवम् VII 25

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. कालिदासग्रन्थावली, सम्पा. प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रका. कालिदास संस्कृत अकादमी, उज्जैन, प्रथम एवं द्वितीय खण्ड, तृतीय संस्करण-2008
2. भर्तृहरि-शतक-त्रयम्, सम्पा. दामोदर धर्मानन्द, प्रका. भारतीय विद्या भवन, बम्बई, प्रथम संस्करण वि.सं. 2015, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क-29

डॉ. नीलकण्ठः



जातकोक्तायु मीमांसा

भारत भूषण मिश्र

ज्योतिष विज्ञान के साथ ही लोकोपकारक शास्त्र भी है। जीवन के प्रत्येक पक्ष पर ज्योतिष शास्त्र में विचार किया गया है। प्रस्तुत आलेख में जातक ग्रन्थों तथा प्रसिद्ध दैवज्ञों द्वारा जातक की आयु के सम्बन्ध में की गई मीमांसा को इस शोध-पत्र का विषय बनाया गया है। इसमें जातक ग्रन्थों में वर्णित आयुष्य साधन की विविध-विधियों की मीमांसा के आधार पर जातक की आयु निर्धारण तथा ग्रहारिष्ट के कारण होने वाली असामयिक मृत्यु से बचने के उपायों पर विहङ्गम दृष्टिपात किया गया है।

आज के आधुनिक भाग दौड़ के समय में हर व्यक्ति चाहे वह अमीर हो या गरीब सभी किसी न किसी प्रकार के कष्टादि से युक्त दिखाई पड़ते हैं, जिसमें रोगादि का प्रभाव मुख्य होता है और उनके ऊपर जो जिम्मेदारियाँ हैं उनके विषय में उन्हें अधिक चिन्ता बनी रहती है कि वह अपनी सभी जिम्मेदारियों जैसे--अपना घर बन जाय, लड़के-बच्चों की शादी हो जाय, वे सभी जैसे भी हो अपने-अपने क्षेत्र में व्यवस्थित हो जाय, आदि को अपने समय में पूर्ण करना चाहता है। इस प्रकार की सोच रखने वाले व्यक्तियों के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी आयु के बारे में जाने, जिसके लिए उन्हें दैवज्ञों की शरण में जाना पड़ता है और दैवज्ञ जातक ग्रन्थों में वर्णित आयुष्य साधन की विविध विधियों की मीमांसा करने के बाद जातक के लिए दीर्घायु-मध्यायु एवं अल्पायु का निर्धारण कर उसे कुण्डली के आधार पर बताता है कि उसका जीवन कितने दिनों या वर्षों का है, जिसे जानकर व्यक्ति उसी के अनुरूप समय में अपने संकल्पित कार्यों को सम्पादित करने का प्रयास करता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि आयु के रहते हुए भी कभी-कभी जातक की मृत्यु हो जाती है, इसमें कारण ग्रहारिष्ट होता है, जैसे सामान्य जीवन में किसी व्यक्ति को बुखार हो तो पैरासीटामाल दवाई देने से वह व्यक्ति शीघ्र ठीक हो जाता है किन्तु अगर उस व्यक्ति को समय से बुखार की दवा न मिल पायी हो तो कुछ दिन के बाद मलेरिया के रूप में वह परिणत हो जाता है और उसकी भी दवा न हो पाये तो वही बीमारी टायफाईड का स्वरूप धारण कर लेती है और उसकी भी चिकित्सा ठीक से न किया जाय तो शरीर में ऐसी विकृति (इन्फेक्शन) फैल जाती है जिसके कारण व्यक्ति मर भी जाता है ऐसी स्थिति में लोग दैवज्ञ के द्वारा बनाई जन्म कुण्डली में आयु का साक्ष्य देते हैं कि कुण्डली में आयु है तो जातक क्यों मर गया। अतः आयु निर्धारण के साथ-साथ विभिन्न समयों में बदलने वाली ग्रहस्थितियों का भी प्रभाव मानवजीवन में पड़ता है, इसलिए कुण्डली का समय-समय पर विश्लेषण आवश्यक होता है, जिससे अरिष्टादि के योग को समय रहते ठीक करने का उपाय किया जा सके और अकाल मृत्यु से बचा जा सके।

इसके लिए ज्योतिष ही एक मात्र ऐसा साधन है जिसके माध्यम से जीवन में आने वाले सुख-दुःखादि का विश्लेषण होता है और समय रहते कष्टादि की सूचनाएँ प्राप्त हो जाती है, तथा उन

कष्टों से बचने के उपाय पर भी अनायास दैवज्ञ सोचता है। जिससे उसके द्वारा परीक्षित जातक की रक्षा हो सके और उसे लम्बी आयु मिल सके। वृहज्जातक नामक ग्रन्थ में आचार्य वराहमिहिर ने तो मनुष्य की आयु का विश्लेषण करते हुए कुछ जीवों एवं पशुओं की भी आयु का उल्लेख किया है जैसे मनुष्य की 120 वर्ष, घोड़े की 32 वर्ष, गर्दभ एवं ऊंट की 25 वर्ष, भैंस और बैल की आयु 24 वर्ष, कुत्ते की आयु 12 वर्ष, सिंह एवं विडाल की आयु 12 वर्ष तथा भेड़-बकरी-हिरण की आयु का मान 16 वर्ष होता है।[क] यहाँ इस आयु को पूर्णायु की संज्ञा प्राप्त है किन्तु व्यवहार के लिए ग्रहों की स्थितिवश इनका साधन ग्रहानुपात से होता है जैसे-किसी व्यक्ति का जन्म मीन राशि के अन्तिम नवांश में हुआ हो, बुध ग्रह वृष राशि के 25 अंश पर हो एवं शेष ग्रह सूर्य, चन्द्र, मंगल, गुरु, शुक्र और शनि अपने परमोच्च में स्थित हो तो जातक की पूर्णायु होगी।[ख]

ज्योतिष एक लोकोपकारक विद्या है जिसके आधार पर किसी जातक की जन्मकुण्डली का निर्माण होता है। जन्मकुण्डली में जातक के जन्मकालीन ग्रहों की स्थिति दर्शायी जाती है और उसी के आधार पर जातक के शुभाशुभ का आकलन किया जाता है। जन्मांग के द्वादश भावों में से विशेषत: छठे, आठवें एवं बारहवें भाव से जातक की आयु का अनुशीलन सम्भव होता है। भृगु, पराशर आदि ऋषियों तथा वराहमिहिर आदि मनीषियों ने आयु निर्धारण के परिप्रेक्ष्य में प्राय: निसर्गायु, पिण्डायु, लग्नायु, अंशकायु, रश्मिजायु, चक्रायु नक्षत्रायु एवं अष्टकवर्गजायु का विवेचन किया है, जिसमें सूर्य की 20 वर्ष, चन्द्रमा की 1 वर्ष, मंगल की 2 वर्ष, बुध की 9 वर्ष, गुरु की 18 वर्ष, शुक्र की 20 वर्ष एवं शनि की 50 वर्ष निसर्गायु का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] इसी प्रकार सूर्यादि ग्रहों की पिण्डायु के विषय में यह विवरण मिलता है कि सूर्य की 19 वर्ष, चन्द्रमा की 25 वर्ष, मंगल की 15 वर्ष, बुध की 12 वर्ष, गुरु की 15 वर्ष, शुक्र की 21 वर्ष एवं शनि की 20 वर्ष आयु होती है।[2]

इसी क्रम में अंशकायु, रश्मिजायु, चक्रायु नक्षत्रायु आदि प्रकारों का भी उल्लेख उपलब्ध है। केन्द्रस्थ ग्रहों की संख्या के आधार पर मानव के दीर्घायु, मध्यायु एवं अल्पायु होने की परिगणना को आचार्य जैमिनि की भी स्वीकृति प्राप्त है। व्यवहार में प्राय: जैमिनि के मत का भी प्रचलन है। जन्मकुण्डली के प्रथमादि भावस्थ ग्रहों के आधार पर भी हम आयु का निर्धारण करते हैं। कई बार नक्षत्रादि के आधार पर भी आयु निर्धारण की व्यवस्था है। यह व्यवस्था 'कालपुरुष' के अवयवों को मनुष्य देह के भीतर आरोपित करते हुए ''कारकनक्षत्र'' की स्थिति के आधार पर लागू होती है। उदाहरणार्थ-कारकनक्षत्र यदि मस्तक में हो तो जातक की आयु 100 वर्ष, मुख में हो तो 80 वर्ष, कन्धों में हो तो 77 वर्ष, दोनों भुजाओं में एवं हृदय और नाभि में हो तो 68 वर्ष, गुह्यस्थान में हो तो 60 वर्ष, दोनों जानु में हो तो 8 वर्ष और दोनों पैर में हो तो 6 वर्ष की होती है।

ज्योतिर्विदों के मत में आयुर्दाय 6 प्रकार का होता है, जिसमें बालारिष्ट 8 वर्ष तक, योगारिष्ट 20 वर्ष तक, अल्पायु 40 वर्ष तक, मध्यायु 40 से 70 वर्ष तक एवं दीर्घायु 70 से 120 वर्ष तक होती है। इसके अलावा दिव्यायु 1000 वर्ष तक मणि, मन्त्र, औषधि, समाधि आदि लौकिक एवं लोकोत्तर प्रक्रियाओं से होकर गुजरने वाले जातकों की क्रमश: देवतायु तथा अमितायु नाम से वर्णित है। इसके सम्बन्ध में वर्ष आदि की कोई सीमा नहीं है। सुप्रसिद्ध ज्योतिषग्रन्थ ''मानसागरी'' के विवरणानुसार लग्न यदि बलवान हो तो अंशायु, सूर्यवली हो तो कर्मज या पिण्डायु एवं चन्द्रमा बली हो तो नैसर्गिक आयु की बलवत्ता होती है अर्थात् इसी के आधार पर फलादेश होना चाहिए। यद्यपि इस सम्बन्ध में सभी आचार्य एकमत नहीं हैं।

जातकपारिजात के विवरणानुसार लग्न में पापग्रह की स्थिति होने या उसके अस्त होने में, शत्रु राशि

में, नीच में, ग्रहों के योग में और व्ययादि भाव में जो आयु हरण का उल्लेख प्राप्त होता है उन सबका अनुशीलन करके ग्रहों अर्थात् सूर्यादि ग्रहों के सहित लग्न की भी आयुर्दायों के योग के समान मनुष्य की स्पष्ट आयु होती है।[3] मन्तव्य यह है कि आयु हरण के अतिरिक्त सूर्यादि ग्रहों की शेष आयुर्दायों के योग में लग्न की भी आयु जोड़ देनी चाहिए। एक अन्य विवरण के अनुसार सूर्यादि नवग्रहों की जो योगतारा, उसके भोगने से बची हुई शेष घटिकादि के समान वह दशायु होती है एवं अष्टकवर्ग से उत्पन्न जो आयु प्राप्त होती है, उसे दैवज्ञ जातक की पूरी आयु मानते हैं।[4] आचार्य वैद्यनाथ के मत में जन्म समय में यदि सूर्य बली हो तो पिण्डायु, चन्द्रमा बली हो तो निसर्गायु, बुध बली हो तो रश्मिजायु, भौम बली हो तो अष्टकवर्गायु, शुक्र बली हो तो जातक की अंशायु ग्रहण करनी चाहिए। साथ ही यहां आचार्य का यह भी अभिमत है कि उपर्युक्त आठों में जो सबसे बली ग्रह हो उसके अनुसार आयु ग्रहण करनी चाहिए तथा बली में यदि साम्यता हो तो उनके योग में उतने से भाग देकर लब्धि के अनुसार जातक की आयु का अनुमान करना चाहिए।[5]

जातकपारिजात के अनुसार इस लोक में जो पापी, लोभी, चोर, देवतादि-निन्दक, मद्य-मांसादि का सेवन करने वाले व्यक्ति होते हैं उनकी अकाल मृत्यु सम्भव होती है[6] एवं जो धर्म-कर्म में निरत, जितेन्द्रिय और पथ्य भोजन करने वाले व्यक्ति होते हैं। उनकी आयु पूर्ण होती है।[7] जातकपारिजातकार का अभिमत है कि अष्टमेश द्वादश या षष्ठभाव में पापग्रह से युक्त हो तो जातक अल्पायु होता है और अष्टमेश बलहीन तथा लग्नेश के साथ हो तब भी जातक की आयु अल्प होती है।[8] साथ ही यह भी विवरण मिलता है कि अष्टमेश यदि अपने स्थान में हो तो जातक दीर्घायु होता है तथा अष्टमभाव में शनि भी दीर्घायु बनाने वाला होता है और लग्नेश एवं अष्टमेश दोनों षष्ठभाव या द्वादशभाव में हो तो भी जातक दीर्घजीवी होता है। दशम, लग्न एवं अष्टम के स्वामी केन्द्र, त्रिकोण या एकादशभाव में प्राप्त हो तब भी जातक दीर्घायु होता है, लेकिन यदि वे शनि के साथ हो तो वह अल्पायु कारक हो जाता है।[9] अनन्तर जातकपारिजात में यह भी वर्णन मिलता है कि दशमेश, अष्टमेश, लग्नेश बली हों और शनि का योग न हो तो जातक चिरायु होता है। इनमें यदि दो अत्यन्त बली हो तो जातक मध्यायु वाला होता है तथा इनमें किसी एक के बली होने पर अल्पायु योग बनता है और इनमें (तीनों में) यदि कोई बली न हो तो जातक की क्षीणायु होती है। यथा-

कर्मेशरन्ध्रतनुपा बलशालिनश्चेज्जातश्चिरायुरिनिनन्दनयोगहीनाः।
द्वावप्यतीव बलिनौ यदि मध्यमायुरेको बली लघुतरायुरनायुरन्यः॥[10]

बहुशः अष्टमभाव जातक आयु निर्धारण का मूल माना जाता है। अष्टमेश पापग्रह के साथ हो, दुःस्थान में पापग्रह युक्त हो तो जातक अल्पायु होता है, और वहीं यदि शुभग्रह की राशि या शुभग्रह से युक्त या दृष्ट हो तो जातक दीर्घजीवी होता है।[11] लग्नेश-अष्टम में हो या अष्टमेश पापग्रह से युक्त या दृष्ट होकर अस्त हो गया हो अथवा शत्रुगृह में हो तब भी जातक आयुहीन होता है, किन्तु अष्टमेश यदि उच्चराशि में शुभग्रह युत हो, केन्द्र या त्रिकोण में हो अथवा अष्टमेश अष्टम में हो और लग्नेश लग्न में हो तो जातक दीर्घायु होता है।[12] जातक के दीर्घजीवी होने के सम्बन्ध में जातकपारिजात में यह भी विवरण मिलता है कि लग्न से द्वादशभाव का स्वामी अपनी राशि में बली हो तो जातक दीर्घायु और सुखी होता है। यदि लग्नेश और अष्टमेश दोनों बली हो एवं केन्द्रस्थ हो तो भी जातक दीर्घ आयु वाला होता है साथ ही गर्भाधान की लग्न राशि के अष्टमगृह से दशवीं राशि या जन्मलग्न शुक्र-बुध-गुरु से युत या दृष्ट हो तो जातक निरोगी एवं आयुष्य वाला होता है।[13]

केशवीय जातक पद्धति के अनुसार जातक के जन्म समय में कर्क लग्न में चन्द्र-गुरु स्थित हो, बुध एवं शुक्र केन्द्रस्थ हो एवं सूर्यादि शेषग्रह त्रिषडाय में हो तो जातक की पूर्णायु होती है[14], तथा सूर्य-चन्द्र

और लग्न में लग्न यदि अधिक बलवान हो तो ज्योतिर्विदों का अभिमत है कि ऐसी स्थिति में अंशायु ग्रहण करना चाहिए। सूर्य यदि बली हो तो पिण्डायु और चन्द्रमा अधिक बलवान हो तो निसर्गायु का ग्रहण होता है, परन्तु यदि दो ग्रहों के बल में साम्यता हो तो दोनों के द्वारा प्राप्त आयु का आधा ग्रहण करना चाहिए तथा उपर्युक्त तीनों लग्न, सूर्य एवं चन्द्र तुल्य बली हो तो अंशायु, पिण्डायु और निसर्गायु के द्वारा प्राप्त आयु का तृतीयांश ग्रहण करना चाहिए।[15]

ज्योतिषशास्त्रीय ग्रन्थ जैमिनिसूत्र के विवरणानुसार लग्नेश एवं अष्टमेश के आधार पर जातक की आयु का विचार करने का उल्लेख प्राप्त होता है। यदि लग्नेश एवं अष्टमेश दोनों जन्मांग में चरराशि में हो तो दीर्घायु एवं उनमें से एक स्थिर और दूसरा द्विस्वभाव में हो तो भी जातक दीर्घायु वाला होता है।[16] जबकि मध्यायु के सम्बन्ध में आचार्य जैमिनि की यह मान्यता है कि लग्नेश और अष्टमेश यह दोनों यदि द्विस्वभाव राशि में हो या एक चरराशि में और दूसरा स्थिरराशि में हो तो जातक की मध्यायु होती है[17] एवं अल्पायु के सम्बन्ध में उनका मन्तव्य है कि यदि लग्नेश और अष्टमेश दोनों स्थिर राशि में हों अथवा एक चरराशि में तथा दूसरा द्विस्वभाव राशि में हो तो अल्पायु योग बनता है।[18] इसी प्रकार शनि एवं चन्द्रमा से भी आयु का निर्धारण किया जाता है[19] तथा लग्न एवं होरालग्न के द्वारा भी आयु का आनयन होता है[20], किन्तु इन तीनों प्रकार की आनीत आयु में एकवाक्यता न हो तो लग्न एवं होरालग्न के द्वारा प्राप्त आयु का ग्रहण करना चाहिए। जबकि जैमिनिसूत्र एवं पराशरकारिका के विवरणानुसार शनि यदि स्वराशि या उच्च में हो तो कक्ष्या की वृद्धि करता है अर्थात् जो आयु साधन किया है उसमें वर्ष की वृद्धि हो जाती है तथा शनि यदि नीच या शत्रुराशिगत हो तो कक्ष्याह्रास कारक होता है।[21] महर्षिजैमिनि जातक की आयु निर्धारण के सम्बन्ध में यह भी अभिहित करते हैं कि जन्म लग्न एवं सप्तम से जो अष्टम स्थान हो उन दोनों के स्वामियों में जो बली हो वह यदि लग्न से केन्द्र में हो तो दीर्घायु, पणफर में हो तो मध्याहु और आपोक्लिम में हो तो अल्पायु योग कारक होते है।[22]

प्रसिद्ध ज्योतिर्विद आचार्य गणेशदैवज्ञ ने अपने जातकालंकार ग्रन्थ में मानव की आयु के सम्बन्ध में जो गवेषणा प्रस्तुत की है, वह सर्वथा सर्वजन ग्राह्य भी है और सरलतम ढंग से प्रतिपादित भी, उनका मानना है कि जन्म लग्न या चन्द्र से शुभग्रह केन्द्र में हो, गुरु लग्न में और लग्न से अष्टम स्थान ग्रहों से दृष्ट न हो तो मनुष्य की आयु 70 वर्ष की होती है, तथा यदि शुभग्रह अपने मूलत्रिकोण में हो, गुरु उच्चस्थ हो और लग्नेश पूर्णबली हो तो जातक की आयु 80 वर्ष की होती है[23], साथ ही बली बुध केन्द्र में हो और लग्न से अष्टम स्थान ग्रहरहित हो तो जातक की आयु 30 वर्ष की होती है, किन्तु शुभग्रह से दृष्ट अष्टम स्थान हो तो उसकी आयु 40 वर्ष की होगी तथा गुरु अपनी राशि में अथवा अपने द्रेष्काण में हो तो जातक की आयु 27 वर्ष की होती है, जबकि चन्द्रमा कर्क राशि में या लग्नस्थ हो एवं शुभग्रह लग्न से सप्तमभाव में हो तो जातक की आयु 60 वर्ष की तथा शुभग्रह त्रिकोण में हो और कर्क लग्न में गुरु हो तो जातक की आयु 80 वर्ष की होती है।[24] जातकालंकार में यह भी वर्णित मिलता है कि जिस जातक के जन्म-समय में पूर्णबली लग्नेश केन्द्रस्थ हो और उस पर शुभग्रहों की दृष्टि पड़ रही हो तो वह जातक गुण और सम्पत्ति से युक्त होकर दीर्घायु जीवन व्यतीत करने वाला होता है। इसी प्रकार लग्न से केन्द्र में शुभग्रह हो, चन्द्रमा अपने उच्चराशि में हो और बली लग्नेश लग्न में हो तो मनुष्य की आयु 60 वर्ष की होती है।[25] इसके अलावा यह भी अभिहित मिलता है कि अष्टमेश नवमभाव या लग्न में हो और पापदृष्ट लग्नेश अष्टम भाव में हो तो जातक की आयु 24 वर्ष की एवं यदि लग्नेश और अष्टमेश अष्टमभाव में हो तो 27 वर्ष की तथा चन्द्रदृष्ट पापयुत् गुरु लग्न में हो और लग्न से अष्टम में कोई ग्रह न हो तो मनुष्य की आयु 22 वर्ष की होती है।[26] पूर्णायु के सम्बन्ध में आचार्यगणेशदैवज्ञ का मानना है कि जातक के लग्न

एवं चन्द्रस्थान में पापग्रह का योग न हो, गुरु लग्न में हो, अष्टमभाव ग्रहरहित हो तथा बुध केन्द्र में हो तो उसकी आयु 70 वर्ष की, किन्तु शुक्र और गुरु दोनों केन्द्रस्थ हो तो वह शतायु होता है। दीर्घायु जातक के विषय में यह भी वर्णन मिलता है कि उच्चराशि का गुरु लग्न में और शुक्र केन्द्रवर्ती हो तो जातक दीर्घायु सम्पन्न होता है और शनि नवम या लग्न में हो एवं चन्द्रमा द्वादश भाव में हो तो भी जातक की अच्छी आयु होती है।[27] इतना ही नहीं यदि लग्न से केन्द्र या त्रिकोण में पापग्रह का अभाव हो और धनु या मीन लग्न हो तथा शुक्र-गुरु केन्द्र में स्थित हो एवं अष्टम और नवमभाव शुभदृष्ट हों तो जातक दीर्घायु होता है, जबकि लग्न और चन्द्र से अष्टमभाव ग्रहहीन हो तथा शुक्र एवं गुरु बली हो तो जातक पूर्णायु सम्पन्न होता है।[28] इसलिए कहा जा सकता है कि पूर्णायु सम्पन्न जातक की कुण्डली में शुक्र और गुरु का बली होना अनिवार्य भी है और अपरिहार्य भी।

सारावली[29] एवं मानसागरी के विवरणानुसार यदि जातक का लग्न बलवान हो तो अंशायु[30], सूर्यबली हो तो कर्मज[31] (पिण्डायु) आयु तथा चन्द्र बली हो तो उसे नैसर्गिक[32] आयु प्राप्त होती है।[33] यथा-

अंशोद्भवं लग्नबलात्प्रसाध्यमायुश्च कर्मोद्भवमर्कवीर्यात्।
नैसर्गिक चन्द्रबलाधिकत्वादायुर्निरुक्तं हि मया विचार्या।।[34]

प्रख्यात ज्योतिर्विद् श्रीवलभद्रमिश्र ने अपने महनीय ग्रन्थ "होरारत्न" में जातक को प्राप्त होने वाले विविध प्रकार की आयु के सम्बन्ध में विचार किया है। अल्पायु[35], 20 वर्ष[36], 25 वर्ष[37], 30 वर्ष[38], 32 वर्ष[39], 37 वर्ष[40] एवं 40 वर्ष[41] आदि का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हुए जातक को प्राप्त होने वाले 100 वर्ष या पूर्णायु के विषय में लिखा है-

अलिकर्क्युदये लग्ने सूर्ये, पापान्विते विधौ।
धनगेहे, गुरुरहिते, केन्द्रे स्याच्छतवर्ष तस्यायुः।।[42]

अर्थात् यदि जातक के जन्म समय में वृश्चिक या कर्क लग्न में सूर्य, द्वितीयभाव में पापग्रह युक्त चन्द्रमा हो और केन्द्र में गुरु न हो तो उसे 100 वर्ष की आयु प्राप्त होती है। शुक-जातक में जातक को प्राप्त होने वाली दीर्घ, मध्य और अल्प आयु के सम्बन्ध में यह वर्णन मिलता है कि यदि जातक के जन्म काल में लग्न से चतुर्थभाव पर्यन्त कोई भी एक भाव चार या पाँच ग्रहों से युक्त हो तो जातक दीर्घायु, ज्ञानी एवं धनी होता है। इसी प्रकार पञ्चम से अष्टमभाव पर्यन्त किसी भी भाव में चार या पाँच ग्रहों का योग हो तो मध्यायु तथा नवम से द्वादशभाव पर्यन्त किसी एक भाव में यदि चार या पाँच ग्रह हो तो जातक अल्पायु होता है।[43] जबकि वीर जातक में जातक को प्राप्त होने वाले दीर्घायु के सम्बन्ध में विविध प्रकार की मान्यताएं मिलती हैं। यथा-

लग्नाधिपो बली केन्द्रे न दृष्टः पापखेचरैः।
सौम्यैर्दृष्टश्च कुरुते राजानं दीर्घ जीविनम्।।

एकांशराशिगा लग्ने यत्र विज्जीवभार्गवाः।
धर्मे शनिस्तदा जातो बह्वायुर्भोगसंयुतः।
लग्नात् षष्ठाष्टगे चन्द्रे यदि केन्द्रे वृहस्पतिः।।

जातो रोगविनिर्मुक्तः शतं वर्षाणि जीवति।
मन्दांशकस्था रविभौमजीवा, धर्माश्रिताः कर्मयुता बलाढयाः।।

राश्यावसाने हिमगौ विलग्ने युगान्तमायुः श्रियमादधाति।[44]

महर्षिपराशर के मतानुसार अष्टमेश केन्द्रवर्ती हो तो जातक दीर्घायु होता है तथा अष्टमेश या लग्नेश पापग्रह के साथ अष्टमस्थ हो तो अल्पायु योग बनता है। इस तरह सम्पूर्ण दैवज्ञों के मतों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि अष्टमेश एवं लग्नेशवश या अष्टम एवं लग्न में स्थित शुभाशुभ ग्रहों के आधार पर जातक के दीर्घायु, मध्यायु एवं अल्पायु की विवेचना की जा सकती है। जहाँ तक तन्त्र योगादि प्रक्रियाओं का सम्बन्ध है, कुशल मार्गदर्शन एवं सतत् अभ्यास के द्वारा व्यक्ति अपनी आयु का विस्तार कर सकता है। शास्त्रों के अनुसार सतयुग में मनुष्य रोग रहित और इच्छितफल के भागी तथा 400 वर्ष की आयु वाले होते थे। त्रेतादियुगों में क्रमशः 300 वर्ष, 200 वर्ष एवं कलियुग में 100 वर्ष की आयु का वर्णन मिलता है तथा वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों में भी 100 वर्ष से अधिक आयु जीने के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। जैसे-अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है कि जो सत्कर्म का आचरण करने वाले कृतवीर्य है उनकी सहस्रायु होती थी।[45] उसी प्रकार तैत्तरीय संहिता में वर्णन मिलता है कि उक्त काल में हजार वर्ष जीने वाले लोग होते थे।[46] ऐतरेय ब्राह्मण के विवरणानुसार जातक शतायु होता था।[47] वहीं शतपथ ब्राह्मण में भी मनुष्य के शतायु होने का उल्लेख मिलता है।[48] ऋग्वेद में ''शतं जीवन्तु शरदः'' के अनुसार मनुष्य सौ शरद् ऋतुओं को देखने वाला होता था।[49] यजुर्वेद के छत्तीसवें अध्याय में वर्णन मिलता है कि मानव शतायु होने के लिए सूर्य देव से प्रार्थना करता है यथा-''जीवेम शरदः शतम्''[50]। उसी प्रकार कठोपनिषद में आख्यान मिलता है कि जीव सौ शरद् ऋतुओं को देखने की कामना करता है।[51] वहीं मनुस्मृतिकार ने नित्य नियमों का पालन करने वाला वेदानुसार आचरण करने वाला, आलस्य आदि दुर्गुणों से रहित व्यक्ति मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है[53] ऐसा निर्देश किया है। कहने का आशय यह है कि मनुष्य शास्त्रीय विधि के अनुसार आचरण करके अपने आयु को पुष्ट कर सकता है और अधिक दिनों तक जीवन को सुरक्षित रखने में समर्थ हो सकता है।

सन्दर्भटिप्पणी

क. समाः षष्टिर्द्विघ्नी मनुजकरिणां पञ्च च निशा,
हयानां द्वात्रिंशत्खरकरभयोः पंचककृतिः।
विरूपा साऽप्यायुर्वृषमहिषयोर्द्वादशशुनां,
स्मृतं छागादीनां दशकसहिताः षट् च परमम्।।

बृहज्जातकम्-पृष्ठ 138-श्लोक-5 आयुर्दायाध्याय-7 व्याख्याकार-श्रीकेदारदत्तजोशी-प्रकाशक- मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, चतुर्थसंस्करण-1999।

ख. यस्मिन्योगे पूर्णमासुः प्रदिष्टं तस्मिन्प्रोक्तं चक्रवर्तित्वमन्यैः।
प्रत्यक्षोऽयं तेषु दोषः परोऽपि जीवन्त्यायुः पूर्णमर्थैर्विनापि।।

वृहज्जातकम्-पृष्ठ-144 श्लोक-8 आयुर्दायाध्याय-7 व्याख्याकार-श्रीकेदारदत्तजोशी, प्रकाशक-मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, संस्करणचतुर्थ-सन्-1999

1. नखाः शशी द्वौ नवकं धृतिश्च कृतिः खवाणा रविपूर्णकाणाम्।
इमा निरूक्ताः क्रमशो ग्रहाणां नैसर्गिके ह्यायुषि वर्ष संख्याः।।

(जा.पा.अ. 5 श्लो. 2 पृ. 124) सम्पादक-श्री कपिलेश्वरशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1992 संस्करण-7।

2. नवेन्दवो बाणयमाः शरक्ष्मा दिवाकराः पञ्चभुवः कुपक्षाः।

नखाश्च भास्वत्प्रमुखग्रहाणां पिण्डायुपोऽब्दा निजतुङ्गगानाम्।। (जा.पा.अ. 5 श्लो. 3, पृ. 124)
सम्पादक-श्री कपिलेश्वरशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1992 संस्करण-7

3. क्रूरोदयास्तरिपुनीचखगोपगानां रिःफायमाननवरन्ध्रकलत्रगानाम्।
कृत्वा यथाहरणपट्कमिनादिकानां लग्नायुषा सह युते यदि तुल्यमायुः।
(जा.पा.अ. 5 श्लो. 16 पृ. 130) सम्पादक-श्री कपिलेश्वरशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1992 सस्करणं-7

4. आदित्यमुख्यनवखेचरयोगताराभुक्तावशिष्टघटिकाजनिवत्सराद्यम्।
आयुर्दशाजनितमष्टकवर्गजातं यत्प्रोक्तमेव सकलं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः।।
(जा.पा.अ. 5 श्लो. 16 पृ. 135) सम्पादक-श्री कपिलेश्वरशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1992 सस्करणं-7

5. पैण्डयं भानौ निसर्गप्रभवमुडुपतौ रश्मिजं सोमपुत्रे, भौमे भिन्नाष्टवर्गोदितमसुरगुरौ कालचक्रोद्भवायुः।
देवाचार्ये दशायुर्दिनकरतनये सामुदायं बलिष्ठे, लग्ने यद्यंशकायुर्भवति बलयुते चाहुराचार्यमुख्याः।।
(जा.पा.अ. 5 श्लो. 33 पृ. 136) सम्पादक-श्री कपिलेश्वरशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1992 सस्करणं-7

6. ये पापलुब्धाश्चोराश्च देवब्राह्मणनिन्दकाः।
सर्वाशिनश्च ये तेषामकालमरणं नृणाम्।।
(जा.पा.अ. 5 श्लो. 36 पृ. 138) सम्पादक-श्री कपिलेश्वरशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1992 सस्करणं-7

7. ये धर्ममार्गनिरता द्विजदेवभक्ता ये पथ्यभोजनरता विजितेन्द्रियाश्च।
ये मानवादधृतिसत्कुलशीलसीमास्तेषामिदं कथितमायुरूदारधीभिः।।
(जा.पा.अ. 5 श्लो. 35 पृ. 138) सम्पादक-श्री कपिलेश्वरशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1992 सस्करणं-7

8. अल्पायुर्व्ययगेऽथवा रिपुगते पापान्विते रन्ध्रपे।
लग्नेशेन युते तु तत्र विवले जातोऽल्पजीवीनरः।।
(जा.पा.अ.14 श्लो. 48 पृ. 435) सम्पादक-श्री कपिलेश्वरशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1992 सस्करण-7

9. स्वस्थे रन्ध्रपतौ चिरायुरूदयच्छिद्राधिपौ षष्ठगौ, रिष्फस्थो यदि वा समेति मनुजो जातश्चिरायुर्बलम्।
व्यापारोदयरन्ध्रराशिपतयः केन्द्रत्रिकोणायगा, दीर्घायुबिवलाः सभानुतनया यद्यल्पमायुर्वदेत्।।
(जा.पा.अ. 14 श्लो. 49 पृ. 435) सम्पादक-श्री कपिलेश्वरशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान. वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1992 सस्करणं-7

10. जा.पा.अ. 14 श्लो. 50 पृ. 436, सम्पादक-श्री कपिलेश्वरशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1992 सस्करणं-7

11. रन्ध्राधिपे पापगृहोपयाते दुःस्थानगे पापयुतेऽल्पमायुः।
शुभान्विते शोभनराशियुक्ते शुभेक्षिते रन्ध्रगेत चिरायुः।। (जा.पा.अ. 14 श्लो. 51 पृ. 436) सम्पादक-श्री कपिलेश्वरशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1992 सस्करणं-7

12. नाशस्थे तनुपेऽथवा निधनपे पापेन युक्तेक्षिते, मूढेऽदृश्यगतेऽथवा रिपुगृहे जातो गतायुर्भवेत्।
दीर्घायुर्निजतुङ्गगे शुभयुते केन्द्रत्रिकोणेऽथवा, रन्ध्रे रन्ध्रपतौ चिरायुरूदयं यातो विलग्नाधिपे।
(जा.पा.अ. 14 श्लो. 52 पृ. 436) सम्पादक-श्री कपिलेश्वरशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1992 सस्करणं-7

13. लग्नादन्त्यगृहाधिपे बलवति स्वर्क्षे चिरायु: सुखी, लग्नेशो यदि रन्ध्रपश्च बलिनौ केन्द्रस्थितौ चेत्तथा।
आधानोदयराशितोऽष्टमगृहान्मेषूरणं जन्मभं, शुक्रज्ञामरवन्दितेक्षितयुतं यद्यायुरारोग्यभाक्।।
(जा.पा.अ. 14 श्लो. 53 पृ. 437) सम्पादक-श्री कपिलेश्वरशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष 1992 सस्करणं-7

14. कर्कीन्द्विज्ययुतोदये बुधसितौ केन्द्रे त्र्यरीशेतरै-रायुर्विद्धयमितं हि योगजमिहान्यत्रोच्यतेऽथोन्मितम्।
त्र्यल्पाश्चेत्किरणा: सरूपकिरणाङ्घ्रिश्चेत्त्रयोर्ध्वा विभू-गोऽर्ध चैष्टिकतुङ्गसम्भवगुणौ तद्घातमूलं स्फुट:।।
(केशवीय जातकम् पृ. 136 श्लो. 16) सम्पादक-आचार्य चन्द्रमा पाण्डेय, प्रकाशक-वाराणसेय संस्कृत संस्थान जगतगंज वाराणसी, द्वितीय संस्करण-सन्-1989

15. अंशायुश्च तनाविनेऽधिकबले पैण्ड् निसर्ग विधौ-स्याच्चेत्तुल्यवलं द्वयोर्युतिदलं तज्जायुषोश्चेत्त्रय:।
त्र्यायुंषि त्रिवलैर्निहत्य च युतिर्वीर्यैक्यहृद्वा त्रिजा-युर्युत्यास्त्रिवलोऽथ जैवमुदितं चेद्धीनवीर्यास्त्रय:।।
(केशवीय ज़ातकम् पृ. 161 श्लो. 25) सम्पादक-आचार्य चन्द्रमा पाण्डेय, प्रकाशक-वाराणसेय संस्कृत संस्थान जगतगंज वाराणसी, द्वितीय संस्करण-सन्-1989

16. प्रथमयोरूत्तरयोर्वादीर्घम्। जैमिनिसूत्रम् अध्याय 2 पाद 1 सूत्र 2, व्याख्याकार श्री अच्युतानन्द झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, पाचवाँ संस्करण, सन्-2008

17. प्रथमद्वितीययोरन्त्ययोर्वा मध्यम्।। जैमिनिसूत्रम् अध्याय 2 पाद 1 सूत्र 3, व्याख्याकार श्री अच्युतानन्द झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, पाचवाँ संस्करण, सन्-2008

18. मध्ययोराद्यन्तयोर्वा हीनम्। जैमिनिसूत्रम् अध्याय 2 पाद 1 सूत्र 4, व्याख्याकार श्री अच्युतानन्द झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, पाचवाँ संस्करण, सन्-2008

19. एवं मन्दचन्द्राभ्याम्।। जैमिनिसूत्रम् अध्याय 2 पाद 1 सूत्र 5, व्याख्याकार श्री अच्युतानन्द झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, पाचवाँ संस्करण, सन्-2008

20. पितृकालतश्च। जैमिनिसूत्रम् अध्याय 2 पाद 1 सूत्र 6, व्याख्याकार श्री अच्युतानन्द झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, पाचवाँ संस्करण, सन्-2008

21. शनौ योगहेतौ कक्ष्याह्रास:।। जैमिनिसूत्रम् अध्याय 2 पाद 1 सूत्र 10, व्याख्याकार श्री अच्युतानन्द झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, पाचवाँ संस्करण, सन्-2008
स्वर्क्षतुंगादिगुणिमिर्युक्तो मार्त्तण्डवंशज:। कक्ष्यावृद्धिकरो विप्र विभागेनायुवृद्धिकृत।।
अत्यल्पायुर्भवेदल्पमल्पान्मध्यं प्रजायते। मध्यमाज्जायते दीर्घ कक्ष्यावृद्धेश्च लक्षणम्।।
एवं नीचारिग: सौरि: पापदृष्टिसमन्वित:। कक्ष्याह्रासकृते विप्र त्रिभागेनायुहानिकृत।। (जै.सू.पृ.143)

22. पितृलाभरोगेशप्राणिनि कण्टकादिस्थे स्वतश्चैवं त्रिधा।। जैमिनिसूत्रम् अध्याय 2 पाद 1 सूत्र 19, व्याख्याकार श्री अच्युतानन्द झा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, पाचवाँ संस्करण, सन्-2008

23. सौम्या: केन्द्रालयस्था वपुषि सुरगुरौ लग्नतो वा सुधांशो-
रायुर्युक्तं न दृष्टं न च गगनगतै: सप्ततिर्वत्सराणाम्।

याता मूलत्रिकोण शुभगगनचराः स्वीयतुङ्गे सुरेज्ये,

लग्नाधीशोऽतिवीर्ये गगनवसुसमातुल्यमायुर्नराणाम्।।

(जातकालंकार पृ. 74 श्लो. 3) व्याख्याकार श्री लषणलाल झा प्रकाशक- कृष्णदास आकादमी वाराणसी, द्वितीय संस्करण सन् 1984-ग्रन्थ सीरीजसंख्या-56।

24. सौम्ये केन्द्रेऽतिवीर्ये यदि निधनपदं खेटहीनं समाःस्युः,

स्त्रिंशत्सौम्येक्षितं चेद् गगनहिमकरैः संयुतोऽथ स्वभे चेत्।

स्वत्र्यंशे चामरेज्ये मुनिनयनमितं, स्वर्क्षगे लग्नगे वा,

चन्द्रे द्यूने शुभश्चेद् गगनरसमितं कोणगाः सौम्यखेटाः।।

(जातकालंकार पृ. 74 श्लो. 3) व्याख्याकार श्री लषणलाल झा प्रकाशक- कृष्णदास आकादमी वाराणसी, द्वितीय संस्करण सन् 1984-ग्रन्थ सीरीजसंख्या-56।

25. लग्नाधीशोऽतिवीर्यो यदि शुभविहगैरीक्षितः केन्द्रयातै-

र्दद्यादायुः सुदीर्घं गुणगुणसहितं श्रीयुतं मानवानाम्।

सौम्याः केन्द्रालयस्था जनुषि च रजनीनायके स्वीयतुङ्गे-

वीर्याढये लग्ननाथे वपुषि च शरदां षष्टिरायुर्नराणाम्।।

(जातकालंकार पृ. 73 श्लो. 2) व्याख्याकार श्री लषणलाल झा प्रकाशक- कृष्णदास आकादमी वाराणसी, द्वितीय संस्करण सन् 1984-ग्रन्थ सीरीजसंख्या-56।

26. कीटे लग्ने सुरेज्ये यदि भवति तदा खाष्टतुल्यं लयेशो

धर्मेऽङ्गे चाङ्गनाथे निधनभवनगेक्रूरदृष्टेऽब्धिहस्ताः।

लग्नाधीशाष्टनाथौ लयभवनगतौ सप्तविंशद्विलग्ने

क्रूरेज्यौ चन्द्रदृष्टो यदि निधनगतः कश्चनास्ते द्विपक्षाः।।

(जातकालंकार पृ. 75 श्लो. 5) व्याख्याकार श्री लषणलाल झा प्रकाशक- कृष्णदास आकादमी वाराणसी, द्वितीय संस्करण सन् 1984-ग्रन्थ सीरीजसंख्या-56।

27. लग्नेन्दू क्रूरहीनौ वपुषि सुरगुरौ रन्ध्रभं खेटहीनं,

केन्द्रे सौम्ये खशैलाः, सितविबुधगुरु स्याच्छतं केन्द्रगौ चेत्।

वागीशे कर्कलग्ने शतमिह भृगुजे केन्द्रगेऽथार्कसूनौ,

धर्माङ्गस्थे सुधांशौ व्ययभवनगते हायनानां शतं स्यात्।।

(जातकालंकार पृ. 76 श्लो. 6) व्याख्याकार श्री लषणलाल झा प्रकाशक- कृष्णदास आकादमी वाराणसी, द्वितीय संस्करण सन् 1984-ग्रन्थ सीरीजसंख्या-56।

28. धीकेन्द्रायनवस्था यदि खलखचरा नो गुरोर्भे विलग्ने,

केन्द्रे काव्ये गुरौ वा शुभमपि निधनं सौम्यदृष्टं शतं स्यात्।

लग्नादिन्दोर्न खेटा यदि निधनगता वीर्यभाजौ सितेज्यौ,

पूर्णायुः स्वीयराशौ शुभगगनचराः षष्टिरङ्गाच्चगेऽब्जे।।

(जातकालंकार पृ. 76 श्लो. 7) व्याख्याकार श्री लषणलाल झा प्रकाशक- कृष्णदास आकादमी वाराणसी, द्वितीय संस्करण सन् 1984-ग्रन्थ सीरीजसंख्या-56।

29. अंशोद्भवं विलग्नात्पैण्डं भानोर्निसर्गजं चन्द्रात्। एतेषा ये बलवानेकस्तस्य विचिन्तयेदायु:।
लग्नदिवाकरचन्द्रास्त्रयोऽपि बलरिक्ततां यदा यान्ति, परमायुष: स्वरांशं ददति खगा जीवशर्मोक्तम्।।
(सारावली अ. 39 श्लो. 2-3 पृ. 348) व्याख्याकार डॉ. मुरलीधर चतुर्वेदी, प्रकाशक-मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी सन्-1993

30. लवादयो ग्रहा: स्थाप्यास्तत्रांशे दिग् वियोजयेत्। शेषं यत्तत् त्रिभिर्गुण्यं खाङ्कमध्ये पुनस्त्यजेत्।।
विंशोत्तरी दशावर्षे: स्वकीयैर्गुणयेत्पुन:। भागो नवत्या दातव्यो लब्धाङ्को वर्षसंज्ञक:।।
(मानसागरी पृ. 349 श्लो. 719-720) व्याख्याकार पं. विजयकान्त मिश्र शास्त्री, प्रकाशक-भारतीय विद्याप्रकाशन कचौड़ीगली वाराणसी सन्-2003।

31. नन्देन्दवो बाणयमा: शरक्ष्मा दिवाकरा: पञ्चभुव: कुपक्षा:।
नखाश्च भास्वत्प्रमुखग्रहाणां पिण्डायुषोऽब्दा निजतुङ्गगानाम्।।
निजोच्चशुद्ध खचरो विशोध्यो भमण्डलात्षड्भवनोनकश्चेत्।
यथास्थित: षड्भवनाधिकश्चेल्लिप्तीकृत: संगुणितो निजाब्दै:।।
तत्र खाभ्ररसचन्द्रलोचनैरूद्धृते सति यदाप्यते फलम्।
वर्षमासदिननाड़िकादिकं तद्धि पिण्डभवमायुरूच्यते।।
(मानसागरी पृ. 347 श्लो. 712-714) व्याख्याकार पं. विजयकान्त मिश्र शास्त्री, प्रकाशक-भारतीय विद्याप्रकाशन कचौड़ीगली वाराणसी सन्-2003।

32. विशतिरेकं द्वावथ नवधृतिविंशच्च पञ्चाशत्।
अब्दा: क्रमशो ज्ञेयो सूर्यादीनां निसर्गभवा:।। (मानसागरी पृ. 348 श्लो. 717) व्याख्याकार पं. विजयकान्त मिश्र शास्त्री, प्रकाशक-भारतीय विद्याप्रकाशन कचौड़ीगली वाराणसी सन्-2003।

33. अंशोद्भव लग्नबलात्प्रसाध्यमायुश्च कर्मोद्भवमर्कवीर्यात्।
नैसर्गिक चन्द्रबलाधिकत्वादायुर्निरुक्तं हि मया विचार्या।। (मानसागरी पृ. 348 श्लो. 718) व्याख्याकार पं. विजयकान्त मिश्र शास्त्री, प्रकाशक-भारतीय विद्याप्रकाशन कचौड़ीगली वाराणसी सन्-2003।

34. गुरुणा युक्तो शुक्रो धनोपग: पञ्चमे कुजार्कसुतौ।
बलरहितश्चेत् चन्द्रो जातोऽल्पजीवितो नियतम्।। (होरारत्न प्रथम भाग पृ. 539, श्लो. 7) व्याख्याकार- श्री मुरलीधरचतुर्वेदी प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, द्वितीय संशोधित संस्करण 1996।

35. होरेश्वरेऽर्कसंस्थे जन्मेशे सौम्यदृग्हीने, केन्द्रगतैश्च पापैर्जातस्याविंशतेर्भवति मृत्यु:।
भौमं लग्नं याते रविमन्दौ केन्द्रगौ बलाद्रिक्तौ, आविंशतेर्मृति: स्याद्भङ्गो वा रोगयुक्तो वा।।
कुजरवियुक्ते लग्ने चरराशौ मध्यस्थिते जीवे, सुतधर्मगते चन्द्रे जातस्याविंशतेर्मृतिर्भवति।।
चन्द्राष्टमगै: पापै: सौम्यैरापोक्लिमस्थितैर्जन्म, निधनारिगते चन्द्रेतस्यायुर्विंशति: परमम्।।
(होरारत्न प्रथम भाग पृ. 538, श्लो. 1, 3, 4, 5) व्याख्याकार-श्री मुरलीधरचतुर्वेदी प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, द्वितीय संशोधित संस्करण 1996।

36. नीचांशकरस्थश्चन्द्रोऽप्यष्टमसंस्थ: क्षयी च मरणकर:।
कुजमन्दाभ्यां दृष्टस्तस्यायु: पञ्चविंशति: परमम्।।
(होरारत्न प्रथम भाग पृ. 538, श्लो. 2) व्याख्याकार-श्री मुरलीधरचतुर्वेदी प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, द्वितीय संशोधित संस्करण 1996।

37. अर्थव्ययर्क्षसंस्थो जीवो भौमेन संयुक्त: सप्ताष्टमश्च यदा वै जात: परमायुरात्रिंशत्।
होरेशे षष्टगते सक्रूरौ चन्द्रभास्करौ सुतगौ, निधनेशे केन्द्रगते जातस्यायु: परं त्रिंशत्।
(होरारत्न प्रथम भाग पृ. 539, श्लो. 6, 14) व्याख्याकार-श्री मुरलीधरचतुर्वेदी प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, द्वितीय संशोधित संस्करण 1996।

38. चन्द्रलग्नाष्टमपती केन्द्रगतावष्टमे ग्रह: कश्चित्।
आद्वात्रिंशन्मरणं नान्यस्मिन् शुभयुते केन्द्रे।।
(होरारत्न प्रथम भाग पृ. 539, श्लो. 9 एवं 16) व्याख्याकार-श्री मुरलीधरचतुर्वेदी प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, द्वितीय संशोधित संस्करण 1996।

39. गुरुशुक्रौ च केन्द्रस्थौ लग्नेशे पापसंयुते।
आपोक्लिमस्थे सन्ध्यायां जातस्यायुर्द्वपित्रयम्।।
होरारत्न प्रथम भाग पृ. 541, श्लो. 17, 18, 19) व्याख्याकार-श्री मुरलीधरचतुर्वेदी प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, द्वितीय संशोधित संस्करण 1996।

40. लग्नेशे निधनांशस्थे लानांशे निधनेश्वरे।
पापयुक्तौ तदा जात: पञ्चाशद्वर्ष जीवति:।।
होरारत्न प्रथम भाग पृ. 541, श्लो. 21) व्याख्याकार-श्री मुरलीधरचतुर्वेदी प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, द्वितीय संशोधित संस्करण 1996।

41. यस्य केन्द्रे पापयुक्ते लग्नगे क्रूरवर्जिते। षष्टिवर्षात्परं नास्ति पापै: पञ्चमसंस्थितै:।।
लग्नेशे व्ययसंस्थिते क्षीणे पापयुतेऽपि वा। षष्टिवर्षात्परं नास्ति न लग्ने चेद् वृहस्पति।।
(होरारत्न प्रथम भाग पृ. 541, श्लो. 22-23) व्याख्याकार-श्री मुरलीधरचतुर्वेदी प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, द्वितीय संशोधित संस्करण 1996।

42. अलिकर्क्युदये लग्ने सूर्ये पापान्विते विधौ।
धनगेहे गुरुरहिते केन्द्रेस्याच्छतवर्ष तस्यायु:।।
(होरारत्न प्रथम भाग पृ. 542, श्लो. 28) व्याख्याकार-श्री मुरलीधरचतुर्वेदी प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, द्वितीय संशोधित संस्करण 1996।

43. चतुराद्यैर्ग्रहैर्युक्ते लग्ने द्वित्रिसुखै: क्रमात्। चिरायुस्तत्र जाते ये ज्ञानवानर्थवान् भवेत्।।
पञ्चमादिषु तैर्युक्ते षष्टि वर्षाणि जीवति। नवमादिषु ते: सर्वे: स्वल्पायुर्जायतेऽत्र य:।।
(होरारत्न प्रथम भाग पृ. 543-544, श्लो. 1-2) व्याख्याकार-श्री मुरलीधरचतुर्वेदी प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, द्वितीय संशोधित संस्करण 1996।

44. लग्नाधिपो बली केन्द्रे न दृष्ट: पापखेचरै:।
सौम्यैर्दृष्टश्च कुरुते राजानं दीर्घजीविनम्।।
(होरारत्न प्रथम भाग पृ. 546, श्लो. 13, 14, 16, 21) व्याख्याकार-श्री मुरलीधरचतुर्वेदी प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, द्वितीय संशोधित संस्करण 1996।

45. प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणाधर्मणाहं कस्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
जरदष्टि: कृतवीर्य्यो विहाया: सहस्त्रायु: सुकृतश्चरेयम्।। (अथर्व. 17/1/26)
प्रकाशक-श्री राकेशरानी दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली-5

46. आयुर्वैसहस्त्रम।। (तैत्तरीय 3/8/15/3) पृष्ठ-19, ग्रन्थमाला संख्या-28 संस्कर्त्ता श्री वासुदेवशर्मा प्रकाशक-चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, सन्-1990

47. शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्य्य शतेन्द्रियः।। (ऐतरेय 2/17) पृष्ठ-19 संस्कर्त्ता श्री वासुदेव प्रकाशक-चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।

48. अपि हि भूयासि शताद्वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति।। (शतपथ 1/9/3/19)

49. इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नुगादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरुचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन।। (ऋग्वेद 10/18/4)
प्रकाशक-सार्वदेशिकआर्यप्रतिनिधिसभा रामलीला मैदान, नई दिल्ली, सन्-2001

50. जीवेम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।। (यजुर्वेद 36/24) श्री दौलतरामगौड़
चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, प्रकाशन-सन्-1978।

51. स्वयं च जीव शरदो यावच्छिसि। (कठोपनिषद् 1/1/22) पृष्ठ-4, ग्रन्थमाला संख्या 28, संस्कर्त्ता श्री वासुदेवः, प्रकाशक चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।

52. अमृता देवाः। (शतपथ. 2/1/3/4)

53. अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्णनात्
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युविप्राञ्जिघ्रासति।।
मनुस्मृति अध्याय 5 श्लोक 4 पृष्ठ-236, सम्पादक पं. गोपालशास्त्री नेने, प्रकाशक-चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी-संवत्-2057

डॉ. भारत भूषण मिश्र
एसोसिएट प्रोफेसर (ज्योतिष विभाग), राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
(मानित विश्वविद्यालय) रणवीर परिसर, कोट-भलवाल, जम्मू-181122



Spirituality : Spiritual Lifestyle and Mental Health

Avneesh Agrawal

Spirituality and meditation are perceived as the two sides of same coin. Spirituality can be adapted in routine life style. It can change the way we live in and see the world around us. The Spiritual Lifestyle and the combination of physical, emotional, social and most importantly mental well-being is necessary to achieve overall health. Ayurveda is an ancient Indian branch of medicine in which all remedies and treatments are derived from naturally occurring substances, medicinal properties and the combinations. The three ***doshas*** *, or bio-energies, found in our body. These are Vata , Kapha, Pitta. The toxins in the body are abundant, then a cleansing process known as* ***panchakarma*** *is recommended to purge these unwanted toxins. The holistic health is the prime concern for over all health.It consists of Mind (Sattva or Manas), Body (Sharir) and Soul (Atma). The distortion among these can be treated by Therapeutic Approaches Research evidences support that spirituality has influence on physical and Mental Health. There are certain ways by which people can express or develop their spirituality. Glimpses of spiritual lifestyle in India consists the visit of pilgrim place. The stay in ashrams enhance the level of spirituality. In the changed scenario, there are many spiritual wellness centers. They offer guidance on living a stress free, peaceful and balanced life. The espousal of spirituality makes the human being to enjoy a state of inner peace in everyday life, at work, at home, and everywhere.*

Spirituality

Spirituality is a globally acknowledged concept. It involves belief and obedience to an all powerful force usually called God, who regulates and controls the universe and the destiny of man. It involves the ways in which people fulfill what they hold to be the purpose of their lives, a search for the meaning of life and a sense of connectedness to the universe. The universality of spirituality extends across creed and culture. At the same time, spirituality is very much personal and unique to each person. It is a sacred realm of human experience. Spirituality produces qualities in man such as love, honesty, patience, tolerance, compassion, a sense of detachment, faith, and hope. Recently, there are some reports which suggest that some areas of the brain, mainly the non-dominant one, are involved in the appreciation and fulfillment of spiritual values and experiences. Timble (2008)[1], Abraham (2004)[2], Saver & Rabin (1997).[3]

Spirituality means diving deep into inner self and realizing our true identity, our soul (atman), the spirit within! It is only through path of spirituality human beings gained enlightenment and finally salvation (moksha / cavalier).The stage of enlightenment can never be reached via path of religion... path of rituals!

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्व प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता:।।[4]

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधायन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।[5]

The term spiritual refers to the soul - having no body, form or substance. Forms of spiritual are: Spiritual, more spiritual, most spiritual, less spiritual, and least spiritual. The definition of spirituality can be best understood in Hinduism! Spirituality simply means every living form primarily is spiritual... a spiritual being... a cosmic essence that manifests the cosmic system! As detailed in various sacred scriptures of world... our soul atman... the spirit within is absolute master and controller of body and not vice versa!

Spirituality refers to an ultimate or immaterial reality, an inner path enabling a person to discover the essence of their being; or the "deepest values and meanings by which people live". Spiritual practices including meditation, prayer and contemplation are intended to develop an individual's inner life. Such practices often lead to an experience of connectedness with a larger reality, yielding a more comprehensive self, with other individuals or the human community, with nature or the cosmos, or with the divine realm. Spirituality is often experienced as a source of inspiration or orientation in life. It can encompass belief in immaterial realities or experiences of the immanent or transcendent nature of the world.

Spiritual Lifestyle:

In this world of chaos, competition and stress everyone is searching for some peace, a balance in life. The search for peace comes to an end at spirituality. Most of the people associate spirituality with meditation. Spirituality can be adapted in routine life style. It can change the way we live in and see the world around us.

Basic Disciplines of a Spiritual Lifestyle :

The basic disciplines or rules of a spiritual lifestyle are:

- Practicing Yoga and meditation regularly
- Doing a spiritual study on a regular basis
- Spiritual relationships and responsibilities
- Rendering services to humanity
- Balanced Diet

➢ **Practicing Yoga and meditation regularly:**

Practicing yoga and meditation daily are the foundations of a spiritual lifestyle. This is because the practice of meditation and yoga on a regular basis helps one to explore and discover the eternal truth and restore peace and balance in life. It also provides relaxation to the body and mind.

➢ **Doing a spiritual study on a regular basis:**

Spiritual study on a regular basis provides the right quality food for the mind. Understanding these spiritual principles will guide one to the right path in life and direct

one to a positive lifestyle nourishing the mind and soul.

- **Spiritual Relationships and Responsibilities:**

Spirituality is not an escape from life's responsibilities. All have a responsibility to their immediate relationships—family, colleagues and friends. The spiritual attitude strengthens the human being to perform the designated responsibility perfectly.

Exchanging love and respect with others irrespective of religion, sex and color is one of the most important mantras or principles of leading a peaceful life. Being tolerant and forgiving are the other aspects of a spiritual lifestyle. Again, making the right decision against the right and wrong; executing one's duty towards family, friends and colleagues and maintaining a healthy relationship with each is what spiritual lifestyle is all about.

- **Rendering services to humanity:**

Working for the benefit of society is also a method of self development. Spiritual service can be rendered by releasing positive energy all around you. This can be achieved by helping others in developing their spiritual awareness through pure feelings.

- **Balanced Diet :**

Diet is an important consideration in Spiritual lifestyle. A balanced diet / vegetarian diet is recommended as it aids in increasing concentration and focus and developing clarity which are required in spiritual growth and development.

The Spiritual Lifestyle of Detachment verses Attachments:

The feeling of non- attachment makes a man librated in his doing. Even untoward happenings give strengths to bear with it. The Karma Yogi perceives the action as follows verdicted in Shreemat Bhagwat Geeta -

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।[6]

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत।।[7]

The scriptures of the Bhagavad Gita, Moses, The Buddha, and Jesus teach detachment generates a spiritual lifestyle of growth. The Bhagavad Gita teaches non-attachment, a primary path and requirement of spiritual growth. Surrendering all emotional relationships and materialism, a wise person will become rooted in firm wisdom. A person's karma melts away, the duties, or action, of a person should be in the spirit of sacrifice, and that is an act of devotion. The non-attached person will live in the moment and experience joy in each moment. The person that practices detachment will observe everything as subjective.

Spiritual Dimensions and Mental Health

Health

Health is defined as "The state of being hale, sound, or whole, in body, mind, or soul; especially, the state of being free from physical disease or pain" World Health Assembly defines "Health is a state of complete physical mental social and spiritual well-

being and not just the absence of disease or infirmity" World health Organization (WHO) Health is a positive concept emphasizing social and personal resources, as well as physical capacities.

The oldest form of Health Care in the world: Ayurveda

Ayurveda is an ancient Indian branch of medicine in which all remedies and treatments are derived from naturally occurring substances, medicinal properties and the combinations.

स्वास्थस्य स्वास्थ्य लक्षणम्
आतुरस्य विकार परिमोक्षणम्[8]

"To protect healthy from diseases and to cure those who are diseased"

– Dhanwantri

तस्मात्प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा।
भेषजं प्रतिकुर्वीत य इच्छेत्सुखमात्मनः।।[9]

Ayurveda is a Sanskrit term, made up of the words "*ayus*" and "*veda*." "*Ayus*" means life and "*Veda*" means knowledge or science. The term "*ayurveda*" thus means 'the knowledge of life' or 'the science of life'. Lord Dhanvantari is the Divine Founder of Ayurveda.

Origin of Ayurveda :

The fundamentals of Ayurveda can be found in Hindu scriptures called the **Vedas** — the ancient Indian books of wisdom. The **Rig Veda**, which was written over 6,000 years ago, contains a series of prescriptions that can help humans overcome various ailments.

Ayurveda, an ancient Hindu science of health and classical system of medicine founded 5000 years ago and currently practiced in India. According to the ancient Ayurvedic scholar Charaka, "ayu" comprises the mind, body, senses and the soul.

Definition of Ayurveda :

Ayurveda can be defined "as a system, which uses the inherent principles of nature, to help maintain health in a person by keeping the individual's body, mind and spirit in perfect equilibrium with nature."[10]

The aim of this system is to prevent illness, heal the sick and preserve life. This can be summed up as follows:

- To protect health and prolong life ("स्वास्थस्य स्वास्थ्य लक्षणम् ")
- To eliminate diseases and dysfunctions of the body ("आतुरस्य विकार परिमोक्षणम्")

Basic Principles of Ayurveda:

Ayurveda is based on the premise that the universe is made up of five elements: air, fire, water, earth and ether. These elements are represented in humans by three **"doshas"**, or energies: **Vata, Pitta and Kapha**. When any of the doshas accumulate in the body beyond the desirable limit, the body loses its balance. Every individual has a distinct balance, and our health and well-being depend on getting a right balance of the three

doshas ("tridoshas"). Ayurveda suggests specific lifestyle and nutritional guidelines to help individuals reduce the **excess dosha.**

A healthy person, as defined in **Sushrut Samhita**, one of the primary works on Ayurveda, is "he whose **doshas** are in balance, appetite is good, all tissues of the body and all natural urges are functioning properly, and whose mind, body and spirit are cheerful"

'Tridosha' or the Theory of Bio-energies:

विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्त्तयन्ति च।
ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोप्तध्योंर्ध्वसंश्रया:।।[11]

The three **doshas,** or bio-energies found in our body are:

- **Vata** pertains to air and ether elements. This energy is generally seen as the force, which directs nerve impulses, circulation, respiration, and elimination.

- **Kapha** pertains to water and earth elements. **Kapha** is responsible for growth and protection. The mucousal lining of the stomach, and the cerebral-spinal fluid that protects the brain and spinal column are examples of **kapha.**

- **Pitta** pertains to fire and water elements. This **dosha** governs metabolism, e.g., the transformation of foods into nutrients. **Pitta** is also responsible for metabolism in the organ and tissue systems.

'Panchakarma' or the Therapy of Purification:

If toxins in the body are abundant, then a cleansing process known as **panchakarma** is recommended to purge these unwanted toxins. This fivefold purification therapy is a classical form of treatment in ayurveda. These specialized procedures consist of the following:

- Therapeutic vomiting or emesis **(Vaman)**
- Purgation **(Virechan)**
- Enema **(Basti)**
- Elimination of toxins through the nose **(Nasya)**
- Bloodletting or detoxification of the blood **(Rakta moksha)**

Mental Health

Mental health refers to an individual's emotional and psychological well-being. The World Health Organization defines mental health as "a state of well-being in which the individual realizes his or her own abilities, can cope with the normal stresses of life, can work productively and fruitfully, and is able to make a contribution to his or her community."

A combination of physical, emotional, social and most importantly mental well-being is necessary to achieve overall health. How effectively and successfully person functions, feels capable and competent to handle normal levels of stress, maintain satisfying relationships, and lead an independent life; and being able to "bounce back," or recover from difficult situations.

Holistic Health

One who has equilibrium of **Dosha** (Vatha, Pitha, Kapha) **Agni** (metabolic activity) **Dhathu** (tissues) **mala** (waste products) and pleasant **Atma** (being,) **Indriya** (sense organ) and **manas** (mind) is called a healthy person.

To achieve balance and holistic health, Ayurveda advocates different therapeutic approaches. The following classification summarises the therapeutic approaches offered in Ayurveda.

- Mind (Sattva or Manas),
- Body (Sharir) and
- Soul (Atma)

These are tripod of life. If one is disturbed; the whole life is in turmoil.

Therapeutic Approaches:

Manas treatment is a combined approach in Ayurveda. Stress and Memory loss is one of the commonest causes of todays mental diseases. Ayurveda offers a holistic approach towards better health for body as well as mind.

- There will be oral herbal medication along with oil massage, sirovasti, dhara etc in the therapy.

- Rejuvenation massage, steam bath etc are other facets of this therapy.

- Fully body massage on a daily basis, with sesame oil (or coconut oil) 30 minutes before bathing has several physical as well as psychological advantages. This is effective stress management therapy. A person practicing this regularly will have the benefits of better emotional control and relaxed mind.

- People with mental problems are also advised to take vegetarian food, according to their Body type. Spicy, hot tasting and salty food items are not helpful in relaxation, whereas sweet tasting food items are. Easy to digest food items, mostly in liquid or semi solid form ensures faster digestion, which is helpful in wooing off mental worries.

- Reading religious texts is another effective way of pacifying the troubled mind. Listening to soothing music with slow beats, hearing natural sounds like singing of birds, ocean and chimes sounds also pacify mind.

- Being in the company of pleasant people, visiting religious places and locations, putting legs inside clean water and watching greenery are yet another way of soul searching.

- Mind is what a person is in personal life, personality and everything a person experiences in his or her life. To care for the mind, you need special attention.

Spiritual dimension is important in Mental Health

Spirituality is an important aspect of mental health. Mental health has two dimensions—

(i) Absence of mental illness and presence of a well-adjusted personality that contributes effectively to the life of the community to whom one belongs.

(ii) Ability to take responsibility for one's own actions.

These actions are flexibility, high frustration tolerance, acceptance of uncertainty, involvement in activities of social interest, courage to take risks, serenity to accept the things which we cannot change, courage to change the things which we can change, the wisdom to know the difference between the above, acceptance of handicaps, tempered self-control, harmonious relationships to self, others, including Nature and God, are the essential features of mental health.

Carl Jung considered the psyche as a carrier of truth, powerfully rooted in the unconscious mind.

Lack of spirituality can interfere with interpersonal relationships, which can contribute to the genesis of psychiatric disturbance. The loss of interest in religious rituals and activities is a common symptom of depression. Spirituality is important in the prognosis of psychiatric conditions. In the spiritual perspective, a differentiation must be made between cure and healing. Cure is the removal of symptoms. Healing is the healing of the whole person. Adversity often produces maturity. Hence in psychotherapy, the patient must be helped to accept the handicap and transform the handicap to a life of usefulness.

Research Evidence Globally: Spirituality and its influence on physical and Mental Health:

- A study conducted at the University of Florida in Gainesville and Wayne State University in Detroit, older adults uses prayer more than any other alternative therapy for health; 96% of study participants use prayer specifically to cope with stress. Here are just a few more of the many positive findings about spirituality and its influence on physical and mental health:

- Canadian college students who are involved with campus ministries **visited the doctor less**, scored higher on tests of **psychological well-being**, and **coped with stress** more effectively.

- Older women are more grateful to God than older men, and they receive greater **stress-buffering health effects** due to this gratitude.

- Those with an intrinsic religious orientation, regardless of gender, exhibited **less physiological reactivity toward stress** than those with an extrinsic religious orientation. They were also **less afraid of death** and had **greater feelings of well-being**. (Those who were intrinsically oriented dedicated their lives to God or a 'higher power,' while the extrinsically oriented ones used religion for external ends like making friends or increasing community social standing.)

- Prayer works for young and old alike. Prayer and spirituality have been linked to:

- Better health
- Less hypertension
- Less stress, even during difficult times
- More positive feelings
- Less depression

- Greater psychological well-being
- Superior ability to handle stress

Whether this information inspires to rediscover a forgotten spiritual path, reinforces commitment to an already well-established one, or simply provides interesting food for thought, this is just a sample of all the encouraging research that's been done on the topic.

Spirituality is personal, and everyone's spiritual path may be unique. However, some spiritual stress relief strategies have been helpful to many, regardless of faith.

Ways of Spiritual Development

People use many different religions and paths to find God. Spirituality is a wider concept. It is perception more than religion. Researches are evidence that those who are more religious or spiritual, and use their spirituality to cope with life, experience many benefits to their health and well-being. Spirituality and religious activity have been a source of comfort and relief from stress for multitudes of people. Spirituality is helpful to handle stress and its consequences. People can express or develop their spirituality through in many ways.

- :Faith and Religion / Faith in Religion
- Their journey or direction and meaning of life
- Belief that there is divine force or higher being above any individual
- Journey for hope, harmony or wholeness
- Living with certain values
- Meditation(Understanding the self and connectedness with God)
- Worship, reading religious text or prayer
- Yogic life Style

Through out the world there are many spiritual practices that helps people to cope with stress effectively and maintain a good and healthy mental and physical well –being.

Spiritual Lifestyle in India

In India the pilgrim place Varanasi, Sarnath, Hardwar, Rishikesh, Amarnath, four Dhamas , tweleve Jyotirlingas and other places are considered as spiritual centers in India, The visit to these places at certain time alike Ganga Sagar visit at Makar Sankranti, at the time of Rath yatra Visit to Puri, Celebration of Holi At Mathura, Lord Rama Janam Mahotsava at Ayodhya every year are tagged as spirituality.

Staying in the Ashrams at Rishikesh ,Hardwar, Varanasi, Dwarika, Puri and worship with dedication comprises spirituality. Ashrams are like energy banks for spirituality and new entrants are the investments for the future of spirituality. When new entrants come into an ashram, they undergo training and practice self discipline which increases both the energy within themselves as well as the energy within the ashram. Typically, energy only grows once the entrant/student has made a connection with their soul consciousness and uses this consciousness to progress their spiritual life. By tapping into this piece of the eternal these students begin to create a field of energy that expands with time; the

longer they practice with devotion the more magnificent this energy becomes. Their energy is not only added to themselves but also to the environment they inhabit.

But, consequently if hundreds of entrants are coming in and out of the ashram every single day the overall energy of the ashram is depleted as opposed to expanded. Instead of contributing energy to the ashram, a one day or two day traveler is absorbing the ashram's energy without re-depositing which ultimately depletes the overall energy of the ashram. Over time, this depletion can suck the spirituality out of the ashram. Though, there are some ashrams of this sort in which these hundreds of students will stay for extended periods of time.

The scenario of spiritual lifestyle in the country has changed a great deal. Today there are many spiritual wellness centers in India which offer guidance on living a stress free, peaceful and balanced life. Stressed out individuals carry a great deal of physical tension in their bodies. In these cases the natural unblocking effected by Yoga postures are helpful. When one rests between postures, abdominal tension is released from the body promoting deep breathing. The benefits of yoga postures (asana), breathing (pranayama), and meditation (dhyana) include increased body awareness, release of muscular tension and increased coordination between mind-and body. It helps in better management of stress and ensures an overall feeling of well being. Some custom made yogic techniques include Sudarshan Kriya, Sahaja Samadhi and Kriya Yoga —are three widely practiced techniques of yoga. These wellness centers are doing a great job in bringing a positive change in the lives of the people targeted at professionals, family people, aged people and patients,. Some of the spiritual centers in India are working to serve the mankind.

Thus, modern man has found Spiritual life Style which plays an important role as a Medicine in dealing with day to day stress and stress related disorders. It helps us to realize one's Inner Potential and keeping them selves in calm and peaceful in handling stress. The espousal of spirituality makes the human being to enjoy a state of inner peace in everyday life, at work, at home, and everywhere.

References :

1 art and belief. BJP. 193:175

2 Religion and Science series, No 1.

3 Journal of Neuropsychiatry Clinical & Neurosciences.; 1997:498–510.

4. श्रीमद्भगवद्गीता (अ.10/श्लो. 08/ पृ. सं. 144)

5. श्रीमद्भगवद्गीता (अ.10/श्लो. 09/ पृ. सं. 144)

6. श्रीमद्भगवद्गीता (अ.अ. 4/श्लो. 14/ पृ. सं. 76)

7. श्रीमद्भगवद्गीता (अ. 4 /श्लो./18/पृ. सं. 76)

8 Dwivedi, Girish & Dwivedi, Shridhar (2007). History of Medicine: Sushruta – the Clinician – Teacher par Excellence. National Informatics Centre (Government of India).

9 वैद्याकीयसुभाषितसाहित्यम् (अ. 43 /श्लो. 26, पृ. सं. 432)

10 Sharma, P.V.(2006) ; "Śuśruta-Saṃhitā", Caukhambha Visvabharati,Varanasi, vol. 1, p. iv.

11 अष्टाङ्गहृदयम् (अ.1/श्लो.7, पृ.सं. 4)

Abriviation

अ. = अधयाय
श्लो. = श्लोक
पृ. सं. = पृष्ठ संख्या

Bibliography

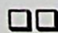
1. Timble M.(2008); Soul in the brain: the cerebral basis of language, art and belief. BJP. 193:175.
2. Abraham, J. (2004); 'The quest for the spiritual neurone' Religion and Science series, No 1. Bangalore: Darmavaram
3. Saver J.L. & Rabin J. (2007); "The neural substraits of religious experience". Journal of Neuropsychiatry Clinical & Neurosciences.; 1997:498–510.
4. श्रीमद्भगवद्गीता (सम्वत् 2048) Published by Geeta Press, Gorakpur Edition 49.
5. Dwivedi, Girish & Dwivedi, Shridhar (2007). History of Medicine: Sushruta – the Clinician – Teacher par Excellence. National Informatics Centre (Government of India).
6. घाणेकर.श्री.भा.गो. (1984), वैद्यकीयसुभाषितसाहित्यम् : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

7- Sharma, P.V.(2006) ; **"Śuśruta-Saṃhitā"**, Caukhambha Visvabharati,Varanasi, vol. 1, p. iv.

8- आचार्य वाग्भट्ट रचित अष्टाङ्गहृदयम् (1994), टीका : गुप्त कविराज अग्निदेव, सम्पादक वैद्य उपाण्यदु. प्रका. चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

9. Koening, H.G.(2008);'Religion and mental health: what shall psychiatrists do?' *Psychiatry Bulletin*, 32:2, 1–3.
10. Vaishnava M. (2006);'Spirituality and Psychiatry—complementary or contradictory?' *Archives of Indian Psychiatry.* 8:1–9.
11. Verghese,A.(2008);'Spirituality and mental health' Indian J Psychiatry.Oct-Dec;50(4):233–237.
12. http://www.ayur.com/about.html
13. https://apps.who.int/aboutwho/en/definition.html
14. http://www.bkwsu.org/philippines/spirituallifestyle
15. http://www.dhanwantriayurved.com/
16. http://www.eatprayloveashram.com/
17. http://headlinesindia.mapsofindia.com/spirituality/spirituality-as-lifestyle.html
18. http://independentspirituality.com/way-non-attachment/
19. http://www.ncbi.nlm.nih.gov/pmc/articles/PMC2755140/

Dr (Ms) Avneesh Agrawal
Associate professor
Rashtriya Sanskrit Sansthan Deemed University, Lucknow



मौनिश्रीकृष्णभट्टविरचितायाः तर्कचन्द्रिकायाः परिचयः

ललित कुमार त्रिपाठी

मौनिश्रीकृष्णभट्टस्य नैके ग्रन्थाः प्रकाशिताः आसन्, किं च तस्य ग्रन्थेषु अयं ग्रन्थोऽद्यावधि व्याकरणकृतित्वेन प्रायेण अज्ञातो यद्वा अचर्चित एवासीत्। शोधपत्रेऽस्मिन् मौनिश्रीकृष्णभट्टस्य अस्या व्याकरणकृतेः परिचयः प्रदत्तो वर्तते। ग्रन्थस्यास्य वैशिष्ट्यं प्रदर्शयितुं तत्रस्थानां कतिचन सूत्राणामर्थविचाणापि समुपस्थापिता यत्र मौनिश्रीकृष्णभट्टः क्वचिद् प्रौढमनोरमाकारमतं क्वचिद् शब्दरत्नकारमतं क्वचिद् शेखरकारमतं खण्डयति।

1. प्राचीनभारते संस्कृतस्य नैकानि व्याकरणानि विरचितान्यासन्। व्याकरण- शास्त्रस्येतिहासकाराः पाणिनिपूर्ववर्तिनां वैयाकरणानां नामानि निर्दिशन्ति। स्वयं महर्षिः पाणिनिः स्वस्मात् पूर्ववर्तिनां संस्कृत वैयाकरणानां नामानि उल्लिलेख। किं च पाणिनेः व्याकरणस्योदयात् परं अन्यानि व्याकरणानि शनैः शनैः अस्तं गतानि। पाणिनीयव्याकरणस्य रचनावैशिष्ट्यमेव यथा विद्यते न तथा व्याकरणान्तरस्य। अतः शनैः शनैः नैकवैशिष्ट्येन युतं पाणिनीयं व्याकरणं संस्कृतव्याकरणस्य पर्यायभूतं संजातम्। पाणिनिना विरचिता अष्टाध्यायी व्याकरणग्रन्थेषु अविस्मरणीयं स्थानमादधाति। पाणिनीयव्याकरणधारा महर्षिणा पाणिनिना भगवतः शिवस्य प्रसादात् आविष्कृता मुनिना कात्यायनेन परीक्ष्य संवर्धिता महर्षिणा पतञ्जलिना सूक्ष्मेक्षिकया इष्ट्यादिभिः संवर्धिता व्याख्याता च। महर्षेः पतञ्जलेः परमपि पाणिनीयव्याकरणे गभीरावगाहनसंवर्धनपरम्परा नैवावरुद्धा। भर्तृहरेः दीपिका कैयटस्य प्रदीपः अन्ये च महाभाष्यस्य व्याख्यानपरम्पराग्रन्थाः महाभाष्यानुशीलनेन पाणिनीयव्याकरणस्य गभीरावगाहनसरणिं संवर्द्धयामासुः। अष्टाध्यायीं लाघवेन बोधानार्थं वामनजयादित्याभ्यां काशिका इति ग्रन्थो निर्मितः।

2. पूर्वमष्टाध्यायीपठनपाठनक्रमे प्रक्रियाऽपि अष्टाध्यायीक्रमेणैव प्रचलिता आसीत् गच्छता कालेन आचार्यैः अष्टाध्याय्याः स्वतन्त्राः प्रक्रियाग्रन्था प्रक्रियाक्रमेण निर्मिताः। तत्र रामचन्द्राचार्यस्य प्रक्रियाकौमुदी प्रसिद्धः ग्रन्थो वर्तते। किं च प्रक्रियाकौमुदीं त्रुटिपूर्णाम् अपर्याप्तां च मत्वा श्रीमता भट्टोजिदीक्षितेन प्रक्रियाक्रमेणैव धातुगणोणादिपाणिनीयलिङ्गानुशासनैः संयुता वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी प्रणीता।

सिद्धान्तकौमुदीमाश्रित्य श्रीमता भट्टोजिदीक्षितेन प्रौढमनोरमा इत्याख्यो व्याख्याग्रन्थो रचितः। व्याख्याग्रन्थेऽस्मिन् श्रीमता भट्टोजिदीक्षितेन रामचन्द्राचार्यस्य विठ्ठलादिप्राचीनविदुषां च मतानि खण्डितानि अपि च स्वगुरूणां श्रीशेषकृष्णभट्टानामपि मतमालोचितम्। तत्रैव कैयटस्य प्रदीपव्याख्यानमपि क्वचिदालोचितम्। शेषकृष्णभट्टानां प्रशिष्येषु भट्टोजिदीक्षितमतखण्डनाय तट्टीकाग्रन्थाः खण्डनग्रन्थाश्च प्रणीताः। तत्र पण्डितराजजगन्नाथस्य मनोरमाकुचमर्दनम्, शेषचक्रपाणिनिर्मितं प्रौढमनोरमाखण्डनं च प्रसिद्धौ ग्रन्थौ स्तः। श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितपौत्रेण श्रीमन्नागेशभट्टस्य गुरुणा श्रीहरिदीक्षितेन प्रौढमनोरमामधिकृत्य बृहच्छब्दरत्नः लघुशब्दरत्नश्चेति द्वौ व्याख्याग्रन्थौ व्यलिख्येताम्। सिद्धान्तकौमुदीमाश्रित्यैव तिरुमलभट्टेन सिद्धान्तरत्नाकर इति महान् व्याख्याग्रन्थो व्यरचि यत्र तेन समेषां पूर्वाचार्याणां मतानि समीक्षितानि स्वमतं चाविष्कृतं क्वचित् क्वचित्। समेषामेव पूर्वाचार्यकृतग्रन्थमतानां समीक्षणधिया श्रीमन्नागेशभट्टेन बृहच्छब्देन्दुशेखरः, लघुशब्देन्दुशेखरश्चेति

द्वौ महत्त्वभाजौ ग्रन्थौ विरचितौ यत्र अन्येषां मतसमीक्षणपूर्वकं भट्टोजिदीक्षितस्य मतमपि समीक्षितं ग्रन्थकृता।

3. श्रीमतः नागेशभट्टात् परं श्रीमान् मौनिश्रीकृष्णो व्याकरणशास्त्रस्य महान् आचार्योऽजायत। येन व्याकरणशास्त्रे नैकाः कृतयो विरचितास्तासु वृत्तिदीपिका[1], लघुविभक्त्यर्थनिर्णयः[2], आख्यातवादः[3], स्फोटचन्द्रिका[4], इत्येते ग्रन्था मौनिश्रीकृष्णभट्टस्य कृतित्वेन ज्ञाताः चर्चिताश्चासन्। 'शब्दार्थतर्कामृतम्' इत्यापि ग्रन्थो मौनिश्रीकृष्णभट्ट विरचितः साम्प्रतं प्रकाशितः वर्तते।[5]

4. मौनिश्रीकृष्णभट्टस्य अन्योऽप्येको ग्रन्थः हस्तलेखरूपेण समुपलब्धोऽस्ति, यस्य नाम 'तर्कचन्द्रिका' इति वर्तते। वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीमाश्रित्य तर्कचन्द्रिका इत्याख्यो ग्रन्थो व्यरचि। अयं ग्रन्थः कारकप्रकरणं यावदेव हस्तलेखरूपेणोपलभ्यते[6]। ग्रन्थोऽयमिदानीं यवादप्रकाशित एवास्ति। ग्रन्थस्यास्य सम्पादनं प्रकृतलेखलेखकेन विधीयमानं वर्तते। ग्रन्थेऽस्मिन् मौनिश्रीकृष्णभट्टः पाणिनीयसूत्रेषु प्रक्रियाक्रमेण स्वकीयां व्याख्यां व्यरचयत्। अस्मिन् ग्रन्थे मौनिश्रीकृष्णभट्टः पाणिनिसूत्रार्थविमर्शे पूर्वाचार्याणां विविधमतानां समीक्षां विधत्ते। अत्र ग्रन्थकृता प्रौढमनोरमा-शब्दरत्न-लघुशब्देन्दुशेखरादिग्रन्थानां समीक्षा क्वचिच्चालोचनापि विहिता।

5. अत्र तर्कचन्द्रिकायाः वैशिष्ट्यनिदर्शनार्थम् उदाहरणरूपेण प्रत्याहारोपयोगिसूत्राणां विषये कृतानां तत्रस्थविचाराणां दिङ्मात्रं विमर्शोऽत्र प्रस्तूयते-

5.1 'अइउण्' इति सूत्रे मौनिश्रीकृष्णभट्टेन संहितायाः अभावात् सन्धिर्न इति प्रतिपाद्य अत्र विषये नागेशेन कृतस्य कैयटमतखण्डनस्य खण्डनं विहितम्।[7] तथाहि 'अइउण्' इति सूत्रे सन्ध्यभावविषये कैयटेन उक्तं- 'स्वरसन्धिस्तु न भवति वर्णोपदेशकालेऽजादिसंज्ञानामनिष्पादात्' इति। श्रीमान् नागेशभट्टः कैयटमतं खण्डयन्नाह -'तच्चिन्त्यम्, वर्णोपदेश इत्संज्ञायामच्प्रत्याहारे च निष्पन्ने प्रवर्तमानानामपि यणादीनां सुध्युपास्य इत्यादौ तटस्थ इवोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्ते वर्णोपदेशादावपि प्रवृत्तेर्दुवारत्वात्, अन्यथा 'तुल्यास्य' इत्यादौ सवर्णदीर्घो न स्याद्'[8] इति। नागेशेन कैयटस्य यत् खण्डनं विहितं तत्र मौनिश्रीकृष्णभट्स्य कथनं वर्तते यत् नागेशेन कैयटमतमबुद्ध्वैव तत्खण्डनं विहितम्। कैयटस्य तात्पर्यमेवमस्ति यत् वर्णानुबोधके वर्णोपदेशे गुणादिप्रवृत्तौ "सुपां सुलुक्" इति सेर्लुकि पदत्वाद् "लोपः शाकल्यस्य" इत्यस्य प्रवृत्तौ अइउणिति अयुणिति वा स्यात्। तथा चेकारस्याच् इण् इक् संज्ञा न स्यादित्यभिप्रायेणाजादिसंज्ञा न स्यादिति कैयटेनोक्तम्। तच्च नागेशेन अज्ञात्वैव खण्डितमिति। मौनिश्रीकृष्णभट्टोऽत्र एवमपि प्रतिपादयति यदत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणमिति परिभाषयापि न निस्तारः, "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" इत्यादावसन्देहार्थं तपरकरणेनेदृशे विषये तस्या अप्रवृत्तिज्ञापनात्। अन्यथा तत्र तपरकरणं विनापि परिभाषयैव सिद्धौ किन्तेनेति।[9]

इत्थं च संहिताया अभावादत्र सन्धिर्नेति मतं स्वीकुर्वाणोऽपि मौनिश्रीकृष्णभट्टो 'अइउण्' इति सूत्रे नागेशकृतं कैयटमतखण्डनं नोचितं मनुते।

5.2 हयवरट्

इति सूत्रे **प्रौढमनोरमायामुक्तम्** -'अयं हकारोऽट्-अश्-हश्-इण्-अम्-ग्रहणेषु हकारग्रहणार्थः। अम्ग्रहणे प्रयोजनं बहुपुम्कहीत्यादौ "पुमः खय्यमपरे" इति रुः'[10] इति । अत्र **शब्दरत्ने** उक्तं -'इण्ग्रहणेष्विति। नन्विदं न्यूनम्, अम्ग्रहणेऽपि ग्रहणात्। फलन्तु बहुपुम्कहीत्यादौ "पुमः खयी" इति रुत्वम्। गवित्ययमाहेत्यादिवदपदान्तत्वात् ककारादेर्न जश्त्वमिति चेन्न, "हयवरट्" इत्यादौ "सुट् तिथोः" इत्यादौ चाकाराद्युच्चारणेन शास्त्राबोधि ताजव्यवहितहल्समुदायस्य असाधुत्वबोधनात्। अत एव "उच्चैरुदात्तः" इति सूत्रे भाष्यम् - 'न पुनर्नान्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवति' इति। 'स्कोः' इत्यादिस्तु सौत्रः प्रयोगः। अत एवाटि हकारप्रयोजनकथनावसरे "शश्छोऽटि" इत्युपन्यस्य तदुदाहरणं नोपन्यस्तम्। हकारपरशकारस्यासम्भवेन "शश्छोऽटि" इति प्रसङ्गोच्चारितमिति कैयटेन व्याख्यातम्। अमि च हकारप्रयोजनमिति भाष्ये नोक्तमिति दिक्'[11] इति।

मौनिश्रीकृष्णभट्टस्तु शब्दरत्नकारोक्तं वचः- 'शास्त्राबोधिताजव्यवहितहल्समुदायस्य असाधुत्वबोधनम्' इति खण्डयति। मौनिश्रीकृष्णभट्टोऽत्र वचसि प्रामाणाभावं प्रतिपादयति। मौनिश्रीकृष्णभट्टो ब्रूते यद् हयवरडित्यत्रानन्यार्थाकारोच्चारणमुक्तार्थे मानं वक्तुं न शक्यते। यतः "ईदूदेद्" इत्यत्रानन्यार्थतकारोच्चारणेन हलं विनाऽच्समुदायस्यासाधुत्वमित्यपि तुल्ययुक्त्या वक्तुं शक्यत्वेन स्कोरितिवदइउणित्यस्य साधुत्वेऽपि 'अइउ अपेहि' इत्यादीनामसाधुत्वापत्तेः "लोपो व्योर्वलि" इति लोपव्यावृत्त्या तस्य चरितार्थत्वाच्च।[12]

पुनश्च मौनिश्रीकृष्णभट्टः पृच्छति -"हयवरट्" इत्यानुपूर्व्याःशास्त्रबोधितत्वमस्ति न वा? उक्तमुभयमपि पक्षं निराकुर्वन् स ब्रूते - 'नाद्यः "हयवरट्" इत्यानुपूर्व्याः शास्त्रबोधितत्वेनाचं विनापि 'स्कोः' इत्यादाविव साधुत्वोपपत्तावेतादृशार्थे ज्ञापितेऽपि व्यर्थत्वस्य तदवस्थत्वेन ज्ञापनासम्भवात्। व्यर्थं हि तदेव ज्ञापयति येन तस्य सार्थक्यं सम्भवति। न च प्रकृते तदस्ति। न द्वितीयः, असाधुत्वापत्तेः। न च स्वस्य स्वबोध्यत्वानुपपत्तिः, शाब्दिकमते शब्दस्यापि शाब्दबोधे भानाभ्युपगमेन तदीयस्येव तत् सम्भवात्।[13]

पुनश्च मौनिश्रीकृष्णभट्टो अत्र प्रश्नमुपस्थापयति- 'यदपि स्वोक्तेऽर्थे न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनोच्चारणमपि भवतीति भाष्यमुपष्टम्भकमुक्तम्। तत्किं मणिमन्त्रादिन्यायेनोच्चारणे प्रतिबन्धकम्, उतासाधुत्वबोधकम्'? उभयथापि मौनिश्रीकृष्णभट्टो ब्रूते- 'नाद्यः, "हलोऽनन्तराः संयोगः" इत्यादीनां व्यर्थत्वापत्तेः, लोपश्चेति द्विशकारको निर्देश इति भाष्योक्तेश्च। नान्त्यः, उच्चारणशब्दस्य तदर्थत्वाभावात्'।[14]

मौनिश्रीकृष्णभट्टस्य अनुसारं 'न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनोच्चारणमपि भवति' इति महाभाष्योक्तस्य वचसः तात्पर्यं वर्तते यद् अचं विना व्यञ्जनानां स्रंसनधर्मितयाऽचामेव चोदात्तादिधर्मतया व्यञ्जनानां स्वरविशिष्टोच्चारणं न भवतीति।[15]

अन्यैर्व्याख्यातस्य अजव्यवहितहल्समुदायस्यासाधुत्वप्रतिपादनपरमहाभाष्यकथनस्य तात्पर्यं मौनिश्रीकृष्णभट्टेन भिन्नाशयपरं प्रदर्शितम्। तथा चोक्तं मौनिश्रीकृष्णभट्टेन 'यदप्यजव्यवहितहल्- समुदायस्यासाधुत्वे ञमङणनमित्यत्र मकारं प्रत्याख्याय अम् ङम् यम् इति प्रत्याहारत्रये ञकारेण प्रत्याहारं स्वीकृत्य झकारभकारपरे खयि रुत्वमाशङ्क्य न झकारभकारपरः खयस्ति। तथा झकारभकारयोरपि झकारभकारागममाशङ्क्य न झकारभकारौ पदान्तौ स्तः इत्युक्तम्। तथा "हलो यमां यमि लोपः" इति झकारभकारयोरपि झकारभकारयोर्लोपमाशङ्क्य न झकारभकारौ झकारभकारपरौ स्तः इति भाष्यं साधकत्वेनोपन्यस्तम्, तदपि न, सर्वत्र जश्त्वेन तत्तत्कार्याभावस्य भाष्याभिप्रेतत्वात्।[16]

अमि हकारप्रयोजनं भाष्ये नोक्तमिति विषये मौनिश्रीकृष्णभट्टो ब्रूते - 'यदपि अमि हकारप्रयोजनमिति च भाष्ये नोक्तमित्युक्तम्, तदपि न, भाष्ये इण्हश्ग्रहणाभावेन अम्वत्तयोरपि ग्रहणाभावप्रसङ्गात्। यत्र च प्रयोजनमस्ति तत्रोपदेशः कर्तव्य इत्यादिनेण्हश्ग्रहणयोरिव अम्ग्रहणस्यापि सूचितत्वात्।[17]

इत्थं च विविधाभिर्युक्तिभिः मौनिश्रीकृष्णभट्टेन शास्त्राबोधिताजव्यवहितहल्समुदायस्य असाधुत्वप्रतिपादनपरं वचः खण्डितम्।

5.4 लण् इति सूत्रे अकारस्य अनुनासिकसंज्ञा इत्संज्ञा च स्वीकृता कैयटेन भट्टोजिदीक्षितेन च।[18] मौनिश्रीकृष्णभट्टोऽपि तदेव स्वीकरोति।[19] तथा च एतेषां मते लण्-सूत्रस्थावर्णेन उच्चार्यमाणो र इति प्रत्याहारेण रलयोर्बोधः। श्रीमान् नागेशभट्टस्तु नैवं स्वीकरोति। नागेशभट्टेनात्र नैके दोषाः समुपस्थापिताः। मौनिश्रीकृष्णभट्टस्तर्कचन्द्रिकायां नागेशोक्तदोषाणां निराकरणं कुरुते। तथा मौनिश्रीकृष्णभट्टस्तर्कचन्द्रिकायां नागेशमतमुपस्थाप्य तन्मतं खण्डयति। **रप्रत्याहारखण्डनप्रसंगे श्रीमन्नागेशेन इमाः युक्तयः प्रदत्ताः** - परे तु अस्यानुनासिकत्वे "अतो ल्रान्त" इति सूत्रे पाणिनिर्लकारं नोच्चारयेत्, प्रत्याहारेणैव निर्वाहात्।[20] किं

चास्येत्संज्ञकत्वे यणघटितबहुष्वर्द्धमात्रालाघवानुरोधेन य-प्रत्याहारेणैव व्यवहरेत्। किं चानुबन्धानामच्प्रत्याहारे ग्रहणाभावे 'आचारादप्रधानत्वाल्लोपश्च बलवत्तर इति भाष्योक्तस्य तृतीयहेतोरव्यापकत्वापत्तिः। तव लोपस्य बलवत्त्वेऽपि हल्प्रत्याहारसिद्धेः प्रागच्पदार्थनिष्पत्त्यभावेनोपदेशेऽजित्यस्य वाक्यार्थाभावेन लणित्यकारस्येत्संज्ञालोपयोः अभावेन प्रत्याहारेषु जातिग्रहणपक्षस्यैव भाष्यकृता सिद्धान्तितत्वेन हल्प्रत्याहारे लणित्यकारप्रवेशे 'मामाँस्त्रायस्व' इत्यत्रानुनासिकपक्षेऽनुस्वारापत्तिर्दुर्वारा। 'सोऽस्ति' इत्यादौ सुलोपाद्यापत्तिश्च।[21] अत एव प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु नेत्यनेन प्रत्याहारे वर्णसमाम्नाये य एतेऽक्षु अज्बोधकसूत्रेषु प्रत्याहारार्था अनुबन्धाः क्रियन्ते तेषामज्ग्रहणेन ग्रहणं कस्मान्नेत्यर्थकेन भाष्येऽच्प्रत्याहारे शङ्का कृता न हल्प्रत्याहारे।[22] भाष्ये च 'अइउण्' इत्यादिचतुष्टयोपादानेनैव प्रवृत्तिर्दर्शिता। तत्र प्राधान्यं प्रत्याहारेषु ग्रहणार्थत्वरूपम्, हल्सु च तथोपदेशस्तेषामक्षु तु स्वराणामेव तथोपदेश इति प्राधान्यात् तेषामेव संज्ञित्वमिति भाष्ये स्पष्टम्।[23] तस्मादस्यानुनासिकत्वमप्रामाणिकम्। ''उरण् रपरः'' इत्यत्र लग्रहणं कर्तव्यमेव। ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यवद् इति[24]।

अत्र **मौनिश्रीकृष्णभट्टो** श्रीमन्नागेशेन कृतं रप्रत्याहारखण्डनं नोचितं स्वीकरोति। नागेशमतखण्डने मौनिश्रीकृष्णभट्टेन उक्तं – 'कैयटादिसकलग्रन्थविरोधेन प्रबलप्रमाणाभावे फलदोषयोरभावे च स्वातन्त्र्यस्यानुचितत्वात्' इति।[25]

मौनिश्रीकृष्णभट्टोऽत्र प्रतिपादयति यत् ''उरण् रपरः'' इत्यत्रेव ''र ऋतो हलादेर्लघोः'' इत्यादावपि रप्रत्याहारग्रहणापत्तिस्तु न, ''अतो ल्रान्तस्य'' इत्यत्रार्द्धमात्रालाघवेन रान्तस्येत्येव वक्तव्ये गुरुनिर्देशकरणेन यत्र भाष्याद्युक्तिः, कैयटादिसम्मतिश्च तत्रैव प्रत्याहारग्रहणमिति ज्ञापितत्वात्।[26]

मौनिश्रीकृष्णभट्टः प्रतिपादयति यत् 'लपरत्वं वक्ष्यामि' इति भाष्यस्य नागेशोक्तव्याख्यायां लकाररूपधर्मिकल्पना कैयटाद्युक्तव्याख्यायां तु धर्मकल्पना। तथा च धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघीयस्त्वात् कैयटाद्युक्तेव समञ्जसम्।[27]

नागेशमतं खण्डयन् मौनिश्रीकृष्णभट्टो ब्रूते – 'यदपि किञ्चेत्यादि व्यवहरेदित्यन्तेन यदुक्तं तदपि न, यणघटितवाक्येषु ''इको यणचि'' इत्यादौ प्रत्याहारेण इको योऽचीति निर्देशे कृतेऽर्द्धमात्रालाघवे सत्यपि किमनेनोकारविशिष्टः यकारो विधीयते उत व्यञ्जनमात्रमुत प्रत्याहार इत्येवंरूपानेकसन्देहप्रसङ्गे सन्दिग्धार्थ-बोधकानुबन्धसम्भवेनैव निर्देश उचित इत्यभिप्रायेणैव सूत्रकारादीनां तथा व्यवहारात्। यदि तु मात्रालाघवे दुराग्रहश्चेत्तर्हि मास्तु णकारानुबन्धः। तस्य हि इणण्यण्सूपयोगः। तत्र ''इणः षीध्वम्'' इत्यादौ पापीध्वमिति निर्देशेनाणुदिदित्यादावोदित्- सवर्णस्येति न्यासेनैव निर्वाहात्। व्याख्यानेन ''अ अ'' इति पदच्छेदेन प्रत्याहारबोधसम्भवात्। न च णकारानुबन्धाभावे परिभाषाया ज्ञापनाभावः, अकारानुबन्धस्यैव तत्सम्भवात्। किञ्च ''अतो ल्रान्तस्य'' इत्यत्र लकारोपदेशेन भाष्याद्युक्त्यादिसहकारिकारणं विना ''लण्'' इत्यत्राकारानुबन्धेन प्रत्याहाराभावबोधनात्। इति।[28]

पुनरपि नागेशमतं खण्डयन् मौनिश्रीकृष्णभट्टो ब्रवीति – 'यदपि किञ्चेत्यादि आहुरित्यन्तेन यदुक्तं तदपि न, ''लण्'' इत्यकारानुबन्धस्वीकारे तस्य हल्प्रत्याहारसिद्धेः प्रागच्संज्ञाया अनिष्पत्त्या इत्संज्ञालोपयोरभावेन लोपश्च बलवत्तर इत्यस्याप्रसक्त्या जातिपक्षे ईकारस्येव अकारादीनामपि हल्त्वान्मामाँस्त्रायस्वेत्यादौ ''मोऽनुस्वारः'', सोऽस्तीत्यादौ स इत्यकारस्य हल्त्वात् ''हल्ङ्याब्'' इति सुलोपापत्त्या तृतीयसमाधानस्याप्रकृत्यापत्तिर्हि त्वयोक्ता ''सोऽचि'' इतिनिर्देशेनाकारस्य लोपानुमानात् तृतीयहेतोरव्यापकत्वापत्तिः। द्वितीयोपपत्तिस्तु प्राधान्यं प्रत्याहारेषु ग्रहणार्थत्वरूपं तच्चाक्षु अचां, हल्सु हलामेव संज्ञित्वमिति भाष्यात् अप्राधान्यमकारस्य। ''आद् गुणः'' इत्यादावकारोत्तरं सुलोपाप्रवृत्त्याचारस्यापि व्यापकत्वम्। एवञ्चाचारादप्रधानत्वाल्लोपश्च बलवत्तर इत्यस्य चतुर्दशसूत्रीविषयत्वं, न तु भवदुक्तम्। अत एवेत्यादि अनभिधानादित्यन्तेन सूत्रचतुष्टयविषयत्वम्। हशादिप्रत्याहारे

ठकारादिग्रहणापत्तेः। न च हकारादिषु पुनः पुनरकारोच्चारणेनोच्चारणार्थवर्णरहितहलां तद्घटितप्रत्याहारे ग्रहणाभावो वक्तुं शक्यः इति भवत्कल्पना साध्वी। अनयैव सूत्रचतुष्टयेऽपि निर्वाहे आचारादप्रधानत्वाल्लोपश्च बलवत्तर इति समाधानभाष्यस्य प्रत्याहारेऽनुबन्धानामित्याशङ्काभाष्यस्य च निर्मूलत्वापत्तिः। त्वद्रीत्या ''लण्'' इत्यकारस्य लोपाभावेनोच्चारणार्थवर्णरहितहलत्वात् तत्घटितप्रत्याहारे ग्रहणाभावेन दोषाभावात् पूर्वोत्तरग्रन्थविरोधश्च।[29]

पुनश्च मौनिश्रीकृष्णभट्टो नव्यमतं खण्डयन् प्रतिपादयति यत् नव्यमतं न सम्यक्, अचं विना व्यञ्जनस्योच्चारणाभावेन तदर्थं चरितार्थस्याकारस्योच्चारणस्योक्तज्ञापनस्य वक्तुमशक्यत्वात्। अनभिधानोक्तिस्तु साहसमात्रम्। ब्राह्मणष्ठकारमुच्चारयति आदित्य इत्याद्यनभिधानासम्भवात्। टकारस्य हश्त्वेन ''हशि च'' इत्यस्य प्रवृत्त्या यकारस्य वल्त्वेन ''लोपो व्योर्वलि'' इत्यस्य प्रवृत्त्या दोषसम्भवात्। किञ्च व्यक्तिपक्षे आकारस्य हल्त्वाभावेन 'मामाँस्त्रायस्व' इत्यत्र दोषाभावे निर्णीते जातिपक्षेऽपि तदैकरूप्यार्थमनन्वितताद‍ृशप्रयोगे भवदुक्तानभिधानवन्ममापि तद्वक्तुं शक्यम्, तव निर्मूलानभिधानापेक्षया सूत्रकारभाष्यकारयोरेकवाक्यतारूपमूल-समूलाभिधानस्य युक्तत्वात्। उच्चार्यमाणगुणस्य विवक्षितत्वे न सोऽस्तीत्यादावपि दोषाभावः।[30]

इत्थं मौनिश्रीकृष्णभट्टस्य मतानुसारं - 'रप्रत्याहारे दोषाभावात् भाष्यादिसकलसम्मतत्वाच्च, कौमुदी व्याख्याप्रवृत्तेर्दुराग्रहेण रप्रत्याहारखण्डनमनुचितम्'।[31]

5.5 हलन्त्यम् इति सूत्रे मौनिश्रीकृष्णभट्टस्य मतं नूतनरूपेणोपलभ्यते। मौनिश्रीकृष्णभट्टस्तु सूत्रकारमते हल्-पदार्थं वर्णवत्प्रसिद्धार्थमेव स्वीकरोति । मौनिश्रीकृष्णभट्टो यद्यपि अन्येषां यणादिप्रत्याहाराणां लोकार्थप्रसिद्धिं नैव स्वीकरोति, तथापि हल्-प्रत्याहारस्य तु लोकप्रसिद्धिं स्वीकरोति। मौनिश्रीकृष्णभट्टस्य अनुसारं भाष्यरीत्या तु शास्त्रसिद्धस्यैव शास्त्रे ग्रहणमिति स्वीकृत्यान्योन्याश्रयस्य प्राप्तस्य परिहारार्थं बहवः प्रकाराः उक्ताः।[32]

भाष्येऽन्योन्याश्रयपरिहाराय लश्चेति वक्तव्यम् इत्येक उपायः प्रदर्शितः। तद्विषये मौनिश्रीकृष्णभट्टो ब्रवीति-उपदेशेऽन्त्यं हलित्संज्ञं भवति। उपदेशेऽन्त्यो लकारश्चेत्संज्ञो भवतीति तदर्थः। ततश्च हलिति लकारस्य द्वितीयवाक्येनेत्संज्ञायां हल्प्रत्याहारसिद्धिः इति। अत्र पक्षे लकारश्रवणापत्तिरूपो दोषस्तु नास्तीति प्रतिपादयति मौनिश्रीकृष्णभट्टः। तथा चोक्तं तेन- न च लकारश्रवणापत्तिः, 'हलन्त्यम् ल' इति न्यासे द्वितीयवाक्येन लकारस्येत्संज्ञायां लोपसम्भवात्।[33]

मौनिश्रीकृष्णभट्टो हलन्त्यमिति सूत्रे मनोरमोक्तं वचः- 'द्वितीये संयोगान्तलोपो दुर्लभ' इत्यपि खण्डयति। तथोक्तं तेन- एतेन द्वितीये संयोगान्तलोपो दुर्लभ इत्यादिमनोरमाग्रन्थो भाष्याशयानवबोधनिमित्तक इति।[34]

मौनिश्रीकृष्णभट्टो 'हलन्त्यम्' इति सूत्रे भाष्येऽन्योन्याश्रयपरिहाराय अत्र भाष्येऽनुक्तमपि एकमुपायं प्रस्तौति। तच्चास्ति भाविसंज्ञाश्रयणम्। तथा चोक्तं तेन - 'यद्वा मास्तु लकारप्रश्लेषः इग्यण इत्यादाविव सूत्रशाटकवद्भाविसंज्ञाश्रयणम्। इदं च यद्यपि भाष्ये नोक्तं तथापि तुल्यन्याय्यत्वादिहाश्रितम्' इति।[35]

मौनिश्रीकृष्णभट्टोऽत्र अन्योन्याश्रयपरिहारायोपायान्तरं प्रस्तुवन् ब्रूते -'यद्वा हलित्येकदेशस्यैव तन्त्रावृत्त्यैकशेषान्यतममाश्रयणम्। तत्र शब्दतन्त्रमर्थतन्त्रं चेति द्वैतम्। शब्दतन्त्रं नाम सकृत्ताल्वोष्ठपुटादुच्चारितेन शब्दद्वयप्रतीतिः। इदं च सकृदुच्चारितः शब्दः सकृदर्थं प्रत्याययतीति पक्षे। एतन्नियमाभावे तु सैन्धवादिवदर्थद्वयप्रतीतिरर्थतन्त्रम्। तदभावे श्रुतस्यैवार्थबोधकमिति नियमे आवृत्तिः। इदमेकशेषप्रत्याख्यानपक्षे तत्सत्त्वे त्वेकशेषः। तत्र हलित्यस्य हस्य ल हात् लिति वा समासः। उपदेशे हकारसमीपो हात् परो वा लकार इत्संज्ञक इत्यर्थः।[36]

तन्त्रावृत्त्येकशेषान्यतमम् इति समाधाने श्रीमन्नागेशस्य कथनं वर्तते यत् यद्यपीदृशे विषये उच्चारयितुस्तन्त्रैकशेषान्यतरेणोच्चारणं बोद्धुस्त्वावृत्त्या बोधः इत्येवानुभवसिद्धम्, तथापि व्यवस्थितैवान्यमसत्ता

तेन बोध्यत एकशेषश्च प्रत्याख्यातोऽसहविवक्षायामपि शास्त्रमात्रप्रक्रियोपयोगीत्याशयेन पृथगुक्त इति। किं च मौनिश्रीकृष्णभट्ट: श्रीमन्नागेशभट्टस्येदं मतं नैव स्वीकरोति।[37]

मौनिश्रीकृष्णभट्ट: श्रीमन्नागेशस्योक्तं मतम् उद्धृत्य दूषयन्नाह- 'यत्तु नवीना: यद्यपीदृशे विषये उच्चारयितुस्तन्त्रैकशेषान्यतरेणोच्चारणं बोद्धुस्त्वावृत्त्या बोध: इत्येवानुभवसिद्धम्, तथापि व्यवस्थितैवान्यमसत्ता तेन बोध्यत एकशेषश्च प्रत्याख्यातोऽसहविवक्षायामपि शास्त्रमात्रप्रक्रियोपयोगीत्याशयेन पृथगुक्त इत्यदोष: इत्याहुस्तन्त्र, सव्येतरविषणयोरिव युगपदेवोभयबोधात् अन्यथा साहित्याभावे तन्त्रावृत्त्यैकशेषान्येति द्वन्द्वो न स्यात्। तस्मादेकशेषसत्त्वे तेन, तदभावे तन्त्रेणावृत्त्या वेति मदुक्तिरेव साध्वी। यदपि एकशेषश्चेत्यादि पृथगुक्त इत्यन्तम्, तदपि न, सूत्राणां हि दृष्टादृष्टप्रयोजनम्। यत्र दृष्टप्रयोजनं नास्ति केवलादृष्टार्थतैव तत्र प्रत्याख्यानम्। यदि शास्त्रप्रक्रियोपयुक्तत्वं स्यात् तर्हि दृष्टप्रयोजनसद्भावेन प्रत्याख्यानमेव न स्यात्। ननु तर्हि एकशेषनिर्देशादिति कथमुक्तमिति चेत् शृणु, ''तस्थस्थमिपां तान्तन्ताम:'' इत्यादौ सहविवक्षाभावेऽपि द्वन्द्वकरणेन क्वचित् सहविवक्षाभावेऽपि द्वन्द्वस्य साधुत्वम्। तेन 'लोचनाधरकृता हृता रागाविकृता विकृतादेहं घ्नन्ति ते वर्धयन्ति च।' 'देवदत्तयज्ञदत्तौ स्थितिगतिमन्तौ' इत्यादि प्रयोगसिद्धि:। एवं च तदपवादैकशेषस्यापि साहित्यं विना क्वचित् प्रवृत्ति:।[38]

मौनिश्रीकृष्णभट्टेन हलन्त्यम् इति सूत्रस्थ-प्रौढमनोरमायां शब्दरत्नस्य वच: अपि खण्डितं वर्तते। शब्दरत्ने नव्यैरुक्तं यद् ब्राह्मणस्य कम्बल इत्यादावसत्यपि प्रकरणादौ स्वस्वामिभावादिप्रतीतिवदनन्तर-समीपादिशब्दप्रयोगमन्तरा सामीप्याद्यप्रतीतेस्तस्य षष्ठ्यर्थत्वाभावात् तत्प्रयोगे त्वसामार्थ्यात् षष्ठीसमासाप्राप्तिरिति मध्यमपदलोपिसमासे सौत्रे वा तत्र समासस्य क्लिष्टत्वमिति।[39]

मौनिश्रीकृष्णभट्ट उक्तं मतं खण्डयन् प्रतिपादयति यत् ब्राह्मणस्य कम्बलश्चित्रगुरित्यादौ सामीप्यार्थस्य अप्रतीतौ मानं नास्ति। अन्यथा तत्र प्रतीतस्यैव षष्ठ्यर्थत्वे स्वस्वामिभावसम्बन्धातिरिक्त- संयोगादीनामपि तत्राप्रतीतत्वेन सामीप्यवत्तेषामपि षष्ठ्यर्थत्वं न स्यात्। अत्र इष्टापत्तिरप वक्तुं न शक्यते, एकशतं षष्ठ्यर्था इति भाष्यविरोधात्। सति तात्पर्ये ब्राह्मणस्य कम्बल इत्यादौ सामीप्यार्थप्रतीतेश्च।[40]

इत्थं च मौनिश्रीकृष्णभट्ट: सामीप्यस्य षष्ठ्यर्थत्वं स्वीकरोति। मौनिश्रीकृष्णभट्टो ब्रूते यद् शब्दरत्नकारमते अनन्तरादिपदाध्याहाराद् बोध: स्वीकृत:। मौनिश्रीकृष्णभट्ट: सामीप्यस्य षष्ठ्यर्थत्वस्वीकार्यतां प्रतिपादयन् वदति यत् सामीप्यस्य षष्ठ्यर्थत्वाभावे ''अस्तेर्भू:'' इत्यत्र समीपशङ्कापरं भाष्यमसङ्गतं स्यात्, सामीप्यस्य षष्ठ्यर्थत्वाभावेन तदर्थोपस्थित्यभावे शङ्काया अनुत्थानात्। सैन्धवादिनानार्थस्थले उभयत्र शक्तिमत्त्वेऽश्वो वा लवणं वेति शंका सम्भवति[41]।

मौनिश्रीकृष्णभट्ट: प्रतिपादयति यत् ''अतो ल्रान्तस्य'' इति सूत्रकारेण, 'हस्य ल हल्' इत्युक्त्वा हकारसमीपो लकार इति तदर्थं वदता कैयटेन, 'गङ्गातीरम्', 'ग्रामकूप:' इत्यादौ सर्वैरपि सामीप्यार्थ: स्वीकृत:। सामीप्ये अवयवत्वारोपेण प्रयोग इति कथनं तु दुराग्रहमात्रम्।[42]

अन्तरादिपु समासाभावस्य कारणं तु असामर्थ्यं वर्तते, न तु षष्ठ्यर्थत्वाभावत्वमिति प्रतिपादयति मौनिश्रीकृष्णभट्ट:। मौनिश्रीकृष्णोऽत्र ब्रूते यद् यदि सामीप्यस्य षष्ठ्यर्थत्वाभावोऽभिप्रेत: स्यात् तर्हि वाक्यं विहाय समासपर्यन्तानुधावनं व्यर्थं स्यात्। मौनिश्रीकृष्णभट्ट: शब्दरत्नकारस्य मतं खण्डनं विदधान आह - तस्माद् भाष्यकैयटादिविरोधेनानेककुकल्पनया भाष्यादिसकलसम्मतमूलोक्तरप्रत्याहारखण्डनं तद्विरुद्धं सम्पूर्णसूत्रावृत्तिरेव लघीयसीति मूलसमर्थनमनुचितमिति दिक्।[43]

6. मौनिश्रीकृष्णभट्टविरचिताया: तर्कचन्द्रिकाया: कानिचन स्थलानि निदर्शनरूपेणात्र विमृष्टानि।

तर्कचन्द्रिकायां नैकेषु स्थलेषु प्रौढमनोरमा-शब्दरत्न-लघुशब्देन्दुशेखरग्रन्थानां विचारा: समीक्षिता: दृश्यन्ते। दिङ्मात्रमेवात्र प्रदर्शितम् ग्रन्थोऽयं नागेशादुत्तरवर्तिषु प्रक्रियापरिष्कारग्रन्थेषु महत्त्वपूर्णं स्थानं बिभर्ति। ग्रन्थोऽयं शीघ्रमेव राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य गङ्गानाथझापरिसरात् प्रकाश्यतामेति।

सन्दर्भटिप्पण्य:

1. वृत्तिदीपिका प्रिन्सेस आफ वेल्स सरस्वतीभवनग्रन्थमालाया: एकोनत्रिंशत्तमग्रन्थरूपेण 1930 खीस्ताब्दे प्रकाशिता वर्तते। अस्य संस्करणस्य सम्पादको भारद्वाज इत्युपाख्यो गङ्गाधरशास्त्री महाशयो वर्तते। अयं ग्रन्थ: पुनरपि राजस्थानपुरातनग्रन्थमाला 7 रूपेण जोधपुरत: 1956 ईस्वीये वर्षे प्रकाशिता:। वृत्तिदीपिकायां शक्ति-लक्षणा-व्यञ्जना-धात्वर्थ-तिङर्थ-सनाद्यर्थ-समासार्थ- स्त्रीप्रतययार्थ-तद्धितार्थ-विषया विस्तरेण विमृष्टा: सन्ति। ग्रन्थेऽस्मिन् उक्तविषयेषु विविधा दार्शनिकसिद्धान्ता: स्थिरीकृता दृश्यन्ते।
2. लघुविभक्त्यर्थनिर्णय: मुम्बय्यां गुजरातीमुद्रणालयेन 1951 खीस्ताब्द प्रकाशितो विद्यते। अस्य सम्पादको बाक्रे इत्युपाह्वगङ्गाधरभट्टसुतमहादवशर्ममहाशया वर्तते। अस्मिन् ग्रन्थे विभक्तयर्थविषये न्यायसिद्धान्तानां खण्डनपूर्वकं वैयाकरणसिद्धान्ता नागेशात् परं पुनरपि स्थापिता: सन्ति।
3. आख्यातवाद: इत्यपि ग्रन्थे मौनिश्रीकृष्णभट्टेन लिखित:। मौनिश्रीकृष्णभट्ट: स्वयमेव लघुविभक्त्यर्थनिर्णये स्वकृतस्याख्यातवादस्य नामोल्लिलेख।
4. स्फोटचन्द्रिका तावद् वैयाकरणानां स्फोटसिद्धान्तस्य विवरणार्थं मौनिश्रीकृष्णभट्टेन लिखिता। कृतिरियं वाराणसीत: 1899 ईस्वीये वर्षे शब्दकौस्तुभस्य परिशिष्टे प्रकाशिता। पुनश्च मुम्बईतो गुजरातीमुद्रणालयेन 1913 खीस्ताब्दे प्रकाश्यतां नीता। अस्या: कृते: 1913 संस्करणस्य सम्पादको बाक्रे इत्युपाह्वगङ्गाधरभट्टसुतमहादेवशर्मा वर्तते। स्फोटचन्द्रिकायां शब्दविषये नैयायिकानां मीमांसकानां मतानि पर्यालोचितानि अथ च वैयाकरणानां राद्धान्तो विविधाभिर्युक्तिभि: स्थापितो वर्तते। अत्र वर्णपदवाक्याखण्डपदाखण्डवाक्यस्फोटभेदेन पञ्च व्यक्तिस्फोटा निरूपिता:। वर्णपदवाक्यभेदेन त्रिविधो जातिस्फोटो निरूपित:। एवं चात्राष्टौ स्फोटा वर्णिता: सन्ति। अत्र ग्रन्थकारो नैयायिकानां मतं खण्डयन् वैयाकरणसिद्धान्तं स्थापयति। क्वचिच्च पर्वूवर्तिनां वैयाकरणानामपि मतं खण्डयति। क्वचिच्च स्वीयां नूतनामुद्भावनामपि प्रकटयति।
5. शब्दार्थतर्कामृतम् इति ग्रन्थो राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य गङ्गानाथझापरिसरस्य Journal of Ganganath Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha इति शोधपत्रिकाया: 2007 ई. संयुक्ताङ्के प्रकाशित:। अयं व्याकरणदर्शने प्रमाणप्रमेयमीमांसादृष्ट्या महत्त्वपूर्णं स्थानं बिभर्ति। ग्रन्थकृताऽत्र चतुर्षु प्रमुखेषु विषयषु विचारणा कृता। 1. प्रत्यक्षनिरूपणम् 2. अनुमाननिरूपणम् 3. उपमाननिरूपणम् 4. शब्दनिरूपणं चति। प्रत्यक्षनिरूपणप्रसङ्ग एव पदार्थचर्चाऽपि कृता दृश्यते।
6. तर्कचन्द्रिका (हस्तलेख अधिगम: Acc No.36465)
7. तर्कचन्द्रिका, (हस्तलेख: अधिगम: Acc No.36465) अइउण् इति सूत्रार्थविचारे
8. लघुशब्देन्दुशेखर:, अइउण् इति सूत्रार्थविचारे
9. तर्कचन्द्रिका, (हस्तलेख: अधिगम: Acc No.36465) अइउण् इति सूत्रार्थविचारे
10. प्रौढमनोरमा, हयवरट् इति सूत्रार्थविचारे
11. लघुशब्दरत्न:, हयवरट् इति सूत्रार्थविचारे
12. तर्कचन्द्रिका, (हस्तलेख: अधिगम: Acc No.36465) हयवरट् इति सूत्रार्थविचारे
13. तत्रैव
14. तत्रैव
15. तत्रैव
16. तत्रैव
17. तत्रैव

18. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, चतुर्दशसूत्रान्ते
19. तर्कचन्द्रिका लण् सूत्रार्थविचारे
20. ल.श.शे., लण् - सूत्रार्थविचारे
21. तत्रैव
22. तत्रैव
23. तत्रैव
24. तत्रैव
25. तर्कचन्द्रिका, (हस्तलेख: अधिगम: Acc No.36465) लण् - सूत्रार्थविचारे
26. तत्रैव
27. तत्रैव
28. तत्रैव
29. तत्रैव
30. तत्रैव
31. तत्रैव
32. तर्कचन्द्रिका, (हस्तलेख: अधिगम: Acc No.36465) 'हलन्त्यम्' इति सूत्रार्थविचारे
34. तत्रैव
35. तत्रैव
36. तत्रैव
37. लघुशब्देन्दुशेखर:
38. तर्कचन्द्रिका, (हस्तलेख: अधिगम: Acc No.36465) 'हलन्त्यम्' इति सूत्रार्थविचारे
39. लघुशब्दरत्न:, 'हलन्त्यम्' इति सूत्रार्थविचारे
40. तर्कचन्द्रिका, (हस्तलेख: अधिगम: Acc No.36465) 'हलन्त्यम्' इति सूत्रार्थविचारे
41. तत्रैव
42. तत्रैव
43. तत्रैव

सन्दर्भग्रन्थसूची

अष्टाध्यायी, पाणिनि, सम्पा. म.म. पण्डितराज डॉ. गोपालशास्त्री दर्शन केशरी, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

तर्कचन्दिका क - हस्तलेख: (Acc No.36465) प्रयागस्थराष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य गङ्गानाथझापरिसरस्य संग्रहालये सुरक्षितोऽस्ति। अयं हस्तलेख: आरम्भत: कारकप्रकरणं यावत् वर्तते।

तर्कचन्दिका ख - हस्तलेख: (Acc No.38378) सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य सरस्वतीभवनसंग्रहालये सुरक्षितोऽस्ति। अयं हस्तलेख आरम्भत: 'पद्दनो.........' इति सूत्रं यावत् वर्तते।

तर्कचन्दिका ग - हस्तलेख: (Acc No.3145) सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविशवविद्यालयस्य सरस्वतीभवनसंग्रहालये सुरक्षितोऽस्ति। अयम् आरम्भत: पञ्चसन्धिप्रकरणं यावद् वर्तते।

तर्कचन्दिका घ - हस्तलेख: (Acc No.39432) सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविशवविद्यालयस्य सरस्वतीभवन-संग्रहालये सुरक्षितोऽस्ति। अयम् आरम्भत: परिभाषाप्रकरणं यावत् वर्तते।

तर्कचन्दिका ङ - हस्तलेख: (Acc No.38698) सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविशवविद्यालयस्य सरस्वतीभवनसंग्रहालये सुरक्षितोऽस्ति। अयं हलन्तप्रकरणं यावत् वर्तते। किञ्च मध्ये मध्ये अत्र नैकानि पत्राणि लुप्तानि सन्ति।

प्रौढमनोरमा- महामहोपाध्यायश्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता, श्रीहरिदीक्षितविरचित- लघुशब्दरत्नव्याख्ययालङ्कृता,

श्रीकन्हैयालालव्रजभूषणदासगुप्तेन प्राकाश्यं नीता, द्वितीयसंस्करणम्, संवत् 1997

लघुविभक्त्यर्थनिर्णयः- मौनिश्रीकृष्णभट्टविरचितः, वादार्थसंग्रहः तृतीयो भागः, सम्पा. वाक्रे इत्युपाह्वो गङ्गाधरभट्टसुतमहादेवशर्मा, गुजराती मुद्रणालयः, ई. 1915

लघुशब्देन्दुशेखरः- महामहोपाधयायनागेशभट्टविरचितः, षट्टीकोपेतः, द्वितीयो भागः, श्रीगुरुप्रसादशास्त्रि-ग्रन्थमालाया द्वितीयं कुसुमम्, वाणीविलासप्रकाशन, वाराणसी, विक्रम सं. 2048

लघुशब्दरत्नः - प्रौढमनोरमा- महामहोपाध्यायश्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता, श्रीहरिदीक्षितविरचितलघुशब्दरत्न-व्याख्ययालङ्कृता, श्रीकन्हैयालालव्रजभूषणदासगुप्तेन प्राकाश्यं नीता, द्वितीयसंस्करणम्, संवत् 1997

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी - श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानेन्द- सरस्वतीविरचित - तत्त्वबोधिनीव्याख्यासंवलिता सिद्धान्तकौमुदी, चौखम्भासंस्कृतप्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रितसंस्करण ई. 2002

वृत्तिदीपिका, प्रिन्सेस आफ वेल्स सरस्वतीभवनग्रन्थमाला: 29, 1930

शब्दार्थतर्कामृतम् Journal of Ganganath Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, Vol. 63 (1-4), 2007, Published 2009.

ललित कुमार त्रिपाठी
सह-आचार्यः, व्याकरणे
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, गंगानाथझापरिसरः, इलाहाबाद



मुकुलभट्ट की रचना का वास्तविक नाम 'अभिधामातृका'

डॉ. विजयपालशास्त्री

*नवीं शती के काश्मीरी विद्वान् मुकुलभट्ट की रचना का नाम- **अभिधावृत्तिमातृका** एवं **अभिधावृत्तमातृका**, इन दो रूपों में विद्वानों में प्रचलित है। इसके अनेक संस्करण इन दो नामों से प्रकाशित हुए हैं। परन्तु उक्त रचना के दोनों ही प्रचलित नाम भ्रांतिपूर्ण हैं। इसका वास्तविक नाम- **अभिधामातृका** है। इस नामपद का भाव है- अभिधा मातृका ही है, सकल वाग्व्यवहार की माता है। जैसे माता के समान गाय को 'गोमाता' कहते हैं, वैसे ही यहां वृत्ति (वाग्व्यवहार) की माता के समान विद्यमान अभिधा को **अभिधामातृका** कहा गया है। यहां सादृश्यसम्बन्धमूला गौणी सारोपा लक्षणा है तथा **'मयूरव्यंसकादयश्च'** (2.1.71) से रूपक समास है। काव्यप्रकाश-संकेतकार माणिक्यचन्द्र सूरि (13वीं शती) ने मुकुलभट्ट की रचना का यही नाम स्पष्टतया लिखा है। आधुनिक विद्वानों में नामविषयक उक्त भ्रांति का मूल कारण इस रचना के अंतिम पद्य का अनुचित अन्वय करना है- **भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता । सूरिप्रबोध नायेयमभिधावृत्तिमातृका।।** यहां अन्तिम अंश को- **अभिधा वृत्तिमातृका**, इस असमस्त रूप में पढना चाहिए। इसका भाव है कि- यहां वृत्ति की मातृका अभिधा निरूपित की है। वस्तुतः यह ग्रन्थ का नाम नहीं, प्रत्युत प्रतिपाद्य विषय का निर्देश है। आधुनिक विद्वानों ने इसे ग्रन्थ का नाम मान लिया है। उनके ऐसा मानने पर श्लोकगत **निरूपिता** पद असंगत हो जाता है। क्योंकि निरूपण प्रतिपाद्य विषय का किया जाता है, न कि नाम का। इस प्रकार युक्ति व प्रमाणों से यह सिद्ध किया गया है कि प्रस्तुत रचना का वास्तविक नाम- **अभिधामातृका** है।*

काश्मीरी विद्वान् मुकुलभट्ट (9वीं ईस्वी) की शब्दशक्ति-विषयक रचना का वास्तविक नाम **'अभिधावृत्तिमातृका'** अथवा **'अभिधावृत्तमातृका'** न होकर **'अभिधामातृका'** है। यह तथ्य इस शोध लेख में सप्रमाण प्रस्तुत किया जा रहा है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र के क्षेत्र में मुकुलभट्ट की यह एकमात्र विशिष्ट रचना उपलब्ध हुई है, जो **अभिधावृत्तिमातृका** व **अभिधावृत्तमातृका** इन दो नामों से प्रकाशित है। इसमें ग्रन्थकार ने अभिधा के व्यापक स्वरूप का निरूपण करते हुए उसे सम्पूर्ण वाग्व्यवहार की जननी किंवा सभी वृत्तियों (लक्षणा आदि) की जननी के रूप में प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ में कुल 15 श्लोक हैं, जिन पर ग्रन्थकार ने अतीव प्रौढ, वैदुष्यपूर्ण एवं सुललित संस्कृतभाषामयी व्याख्या लिखी है।

व्याख्या सहित मूलग्रन्थ की कुल पृष्ठसंख्या निर्णयसागर-संस्करण के अनुसार 22 है। इसका कलेवर तो इतना ही है, पर विषय की महत्ता व विवेचन की प्रौढता ऐसी है कि मम्मट, हेमचन्द्र आदि प्रायः सभी परवर्ती काव्यशास्त्रियों तथा रुय्यक, सोमेश्वर, माणिक्यचन्द्र आदि काव्यप्रकाश-व्याख्याताओं ने इसे

उपजीव्य बनाया है व उद्धृत किया है। मम्मट ने यद्यपि इसके कुछ अंशों का प्रत्याख्यान किया है, परन्तु अधिकांश भाग को अपनाकर काव्यप्रकाश-द्वितीयोल्लास में इसी के आधार पर षड्विधा लक्षणा व्यवस्थापित की है। **अभिधामातृका** को बिना पढ़े मम्मट के द्वितीय उल्लास को पूर्णतया समझना सम्भव नहीं है। इस प्रकार यह रचना काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आकर ग्रन्थ के रूप में सम्मानित है।

हमारी जानकारी में अब तक इसके पाँच संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। सबसे पहले निर्णयसागर मुद्रणालय मुम्बई द्वारा यह ग्रन्थ मूल रूप में मम्मट के शब्दव्यापारविचार के साथ सन् 1916 ई. में प्रकाशित हुआ था। इसके सम्पादक मंगेशरामकृष्ण तैलंग थे। इन्होंने पुण्यपत्तनस्थ राजकीय पुस्तकालय में उपलब्ध मुकुलभट्ट की इस रचना व मम्मट के शब्दव्यापारविचार की एक-एक मातृका के आधार पर इनका सम्पादन किया था। मुद्रण के समय इन्होंने निर्णयसागर मुद्रणालय के अधिपति के संग्रह में उपलब्ध एक अन्य हस्तलेख के आधार पर कतिपय स्थलों में अपने मित्र वासुदेवशास्त्री पणशीकर की सहायता से पाठशोधन किया था, ऐसा इन्होंने अपने संस्करण की प्रस्तावना में लिखा है। इस प्रकार सर्वप्रथम निर्णयसागर से छपी इस पुस्तक में रचना का नाम **अभिधावृत्तिमातृका** लिखा है।

इसके अनन्तर 1973 ई. में इस ग्रन्थ का एक संस्करण चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी द्वारा डॉ0 रेवाप्रसादद्विवेदी-रचित हिन्दीभाष्यानुवाद के साथ प्रकाशित हुआ है। इस संस्करण में द्विवेदी जी ने ग्रन्थ का नाम **अभिधावृत्तमातृका** माना है तथा ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक की व्याख्या में इसे ही उचित ठहराया है।

यह ग्रन्थ राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान, जनकपुरी, नई दिल्ली की साहित्याचार्य परीक्षा के द्वितीय वर्ष में 100 अंक के एक स्वतन्त्र पत्र के रूप में वर्षों तक पाठ्यक्रम में निर्धारित रहा था। एतदर्थ प्रायः आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी का संस्करण ही पठन-पाठन में प्रयुक्त होता रहा है। परन्तु विगत 2 वर्षों से यह ग्रन्थ उक्त पाठ्यक्रम से हटा दिया गया है।

सन् 1977 ई. में इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद के साथ एक अन्य संस्करण इन्दु प्रकाशन, 8/3 रूपनगर दिल्ली-110007. द्वारा प्रकाशित किया गया। इसका सम्पादन व हिन्दी व्याख्या डॉ0 ब्रह्ममित्र अवस्थी ने की है। इसमें भी आचार्य द्विवेदी का अनुसरण करते हुए ग्रन्थ का नाम **अभिधावृत्तमातृका** ही माना है।

डॉ0 निरुपमा त्रिपाठी ने- **अभिधावृत्तिमातृका एवं शब्दव्यापारविचार (तुलनात्मक विवेचन)** शीर्षक से प्रयाग विश्वविद्यालय के डॉ0 सुरेशचन्द्र पाण्डेय के निर्देशन में संस्कृत डी.फिल् उपाधि हेतु शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया है। इसके अन्त में अभिधावृत्तिमातृका व शब्दव्यापारविचार का मूलपाठ भी दिया है। इस शोधप्रबन्ध का पुस्तक रूप में प्रकाशन सन् 2007 ई. में ईस्टर्न बुक लिंकर्स, 5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली-110007. से हुआ है। इस प्रबन्ध की लेखिका ने प्रस्तुत रचना का नाम **अभिधावृत्तिमातृका** के रूप में मानना उचित ठहराया है।

इस रचना का एक अन्य संस्करण डॉ0 सुज्ञानकुमार माहान्ति द्वारा रचित सुबोधिनी संस्कृतवृत्ति व संगमनी हिन्दीवृत्ति के साथ सन् 2008 ई. में चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसमें भी ग्रन्थनाम के रूप में **अभिधावृत्तिमातृका** को ही उचित सिद्ध करते हुए स्वीकार किया गया है।[1]

इस प्रकार मुकुलभट्ट की इस रचना का नाम- **अभिधावृत्तिमातृका** एवं **अभिधावृत्तमातृका** इन दो रूपों में आधुनिक काल में प्रचलित हो गया है। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी व श्री ब्रह्ममित्र अवस्थी ने

अभिधावृत्तमातृका तथा मंगेशरामकृष्ण तैलंग, डॉ0 निरुपमा त्रिपाठी व डॉ0 सुज्ञानकुमार माहान्ति ने अभिधावृत्तिमातृका नाम स्वीकार किया है।

इन संस्करणों व इनके उपजीव्यभूत हस्तलेखों को देखने से विदित हुआ कि इस प्रकार के द्विविध नाम के पीछे प्रस्तुत रचना के अन्तिम श्लोक का पाठभेद ही आधारभूत कारण है। यह श्लोक इस प्रकार है-

भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता। सूरिप्रबोधनायेयमभिधावृत्तिमातृका॥[2]

इस श्लोक के अन्तिम चरण में निर्णयसागर-संस्करण में **'वृत्ति'** शब्द छपा है तथा उसके अनन्तर पुष्पिका में भी **'भट्टमुकुलविरचिता अभिधावृत्तिमातृका समाप्ता'** ऐसा पाठ प्रकाशित है। यद्यपि निर्णयसागर-संस्करण का आधारभूत हस्तलेख हमने नहीं देखा, परन्तु अनुमान है कि उसमें उक्त दोनों स्थलों पर **वृत्ति** शब्द रहा होगा, तभी सम्पादित पुस्तक में वैसा छपा है।

इसके अतिरिक्त चौदहवीं शताब्दी में लिखे तथा वर्तमान में जिनभद्रसूरि ज्ञान भण्डार जैसलमेर में उपलब्ध हस्तलेख (Jes-331-510-1) में उपर्युक्त श्लोक के अन्तिम चरण में तो **'वृत्त'** शब्द मिलता है, परन्तु उसके अनन्तर पुष्पिका में **वृत्ति** शब्द के साथ- **भट्टकल्लटात्मजमुकुलभट्टविरचिता अभिधावृत्तिमातृका समाप्तेति। श्रीमज्जिनपतिसूरीणाम्। पुस्तिकेयम्॥** ऐसा लेख मिलता है। इस हस्तलेख की प्रतिकृति हमारे संग्रह में विद्यमान है।

इसके अतिरिक्त भाण्डारकर प्राच्यविद्या शोधसंस्थान, पूना में उपलब्ध हस्तलेख संख्या 63/1873-74 में भी उपर्युक्त श्लोक में **'वृत्त'** शब्द है तथा उसके अनन्तर पुष्पिका में **'वृत्ति'** शब्द है - **भट्टकल्लटात्मजमुकुलभट्ट-विरचिता अभिधावृत्तिमातृका समाप्तेति। समस्तु॥ सं. 1930 माघसुदि 14)**

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य हस्तलेख हमें उपलब्ध हुए हैं, जो अपेक्षाकृत इनसे अर्वाचीन हैं, उनमें उक्त श्लोक के चतुर्थ चरण में भी **वृत्त** शब्द है तथा इसके अनन्तर उपलब्ध पुष्पिका के अन्दर ग्रन्थनाम में भी **अभिधावृत्तमातृका** इस रूप में **वृत्त** शब्द ही लिखा है। इन हस्तलेखों का विवरण निम्न है-

रघुनाथ मन्दिर पुस्तकालय, जम्मू में उपलब्ध हस्तलेख (सं0- 477, अलंकार-विभाग)। इसका पाठ- **...वृत्तमातृका। इति श्रीभट्टकल्लटपुत्रमुकुल-विरचिताभिधावृत्तमातृका समाप्ता शुभाय भवतुतरां लेखकपाठयोरों तत्सत् भद्रं पश्येम प्रचरेम भद्रम्।**

लालचन्द शोधपुस्तकालय डी0ए0वी0 कालेज, सैक्टर-10, चण्डीगढ़ से भी इस रचना का एक हस्तलेख (एम. 2940) प्राप्त हुआ है। इसका पाठ भी उक्त दोनों स्थलों पर **वृत्त** शब्द ही दिखाता है- **...... वृत्तमातृका। इति श्रीकल्लटात्मजमुकुलविरचिताभिधावृत्तमातृका समाप्ता।**

यहाँ निर्दिष्ट इन चारों हस्तलेखों की प्रतिकृतियाँ हमारे संग्रह में उपलब्ध हैं। इन्हें सामने रखकर ही उक्त पाठ यहाँ प्रस्तुत किए हैं। इन उद्धृत पाठों से स्पष्ट है कि पूर्वनिर्दिष्ट दो श्रेणियों के हस्तलेखों के आधार पर प्रस्तुत रचना का द्विविध नाम प्रचलित हुआ है।

निर्णयसागर-संस्करण के आधारभूत हस्तलेख (जिसे हमने नहीं देखा है) के अतिरिक्त जैसलमेर व पूना वाले दोनों हस्तलेखों में उक्त श्लोक के अन्तिम चरण में तो **वृत्त** शब्द ही है, परन्तु तदनन्तरवर्तिनी पुष्पिका में **वृत्ति** शब्द मिलता है, जबकि जम्मू व चण्डीगढ़ के हस्तलेखों के उक्त श्लोक व पुष्पिका में भी **वृत्त** शब्द ही मिलता है। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने **'अभिधावृत्तमातृका'** के हिन्दीभाष्य की प्रावेशिकी में सूचित किया है कि एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता में उपलब्ध हस्तलेख (क्रमांक 1824)

में भी उक्त श्लोक के चतुर्थ चरण में **वृत्त** शब्द ही लिखा है[3]। इससे स्पष्ट है कि उक्त हस्तलेख में भी श्लोक व पुष्पिका में **वृत्त** शब्द ही लिखित है।

हमारी दृष्टि से अभिधावृत्तिमातृका व अभिधावृत्तमातृका दोनों ही नाम, जो अन्तिम श्लोक के पाठभेद के आधार पर माने हैं, उचित नहीं हैं तथा ग्रन्थकार को ग्रन्थनाम के रूप में अभीष्ट नहीं हैं। यह तथ्य उक्त श्लोक का उचित अन्वय करने से स्पष्ट हो जाता है। हमारे मत में इस श्लोक का उचित अन्वय इस प्रकार है-

भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन सूरिप्रबोधानाय वृत्तिमातृका इयम् अभिधा निरूपिता। इस अन्वय के आधार पर श्लोक का शुद्ध पाठ इस प्रकार है-

भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता। सूरिप्रबोधानायेयमभिधा वृत्तिमातृका॥

अब तक के प्रकाशित संस्करणों में '**अभिधा**' शब्द को 'वृत्तिमातृका' से जोड़कर ग्रन्थकार के वास्तविक भाव को अन्यथा रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है। यदि श्लोकगत **अभिधा** शब्द को **वृत्तिमातृका** के साथ समास कर (जोड़कर) प्रचलित अन्वय को मान लिया जाए तो अर्थ होगा- **यह अभिधावृत्तिमातृका निरूपित की है।** इस अर्थ में स्पष्टतया यह विसंगति है कि पुस्तक या उसके नाम को निरूपित नहीं किया जाता, प्रत्युत उसके प्रतिपाद्य विषय को निरूपित किया जाता है। यहाँ प्रतिपाद्य विषय अभिधा है, अतः ग्रन्थ के अन्त में उपसंहार के रूप में ग्रन्थकार का यह वाक्य हमारी दृष्टि से इसी रूप में ही संगत होता है कि- **वृत्ति अर्थात् व्यवहार की मातृका (माता) यह अभिधा निरूपित की है।**

उक्त श्लोक के प्रचलित अन्वय में एक बड़ी विसंगति यह भी है कि **अभिधावृत्तिमातृका** इस समस्तपद में **अभिधा चेयं वृत्तिमातृका** यह कर्मधारय मानने पर '**अभिधा**' की अपेक्षा '**वृत्तिमातृका**' इस विशेषण का पूर्वनिपात होना चाहिए। अतः यह कर्मधारय नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में इसे पूर्वोक्त प्रकार से असमस्त मानने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं है। अन्य किसी समास की कल्पना कर भी लें तो '**निरूपिता**' पद की संगति नहीं लग पायेगी। यहां ऐसी ही समास विषयक एक कल्पना डॉ0 निरुपमा त्रिपाठी ने की है, परन्तु उनके कथन को मानने पर श्लोकगत **निरूपिता** पद असंगत हो जाता है। उनका कथन इस प्रकार है-

''अभिधावृत्तिमातृका का समास विग्रह करने पर इसका अर्थ होगा 'अभिधावृत्ति है माता जिसकी'। इसका विग्रह इस प्रकार होगा- ***अभिधावृत्तिः एव माता यस्याः सा,*** *'देवमातृकाः देशाः' के समान यह पद भी अन्य पद का विशेषण है। विचार करने पर यह साहित्य विद्या का विशेषण प्रतीत होता है"।*[4]

इस प्रकार डॉ0 श्रीमती त्रिपाठी के अनुसार अभिधावृत्ति है मातृका जिसकी, ऐसी साहित्यविद्या इस ग्रन्थ में निरूपित की है, ऐसा अर्थ होगा। परन्तु ऐसा मानना तो प्रकट में ही मुकुलभट्ट का सीधा विरोध करना है। वे तो स्पष्ट कह रहे हैं-

इत्येतदभिधावृत्तं दशधात्र निरूपितम्, यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति॥[5]

अर्थात् यहाँ हमने दशविधा अभिधावृत्त का निरूपण किया है। इसे जो साहित्य में संयोजित करता है, उसकी वाणी निर्मल हो जाती है। इससे सर्वथा स्पष्ट है कि यहाँ दशविध अभिधावृत्त का निरूपण है, न कि साहित्य का। साहित्य में तो इसका प्रयोग करने का परामर्श दिया गया है। अतः डॉ0 श्रीमती त्रिपाठी का उक्त मन्तव्य संगत नहीं है।

यदि **अभिधावृत्तेः मातृका अभिधावृत्तिमातृका** ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास करके इसे पुस्तिका या रचना का विशेषण मानें तो फिर वही विसंगति आती है, जिसका हम पहले निर्देश कर चुके हैं कि इसके साथ **'निरूपिता'** पद का अन्वय नहीं बन पायेगा, क्योंकि ग्रन्थ में निरूपण तो प्रतिपाद्य विषय का किया जाता है, रचना के नाम का नहीं।

आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी इस ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक की व्याख्या के अनन्तर विमर्श में लिखते हैं कि- *"अभिधा के ऊपर लिखे इस ग्रन्थ को ग्रन्थकार ने अभिधावृत्तमातृका कहा है। जबकि प्रसिद्धि है 'अभिधावृत्तिमातृका' नाम की। एशियाटिक सोसायटी के पाण्डुलेख में वृत्त शब्द ही मिलता है। मम्मट ने इसके विरोध में जो ग्रन्थ लिखा है उसमें* ***व्यापार*** *शब्द अपनाया- 'शब्दव्यापारविचार' इस प्रकार। इससे लगता है कि यहाँ मूल में वृत्त शब्द ही रहा होगा। वृत्ति शब्द देने से उसका अभिधा के साथ कर्मधारय प्रमुख हो जाता है"।*

इस मन्तव्य के विषय में हमारा कहना है कि जब **अभिधा** शब्द का आगे वाले अंश से समास ही नहीं है तो दोनों में से किसी को भी ग्रन्थनाम मानना निराधार है। हम पहले कह चुके हैं कि ऐसा मानने पर **'निरूपिता'** पद का अन्वय संगत नहीं हो पाता है। आचार्य द्विवेदी जी का जो यह कथन है कि- विवेच्य श्लोक में **वृत्ति** शब्द मानने पर उसका **अभिधा** के साथ कर्मधारय प्रमुख हो जाता है, इस पर भी हमारी वही पूर्वोक्त दोनों आपत्तियाँ हैं। प्रथम तो यह कि **वृत्ति** की अपेक्षा **वृत्त** शब्द रखकर भी इसे ग्रन्थनाम मानने पर **'निरूपिता'** पद का अन्वय नहीं लगेगा, क्योंकि निरूपण नाम का नहीं, प्रतिपाद्य विषय का किया जाता है। और द्वितीय यह कि यहाँ कर्मधारय होता तो **'वृत्तिमातृका'** इस विशेषण का पूर्वप्रयोग होना चाहिए था। अतः यहाँ कर्मधारय की संभावना बताना उचित नहीं है।

इस प्रकार उक्त हेतुद्वय के कारण इस विवेच्य श्लोक के अन्तिम चरण में **'अभिधा वृत्तिमातृका'** यह समास रहित व **वृत्त** के स्थान पर **वृत्ति** वाला पाठ ही उचित है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि **वृत्ति** शब्द का अर्थ व्यवहार है- **व्यवहारो हि वृत्तिरुच्यते**[7], अतः- **वृत्तिमातृका यह अभिधा निरूपित की**, ऐसा अर्थ सम्यक् संगत हो जाता है।

मीमांसाशास्त्रनिष्णात मुकुलभट्ट की मूल दृष्टि भी यही है कि वे सकल वाग्व्यवहार का मूल अभिधा को ही मानते हैं। अत एव वे लक्षणा को भी षड् अभिधावृत्तों के रूप में ही प्रस्तुत करते हुए अभिधा से भिन्न मानने को तैयार नहीं हैं तथा मीमांसकत्व-वासना से वासितान्तःकरण होने के कारण व्यंजना को भी स्वीकार नहीं करते हैं। इस प्रकार उक्त श्लोक में उन्होंने अभिधा को वृत्ति=व्यवहार की मातृका के रूप में प्रस्तुत करते हुए **'वृत्तिमातृका'** विशेषण से विभूषित कर गौरवान्वित किया है।

मुकुलभट्ट द्वारा प्रस्तुत इस विशेषण की एक संगति यह भी लगाई जा सकती है कि यहाँ निरूपित की हुई यह अभिधा ही अन्यों द्वारा स्वीकृत सभी वृत्तियों की माता है। अर्थात् तात्पर्यावृत्ति, लक्षणावृत्ति, गुणवृत्ति व व्यंजनावृत्ति, जो अन्यों द्वारा स्वतन्त्र वृत्तियों के रूप में मान्य हैं, उन सबकी जननी यह अभिधा ही है, जिसे हमने यहाँ निरूपित किया है। इस प्रकार यहाँ मीमांसकशिरोमणि मुकुलभट्ट का यह आग्रह व्यञ्जित होता है कि उक्त वृत्तियों को स्वतन्त्र न मानकर उनकी जननी अभिधा को ही मानने से ही सकलप्रयोजनसिद्धि हो जाती है। अतः उक्त पद्य में ग्रन्थकार लक्षणादि वृत्तियों किंवा सम्पूर्ण वृत्ति=वाग्व्यवहार की मातृका (माता) के रूप में अभिधा को ही मानने पर बल देते हुए दिखाई पड़ते हैं।

अपने इस भाव को वे इस श्लोक के ठीक ऊपर वाले इन शब्दों में प्रस्तुत कर रहे हैं- **दशविधोनानेनाभिधावृत्तेन समग्रस्य वाक्परिस्पन्दस्य व्याप्तत्वाद् व्याकरण-मीमांसा- तर्क-साहित्यात्मकेषु**

चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगात् तद्द्वारेण च सर्वासु विद्यासु सकलव्यवहारमूलभूतासु प्रसरणादस्य दशविधास्याभिधावृत्तस्य सकलव्यवहारव्यापित्वमाख्यातम्। वस्तुतः ये पंक्तियाँ उपर्युक्त अन्तिम श्लोक की अवतरणिका के रूप में हैं और इनके भाव को श्लोक में **वृत्तिमातृका अभिधा निरूपिता** इन पदों से प्रकट किया है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रस्तुत श्लोक में प्रतिपाद्य विषय का निर्देश किया है, न कि ग्रन्थ के नाम का। अतः अनुचित अन्वय के आधार पर इसे ग्रन्थ का नाम मानना भ्रान्तिमूलक है। अब रही बात **वृत्त** और **वृत्ति** रूप पाठान्तर की, तो इसमें हमारी सम्मति है कि यहाँ **वृत्ति** शब्द ही मूल पाठ के रूप में मानना उचित है। क्योंकि वृत्ति शब्द वाग्व्यवहार के लिए अधिक प्रसिद्ध है तथा इसके भाव को ध्यान में रखते हुए ही मुकुलभट्ट पूर्वनिर्दिष्ट अवतरणिका में **वाक्परिस्पन्द** एवं **सकलव्यवहार** इन शब्दों का प्रयोग करते हैं।

वृत्ति शब्द को यहाँ मूलपाठ मानने के पक्ष में दूसरा अन्तरंग साक्ष्य यह भी है कि ग्रन्थकार की दृष्टि में दशविध अभिधावृत्त के द्वारा सकल वाक्परिस्पन्द को व्याप्त किया हुआ बताया है। यहाँ दशविध अभिधावृत्त से व्याप्त वाक्परिस्पन्द वाग्व्यवहार ही है और उसके लिए यहाँ वृत्ति शब्द ही समुचित हो सकता है, न कि वृत्त शब्द। **इत्येतदभिधावृत्तम्**, तथा **दशविधोनानेनाभिधावृत्तेन** में **वृत्त** शब्द का अर्थ चरित या आचरित है–

वृत्तं स्वरूपे चरिते वृत्तौ छन्दोविधासु च[8]।

यद्यपि उपर्युक्त दोनों स्थलों में चरित अर्थ में प्रयुक्त वृत्त शब्द वृत्ति (व्यवहार) अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। तथापि यह **चरित** अर्थ में ही व्यवहार अर्थ की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध है। अतः अर्थसांकर्य न हो, एतदर्थ ग्रन्थकार ने चरित अर्थ में वृत्त शब्द का प्रयोग कर व्यवहार अर्थ में पुनः उसी का प्रयोग न कर वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है। यदि वृत्ति के स्थान पर पुनः वृत्त का प्रयोग करते तो उसे **इत्येतदभिधावृत्तं** इस पूर्व प्रयोग से भिन्नार्थक अर्थात् व्यवहारार्थक बताने के लिए पृथक्शः व्याख्या करनी पड़ती। यदि उसे पूर्वार्थ में ही प्रयुक्त करते तो यह दोष होता कि जब अभिधा का दशविध वृत्त बता ही चुके हैं, तो पुनः उस अभिधा को उक्त वृत्त की मातृका बताना तुरन्त की हुई खटकने वाली पुनरुक्ति होती। अतः ग्रन्थकार ने अन्त में जानबूझ कर ही व्यवहारार्थक वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है तथा इसका संकेत प्रकृत श्लोक की अवतरणिका में **वाक्परिस्पन्द** व **सकलव्यवहार** पदों से किया है।

अतः श्लोक का यह अर्थ सर्वथा स्पष्ट हो गया है कि ग्रन्थकार ने यहाँ– **वृत्तिमातृका अर्थात् सर्वविध वाग्व्यवहार की माता अभिधा निरूपित की है।** मातृका शब्द माता के पर्यायवाची के रूप में कोषों में निर्दिष्ट है–

'मातृका धातृकामात्रोर्देवीभिद्वर्णमालयोः'[9]

इसका भाव यह है कि मातृका शब्द धातृका (धाय, उपमाता), माता, षोडश मातृकाओं के रूप में प्रसिद्ध देवियों तथा वर्णमाला के लिए प्रयुक्त होता है। विवेच्य श्लोक में यह शब्द माता के अर्थ में ही प्रयुक्त समझना चाहिए। इस आधार पर श्लोकगत वाक्य का अर्थ सुतराम् स्पष्ट हो गया कि यह अभिधा जो कि वृत्ति (वाग्व्यवहार) की माता है, यहाँ निरूपित की गई है। मुकुलभट्ट के इस सम्पूर्ण ग्रन्थ की शैली से भी यही अर्थ पुष्ट होता है, क्योंकि वे अभिधा में ही लक्षणा आदि वृत्तियों को समाहित करते हुए दिखाई देते हैं।

अब प्रश्न होता है कि जब उक्त श्लोक में ग्रन्थनाम का निर्देश नहीं है तो ग्रन्थ का नाम क्या है? इस प्रश्न का उत्तर हमें जैनमुनि आचार्य माणिक्यचन्द्र सूरि (13वीं शती) की **काव्यप्रकाश-संकेत** टीका से मिलता है। काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में **'लक्षणा तेन षड्विधा'** पर वे लिखते हैं- **'संक्षेपेणैवात्र लक्षणाविचारः कृतः। विस्तरेण तु मुकुलादिविरचिताभिधामातृकादिग्रन्थेभ्यो ज्ञेयः'**।[10]

इस उद्धरण से यह तथ्य सर्वथा स्पष्ट है कि मुकुलभट्ट की रचना का नाम **अभिधामातृका** है। इसकी निष्पत्ति इस प्रकार समझनी चाहिए- **अभिधा मातृका एव अभिधामातृका**, अर्थात् अभिधा ही सकल वाग्व्यवहार की माता है। इसे **'मुखं चन्द्रः'** के समान समझना चाहिए और उसी के समान यहाँ **अभिधा** इस उपमेयभूत विषय पर **मातृका** इस उपमानभूत विषयी का आरोप होकर गौणी सारोपा में **अभिधामातृका** यह समस्त रूप बना है। यहाँ अभिधा विशेष्य तथा मातृका विशेषण है। **'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'**[11] के अनुसार विशेषण-विशेष्य समास की रीति से तो **'नीलोत्पलम्'** के समान यहाँ भी विशेषण **मातृका** शब्द पहले आना चाहिए था एवं **अभिधा** शब्द बाद में। परन्तु क्योंकि विशेषण-विशेष्य भाव होते हुए भी यहाँ **मुखं चन्द्रः मुखचन्द्रः** के समान रूपक समास है। और रूपकस्थल में विशेषण के परनिपात व विशेष्य के पूर्वनिपात के लिए **'मयूरव्यंसकादयश्च'**[12] से समास माना जाता है। इस प्रकार **मुखचन्द्रः** के समान यहाँ भी विशेषण का पूर्वनिपात न होकर विशेष्य का पूर्वनिपात है। इस रीति से **अभिधामातृका** यह समस्त शब्द बना है।

यहाँ प्रतिपक्षी द्वारा यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि- यदि **अभिधामातृका** में मुखचन्द्रः की तरह रूपक समास किया जा सकता है तो- **अभिधावृत्तिः मातृका अभिधावृत्तिमातृका** यह रूपक समास भी हो सकता है। फिर **'अभिधा वृत्तिमातृका'** इस असमस्त स्थिति के लिए ही आग्रह क्यों? तो इसका उत्तर है कि इस प्रकार भी यह समास किया जा सकता है, परन्तु ऐसा करके इसे आपके अनुसार पुस्तक का नाम मानने पर वही **'निरूपिता'** पद की असंगति वाली पूर्वोक्त समस्या आ जाती है। अतः – **वृत्तिमातृका अभिधा निरूपिता** यह असमस्त रूप मानना ही श्रेयस्कर व निर्दुष्ट है। इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि यहाँ प्रतिपाद्य विषय का ही निर्देश है, ग्रन्थनाम का नहीं।

अभिधामातृका नाम के पीछे काश्मीर शैव दर्शन का प्रभाव भी स्पष्टतया परिलक्षित होता है। इस दर्शन के आद्य आचार्य वसुगुप्त ने वाक्तत्व के विषय में कहा है- **ज्ञानाधिष्ठानं मातृका**[13], इस प्रकार वाक् को सकल पर-अपर (सूक्ष्म-स्थूल) ज्ञान का मूल मानते हुए मातृका नाम दिया है। **अभिधामातृका** नामकरण करते हुए मुकुलभट्ट भी इसी भाव को प्रकट कर रहे हैं। यहाँ परम्परा का प्रभाव तो है ही, साथ में यह भी स्फुटतया द्योतित हो रहा है कि अभिधा को ही मातृका रूप में प्रस्तुत करते हुए मुकुलभट्ट ने ग्रन्थ को यह नाम दिया है। अतः यहाँ मध्य में **'वृत्त'** या **'वृत्ति'** रखना सर्वथा निराधार है।

मुकुलभट्ट, वसुगुप्त की रचना के रूप में मानी जाने वाली स्पन्दकारिका के व्याख्याता सुविदित काश्मीरी विद्वान् भट्ट कल्लट के सुपुत्र थे। अतः इन पर काश्मीर शैवदर्शन की परम्परा का पैतृक प्रभाव सहज एवं अपरिहार्य था।

मातृका शब्द वर्णमाला के लिए भी इसीलिए प्रयुक्त होता है कि वह सम्पूर्ण वाङ्मय की मातृरूप है, मूल उपादान है। संस्कृत का यह मातृ शब्द लेटिन में MATER रूप में माता के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। यही इंग्लिश में MATERIA, MATERIAL तथा MATTER के रूप में विस्तार को प्राप्त हुआ है। वर्तमान में इंग्लिश में MATTER शब्द पदार्थ या मूल उपादान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार संस्कृत का मातृ शब्द ही लेटिन से होते हुए इंग्लिश में उक्त रूप में परिणत हुआ है। इससे स्पष्ट है कि मातृ शब्द

लेटिन में माता (MATER) व इंग्लिश में मूल उपादान (MATTER) के अर्थ में आज भी प्रचलित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भी अभिधा सम्पूर्ण वाग्व्यवहार का मूल उपादान होने से मातृका रूप में कही गई है। मातृका शब्द उक्त अर्थ में काव्यों में भी प्रयुक्त हुआ है–

तत्र राजपुरी नाम राजधानी विराजते। राजराजपुरीसृष्टौ स्रष्टुर्या मातृकायते।।[14]

इस प्रकार उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि ग्रन्थ के प्रचलित नाम के स्थान पर काव्यप्रकाश-संकेतकार आचार्य माणिक्यचन्द्र सूरि के प्रमाण से **अभिधामातृका** को ही ग्रन्थनाम मानना उचित है। आचार्य माणिक्यचन्द्र सूरि एक महान् कवि, उच्चकोटि के समालोचक व अगाध शास्त्रीय पाण्डित्य से विभूषित प्रौढ विद्वान् थे। वे **पार्श्वनाथचरितम्** व **शान्तिनाथचरितम्** महाकाव्य एवं **काव्यप्रकाश-संकेत** जैसी गम्भीर रचनाओं के रचयिता हैं। उनके लेख को अश्रद्धेय मानने का कोई कारण नहीं दिखता।

जैन आचार्यों की परम्परा में बड़े ही समृद्ध ग्रन्थभण्डार रहे हैं। अतः माणिक्यचन्द्र सूरि द्वारा प्रत्यक्षदृष्ट मूलग्रन्थ के आधार पर ही **अभिधामातृका** नाम लिखा प्रतीत होता है। यहाँ **श्रीहेमचन्द्राचार्य ज्ञानभण्डार पाटण (गुजरात)** से उपलब्ध माणिक्यचन्द्र सूरि के काव्यप्रकाश-संकेत के उन दो भिन्न-भिन्न हस्तलेखों की उस पंङि्क्त को भी स्कैन करके प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसमें मुकुलभट्ट की इस रचना को **'अभिधामातृका'** नाम से निर्दिष्ट किया है–

संक्षेपेणैवात्र लक्षणाविचारः कृतः।। विस्तरेण तु मु

कुलादिरचिताभिधामातृकादिग्रन्थेभ्यो ज्ञेयः।।

हस्तलेख-विवरण– डा.– 5912, पत्र– 150, काव्यप्रकाश-संकेत (35वें पत्र पर)

संक्षेपेणैवात्र लक्षणाविचारः कृतः ।। विस्तरेण तु

मुकुलादिरचिताभिधामातृकादिग्रन्थेभ्यो ज्ञेयः।

हस्तलेख-विवरण– डा.– 169, ग्रन्थ– 6651, काव्यप्रकाश-संकेत

यहाँ उपन्यस्त दोनों हस्तलेखों की यह पंक्ति प्राचीन देवनागरी में लिखी है, जिसमें कुछ अक्षरों की बनावट व मात्रा आज की देवनागरी से भिन्न है। अतः वाचनसौकर्य के लिए यहाँ हस्तलिखित पंक्ति के नीचे टंकित रूपान्तर दे दिया है।

हमारा विचार है कि माणिक्यचन्द्र सूरि (13वीं शती) तक मुकुलभट्ट की इस रचना के प्रारम्भ में ग्रन्थनाम के रूप में **'अभिधामातृका'** ही लिखा जाता था। परन्तु अनन्तरवर्ती काल में पूर्वचर्चित अन्तिम श्लोक का भ्रान्त अन्वय कर तदनुसार श्लोकगत **अभिधावृत्तिमातृका/अभिधावृत्तमातृका** शब्द को ही

साक्षात् ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट नाम मानकर प्रचलित कर दिया गया, जो कि गतानुगतिकतया आज भी चल रहा है। पूर्वप्रस्तुत विवेचन के आलोक में इसका संशोधन अपेक्षित है। एतदर्थ ही विवेकशील विद्वज्जनों की सेवा में यह शोधनिबन्ध विनम्रतापूर्वक प्रस्तुत है।

अन्त में **अभिधामातृका** के पाठ के विषय में कुछ निवेदन करना अप्रासंगिक नहीं होगा। अब तक प्रकाशित संस्करणों का पाठ अनेक स्थानों पर दोषग्रस्त व विपर्यस्त है। हमने उपलब्ध हस्तलेखों के आधार पर महत्त्वपूर्ण पाठशोधन कर इसका समीक्षात्मक-संस्करण तैयार किया है, जो यथासम्भव शीघ्र ही राष्ट्रिय-संस्करण-संस्थान, वेदव्यास-परिसर, बलाहर (कांगड़ा) हिमाचल प्रदेश से प्रकाशित किया जाएगा। इसमें पाठशोधन के अतिरिक्त अन्त में कुछ शोधेपयोगी परिशिष्ट भी रहेंगे।

हमारा विचार है कि **अभिधामातृका** की एक पंजिका (विषमपदभंजिनी टीका) लिखी जाए, जिससे ग्रन्थ के विशिष्ट स्थलों के अवबोधन में सहायता मिल सके। यदि सुयोग रहा तो भगवत्कृपा से इस संकल्प के पूर्ण होने की आशा है।

सन्दर्भटिप्पणी

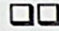
1. द्रष्टव्य- उपोद्घातः पृ0- 38;
2. अभिधावृत्तिमातृका- 15;
3. द्रष्टव्य- अभिधावृत्तमातृका प्रावेशिकी, पृष्ठ- 63;
4. अभिधावृत्तिमातृका एवं शब्दव्यापारविचार, तुलनात्मक विवेचन, पृ0 212;
5. अभिधावृत्तिमातृका- 13-14;
6. अभिधावृत्तमातृका, पृ0- 74;
7. ध्वन्यालोक- 3/33, वृत्तिभाग;
8. वैजयन्तीकोष-5/6/76;
9. मेदिनीकोष- 1. 139;
10. काव्यप्रकाशसंकेत- 2. 12, खण्ड-1, पृ.- 114;
11. अष्टाध्यायी- 2. 1.56;
12. अष्टाध्यायी- 2. 1. 71;
13. शिवसूत्र- 1/4; **'काश्मीरीय शैवदर्शन एवं स्पन्दशास्त्र'** के अन्तर्गत, द्वितीय अध्याय- पृ. 44;
14. वादीभसिंह-विरचित क्षत्रचूडामणि-1/5;

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. अभिधावृत्तिमातृका- निर्णयसागर मुद्रणालय मुम्बई, 1916 ई.
2. अभिधावृत्तमातृका - हिन्दीभाष्यानुवादकार डॉ0 रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1973 ई.
3. अभिधावृत्तमातृका-सम्पादक व हिन्दी व्याख्याकार- डॉ0 ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, 8/3 रूपनगर दिल्ली-110007. संस्करण 1977 ई.
4. अभिधावृत्तिमातृका- वृत्तिकारः संपादकश्च- डॉ॰ सुज्ञानकुमार माहान्ति, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी वाराणसी, प्रथम संस्करण-2008 ई॰
5. अभिधावृत्तिमातृका एवम् शब्दव्यापारविचार (तुलनात्मक विवेचन)- डॉ॰ निरुपमा त्रिपाठी, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, 5825 न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर दिल्ली- 110007, प्रथम संस्करण 2007 ई॰

6. ध्वन्यालोकः- आनन्दवर्धन, सम्पादक- डॉ॰ नगेन्द्र, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी, 1998 ई॰
7. वैजयन्तीकोषः - यादवप्रकाशाचार्यविरचितः, संपादक- पं॰ हरगोविन्दशास्त्री, चौखम्भा भारती अकादमी वाराणसी, पुनर्मुद्रण-2008 ई॰
8. मेदिनीकोषः- मेदिनीकर-रचितः, सम्पादक- जगन्नाथशास्त्री होशिङ्गः, चौखम्भा संस्कृत-संस्थान वाराणसी, पुनर्मुद्रण- 2064 वि॰
9. काव्यप्रकाशसंकेत, प्राच्यविद्या संशोधनालय, मैसूरु विश्वविद्यालय, मैसूरु, 1974 ई.
10. अष्टाध्यायी- वैदिक यन्त्रालय, केसरगंज, अजमेर (राजस्थान), 2065 वि.
11. शिवसूत्र- **'काश्मीरीय शैवदर्शन एवं स्पन्दशास्त्र'** के अन्तर्गत, डॉ. श्यामाकान्त द्विवेदी, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण 2009 ई.
12. क्षत्रचूडामणिः (काव्यम्)- वादीभसिंह-रचितम्, सरस्वती महल तंजौर, (तमिलनाडु), 2009 ई॰

डा. विजयपालशास्त्री प्रचेताः (साहित्यविभागाध्यक्षः)
राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम्, वेदव्यास-परिसरः,
बलाहर, निकट-देहरा (कांगड़ा)
हिमाचल-177 101.



स्वभावोक्तिपरिशीलनम्

विश्वम्भरनाथ गिरिः

स्वभावोक्तिर्हि सकलालङ्कारिकैरभ्युपगतो लक्ष्यग्रन्थेष्वनुभूयमानचमत्कारः प्रमुखोऽर्थालङ्कारोऽस्ति। परन्त्वाचार्यकुन्तको नाङ्गीकरोत्येतं प्रत्युत साटोपमाक्षिपत्यपि। महिमभट्टस्तु तत्कृतानाक्षेपानपास्य स्वाभावोक्तिं समर्थयति। तत्र किं तत्त्वमिति जिज्ञासया प्रवृत्तोऽयं लेखः समासतः स्वभावोक्तिविषयकं यावच्चिन्तनं यथावसरमुपस्थाप्य समीक्ष्य च प्रस्तौति।

स्वभावोक्तिस्तावदालङ्कारिकैरभ्युपगतः प्रमुखोऽर्थालङ्कारोऽस्ति। प्रायशः सर्वेऽप्याचार्या स्वभावोक्तेर्निरूपणं चर्चां वावश्यं कृतवन्तः। तथापि वक्रोक्ति सम्प्रदायस्य प्रवर्त्तका राजानककुन्तकमहोदया अस्या प्रबलतरं विरोधं प्रदर्शितवन्तः। तत्र किन्तत्त्वमिति जिज्ञासया प्रवृत्तिप्रक्रमे प्रथमं तावत् स्वभावोक्तेर्मम्मटसम्मतं स्वरूपमुपस्थाप्यते। तद्यथा -

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्[1]॥

स्वभावः पदार्थप्रवृत्तिनिमित्तभूतो धर्मः [2]जातिगुणक्रियाद्रव्य रूपस्तस्योक्तिरभिधावृत्त्या कथनं वर्णनं यत्र स स्वभावोक्तिरित्यन्वितार्थं नाम। डिम्भादेः बालादेः स्वगतयोः स्वमात्रस्थितयोः क्रियारूपयोः वर्णनं स्वभावोक्त्यलङ्कार इति लक्षणम्। अत्र रूपपदेन वर्णः संस्थानञ्चेति द्वयमप्यभिमतम्। तेन बालादिगतस्य (जातिविशिष्टव्यक्तिनिष्ठस्य) गुणक्रियारूपस्य स्वाभाविकस्य धर्मस्याभिधावृत्त्या चमत्कारि यथा स्यात्तथा प्रतिपादनं स्वभावोक्त्यलङ्कार इति लक्षणसारसंक्षेपः। तदुक्तं सारबोधिनीकृता -

यादृशस्वाभाविकधर्माभिधाने चमत्कारस्तादृश एवालङ्कारस्तेन "गोरपत्यं वलीवर्दो घासमत्ति मुखेन स" इत्यादेर्निरासः।[3]

पश्चादङ्घ्रीप्रसार्य त्रिकनतिविततं द्राघयित्वाङ्गमुच्चै-
रासज्याभुग्नकण्ठो मुखमुरसि सटां धूलिधूम्रां विधूय।
घासग्रासाभिलाषादनवरतचलत्प्रोथतुण्डस्तुरङ्गो,
मन्दं शब्दायमानो विलिखति शयनादुत्थितः क्ष्मां खुरेण[4]॥

अङ्घ्रिप्रसरणसुदीर्घीकरणमुखवक्षोलगनानि संस्थानोक्तयः, धूलिधूम्रा इति वर्णस्योक्तिः, चलत्प्रोथतुण्ड इति संस्थानोक्तिः। शब्दायमानो विलिखति चेति पदद्वयेन क्रियाया उक्तिः। तदेवमश्वगतक्रियारूपयोः वर्णनात्स्वभावोक्तिरलङ्कारः। एवं "ग्रीवाभङ्गाभिराममि"त्याद्युदाहरणान्तराणि। सर्वैरप्याचार्यै-र्ध्वनिवादिभिरानन्द-वर्द्धनाभिनवगुप्तमम्मटरुय्यक-विश्वनाथाप्पयदीक्षित प्रभृतिभिः स्वभावोक्त्यलङ्कारोऽभ्युपगतो निरुपितश्चोपलभ्यते काव्यात्मभूतरसध्वनेर्व्यञ्जकेष्वभिधानप्रकारभूतस्यास्याभ्युपगमे बाधकाभावात्। मम्मटस्तावद्ध्वनिप्रस्थापक-परमाचार्य इति तन्मतेनेह तत्स्वरूपमुपदर्शितम्।

स्वभावोक्तौ पदार्थगतस्य सहजातधर्मस्य हृद्यं वर्णनं क्रियते। एतच्च यथा कथञ्चिदर्थव्यक्तिगुणेऽपि

समुपलभ्यते। अतएव मम्मटादिभिर्दशगुणानां त्रिषु गुणेष्वन्तर्भावप्रसङ्गेऽर्थव्यक्तेः स्वभावोक्तावन्तर्भावः कृतः। राजानककुन्तकः पदार्थनिष्ठसहजातधर्मस्य सौन्दर्यं वस्तुवक्रतारूपेणोररीकरोति। अतस्सः स्वभावोक्तेः खण्डनं कृतवान्। तन्मतस्य समीक्षणार्थं तत्पूर्ववर्तिनामाचार्याणां समकालिकानां काव्यशास्त्रिणां च स्वभावोक्तिविषयं चिन्तनमवलोकनीयम्।

मुनिना भरतेन स्वभावोक्तेर्निरूपणं नैव कृतम्। तेन चत्वारोऽलङ्कारा: निरूपिता यत्र नास्ति स्वभावोक्तिः। षट्त्रिंशल्लक्षणानि चापि तेन निरूपितानि किन्तु न तत्रापि क्वचित्स्वभावोक्तितत्त्वं स्पष्टमुपलभ्यते। परन्तु सोऽर्थव्यक्तिगुणं स्वीकरोति। तल्लक्षणं यथा -

सुप्रसिद्धा धातुना तु लोककर्मव्यवस्थिता।
या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थव्यक्तिः प्रकीर्त्यते[5]॥

षोडशेऽध्याये भरतेन उपदिष्टस्य लक्षणं कृतम्। तद्यथा -

यथादेशं यथाकालं यथारूपं च वर्ण्यते।
यत्प्रत्यक्षं परोक्षं वा दृष्टं तद्वर्णतोऽपि वा॥
परिगृह्य च शास्त्रार्थं यद्वाक्यमभिधीयते।
विद्वन्मनोहरं स्वान्तमुपदिष्टं तदुच्यते[6]॥

भरतस्यार्थव्यक्तौ स्वभावोक्तेस्तत्त्वं नैव स्पष्टीभवति परन्तूपदिष्टाख्यलक्षणे यथाकथञ्चित् स्वाभाविकवर्णनं सहृदयहृदयाह्लादकृच्चमत्कारि स्थितमिति कदाचिद्वक्तुं शक्यते। अतोऽर्थव्यक्ति-गुणत्वेनोपदिष्टाख्यलक्षणेन वा कदाचिखरतस्याप्यभिमतमासीत् वस्तुस्वभाववर्णनागतं सौन्दर्यमित्येव प्रकरणाशयः।

सर्वप्रथममलङ्कारपितामहस्य भामहस्य काव्यालङ्कारे स्वभावोक्ति निरूपणमुपलभ्यते। स लिखति -

स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा॥
आक्रोशन्नाह्वयन्नन्यानाधावन् मण्डलैर्नुदन्।
गाः वारयति दण्डेन डिम्भः शस्यावतारणीः[7]॥

(भामहः, काव्या0-2।93-94)

अनेन भामहवचनेन विज्ञायते यदेस्मात्पूर्वं स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य स्थितिरासीत्। वस्तुनः स्वभावमात्रस्य यथावस्थवर्णनं काव्यसौन्दर्याभिवर्द्धकतया स्वीकृतमासीत् परन्तु भामहोऽतिशयोक्तिरूपां वक्रोक्तिं सर्वालङ्कारबीजत्वेनाङ्गीकृतवानतः परसम्मततयैव स्वभावोक्तिं प्रदर्शयति स्म। उपरि समुद्धृतप्रथमकारिकायाः पूर्वार्द्धेनैतिह्यमुत्तरार्द्धेन लक्षणं द्वितीयकारिकयोदाहरणञ्च तेन प्रदर्शितम्। तन्मतेन वस्तुनो वक्राभिधानेतरसामान्यरूपेण वर्णने न कश्चिच्चमत्कारः। चमत्काराभावे तु काव्यत्वमेवासम्भवि। अतो वक्रोक्त्यर्थमेव कविभिर्यतनीयम् -

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना[8]॥

वक्रतां विनापि काव्यत्वाभ्युपगमे ''गतोऽस्तमर्कः भातीन्दुः'' इत्यादावपि काव्यत्वं प्रसज्येत। न हि नितान्तं वस्तुस्वभावाख्यानेन कवेर्वाणी विभूष्यते। अतो वक्राभिधेया शब्दोक्तिर्वाचामलङ्कृतिः-

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेयाशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः[9]॥

तदेवं सामान्यत: भामहस्य मतेन नास्त्येव स्वभावोक्तिरिति प्रतिभाति। परन्तु नेदं तथ्यम्। वक्रोक्ति: स्वभावोक्तेर्विपरीतेव प्रतिभाति सैव च सर्वालङ्कारबीजत्वादतीवावश्यकीति भामहकथनमेव भ्रमहेतु:। वस्तुतो नास्ति वक्रोक्तिस्वभावोक्त्योर्विरोध:। वक्रोक्तिशब्दस्य सामान्याभिधानेतरत्वमेवार्थ: भामहाभिमत:। एतच्च विशिष्टरूपं यत्स्वभावोक्तावपि विद्यत एव। अतो भामहेन स्वभावोक्तेर्लक्षणमुदाहरणञ्चापि प्रदर्शितम्। यत्र केवलं वस्तुन: साधारणगुणानामेव यथावद्वर्णनमुपलभ्यते तत्र स वार्ता स्वीकरोति, न तु काव्यत्वम्। प्रश्न उदेति भामह: ''केचित्'' इति कथनपूर्वकं स्वभावोक्तिं प्रस्तौति ''वक्रोक्तिरेव वाचामलङ्कृति'' इति च वदति, अत्र का सङ्गति:। भामहात्पूर्वं बाणभट्टस्य हर्षचरिते ''नवोऽर्थो जातिरग्राम्या'' इत्यत्र जातिशब्देन स्वभावोक्तेश्चर्चा श्रूयते। एवञ्च भट्टिकाव्ये एददेव काव्योपकरणं वार्ताशब्देनोपलभ्यते। तत्र दण्डिना जातिरङ्गीकृता, भामहेन तु जात्यपेक्षया व्यापकत्वात्स्वभावोक्तिरभ्युपगतेति। वार्ता तु तन्मतेन काव्याङ्गमेव न भवति। सम्भवत: भरत-बाणभट्ट-भट्टिकाव्यकृतामभिप्रायानुरूपमेव ''केचिदि''त्यनेन प्रदर्शयता भामहेन स्वभावोक्तिर्लक्षितोदाहृता च। लक्ष्यग्रन्थेषुरामायणमहाभारतश्रीमद्भागवतादिषु तु हृद्यस्वाभाविकवर्णनानां प्राचुर्येण स्थितिरासीदेव। किञ्च ''ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिरि''[10] त्यादिप्रथितेषु कालिदासादिपद्येषु स्वभावोक्तिं विहाय कोऽन्योऽलङ्कार: पदं धत्ते। तस्मादलङ्कारपितामहेन भामहेन स्वभावोक्तेरनुपेक्षणमेव युक्तिसङ्गतम्।

आचार्यदण्डी तु वाङ्मयस्यैव स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिरिति द्वेधा विभागं करोति। तत्र नानावस्थासु विद्यमानानां पदार्थानां यथार्थरूपस्याभिव्यञ्जिकालङ्कृति: स्वभावोक्ति:। जातिगुणक्रिया-द्रव्यात्मकवर्णनाच्चतुर्धा सा। शास्त्रेष्वस्या एव साम्राज्यं किन्तु काव्येष्वपि न्यूनं महत्वं नास्ति। इयमाद्यालङ्कृति:। तद्यथा -

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा॥

जातिगुणक्रियाद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम्।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्[11]॥

तथापि लोकोत्तरवक्रकविव्यापारशालिनी वक्रोक्ति: श्रेष्ठत्वादुपयोगिनी। उद्भटोऽपि स्वभावोक्तिं निरूपयति। क्रियाप्रवृत्तस्य बालमृगादेर्हेवाकस्य स्वभावस्य वर्णनमेव स्वभावोक्ति: -

क्रियायां सम्प्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम्।
कस्यचिन्मृगडिम्भादे: स्वभावोक्तिरुदाहृता[12]॥

रुद्राटाचार्येणालङ्कारा: वास्तवौपम्यातिशयश्लेषेषु चतुर्धा विभज्य निरूपिता:। तत्र वास्तवेषु प्रमुखोऽलङ्कारोऽस्ति स्वभावोक्ति:। इयमेव जातिरप्युच्यते। वास्तवे वस्तुन: स्वरूपस्य यथार्थवर्णनमुपस्थाप्यते। येन पुष्टार्थत्वं विभ्रदयमलङ्कारश्चमत्कारार्थमुपमादीनलङ्कारान्नापेक्षते। तद्यथा-

वास्तवमपि तज्ज्ञेयं वस्तुस्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमपि विपरीतं निरूपममनतिशयमश्लेषम्[13]॥

रुद्रटकृतमेतद्विवेचनं वस्तुगतसौन्दर्यस्य व्याख्यानमस्ति। वस्तुगतसौन्दर्यस्येदं तात्पर्यं यद्वस्तुसहजातं रूपमेव कविभि: प्रस्तुतं भवेदिति। तत्र कल्पनाया भावनाया वा साहाय्येन बाह्यसौन्दर्यस्य अपेक्षा नास्ति। समुत्प्रेक्षणजनिताप्रस्तुतवस्तुसंविधानं विनैव पदार्थनिष्ठरामणीयकस्याभिव्यञ्जनमेव रुद्रटाभिमतं वास्तवं ज्ञेयम्।

रुद्रटव्याख्यानकृन्नमिसाधु: जातिं विवृण्वन् स्पष्टतरं स्फुटीकरोत्यमुमर्थम् -

जातिस्त्वनुभवनं जनयति यत्र परस्थं स्वरूपं वर्ण्यमानमेवानुभवमिवैतीति स्थितम्।

जातिर्हि तादृशं शब्दचित्रमुपस्थापयति येन पाठकः श्रोता वा साक्षादनुभवति पदार्थम्। साक्षाद्दर्शनमिव जातिः स्वभावोक्तिर्वानन्दमुपजनयतीति भावः। इदमेव पुष्टार्थत्वं विवक्षति रुद्रटः।

आचार्यवामनः नाङ्गीकरोति स्वभावोक्तिं किन्त्वसौ दशविधशब्दार्थगुणेष्वर्थव्यक्तिं स्वीकरोति। वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः। तदभिन्नस्वरूपा स्वभावोक्तिरिति सम्भवतो वामनेनोपेक्षिता। मम्मटादित्रिगुणवादिभिरर्थव्यक्तिः स्वभावोक्तावेवान्तर्भाविताऽपि।

ध्वनिसम्प्रदायप्रवर्तका आनन्दवर्द्धनाचार्या यद्यपि नालङ्कारं निरूपयन्ति तथापि स्वभावोक्तेः सत्त्वमङ्गीकुर्वन्तिस्म। एते हि द्वितीयोद्योते ध्वन्यालोकस्य प्रकृतरसपरिपोषानुगतत्वेन शाकुन्तलीयं ''चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीम्''[14] इत्याद्युदाहतवन्तः। लिखन्ति च तत्र – ''**अत्र हि भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारो रसानुगुणः**[15]।

भोजेन सरस्वतीकण्ठाभरणे जातिनाम्ना स्वभावोक्तेर्व्युत्पत्तिमूलमर्थं समाहृत्य लक्षणं प्रस्तुतम् –

नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः।
स्वेभ्यः स्वेभ्यो निसर्गेभ्यस्तानि जातिं प्रचक्षते[16]॥

सा जातिरलङ्कारो यत्र स्वभावतः पदार्थाः विविधास्ववस्थासु जायन्त इति भोजमतम्। स जातेरर्थव्यक्तेर्भेदमपि स्पष्टीकरोति। तन्मतेनार्थव्यक्तौ वस्तुनः सार्वकालिकं स्वरूपं वर्ण्यते जातौ तु अवस्थाविशेषे जायमानस्य रूपस्यैवेति विशेषः। तद्यथा –

अर्थव्यक्तेरियं भेदमियता प्रतिपद्यते।
जायमानप्रियं वक्ति रूपं सा सार्वकालिकम्[17]॥

भोजेन वाङ्मयं त्रिधा विभक्तम् – वक्रोक्तिः रसोक्तिः स्वभावोक्तिश्चेति तन्मतेनालङ्कारप्रधानं वाङ्मयं वक्रोक्तिमयम्, रसभावादिप्रधानं रसोक्तिमयम्, गुणप्रधानं स्वभावोक्तिमयमिति। एवं विधे विभाजने प्रवृत्तस्य भोजस्य प्रयासो रसालङ्कारगुणसम्प्रदायानां समन्वयोन्मुखः परिलक्ष्यते परन्तु नायं तर्कमूलकत्वाभावात् ग्राह्योऽभूत्।

किन्तु यदि तर्काश्रितवस्तुसिद्धिं प्रत्याग्रहं विहाय वस्तुस्थितिर्विचार्यते तर्ह्याधुनिकसमालोचनाशास्त्रदृष्ट्या भोजसम्मतं विभाजनं सर्वथोपयोगि। सत्यम् भावः कल्पना चेति त्रिविधं तावत् काव्यतत्त्वम्। साहित्यस्य विविधरूपेष्वेतेषामुपस्थितिरनुभूयते। तत्र सहजोऽर्थः सत्येनाभिमतः। क्वचिद्धि जीवनस्य जगतो वा प्रस्तुतस्य रूपस्य चित्रणं प्रधानं भवति। एतदेव भोजस्य स्वभावोक्तिस्थलेऽभिमतम्। रत्यादिभावस्य प्राधान्ये भोजो रसोक्तिं स्वीकरोति। यत्र पुनः कल्पनाया समुत्प्रेक्षणाया वा प्रामुख्यं तत्र वक्रोक्तिरस्ति। कविर्हि प्रस्तुतापेक्षयाप्रस्तुतस्य संविधाने प्रयत्नवान् कदाचिदवलोक्यते। इदानीमलङ्कृतं काव्यं वैदग्धयभङ्गीभणितिरूपां वक्रोक्तिं विभ्रद् विजृम्भते। दण्डी भोजश्च वक्रोक्तिरूपेण वाङ्मये एतदेव पश्यतः।

तदेवं मुनेर्भरतादारभ्य भोजराजपर्यन्तं स्वाभाविकवर्णनाश्रितस्य तन्नामालङ्कारस्य महत्त्वमूरीकृतं स्पष्टतरमुपलभ्यते। भोजस्य समकालीन एव राजानककुन्तकः सर्वमुपेक्ष्य स्वभावोक्तेः सयुक्ति निरासः कृतः। स हि वक्रोक्तिजीवितस्य प्रथमोन्मेष एव शोभाशालितां प्रत्यन्यूनानतिरिक्तत्वेनान्योन्यस्पर्धया स्थितयोः सहितयोः शब्दार्थयोरलङ्कार्यत्वं (काव्यत्वम्) वैदग्धभङ्गीभणितिस्वभावायाः बहुविधायाः (मूलतः षड्विधायाः) वक्रोक्तेश्चालङ्कारत्वमिति स्थिरीकृतवान्। अतस्तन्मतेन बालादिगतस्य गुणक्रियादिवर्णनस्यालङ्कार्यत्वमेव नत्वलङ्कारत्वमिति स्वभावोक्तिं निराकरोत्यसौ। तद्यथा –

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्धयभङ्गीभणितिरुच्यते॥

अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते॥

स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरूपाख्यं प्रसज्यते।
शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्कुरुतेऽपरम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति॥

भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे।
भेदावबोधः प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा॥

स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे सङ्करस्तथा।
अलङ्कारान्तराणाञ्च विषयो नावशिष्यते[18]॥

अयमाशयः। स्वभावोक्त्यलङ्कारे वर्ण्यवस्तुनः जातेर्गुणस्य क्रियाया वा रम्यं वर्णनं क्रियते। तच्च वर्णनं काव्यरूपत्वादलङ्कार्यम्। शब्दार्थौ काव्यमितिरीत्या जातिगुणक्रियाद्रव्यात्मक-चतुष्टयशब्द-प्रवृत्तिनिमित्तकतयार्थरूपत्वात्काव्यशरीरैकदेशरूपः स्वभावोक्त्यलङ्कारः। तदेवं स्वभावोक्तेः स्वयमलङ्कर्तुं योग्यत्वादलङ्कार्यत्वमेव युक्तम्। ये पुनरालङ्कारिका दण्डिप्रभृतयः स्वभावोक्तेरलङ्कार्यात्पृथगलङ्कारत्वमिच्छन्ति तेषां नयेऽलङ्कार्यमेव नूनमलङ्कारत्वेन स्थाप्यते। तन्मताभ्युपगमे स्वभाववर्णनामयस्य स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य सर्वत्र सत्त्वादलङ्कारात्पृथगलङ्कार्यं किमवशिष्यते न किमपीति प्रथम आक्षेपः। वस्तुनः लोकोत्तरवर्णनमेव काव्यं, तच्च वर्णनं वस्तुस्वभावस्य जातिगुणक्रियाद्रव्यात्मकस्य कथनं विना न सम्भवति। स एव कथितः स्वभावो यद्यलङ्कार्यत्वं विहायालङ्कारतां प्रतिपद्यते तर्हि नूनं स्वभावं विनैव वर्णनाभरः समापतति। एवं सति तु निखिलमेव जागतिकं वर्ण्यं वस्तु निरूपाख्यमवर्णनीयं भवेत्। स्वभावं विना वर्णनमसम्भवं वर्णिते स्वभावेऽलङ्कार्यत्वं नत्वलङ्कारत्वमिति द्वितीयाक्षेपसारः। अपरापि महती समस्या विद्यते। वस्तुनो वर्ण्यमानः काव्यशरीरभूतः स्वभाव एव तदलङ्कारवादिनां नये यद्यलङ्कारस्तर्ह्यसौ स्वभिन्नं किमलङ्कार्यमलङ्करिष्यति। अलङ्कारभिन्नस्यालङ्कार्यस्य तन्मतेऽभावात्। स एव स्वभावोऽलङ्कारः स एव चालङ्कार्यमिति तु नैव वक्तुं शक्यते। न खल्वतिचतुरोऽपि नट आत्मनः स्कन्धामधिरोहति। तस्मादलङ्कार्यालङ्कारयोः पार्थक्येन भाव्यमेवेति तृतीयाक्षेपरहस्यम्। स्वभावस्यालङ्कारत्वं स्वीकुर्वन्तु नामालङ्कारिकाः, तखिन्नमलङ्कारान्तरमपि च क्वचित्कल्पयन्तु ते परन्त्विदानीं महत्तरा समस्या समायास्यति। स्वभावं विनाख्यातुमशक्यत्वात् सर्वत्र पद्येषु वर्णनायां स्वभावस्य च विद्यमानत्वादलङ्कारान्तराणां तदलङ्कर्तुं समर्थानां सत्त्वे तत्र स्वभावाख्यालङ्कारेण सहान्येषामलङ्काराणां सापेक्षनिरपेक्षस्थितत्वे सङ्करस्य संसृष्टेर्वालङ्कारस्य सत्वं तेनैव च व्यपदेशार्हत्वं युक्तम्। एवं सङ्करः संसृष्टिश्चेति द्वावेवालङ्कारौ सम्भवतः, तदन्येषामुपमादीनां निर्विषयत्वप्रसङ्गः। निष्कर्षतः नास्त्येव स्वभावोक्तिरलङ्कार इति कुन्तकमतम्।

आचार्यकुन्तकस्य स्वभावोक्तिविषयकं मतमिदं ग्राह्यं नाभूत्। न हि केनापि परवर्तिनालङ्कारिकेण स्मरणमपि कृतमस्य। कुन्तकमतमुपेक्ष्य सर्वैरपि मम्मटादिभिराचार्यैः स्वभावोक्तिरर्थालङ्कारेषु सादरं प्रतिष्ठापितः। किञ्च ध्वनिध्वंसबद्धपरिकराः महिमभट्टमहोदयाः स्वभावोक्तिं समर्थयन्तः कुन्तकमतं दूषितवन्तः ते लिखन्ति–

कथं तर्हि स्वभावोक्तेरलङ्कारत्वमिष्यते।
न हि स्वभावमात्रोक्तौ विशेषः कश्चनानयोः॥

उच्यते वस्तुनस्तावद्द्वैरूप्यमिह विद्यते।
तत्रैकमस्य सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः॥

स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः।
अतएवाभिधेयं ते सामान्यं बोधायन्त्यलम्।।

विशिष्टमस्य यद्रूपं तत्प्रत्यक्षस्य गोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्।।

यतः –

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।।

सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः।।

इत्यादिप्रतिभातत्त्वमस्माभिरूपपादितम्।
शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्य इति नेह प्रपञ्चितम्।।

अर्थस्वभावस्योक्तिर्या सालङ्कारतया मता।
यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्थाः प्रतिभार्पिताः।।

सामान्यस्तु स्वभावो यः सोऽन्यालङ्कारगोचरः।
म्लिष्टमर्थमलङ्कर्तुमन्यथा को हि शक्नुयात्।
वस्तुमात्रानुवादस्तु पूरणैकफलो मतः[19]।।

महिमाचार्यः कुन्तककृतानामाक्षेपाणामतीव समुचितमुत्तरमकरोत्। वस्तुनः स्वभावमात्रस्योक्तिर्नास्ति स्वभावोक्तिः, सा तु पूरणैकफला दोषरूपैव। वस्तुतस्तु वस्तुनः सामान्यं विशिष्टञ्चेति रूपद्वयं विद्यते। तत्र सामान्यस्य दर्शनं सर्वैः क्रियते। एतदलङ्कार्यमितिवक्तुं शक्यते। इदं सामान्यं रूपं सामान्यमभिधेयमपि बोधायत्यतः सर्वग्राह्यत्वमस्य। किन्तु विशिष्टं यद्वस्तुस्वरूपं तद्धि प्रत्यक्षस्य विषयः। प्रतिभावतां सत्कवीनां वचसि तदेवोपलभ्यते। रसानुगुणशब्दार्थचिन्तैकतानचित्तस्य कवेर्येयं भगवच्छङ्कर तृतीयनेत्रकल्पा प्रज्ञाख्या प्रतिभा सैव पश्यति तद्विशिष्टं वस्तुरूपम्। तस्यैवाख्यानं स्वभावोक्तिरलङ्कारः। यतोहि कविशक्त्यर्पिताः पदार्थाः साक्षादिव चक्षुषोः पुरः परिस्फुरन्त इवाभान्ति। एतदेव रूपं वस्तुनः स्वभावोक्तिविषयः। सामान्यं पुनर्यद्वस्तुस्वरूपं तद्धि नूनमन्यालङ्कारैरलङ्क्रियते। अन्यथा त्वव्यक्तस्य पदार्थस्यालङ्करणं कथं भवेन्नाम।

महिमभट्टस्य तदनुयायिनां हेमचन्द्रमाणिक्यचन्द्रप्रभृतीनां च मतेन कुन्तको सामान्यं विशिष्टञ्वेति वस्तुस्वरूपस्य रहस्यमज्ञात्वैव स्वभावोक्तिविषये तादृशं आक्षेपमकरोत्। स्वभावोक्तेः समर्थने महिमभट्टादधिकं समीचीनमुत्तरं नैव कर्तुं शक्यते। अतएव परिवर्तिनः आचार्याः केवलं स्वभावोक्तिलक्षणे तत्तद्विशेषणैः परिष्कारमेव कृतवन्तः। तथाहि –

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्[20]
सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः।

इह वस्तुस्वभाववर्णनमात्रं नालङ्कारः। तत्त्वे सति सर्वं काव्यमलङ्कारि स्यात्। न हि तत्काव्यमस्ति यत्र वस्तुस्वभाववर्णनं न विद्यते। तदर्थं सूक्ष्मग्रहणम्। सूक्ष्मः कविमात्रस्य गम्यः। अतएव तन्निर्मित इव यो वस्तुस्वभावस्तस्य यथावदन्यूनानतिरिक्तत्वेन वर्णनं स्वभावोक्तिरलङ्कारः।[21]

स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्[22]।

पण्डितराजेन परित्यक्तैव स्वभावोक्तिः। अथवा निरूपितोऽशः रसगङ्गाधरस्यानुपलब्धचर एव भवेत्।

तदेवं प्रायश आलङ्कारिकाः वस्तुगतसौन्दर्यस्य रम्यवर्णनस्थले स्वभावोक्तिं स्वीकुर्वन्त्येव। कुन्तक एवैकाकी तन्निषेधकर्ता। अत्रेदं विचार्यते - कुन्तको हि प्रथमोन्मेषे काव्यलक्षणप्रस्तावे -

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥[23]

इत्यादिप्रसङ्गेन वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरूपायाः वक्रोक्तेरलङ्कारत्वं व्यवस्थाप्य रम्यसहजस्वाभाविक-धर्मवर्णनामयस्य स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य निराकरणं कृतवान्। परन्तु तृतीयोन्मेषे वस्तुवक्रता प्रस्तावे -

उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्णनम्।
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता॥

वस्तुनो वर्णनीयतया प्रस्तावितस्य पदार्थस्य यदेवं विधात्वेन वर्णनं सा तस्य वक्रता वक्रत्वविच्छित्तिः। किं विधात्वेनेत्याह-उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन। उदारः सोत्कर्षः सर्वातिशायी स्वपरिस्पन्दः स्वभावमहिमा तस्य सुन्दरत्वं सौकुमार्यातिशयस्तेन अत्यन्तरमणीय-स्वाभाविकधर्मयुक्तत्वेन प्रतिपादनम्। तदिदमुक्तं भवति यदेवं विधे भावस्वभावसौकुमार्यवर्णनप्रस्तावे भूयसां न वाच्यालङ्काराणामुपमादीनामुपयोगयोग्यता सम्भवति, स्वभावसौकुमार्याति- शयम्लानताप्रसङ्गात्।[24]...

इत्यादि सन्दर्भेण यद्वस्तुवक्रत्वं प्रदर्शितवांस्तद्वस्तुतोऽन्यैरभ्युपगतं स्वभावोक्तिस्वरूपमेवास्ति। इमामेवाशङ्कां सम्भाव्यमानामुखाव्य स्वयं समादधात्यपि कुन्तकाचार्यः, परन्तु तत्रेदं स्पष्टीभवत्येव यत् सः परैरभ्युपगतां स्वभावोक्तिं कविप्रतिभाप्रसूतचमत्कारविहीनवस्तुगतसहजधर्मवर्णनात्मकत्वमारोप्य दूषितवानिति। तद्यथा -

ननु च सैषा सहृदयहृदयहारिणी स्वभावोक्तिरलङ्कारतया समाम्नाता तस्मात्किंतद्दूषण-दुर्व्यसनप्रयासेन। यतस्तेषां सामान्यवस्तुधर्ममात्रमलङ्कार्यम्, सातिशयस्वभावपरिपोषणमलङ्कारः प्रतिभासते। तेन स्वभावोक्ते- रलङ्कारत्वमेव युक्तियुक्तमिति ये मन्यन्ते तान् प्रति समाधीयते -

यदेतन्नातिचतुरस्रम्, यस्माद् गतिकगतिन्यायेन काव्यकरणं न यथाकथञ्चिद- नुष्ठेयतामर्हति, तद्विदाह्लादकारिकाव्यलक्षणप्रस्तावात्। किञ्चानुत्कृष्टधर्मयुक्तस्य वर्णनीयस्यालङ्करणमप्य-समुचितभित्तिभागोल्लिखिता-लेख्यवन्न शोभातिशयकारितामावहति। तस्मादत्यन्तरमणीयस्वाभाविक-धर्मयुक्तं वर्णनीयं वस्तु परिग्रहणीयम्।[25]

एतेन स्पष्टमिदं यदन्यैरभ्युगता स्वभावोक्तिरेव कुन्तकस्य वस्तुवक्रता। विचारणीयं त्विदं यत्स यस्य रमणीयस्वाभाविकधर्मयुक्तवस्तुपरिग्रहस्याग्रहं करोत्यलङ्कार्यत्वस्य = काव्यत्वस्य ग्रहणाय किं तद्विपरीतं भामहादिभिर्वस्तुतोऽभ्युपगतमिति। भामहो हि वस्तुनो यथावद्वर्णने वार्तां स्वीकरोति न तु स्वभावोक्तिम्। तन्मतेनापि स्वभावोक्तौ वैदग्ध्यभङ्गीभणितिव्यभिचारेण भवत्येव। वामनोऽपि अर्थव्यक्तिगुणान्वितैव स्वभावोक्तिर्वर्तिया भिद्यत इति वदत्येव। दण्डी अपि ''साक्षाद्विवृण्वती'' इति विशेषणेन किमपि वैशिष्ट्यमिच्छत्येव स्वभावोक्तौ। कुन्तकस्य समकालिकयोः भोजमहिमभट्टयोरपि मतं विपरीतं नास्ति। तदेवं स्वभावोक्तौ सत्यपि स्वाभाविक-धर्मवर्णने चमत्कारस्य लालित्यस्य च सत्त्वमावश्यकम्। कविप्रतिभैव तत्र चमत्कारमुत्पादयति यद्वशात् वर्ण्यमानं वस्तु पुरः परिस्फुरदिव प्रीतिमुपजनयति। एतत्सर्वेषां स्वभावोक्तिपक्षपातिनामालङ्कारिकाणां सम्मतमस्ति। तदेवं वस्तुतः कुन्तकस्याग्रह एवायं यत्सः स्वभावोक्तिं सहजवस्तुवक्रतानाम्ना स्वीकरोति। अतएव सः प्रौढिवादेन

स्वीकरोत्यपि स्वभावोक्तिं कारिकावृत्त्युपसंहारावसरे। तद्यथा –

यदि वा प्रस्तुतौचित्यमाहात्म्यान्मुख्यतया भावस्वभावः सातिशयत्वेन वर्ण्यमानः स्वमहिम्ना भूषणान्तरासहिष्णुः स्वयमेव शोभातिशयशायित्वादलङ्कार्योऽप्यलङ्करणमित्यभिधीयते तदयमस्माकीन एव पक्षः। तदतिरिक्तवृत्तेरलङ्कारान्तरस्य अलङ्कारतात्पर्येणाभिधानान्न वयं विवदामहे।[26]

तदेवं स्वभावोक्तिविषयक चिन्तनैकफलोऽयं निबन्धः प्रस्तुतः। बहुवक्तव्यविशदीकरणीय एषः पृथक्प्रयत्नमर्हति। गुणहीनोऽप्ययं सखिरनुपहसनीयो भवेदिति प्रत्येमि। यतो हि –

यद्वा निर्गुणमप्यर्थमभिनन्दन्ति साधवः।
प्रणयिप्रार्थनाभङ्गसंविधानामशिक्षिताः[27]**॥**

सन्दर्भटिप्पण्यः

1. काव्यप्रकाशः 10/11
2. स्वभोक्तिमाह–स्वभावोक्तिरिति। स्वभावश्चतुर्विधः जातिगुणक्रियाद्रव्यभेदात्। – काव्यप्रकाशटीका-सारदीपिका - 1/111
3. का.प्र. टीका – सारबोधिनी 10/111
4. का.प्र. उदा. 492
5. नाट्यशास्त्रम् 16/106
6. नाट्यशास्त्रम् 16/23-24
7. काव्यालङ्कारसूत्रम्, भामहः – 2/93-94
8. काव्यालङ्कारसूत्रम्, भामहः- 2/85
9. काव्यालङ्कारसूत्रम्, भामहः- 1/36
10. अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 1/7
11. काव्यादर्श 2/8,13
12. काव्यालङ्कारः, उखटः –3/5
13. काव्यालङ्कार, रुद्रटः 7/10
14. अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 1/24
15. धवन्यालोकः – 2/19
16. सरस्वतीकण्ठाभरणम् 3/4
17. सरस्वतीकण्ठाभरणम् 3/5
18. वक्रोक्तिजीवितम् 1/10-15
19. व्यक्तिविवेकः 2/113-22
20. काव्यप्रकाशः – 10/111
21. अलङ्कारसर्वस्वम्, सूत्रवृत्ति पृ. 177
22. साहित्यदर्पणः – 10/92
23. वक्रोक्तिजीवितम् – 1/9-10
24. वक्रोक्तिजीवितम् – 3/1
25. वक्रोक्तिजीवितम् – 3/1 वृत्तिग्रन्थः
26. वक्रोक्तिजीवितम् – 3/1 वृत्तिग्रन्थः
27. न्यायमञ्जरी, जयन्तभट्टः उपक्रम श्लोक – 10

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. काव्यप्रकाश-सारदीपिका, सम्पा.- तपसी एस. नन्दी, गुजरात यूनिवर्सिटी अहमदाबाद - 1976
2. काव्यप्रकाश - सारबोधिनी, डा. जगन्नाथपाठक एवं डा. गोपराजुरामा (टीकात्रयसंवलित) प्रकाशक - गङ्गानाथझा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद - 2, 1976
3. काव्यालङ्कारसूत्रम् - भामह
4. काव्यालङ्कारसूत्रम् - उखट अनुवादक - डॉ. रमण कु. शर्मा, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. - 2001
5. काव्यालङ्कारसूत्रम् - रुद्रट व्याख्याकार - डॉ. सत्यदेव चौधरी परिमल पब्लिकशन्स दिल्ली द्वितीय सं. 1990
6. धवन्यालोकः, काव्यमाला - 25, पुनर्मुद्रित - नई दिल्ली, 1983
7. सरस्वतीकण्ठाभरणम् , काव्यमाला Edited and franslater -Sundari Siddhartha Motilal Banarsidass Publishera PVT. LTD Delhi, First Addition - 2009
8. वक्रोक्तिजीवितम् - कुन्तक Edited - Sushil Kumar De, Firma K.L.Mukhopadhyay Calcutta, Third Edition - 1961
9. व्यक्तिविवेकः, चौखम्वा संस्कृत सीरीज, वाराणसी - 1994
10. अलङ्कारसर्वस्वम् , काव्यमाला - 35, भारतीय विद्याभवन - दिल्ली-वाराणसी, पुनर्मुद्रित - 1982
11. साहित्यदर्पणः, चौखम्वा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी - 1, 1967
12. नाट्यशास्त्रम्, काव्यमाला-42, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली-वाराणसी - 1983
13. न्यायमञ्जरी (जयन्तभट्ट) उपक्रमश्लोक-10 चौखम्वा विद्याभवन, वाराणसी-द्वितीय संस्करण - 1971
14. काव्यादर्शः - दण्डी, व्याख्याकार - श्रीशिवनारायण शास्त्री, परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली प्र.सं. - 1988
15. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - डा. कपिलदेवद्विवेदी, प्रकाशक - रामनारायणविजयकुमार इलाहावाद - 2, संस्करण 1998।

डा. विश्वम्भरनाथ गिरिः

सह-आचार्य, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् गंगानाथझापरिसरः, इलाहाबाद



वेदवाङ्मयप्रभा

सच्चिदानन्द तिवारी

'वेदःशिवश्शिवो वेदः वेदाध्यायी सदाशिवः।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन वेदमेव सदा जपेत्।।'

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इत्यशेषधर्ममूलभूतो भवति वेद इति मनुरवोचत्। स एव धर्मो जगत्प्रतिष्ठाहेतुरिति 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' इत्याम्नायते आम्नायः। विद्धातुनिष्पन्नोऽयं वेदशब्दो ज्ञानार्थं प्रकाशयति। तथापि वेदपदश्रवणसमनन्तरं ऋगादिमन्त्रब्राह्मणात्मको वेद एव प्रत्ययविषयो भवति। तस्मात् अखिलेऽस्मिन् भूमण्डले वेदपदं रूढ्या ऋगादीनेव बोधयति। सुप्रथिताश्चत्वारो वेदाः ऋगादयः। वेदेषु अन्तर्लीननिगूढतत्वार्थामृतान्वेषिणो महान्तः प्रज्ञामे धादिसम्पत्सम्पन्नाः सायणभट्टभास्करमहीधरोव्वटाद्याचार्याः भाष्यमन्थानेन त्रयीरत्नाकरममन्थिषुः। अन्यच्च पाश्चात्यदर्शनतत्त्वविशारदा म्याक्सिमूलर्म्याक्डोणेल् इत्यादयस्तत्रनिहित-तत्त्वान्वेषिण आङ्गलभाषया व्याख्यानं कृत्वा सर्वत्र तन्महत्त्वमतन्वन्। जनमानसक्रियाकलापमालोच्य देशकालानुकूलं दयानन्दसरस्वतीप्रभृतयोऽपि व्याख्यानमकुर्वन्। गवेषकाणामधुना वेदः केन्द्रस्थानं भवति।

भाषाशास्त्रज्ञाः दार्शनिकाश्च प्रायशः सर्वे स्वस्वविषयानुमतमनुसन्धानाय वेद एव रमन्ते। तर्हि महानयं वेदः क इति ईषद्विवृणोति-

विष्णुदर्भमुष्टिज्ञानाद्यर्थप्रतिपादको वेदशब्दः। किन्तु अनादितात्पर्यवशात् वेदशब्दादृगादीनामेव बोधो जायते। तत्रैवार्थे 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी' इति अमरकोशकारः (शब्दादिवर्गः पृ-319) प्रमाणयति। 'मीनशरीरावच्छेदेन भगवद्वचनम्, धर्मब्रह्मप्रतिपादकमपौरुषेयवाक्यम्, ब्रह्ममुखनिर्गतधर्मज्ञापकम्' इत्यादिवेदव्याख्यानं (श.क.द्रु. पृ.-496) दृश्यते। यज्ञपरिभाषायां आपस्तम्बसूत्रकारः 'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेद' इत्यब्रवीत्। सायणाचार्यस्तु वेदपदार्थं प्रकाशयति-इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेद इति।

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एवं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता।।' (तै.सं.सा.भा.भू.पृ.-2)

शङ्करभगवत्पादः-'सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपाय- प्रकाशनपरः सर्वपुरुषाणां निसर्गत एव तत्प्राप्तिपरिहारयोरिष्टत्वात्' इति (बृ.उ.शा.भा.प्र-1, ब्रा-1, पृ.-4)। शङ्करमिश्रः-'वेदत्वञ्च शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणजन्यप्रमित्यविषयकार्थकत्वे सति शब्दजन्यवाक्यार्थज्ञानाजन्यप्रमाणशब्दत्वम्' इति (वै.द.उप.6.1.1, पृ.-222) इत्यादिविविधव्याख्यानपर्यालोचनेन प्रत्यक्षानुमानप्रमाणावेद्यार्थप्रतिपादकशब्दानां राशिरेव वेद इति निर्गलितार्थः सिध्यति। वेदोऽकर्तृक इति सनातनधर्मावलम्बिनां प्राज्ञां पारम्पर्यसम्प्रदायसम्मतमतम्। आधुनिकविचारधाराधारितान्तःकरणानां सकर्तृको वेद इति विपक्षविपरीतः पक्षः। अधुनिकानां सकर्तृको वेद इत्यत्र कर्त्ता क इति निश्चयो नाद्यापि संवृत्तः। किन्तु वेदेतरग्रन्थानां सान्दर्भिकवाक्यानुरोधेन तत्तत्कालीनभूगर्भसम्प्राप्तवस्तुपरिशीलनोत्तरसमुत्पन्ननिर्णयमाश्रित्य च भिन्नभिन्नकालनिश्चयपक्षमुद्भावयन्ति। परन्तु

अयमेव वेदकाल इति सुनिश्चयो नास्ति तेषाम्। नैकं कालमङ्गीकुर्वन्ति सर्वे ते। अतो वेदकालबोधकनानापक्षीयवाक्यात् वेदस्य कालोऽस्ति न वेति संशयो जायते। विप्रतिपत्तिवाक्यादपि संशयो भवति। संशयोत्पादकाः ते पक्षा इति भृशमवगन्तुं शक्यते। सकर्तृकः कश्चन पक्षः न्यायनयज्ञीयः। न्यायशास्त्रस्यायं सिद्धान्तः 'सर्वे शब्दाः अनित्याः। नाल्पज्ञः कर्तृकः सः। किन्तु नित्यः सर्वज्ञः प्रमादादिदोषरहितो य ईश्वरः, वेदकर्ता, तस्मात् पौरुषेयो वेद इति गौतमीयानां सङ्गतं मतम्। ईश्वरप्रणीतत्वादेव वेदस्य प्रामाण्यमभ्युपगच्छन्ति ते। 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत् तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' इति (गौ. सू. 2.1.68, पृ. 145)। 'बुद्धिपूर्वावाक्यकृतिर्वेदे', 'ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धिर्लिङ्गम्', 'बुद्धिपूर्वो ददातिः', 'तथा परिग्रहः' इत्यादीनि वैशेषिकदर्शनसूत्राणि वेदवाक्यानां बुद्धिपूर्वजन्यत्वं सम्पादयन्ति। अर्थात् ईश्वरबुद्धिजन्यानि भवन्ति शब्दराशिरूपवेदवाक्यानि इति साधनेन ईश्वरकर्तृकत्वं सिद्धं वेदे (वै.द. 6.6.1-4, पृ. 222-223)। 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' इति सूत्रं वेदस्य प्रामाण्यं बोधयति (वै.द.सू. 1.1.3, पृ. 7)। 'वेदः पौरुषेयो वेदत्वात् आयुर्वेदवत्', 'वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वात् भारतादिवत्', 'वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् अस्मदादिवाक्यवत्' इति (न्या. कु. स्त.5) 'कार्यायोजनधृत्यादेः' इति कारिकाव्याख्याने (पृ. 172) दिनकरीमुक्तावल्ल्यादिसर्वग्रन्थेपु ईश्वरकर्त्तृकत्वं वेदस्य साधयन्ति। तत्र पूर्वमीमांसकाः 'शब्दाः सर्वे नित्याः इति मन्यन्ते। तर्हि वेदस्य नास्ति कृतिजन्यत्वम्। तत्र नित्यत्वमेव वर्तते। अपौरुषेयः सः 'वेदापौरुषेयत्वाधिकरणे भाट्टदीपिकाकारः- 'सृष्टिप्रलयेश्वराद्यङ्गीकारे तु कल्पादौ प्रवचननिमित्ता श्रुतिः संभवतीत्यपौरुषेया एव वेदा इति (1.1.7 पृ. 13) 'वाचा विरूपनित्यया' इति (ऋ. वे. 8.75.6) 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा' इति स्मृतिश्च 'स्वयंभूरेष भगवान् वेदो गीतः स्वयंभुवा', 'शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः' इति श्रुतिस्मृतिपुराणादिवचनैर्वेदानां नित्यत्वावगमेनेश्वरकर्तृकत्व- कल्पनायोगाच्च' इति अध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्तौ (1.1.8. पृ. 18) 'वेदे तु पुरुषाभावाल्लिङ्गादिशब्दनिष्ठ एव। न हि वेदः पुरुषनिर्मितः। वेदस्याध्ययनं सर्वमित्यादिना वेदापौरुषेयत्वस्य साधितत्वात्' इति मीमांसान्यायप्रकाशः (पृ. 3)। अद्वैतवेदान्तसिद्धान्ते तु सच्चिदानन्दात्मकं ब्रह्म केवलं नित्यम्। तद्भिन्नानां वस्तूनां कस्यापि न नित्यत्वम्। तर्हि वेदनित्यत्वमनङ्गीकर्तॄणां तेषां श्रुतिरेव तत्र प्रमाणमिति मन्यन्ते। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेद' इतयादि बृहदारण्कोपनिषद्वचनमस्ति। तथापि वेदस्यापौरुषेयत्वमभ्युपयन्ति ब्रह्मवादिनः। पौरुषेयत्वस्य व्याख्यानविशेषात्, तथाभूतं पौरुषेयत्वं वेदस्य सुतरां न सिद्ध्यतीति वेदान्ताभिमतम्। 'सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वम्' (वे. प. आ. प. पृ. 135)। 'धाता यथा पूर्वमकल्पयदिति न्यायेन सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्वसर्गसिद्धवेदानुपूर्वीसमानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान्, न तु तद्विजातीयं वेदमिति न सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वं वेदानाम्'। इति (वे. भा. आ. पृ. 135)। वेदः पौरुषेयोऽपौरुषेयो वा इत्यत्र भवतु नाम मतविभेदः परन्तु गौतमजैमिनिबादरायणमहर्षयः प्रामाण्यं तत्राभ्युपगच्छन्ति एव। सायणाचार्यस्तु वेदकर्तृत्वं चिन्तयति-

'न कर्तृ ब्रह्म वेदस्य किं वा कर्तृ न कर्तृ तत्
विरूपनित्यया वाचेत्येवं नित्यत्ववर्णनात्।
कर्तृनिः श्वसिताद्युक्तेर्नित्यत्वं पूर्वसाम्यतः
सर्वावभासि वेदस्य कर्तृत्वात्सर्वविद्भवेत्॥'' इति।

'अनादिनिधना नित्ये'ति स्मृत्या नित्या वाक् ऋगादिवेद एवेति मतं निराकरोति- 'ब्रह्म वेदस्य कर्तृ भवितुमर्हति निःश्वसितन्यायेनाप्रयत्नोत्पत्यवगमात्.... प्रतिसर्गं पूर्वं साम्येनोत्पत्तेः प्रवाहरूपेण नित्यता' इत्यादि (तै.आ.उ. 9.1, सा.भा. पृ. 664)। अर्थात् ब्रह्मकर्तृको वेदः, घटादिकार्यं तु कर्तृकृतिजन्यं, प्रयत्नसाध्यम्। तथा न वेदः प्रयत्नमन्तरा वेदोत्पत्तिर्जाता, निःश्वसितन्यायेन, पूर्वस्मिन् कल्पे यथा वेदवाक्यानि उदात्तानुदात्तादिसहितानि, तथैव न्यूनातिरिक्तवैकल्यं विना उत्तरस्मिन् कल्पे वेदं सृजति, इत्यतो सकर्तृको वेद इत्याशयो सायणस्य। 'यस्य

निःश्वसितं वेदाः यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्। निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्॥' इति मङ्गलश्लोकः भाष्यभूमिकायां दृश्यते। 'शास्त्रयोनित्वादिति बादरायणसूत्रभाष्ये महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म' इति शङ्करभगवत्पादः (ब्र. सू. शा. भा. 1.1. 3. पृ. 96)। भाष्यांशादपि निर्गलितार्थस्तु ब्रह्मकर्तृकोऽस्ति वेदः।

वेदविभागप्रकारः- ऋगादिमन्त्राणां स्वरूपभेदेन चतुर्धा विभक्त इति वेदानुमतपक्षोऽयम्। विषयभेदमनुसृत्यापि क्वचिद्विभागः दृष्टिपथमागच्छति। 'अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः, सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निःश्वसितानि' (बृ.आ. उ. 2.4.10. पृ. 348)। तत्र शाङ्करभाष्ये 'ऋग्वेदो ......चतुर्विधं मन्त्रजातं, इतिहासः इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादादिरूर्वशी हाप्सरा' इत्यादिब्राह्मणमेव। पुराणमसद्वा इदमग्र आसीदित्यादि, विद्या-देवजनविद्या वेदः सोऽयमित्याद्या, उपनिषदः प्रियमित्येतदुपासीतेत्याद्याः, श्लोकाः-ब्राह्मणप्रभवा मन्त्रास्तदेते श्लोका इत्यादयः, सूत्राणि वस्तुसङ्ग्रहवाक्यानि वेदे तथा आत्मेत्येवोपासीतेत्यादीनि, अनुव्याख्यानानि मन्त्रविवरणानि, व्याख्यानानि अर्थवादाः, इतिहासाद्यष्टविधं ब्राह्मणम्' (पृ. 349) इतिहासपुराणश्लोकादिपदानां प्रसिद्धार्थस्तु न तत्राभिप्रेत इति प्रत्यवगत्यै भाष्यदप्रदर्शनम्। स्पष्टमत्र मन्त्राणामेव ऋगादिसंज्ञा, वेदांशब्राह्मणस्याष्टधा विभाग इति, 'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेद इति - आपस्तम्बसूत्रकारस्याभिप्राय-समन्वयोऽत्र दृश्यते।

आनन्दगिरिव्याख्याने - 'सर्ववेदः कर्मकाण्डज्ञानकाण्डभेदेन द्विविधः। 'तद्युक्तं कर्मकाण्डवत् ज्ञानकाण्डस्यापि प्रामाण्यमिति' (शा.भा.आ.गि.व्या.पृ.4, बृहदारण्यकोपनिषदि)। सायणोऽपि-'वेदस्तावत् काण्डद्वयात्मकः पूर्वस्मिन् काण्डे नित्यनैमित्तिककाम्यनिषिद्धरूपं चतुर्विधं कर्म प्रतिपाद्यते। उत्तरकाण्डे ब्रह्मोपदेशो ब्रह्मोपास्तिश्चेत्युभयं प्रतिपाद्यते' इति (तै.भा.भू.पृ. 6)। मुण्ड्कोपनिषदि विभागरीतिरन्या वर्तते - 'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यत् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दः ज्योतिषमिति' (मु.उ.1.4-5 पृ.131)। 'कल्पो नाम सिद्धरूपप्रयोगप्रतिपादकग्रन्थः' अर्थात् भवतो द्वे विद्ये, ऋगादिवेदानां शिक्षादिषडङ्गानां च अपराविद्यात्वेन क्रोडीकृतो भवत्यस्यामुपनिषदि। भागवतविष्णुपुराणानि ऋगादिवेदप्रभेदं प्रज्ञापयन्ति। ऋगादिसंज्ञाधायकलक्षणस्वरूपं प्रख्यापयति तत्रभवान् जैमिनिमहर्षिः - 'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (सू. 35), मन्त्राणां मध्येऽर्थवशेन यत्र गायत्र्यादिच्छन्दोवशेन पादव्यवस्था विद्यते सा ऋक् इति व्यवह्रियते। पादव्यवस्थावन्मन्त्रत्वं ऋक्त्वम्', 'गीतिषु समाख्या' (सू.36) रथन्तरादिषु गानेषु सामपदव्यवहारः। 'मन्त्रत्वसमानाधिकरणगीतित्वं सामत्वम्। 'शेषे यजुश्शब्दः' (सू. 37) ऋक्सामभिन्नत्वे सति मन्त्रत्वं यजुष्ट्वम्' इति ऋक्सामयजुषां लक्षणं लक्षितम्। (पूर्वमी. द. 2.1.14, भाट्टदीपिका पृ. 100) मन्त्रत्वव्याप्यऋक्त्वादिधर्मविभाजकलक्षणं त्वधिगतम्। किन्तु कोऽयं मन्त्रः ? किं तद्ब्राह्मणमिति जिज्ञासां निवर्तयति पूर्वमीमांसादर्शनम्-'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिरिति' कश्चन नियमः, मन्त्रस्य लक्षणासत्वे मन्त्रपदार्थबोधो न सुलभसाध्यः, अतस्तल्लक्षणं किमिति वक्तव्यं भवति, तत्रोच्यते-

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥' इति (सा.भा.पृ.35)

'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' (पू.मी.द. 1032) 'यत्राभियुक्तानां मन्त्रपदवाच्यत्वप्रकारिका उपस्थितिर्विषयता-सम्बन्धेन स मन्त्रः' इति लक्षणमस्ति मन्त्रस्य। 'वाच्यतावच्छेदकं च मन्त्रत्वमखण्डोपाधिर्वेदत्ववत्' इति भाट्टदीपिका (पृ.99)। 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (पू.मी.द. 10.33, पृ.99)। मन्त्रभिन्नवेदत्वं ब्राह्मणत्वमित्युपपन्नं मन्त्रब्राह्मणयोर्लक्षणम् (भा.दी)। 'अयमेव मन्त्र' इति याज्ञिकानां यत्र व्यवहारो विद्यते, तत्रैव मन्त्रत्वं वेदत्वव्याप्यधर्मात्मकमिति मन्त्रावगतिप्रयोजको याज्ञिकव्यवहार इति ध्येयम्। अत्र

सायणभाष्यं तु ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिकायां तु विस्तृतव्याख्यानमकरोत्-'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' इत्यादि.. ..तस्मादभियुक्तानां मन्त्रोऽयमिति समाख्यानं लक्षणम्।

'मन्त्रश्च ब्राह्मणश्चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः।
अन्यत् ब्राह्मणमित्येतद्भवेत् ब्राह्मणलक्षणम्।। '' (जै.न्या.मा.2.1.8)

मन्त्रभिन्नं ब्राह्मणमिति स्पष्टम्। 'तस्मिन् वेदे केषुचिदभिधाय केषु वाक्येषु मन्त्र इति समाख्या सम्प्रदायविद्‌भिर्व्यवह्रियते 'मन्त्रानधीमहे' इति। मन्त्रव्यतिरिक्तभागे तु ब्राह्मणशब्दस्तैः व्यवहृतः' 'यद्‌ब्राह्मणानीतिहासान्.......मेदाहुतयः' इति (तै.आ.2.9.142) तथाभूतो मन्त्रस्त्रिविधः-'पादेन अर्थेन चोपेतावृत्तबद्धा मन्त्राः-ऋचः। गीतिरूपमन्त्राः सामानि। वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठितमन्त्रा यजूंषि' इति ऋगादिमन्त्राणां स्वरूपमपि भाष्ये स्पष्टम् (पृ. 35-38)।

अत्रान्यत्किञ्चिद्विचार्यते-केचन 'संहिता-ब्राह्मण-आरण्योपनिषत्-उपनिषत्' इति, केचन 'मन्त्रः, ब्राह्मणम्, आरण्यकम्, उपनिषदिति च' वेदस्य विभागं प्रदर्शयन्ति। तत्र 'आरण्यकम्, उपनिषदि'ति पृथक् द्वयोरस्तित्वं नास्तीति ममाभिचिन्तनम्। आरण्यकमपि उपनिषदेव, बृहदारण्यकोपनिषत् ऐतरेयारण्यकोपनिषत्, तैत्तिरीयारण्यकोपनिषदित्येव सर्वेषां भाष्यकाराणाञ्च व्यवहारोऽस्तीति भाष्यग्रन्थादेवावगच्छन्ति सर्वे। 'अरण्ये तदधीयीत' इत्यरण्येऽध्ययनविधिश्रवणात् तथा सम्प्रदायसत्त्वाच्चोपनिषत्सु केचनांशा आरण्यकोपनिषत्पदं भजन्ते। तथैव श्रूयते चारण्यके तैत्तिरीये सायणभाष्यमङ्गलश्लोके-

'अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते।।'(6) इति।

अत उपनिषदोऽन्या काचन आरण्यकोपनिषदिति नास्त्येव। सा उपनिषत्सु अन्तर्भूता। अपि च सर्वा अपि उपनिषदः ब्राह्मणे वेदैकभागेऽन्तर्भवन्ति, अन्यथा मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः इत्युक्तत्वात् तत्रोपनिषत्पदाश्रवणात् उपनिषत्सु वेदत्वं न स्यात्, तस्मात् मन्त्रभिन्नब्राह्मणत्वं तासु वर्तते इति नितरां सिद्ध्यति। तत्प्रकाशयति च सायणाचार्यः- 'द्विविधं ब्राह्मणम्, विधिरर्थवादश्चेति। विधिरपि द्विविधः अप्रवृत्तप्रवर्तनम् अज्ञातार्थज्ञापनश्चेति' 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ. आ. 2.4.1) इत्यदयो ब्रह्मकाण्डगता अज्ञातज्ञापका विधय इति (ऋ.भा.उप.सा.भा.पृ.25)। अर्थात् उपनिषदो ब्रह्मकाण्डशब्दाल्लक्ष्यन्ते, ब्रह्मतत्त्वप्रतिपादनात्, तस्मात् सुनिश्चितोऽयमर्थः 'अज्ञातज्ञपकरूपविधिस्वरूपब्राह्मणत्ववत्य उपनिषद' इति। इत्थञ्च ब्रह्मतत्त्वप्रतिपादकत्वे सति ब्राह्मणत्व-व्याप्योपनिषत्त्वमिति लक्षणञ्च साधु सङ्गच्छते।

ब्रह्मप्रतिपादकत्वे सति वेदत्वव्याप्यब्राह्मणत्वं वा लक्षणम्। ऋग्यजुस्सामवेदानां लक्षणं सुसम्पन्नमिति ध्येयम्। अत्र चिन्तोदेति-अथर्ववेदस्य लक्षणं किम् ? तदधिकृत्य मीमांसादर्शनकारो जैमिनिः किमपि नावदत्, किं तत्र वेदत्वं नास्ति वा? सत्यं, तत्रापि ऋग्वेदमन्त्राः सन्ति, ब्राह्मणानि सन्ति, गोपथब्राह्मणमित्यथर्ववेदीयं प्रसिद्धमस्ति, उपनिषदः अपि विद्यन्ते। अतो वेदसामान्यलक्षणं मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं तत्राधिरोहति। अलौकिकं पुरुषार्थोपायं वेत्ति अनेन इति वेदशब्दनिर्वचनं तु तत्र घटते। निःश्वसितन्यायेन ऋगादिवत् अथर्ववेदस्यापि अप्रयत्नोत्पत्तिकत्वं च बृहदारण्यके श्रृण्मः। अपराविद्यायाञ्चाथर्ववेदस्य नाम विज्ञायते। प्रायशः सायणाचार्यप्रभृतीनां व्याख्यानञ्च परामृश्यते। अन्यवेदवत् पैप्पलशौनकजैमिन्यादितदीयशाखा अपि कर्णपुटं प्रविशन्ति, तथापि मीमांसासूत्रलक्षणमन्यवेदस्य यथा तथा नास्येति चिन्तापरिहारस्तु- षोडशर्त्विक्संघसाध्यश्रुत्युक्तत्रेताग्निकयागेषु अत्युपयुक्तर्गादित्रयाणामेव वेदानां लक्षणं बोधयति जैमिनिमहर्षिः। यागानुपयुक्तोऽथर्ववेद इत्याशयः सर्वथा तस्य मुनेर्नास्तीति वक्तुं प्रभवामः। तत्राध्वर्युहोतोद्गातार इति सुप्रधाना ऋत्विजः भवन्ति यागेषु। यज्ञनेता यजुर्वेदविदध्वर्युर्भवति, ऋग्वेदविद्धोता, सामवेदविदुद्गाता इति साधारणनियमः। चतुर्थः कश्चन ऋत्विक्

भवति अथर्ववेदवित् स एव ब्रह्मा इति याज्ञिकसम्प्रदायः। अत्र सायणस्तु-प्रतिज्ञावाक्यं सायणस्य श्रूयते-

'व्याख्याय वेदत्रितयमामुष्मिकफलप्रदम्।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति।।' इति (अ.वे.भा.सा.पृ.120)

स्वर्गादि-आमुष्मिकफलं ददाति वेदत्रयसाध्ययागः। किन्तु अथर्ववेदीयकर्म ईहामुत्रफलदायकमिति विशेषोऽस्ति। यद्यपि 'त्रयो वेदा अजायन्त.....सामवेद आदित्यात्' इति (ऐ.ब्रा.5.32) 'ऋचः समानि जज्ञिरे' इत्यादिऋगादिमन्त्रप्रमाणात् वेदत्रयमेव सिद्ध्यति, कुतोऽथर्ववेदः, कस्मात् तस्य व्याख्यानमित्यादिपूर्वपक्षमुद्भाव्य सिद्धान्तयति सायणः-ऋग्वेदेन हौत्रमेव प्रतिपाद्यते, यजुषा आध्वर्यवम्, साम्ना औद्गात्रम् अवशिष्टब्रह्मकर्तव्यता-प्रतिपादकचतुर्थो वेदो व्याख्येयः 'तदभावे यज्ञशरीरस्य अनिष्पत्तेः' अपि च गोपथब्रह्मणवचनप्रमाणं 'कं वा होतारं वृणीयाम्......सामविदम् उद्गातारम्, अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्। तथाहास्य चतुष्पात् प्रतितिष्ठति (2.24) 'अथ चेन्नैवंविदं ब्राह्मणं वृणुते........यज्ञोरिच्यते'(2.24) 'यथैकपात्पुरूषो यदनुभयचक्रो वा रथो वर्तमानो भ्रेषं न्येति एवमेवास्य यज्ञा भ्रेषं न्येति (गो. ब्रा. 3.1) इत्यादिरीत्या ब्रह्मा भवति अथर्ववेदविदेवेति संस्थापयति। 'येऽङ्गिरसः सरसः, येऽथर्वाणस्तद्भेपजम्। यद्भेषजं तदमृतम् यदमृतं तद्ब्रह्म' इति गोपथब्राह्मणेऽपि चतुर्थवेदस्य महत्स्थानं विद्यते। आमुष्मिकफलेषु दर्शपूर्णमासादिषु अयनान्तेषु त्रयीविहितकर्मसु अपेक्षितत्वं ब्रह्मत्वम्। अनन्यलभ्यत्वात् अथर्ववेदैकसमधिगम्यम्।(सा.भा.अ.वे.पृ.122) अथर्ववेद प्रतिपादितकर्माणि कानीति विवृणोति- 'ऐहिकफलानि शान्तिकपौष्टिकानि कर्माणि, राजकर्माणि-अपरिमितफलानि तुलापुरुषादि-महादानानि च अथर्ववेद एव प्रतिपादितानि। पौरोहित्यञ्चाथर्वविदैव कार्यम्। राजाभिपेकादीनां तत्कर्तृकाणां कर्मणां विस्तरेण तत्र प्रतिपादितत्वात्।' अन्यच्च विष्णुपुराणे 'पौरोहित्यं शान्तिपौष्टिकादि राज्ञां अथर्ववेदेन कारयेत् ब्रह्मत्वं च इति।' 'अभिषिक्ताथर्वमन्त्रैर्महीं भुङ्क्ते ससागरम्।'(मा.पु.) इत्यनेकानि प्रमाणवचनानि तद्वेदीयकर्मणि संसूचितानि सायणैः। (अ.वे.सा.भा.भू.पृ.120:123) अथर्ववेदविदां पौरोहित्यं राजकर्मणि नितरां आवश्यकमिति-

'त्रय्यां च दण्डनीत्यां च कुशलः स्यात्पुरोहितिः।
अथर्वविहितं नित्यं कुर्याच्छान्तिकपौष्टिकम्।।' (31)इति (का.नी.सा.92)।

तथा कौटलीयार्थशास्त्रे च-'पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं साङ्गवेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां च अभिविनीतमापदां दैवमानुषीणामाथर्वभिः उपायैः प्रतिकर्तारं प्रकुर्वीत' (1.9.5 पृ. 385)। इथञ्च चतुर्थवेदोक्तानि सर्वाण्यपि कर्माणि वैदिकानि आम्नायविहितत्वात् प्रमाणभूतानि ऋगादिवेदोक्तकर्मवत्, अतो वेदत्वं प्रामाण्यं चेत्युभयमथर्ववेदस्य सङ्गतं सम्मतं साधु चेति अभिमन्यमाना साम्प्रदायिकास्तदध्ययनाध्यापनादिकर्तव्यकर्मसु प्रवर्तन्ते।

संहितापदप्रयोगो वैदिकानां यो वर्तते, तत्र कः संहितात्वं प्राप्नोति? इत्यत्र संहितापदस्यार्थस्तु कोशे 'मन्त्रभागात्मको वेदः संहिता' इति दृश्यते। ऋक्संहिता, यजुःसंहिता इत्यादि ऋक्संहिताहोम इत्यादि च? ब्राह्मणसंहितेति व्यवहारो नास्त्येव। अर्थात् सिद्धं ब्राह्मणभिन्नमन्त्राणामेव संहितात्वं सम्पद्यते। 'संहन्यते एकत्रीक्रियन्ते मन्त्राः, सूक्तानि वा यत्र तत्संहिता' इति व्युत्पत्तिरस्ति। 'परः सन्निकर्षः संहिता' इति पाणिनीयसूत्रानुसारेण 'वर्णानां परस्परमत्यन्तसामीप्यं संहिता' इतिवत् पदानां परस्परमत्यन्तसामीप्यं संहिता, इत्याख्यानात् मन्त्रभागस्य संहितात्वं ख्यापयितुं शक्यते। पदपाठस्तु मन्त्रात्मकवेदस्यैव प्रसिद्धः, 'नमः-ते-रुद्र-मन्यवे-उतो इति-ते-इषवे-नमः' इति पदपाठः। अस्य मूलन्तु 'नमस्ते रुद्र मन्यव उतो इषवे नमः।' अत्र मूले नमः ते इत्यादिपदानां परस्परमत्यन्तसामीप्यमस्ति। तस्मात् पदपाठस्य संहितारूपो नमस्ते रुद्र मन्यव इत्यादिमन्त्रभागः। मन्त्रभागस्य संहितापदाभिधेयत्वं समञ्जसमस्ति। अर्थात् पदक्रमजटादिविकृतीनां मूलभूतोऽयं मन्त्रभागो वेदः संहितापदवाच्य इति ध्येयम्।

ऋगादिभेदेन वेदाश्चत्वारः, पुनश्च ऋगादीनामपि वेदानामवान्तरविभागो विद्यते शाखाशब्दव्यपदेश्यः।

यथा–'एकशतमध्वर्युशाखा:, सहस्त्रवर्त्मासामवेद:, एकविंशतिधा बह्‌वृच्यम् (ऋग्वेद:) नवधाथर्वणे वेद:' इति पस्पशाह्निके महाभाष्यकार: पतञ्जलिमुनिरब्रवीत् मुक्तिकोपनिषद्वचनमपि तत्तच्छाखासंख्यां संख्यापयति। यजुषो वाजसनेय:, तैत्तिरीय इति द्वौ विभागौ भवत:। शुक्लंयजुर्वेद: कृष्णयजुर्वेद इत्यपि नाम तयोविद्यते। काण्वशाखा इति शुक्लयजुर्वेदस्यापर: कश्चन विभागोऽस्ति। चरणव्यूहग्रन्थे च शाखाविशेषाणां परिचयोऽस्ति। चतुर्षु वेदेषु अधुना विद्यमानातिरिक्ता: सर्वा: शाखा: कालकवलिता: सन्ति। शाकलबाष्कलाश्वलायन- शांखायनमाण्डूकायना इति ऋग्वेदीयशाखा: प्रसिद्धा:, तत्रापि मुद्‌गलादिपञ्चशाखा: शाकलीया:, बोध्यादिचतस्र: शाखा: बाष्कलीया:, शांखायनादिचतस्र: शांखायनीया:, ऐतरेयब्राह्मणम्, कौषीतकीब्राह्मणमिति ऋग्वेदीयम्, ऐतरेयारण्यकम्, कौषीतक्यारण्यकमिति ऋगारण्यकद्वयम्। ऋग्वेदीया: दशोपनिषद:-ऐतरेयोपनिषत्, कौषीतक्युपनिषत्, त्रिपुरानिर्वाणमित्यादि।

तैत्तिरीयकठमैत्रायणीवाजसनेयकाण्वा: इति पञ्च यजु:शाखा:। अत्र मतभेदोऽस्ति। पञ्चदशशाखा इत्यपि पक्ष:। संप्रति तैतित्तरीयशाखा, काण्वशाखा, माध्यन्दिनशाखा इति तिस्र उपलभ्यन्ते अध्ययनाध्यापनपरम्परायामधुना जीवन्ति। चारायणीवारायणीमानवकपिष्ठलादिषड्त्रिंशच्छाखा: कालायत्ता:। तैत्तिरीयब्राह्मणम्, तैत्तिरीयारण्यकम्, तैत्तिरीयोपनिषत् (शिक्षा-ब्रह्म-भृगुवल्लय:) इति लभ्यते माध्यन्दिनीयं काण्वीयं शतपथब्राह्मणम् (शताध्यायात्मकम्)। बृहदारण्यकोपनिषत्, ईशावास्योपनिषत्, मुक्तिकादिनवदशोपनिषद: माध्यन्दिनीया:। सामवेदीयसहस्रशाखासु कौथुमराणायनजैमिनीयशाखास्तिस्र इदानीमध्ययनाध्यापनपरम्परायां श्रवणपुटमधिगच्छन्ति। शिष्टा: शाखा: सर्वा अपि कालाग्निना दग्धा इति दौर्भाग्यमस्माकम्। ताण्ड्यषड्विंशमन्त्रदैवतार्षेय-सामविधानसंहितोपनिषद्वंशाख्यानि सामवेदीयब्राह्मणान्यष्टसंख्याकानि भवन्ति। आरण्यकमिति पृथङ्नास्ति। छान्दोग्यकेनजाबालादिषोडशोपनिषद: सामवेदीया:। यद्यपि पैप्पलशौनकादिनवशाखा: अथर्ववेद सन्तीति चरणव्यूहादिग्रन्थेषु पठितुं शक्यते, तथापि पैप्पलादशौनकाभिधेये द्वे शाखेऽधुना वर्तेते। तत्संप्रदायानुरूपाध्ययनाध्यापनपारम्पर्यं सर्वथा लुप्तमिति मन्ये। अधीतऋग्वेदिन: केचनाथर्ववेदपाठिनस्तच्छोभां प्रवर्धन्ते। गोपथब्राह्मणमस्य वेदस्य भवति। माण्डूक्यमुण्डकगणपत्यादि एकत्रिंशदुपनिषदोऽस्येति वैदिकानां मतम्। आरण्यकमिति नास्ति। इत: परं चतुर्षु वेदेषु प्रतिपाद्यविषया: के इति चिन्तयाम:।

'अध्यायानां चतु:षष्टिर्मण्डलानि दशैव तु।
वर्गाणाञ्च सहस्त्रे द्वे संख्यात्वे च षडुत्तरे।।'

इत्यादि – अनुवाकानुक्रमणिकेतिग्रन्थे ऋग्वेदस्वरूपवर्णनं दृश्यते। अष्टाष्टकात्मक ऋग्वेद:, दशमण्डलानि, अवान्तरविभागो वर्ग: अनुवाक इति। देवादिसूक्तानां तत्र विशेषतया दर्शनं भवति। इन्द्रवरूणाग्निमरुत्सवितृरुद्रोषसादिदेवसूक्तानि, नासदीयादितत्त्वसूक्तनि, कितवाद्युपदेशसूक्तानि, यमयमीत्यादिसंवादसूक्तानि, दानस्तुतिसूक्तानि इत्यादिसूक्तान्येवात्र विलसन्ति।

दशपूर्णमासाश्वमेधाग्निचयनराजसूयवाजपेयसौत्रामणिसोमयागादियज्ञकर्मविधिमन्त्राणां सङ्ग्रहोऽस्ति यजुर्वेदे। सप्तकाण्डात्मकं यजु:। प्रपाठक: (प्रश्न:) अनुवाक इत्येवं प्रकारेणावान्तरविभागो तत्र वर्तते। अध्याय:, कण्डिका, अनुवाक इति वाजसनेयवेदविभाग:।

सामवेदश: छन्दारण्यकमहानाम्नोत्तराश्चेति चत्वार अर्चिका अत्र विद्यन्ते स्तोभगानविषयकग्रन्था:। गेयारण्योहोहयाश्चेति परिशिष्टाश्चत्वारो ग्रन्थाश्च सामवेदीया:। पूर्वार्चिकोत्तरार्चिकभेदेन द्वौभागौ च स्त:। दशमन्त्राणां समूहं प्रति दशतीति पृथक् भागो वर्तते। आग्नेयैन्द्रपवमानारण्यकमहानाम्नीति पर्वाण्यपि श्रूयन्ते। बृहद्रथन्तरवैरूप्यरैवतशाक्करागिष्टोम- सामेत्यादिगानविशेषा भवन्ति। तत्तद्गानविशेषेणोद्गाता यागसमये देवं स्तौति। अत्रापि सप्तस्वरा: विराजन्ते। सामवेदीयविषया अतिनिगूढा: झटिति बुद्धिपथं नाधिरोहन्ति।

अथर्ववेदस्तु विंशतिकाण्डात्मकः ऋग्वेदवत् सूक्तान्येवात्र प्रकाशन्ते। पौष्टिकशान्तिकसूक्तानि, भैषज्यसूक्तानि, आरोग्यसूक्तानि, राजकर्मसूक्तानि, कानिचिदाभिचारिकसूक्तान्यपि एवं सूक्तकुसुमालङ्कृतोऽयमथर्ववेदः।

अन्यच्च ऋग्वेदादितत्तद्वेदीयसंस्कारादिकर्मप्रतिपादकग्रन्थाश्च नाना वर्तन्ते। यथा- आश्वलायनश्रौतसूत्रम्, शांखायनश्रौतसूत्रम् (ग्रन्थः) आश्वलायनगृह्यसूत्रम्, शांखायनगृह्यसूत्रम् ऋग्वेदीयप्रातिशाख्यमिति व्याकरणग्रन्थः, बृहद्देवता, आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी- त्यादिऋग्वेदीयग्रन्थाः। श्रौतगृह्यग्रन्थाः सूत्रात्मकाः, एषामपि भाष्यादिकं विद्यते। कात्यायनश्रौतसूत्रम्, पारस्करगृह्यसूत्रम्, शुक्लयजुः प्रातिशाख्यमिति माध्यन्दनीयाः एते ग्रन्थाः।

आपस्तम्बमानवहिरण्यकेशीबौधायनभारद्वाजसत्याषाढवैखानसश्रौतसूत्रग्रन्थाः, आपस्तम्बबौधायनादितत्तन्नाम्ना गृह्यसूत्रग्रन्थाः बौधायनापस्तम्बधर्मसूत्रग्रन्थाः, आपस्तम्बबौधायनशुल्बसूत्रग्रन्थाः, तैत्तिरीयप्रतिशाख्यग्रन्थश्च तैत्तिरीयाः (कृष्णयजुर्वेदीयाः) द्राह्यायणन्ताट्यायनमशकश्रौतसूत्रम्, गोभिलखदिरजैमिनीयगृह्यसूत्रम्, पुष्पकृतसामप्रातिशाख्यम्, अपि च केचन परिशिष्टग्रन्थाश्च सामवेदस्य प्रथिताः भवन्ति।

कौशिकश्रौतसूत्रम्, वैखानसवाराहगृह्यसूत्रम्, अथर्ववेदीयप्रातिशाख्यमिति व्याकरणग्रन्थस्याथर्ववेदस्य सुप्रसिद्धग्रन्थाः वर्तन्ते। इदमत्र वर्णनं चतुर्णामपि वेदानां सूक्ष्मशरीरस्येति ध्येयम्।

वेदार्थज्ञानोपकारकं वेदाङ्गशिक्षादिषण्णामध्ययनं कर्तव्यताकमिति 'षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति' विधीयते। वेदशरीरस्याङ्गभूतानि शिक्षादीनि-

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥

शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥'' (पा. शि. 41-42) हस्तपादादिरूपत्वेन षडङ्गानां कल्पना भवति। न केवलं शिक्षादीनि वेदार्थज्ञानसहकारीणि, किन्तु पुराणादीन्यपि याज्ञवल्क्यमुनिर्बोधयति-

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दशः॥' इति (या. स्मृ. 1.3.4)

छन्दः-तत्र तत्र वेदे छन्दोविशेषाणां विहितत्वात् 'तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि प्रातरनुवाकेऽनूच्यन्ते' इत्यादि (तै. ब्रा. 1.5.12.1)। गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपंक्तित्रिष्टुब्जगतीत्येतानि सप्त छंन्दांसि। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, अष्टाविंशत्यक्षरा उष्णिक् इत्याद्यक्षरसंख्यापि विद्यते। तत्र मगणयगणादिसाध्यो गायत्र्यादिछन्दोविवेकः, अतस्तद्ग्रन्थाध्ययनं विना विवेकोऽनुपपन्न इति अध्येतव्यच्छन्दोग्रन्थः।

हस्तकल्पः कल्पः- कर्मप्रयोगविधिबोधको ग्रन्थः कल्पः। बौधायनापस्तम्बादिश्रौतगृह्यधर्मशुल्बसूत्रात्मकः। कल्प्यते समर्थ्यते यागादिप्रयोगोऽत्रेति कल्पपदव्युत्पत्तिः। वेदोक्तकर्मणां प्रयोगज्ञानार्थं कल्पग्रन्थाध्ययनं नितरामुपकारकम्।

नेत्रकल्पं ज्योतिषम्- यज्ञकालार्थसिद्धये ज्योतिषं वेदाङ्गम्। 'संवत्सरमेतद्व्रतं चरेत्', 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत', 'मासि मासिअतिग्राह्या गृह्यन्ते', 'प्रातर्जुहोति', कृत्तिकास्वग्निमादधीत' इत्यादिरीत्या संवत्सरमासायनर्तुनक्षत्रादीनां ज्ञानं ज्योतिःशास्त्राधीनम्। अतः कालविशेषपरिज्ञानार्थमध्येतव्यं ज्योतिषमिति वेदाङ्गत्वं तस्य प्राप्तम्।

श्रोत्रस्थानं निरुक्तम्- वेदार्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्। गौः ग्मा-ज्मा-क्ष्मा-क्षा-क्षमेत्यारभ्य देवपत्न्य इत्यन्तो यः पदानां समाम्नायः समाम्नातस्तस्मिन्ग्रन्थे पदार्थावबोधाय परापेक्षा न विद्यते (सा.भा.भू.55)। यास्काचार्यप्रणीतोऽयं ग्रन्थस्तु त्रिकाण्डात्मकः (नैघण्टुककाण्डम्-नैगमकाण्डम्-दैवतकाण्डमिति) सुतरामस्य गन्थस्याध्ययनमपेक्षितं भवति।

शिक्षा-'शीक्षां व्याख्यास्यामः, वर्णः स्वरः, मात्रा बलं, सामः सन्तानः' इत्यादितैत्तिरीयोपनिषच्छिक्षावल्ली (2-141)। 'वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्र उपदिश्यते सा शिक्षा' इति (सा.भा.भू.49)। अकारादिवर्णाः, उदात्तादिस्वराः, ह्रस्वादिमात्राः, स्थानप्रयत्नौ इत्यादीनां परिज्ञाने सत्येव वेदोच्चारणम्। अध्ययनाध्यापनकार्यं सम्भवेत् तद्विज्ञानं विनाध्ययने हानिर्भवेत्। शिक्ष्यमाणवर्णातिवैकल्ये बाधो दर्शितः-

'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।। इति

(पा.शि.52.पृ.3)।

'तस्मात् स्वरवर्णाद्यपराधपरिहाराय शिक्षाग्रन्थोऽपेक्षितः' (सा.भा.भू.50)।

मुखं व्याकरणम् - पाणिनीयव्याकरणं सर्वथा नानपेक्षितम्। वेदव्याकरणं प्रतिवेदं प्रातिशाखाख्यं चाध्येतव्यमेव। प्रकृतिप्रत्ययाद्युपदेशेन पदस्वरूपतदर्थनिश्चयायोपयुज्यते। वररूचिना मुनिना व्याकरणप्रयोजनं वार्तिके यत्प्रदर्शितं अत्र तदेव प्रयोजनम् 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्।' महाभाष्ये पतञ्जलिना स्पष्टमुक्तं - 'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्'। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यक् वेदान् परिपालयिष्यति वेदार्थञ्चाध्यवस्यति। ऊहः-न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्राः निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञाङ्गत्वेन यथायथं विपरिणमयितव्याः तद् व्याकरणज्ञानेनैव साध्याः। **आगमः**- ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति। लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्। मन्त्रेषु स्वरसन्देहो भवेत्, समासाधीनोदात्तत्वस्वरत्वादीनां सन्देहे सति अनभिज्ञस्य निर्णयो नास्ति, सन्देहपरिहारस्तु व्याकरणादेव संभवः, असन्देहार्थञ्च व्याकरणमध्येतव्यम्। भाषाशुद्धिः, उच्चारणशुद्धिश्च व्याकरणादेव सम्पादनीयेति भृशं व्याकरणस्य वेदाङ्गत्वं वेदविग्रहस्य मुखत्वेन पाणिनिना प्रतिपादितमिति। इति षडङ्गभूतशिक्षादीनां स्वल्प परिचयः कृतः।

शिक्षाग्रन्थस्तु प्रतिवेदं भिन्नोऽस्ति। शौनकशिक्षा, व्यासशिक्षा, नारदीयशिक्षा, कात्यायनशिक्षा, याज्ञवल्क्यशिक्षा, पाराशरीशिक्षा, लोमशीशिक्षा इत्याद्युपशिक्षाणां सङ्ग्रहग्रन्थोऽस्ति।

यथावन्मूलस्य संरक्षणोपायभूतो विकृतिपाठसम्प्रदायो वैदिकसमाजेऽधुना दृश्यते-पदपाठः, क्रमपाठः, जटापाठ इत्यादिपदक्रमपाठमन्तराष्टविकृतिपाठाः सन्तीति वेदसंप्रदायज्ञाः वदन्ति। पौरुषेया एते पाठाः, कर्तृस्मरणमस्ति। चरणव्यूहादिग्रन्थाः स्मारकास्तत्र। अष्टपाठा एवं भवन्ति-

जटा-माला-शिखा-रेखा-ध्वजो-दण्डो-रथो-घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः।।' इति। पदपाठस्य प्रकृतिर्मूलवेदः, क्रमविकृतिपाठस्य पदपाठो मूलः। अन्ये जटादयो ये पाठास्तेषां प्रकृतिस्तु क्रमपाठः। पाठविशेषाणां कर्तारः-

'भगवान् संहितां प्राह पदपाठं तु रावणः।
बाभ्रव्यर्षिः क्रमं प्राह जटां व्याडिरवोचत्।।
मालापाठं तु वसिष्ठश्च शिखापाठं भृगुर्व्यधात्।
अष्टावक्रोऽकरोद्रेखां विश्वामित्रोऽपठद्ध्वजम्।।
दण्डं पराशरोऽवोचत् कश्यपो रथमब्रवीत्।
घनमत्रिमुनिः प्राह विकृतीनामयं क्रमः।।' (मधुशिक्षा)

चरणव्यूहग्रन्थे क्रमेण जटादिपाठानां लक्षणमपि वर्तते। जटादिषु पदानामनुलोमविलोम- क्रममनुसृत्य पञ्चसन्धिनियममनतिक्रम्य वेदपदानामुच्चारणं भवति। पञ्चसन्धि:-

'अनुक्रमश्चोत्क्रमश्च व्युत्क्रमोऽभिक्रमस्तथा।
संक्रमश्चेति पञ्चैते जटायां कथिताः क्रमाः॥'

इति पदपाठिनः, क्रमपाठिनः, जटापाठिनः, घनपाठिनश्च ऋग्यजुर्वेदविदः चेन्न-कर्णाटकान्ध्रमहाराष्ट्रवाराणसीप्रदेशेषु इदानीमपि राराजन्त इति तथ्यम्।

वेदानामप्युपवेदोऽस्तीति ज्ञायते -'आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्ववेदोऽर्थशास्त्रञ्चेति चत्वारः उपवेदाः' इति (प्र.भे.ग्र.176)।

इत्थञ्चैतावता वेदवेदाङ्गवेदीयशाखातदवान्तरीयशाखाविषयविकृतिपाठोपवेदाः प्रायशोऽत्रेपत्रप्रकाशिताः। वेदवाङ्मयं तु आकाशवदतिविशालमस्ति। साक्षाद्विष्णोः विश्वरूपमेव तद्वेदवाङ्मयम्।

'असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखालेखनीपत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥' (शि.म.स्तो.32, पृ. 103)

इति श्लोकं स्मृत्वा भगवत्याः शारदायास्तथा चेत् ज्ञानविहीनस्य तृणकल्पस्य लेखकस्य कुतस्तथा सामर्थ्यम् ? तथापि मोदः। विष्णुसहस्त्रनामावल्यां 'वेदा वेदविदव्यङ्गो वेदाङ्गो वेदवित्कविः' (वि.स.शा.भा.27, पृ.104) इति विष्णोर्नाम भवति वेद इति। तत्र शाङ्करभाष्ये तु 'वेदरूपत्वात् वेदः, वेदयतीति वा वेदः।' 'वेदविदेव चाहम्' इति गीता (15.15)। वेदा अङ्गभूता यस्य स वेदाङ्गः, वेदान् विन्ते विचारयतीति वेदवित्' इति व्याख्यानं पश्यामः। अर्थात् साक्षान्नारायण एव वेद इति स्पष्टम्। तस्य जगन्नियामकस्य श्रीमन्नारायणस्य स्तुत्यात्मकमिदं वेदवाङ्मयलेखनं भवतीति भगवता खलूक्तं 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (गी.9.27) इति तन्मनसि निधाय लेखनेनानेन सुप्रीयतां स एव वेदनारायण इति।

वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः।
तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः॥ इति

डा. सच्चिदानन्द तिवारी
उप-निदेशक, मुक्तस्वाध्यायपीठम्,
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली



The nomenclature and order of weekdays

Sarva Narayan Jha

The word graha is used in a different sense in the Indian astronomy than the corresponding word planet is using in the modern astronomy. In this paper, I am going to use the word planet as a translation of the word graha. In ancient india the grahas were considered to be seven in number i.e. The Sun, Moon, Mars, Mercury, Jupiter, Venus and Saturn. Presuming that the planets move around the earth, they were considered to be geocentric. In 1543, a heliocentric system had been introduced by Nicolaus Copernicus, Presuming that the Planets move around the sun. The method of finding the names as well as order of the weekdays, i.e. Sunday, Monday, Tuesday, Wednesday, Thursday, Friday and Saturday is based on the geocentric system. If we apply the helicentric system for this purpose then the order of the weekdays comes out to be Sunday, Tuesday, Wednesday, Thursday, Friday, Saturday and Monday. Therefore, we can say that the nomenclature and order of weekdays is based on the order of the grahas in the sky as viewed by the Indian Ṛṣis.

The whole process of the universe continues from time immemorial . The repetition of the process of creation , change , and destruction of the universe is witnessed only by the Time . Time can be identified as an indivisible unity without a beginning or an end .The Time is a great creator and destroyer of all things of the universe, as such he is identi -fied with death , with yama , with the ruler of the dead etc . The cycle of birth and death is an eternal process without any visible force ope-rating the whole system . Therefore , the casualty of creation as well as destruction is attributed to the Kāla , i.e. the Time which is unfa- thomable. The apparent sequence of events gives us the feeling of pre and post , old and new as well as past, present and future . Actually , the Time is indivisible and immeasurable but it has been divided and measured for practical purposes by our Ṛṣis to mark the events.

In the *Sūryasiddhānta* the Time has been conceived as of two types , One is the destroyer of the Universe and the other is that which can be used as the unit of measurement:

***Lokānāmantakṛtakālaḥ kālo'nyaḥ kalanatmakaḥ*[1]**

Of these, the latter which is used as the unit of measurement has been divided into two parts : *mūrta* (gross or real or embodied) and *amūrta* (subtle or unreal or not embodied)

Mūrta – The *mūrtakāla* is the amount of period , the passing of which can be realised and can be taken cognizance of , having a form.

Amūrta - The *amūrta kāla* is the small amount of period , the passing of which cannot be realised or ascertained by calculation or any other means which is formless:

Sa dviddhā sthūla sūksmattvanmūrtascāmūrta uccyate.[2]

According to the *Sūryasiddhānta* , the smallest unit of time is known as *prāṇa* (*prāṇādiḥ kathito mūrtastruṭyādyo' mūrtasanjyakaḥ*[3]). The length of the breathe of a normal man is called *prāṇa* . The *Sūryasiddhānta* has not given the details of *amūrta kāla* other than the fact that the *amūrta kāla* begins from . *The* author of *Sūryasiddhānta* did not consider the divisions of *amūrta kāla* as it has no practical value in measuring the motions of the stars and the planets . He has applied visible time in the *Sūryasiddhānta* . He has actually not used the time unit beyond the *prāṇa* in the *Sūryasiddhānta* .

As stated above the time beginning with *prāṇa* is called *mūrta kāla* (*prāṇādiḥ kathitomūrtaḥ*[4]) . Here *prāṇa* means respirsation time, occupied in pronouncing ten long - syllables . Six respirations (*prāṇas*) make a *vināḍī* or *pala* (*śaḍbhiḥ prāṇairvināḍī syāt* [5]) whereas sixty *vināḍīs* make a *nāksatrāhorātra* (*tatṣaṣṭhyā nāḍikā smṛtā*[6]) , i.e. sidereal day and night . We can understand the reckoning method of sidereal time which is usually adopted in the astronomical text books , on the basis of the following divisions :

10 long syllables (*Daśadīrghāksaroccāraṇakāla*) = 1 *prāṇa* or respiration = 4 seconds.

6 *prāṇas* = 1 *vināḍī* = 24 seconds

60 *vināḍīs* = 1 *nāḍī* = 24 minutes

60 *nāḍīs* = 1 sidereal day and night .

The usual modern name of vināḍī is *pala* and that of *nāḍī* is *daṇḍa* or *ghaṭikā* . The *manu's* division of the day is slightly different from the astronomical division , e.g.

15 *nimeṣas* = 1 *kāṣṭhā*

30 *kāṣṭhās* = 1 *kalā* = 1 minute

30 minutes = 1 *muhūrta*

30 *muhūrtas* = 1 day (Manusmṛti 1.64)

The sidereal day is the time of the earth's revolution on its axis. The civil day is the natural day. It is counted from sunrise to sunrise (*Inodayadvayāntaram tadarkasāvanam dinam , sāvano `rkodayaistathā*[7]) and accordingly it has variable length . It is the most important element in all computations of time. Thirty civil days constitute a month (*tattrimśatā bhavenmāsaḥ*[8]) and 12 civil months constitute a civil year (*māsairdwādaśabhirvarṣam*[9]). The system of constituting various types of calendar is to divide it into days, months and year of their respective length .Thirty days consti-tute a month and 12 months constitute a year.The basis of such a divi-sion would have been the Sun's complete revolution along with the zodiac consisting of 360 degrees. The course of the Sun was measured along the Zodiac which was divided in to 12 equal parts of 30 degrees each , giving rise to the concept of 360 days and 12 months in a year, the length of the month being 30 days corresponding to the arc of 30 degrees . The concept of

the days , months and year would not have been developed only by the yearly movement of the Sun , because , in that case the daily moement of the sun alongwith the ecliptic could not have been observed .The sunrise and sunset regularly bringing light and darkness , would have been the phenomena most regularly marked with the light being called day and the darkness being call-ed the night *(dinam dineśasya yato'tra darśane tamī tamo hanti adarśane sati*[10]*)* .Thus , the interval for which the Sun shone in the sky came to be known as day and the interval for which it remained invisible, came to be known as night. The interval between one rising to another, came to be known as *ahorātra* (day and night) and was also called a day itself for astronomical purposes.

The concept of the year would have been developed by the rising point of theSun in the eastern horizon , as it could not have been possible toknow from the Moon , due to lack of any observable annual pheno-mena of the Moon . The early observers would have seen the deflecti- on of the Sun from its rising point either northward or southward and coming back again to its original position . In the first instance, they must have observed the extreme positions in the north or south beyond which the Sun does not move further but moves backward from that point. The interval during which the Sun comes again to either of the extreme position , was called as a year. Therefore in the early period of Indian history , the year began from the solstice particula-rly the summer solstice , the time, around which the monsoons came . Therefore, the year is called *varṣa* or *abda* . Since the division of the year was made on the basis of of the observations of the lunar and solar motions , the lunisolar calendar came into existence (meṣādisthe savitari yo yo māsaḥ prapūryate cāndraḥ caitrādi sa vijneyaḥ) . It is still in use in India . According to the *Sūryasiddhānta* the method of finding the lords of the day , month and year can be summarised as under : The lord of the given day is obtained by dividing the computed civil days by seven and counting the remainder from Sunday in the order of week- days.In this context , it should be known to us that the Sunday is the 1st day of the Kalpa or of the Indian Astro-nomical reckoning System.

The Bhaskar 2 nd described , ***Laṅkānagaryāmudayācca bhānoḥ tasyaiva vā re prathamam vabhūva madhoḥ sitadeḥ dina māsavarṣa yugādikānām yugapat pravṛttiḥ*** [11]. The lord of the month in which the given day occurs is ascertained by dividing the civil days by 30 and multiplying the quotient by 2 and adding 1 and further dividing the total by 7 . The remainder , counted from Sunday in the order of the week days, is the lord of the month. *Māsābda dina saṅkhyāptam dwitrigh nam rūpasayūtam saptoddhṛtāvaśeṣau tū vijñyeyou māsavarśapou* .[12]

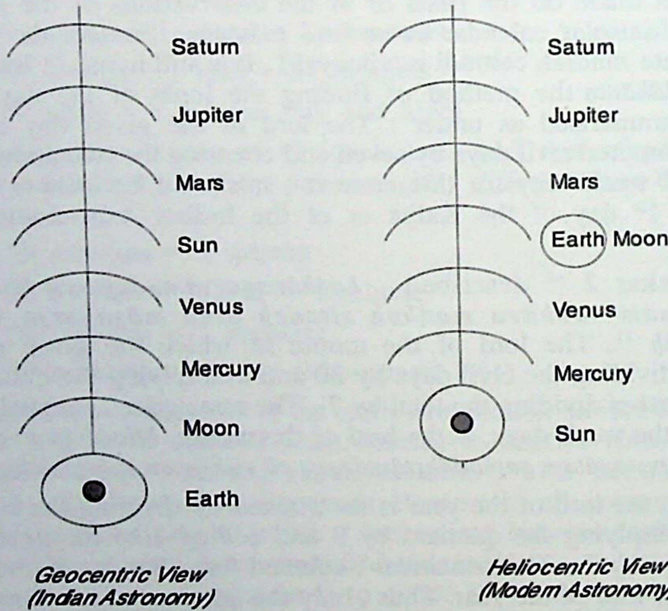
Similarly, the lord of the year is ascertained by dividing the computed days by 360 and multiplying the quotient by 3 and adding 1 to the product and then dividing the total by 7 . The remainder , counted from Sunday in the order of the week days, is the lord of the year. Thus , only the quotient of the months and years is retained and the remainder is dropped . Let us now explain the base of these formulas: The names and order of the week days are based on the order of the Graha's in the sky as viewed by the Indian *Ṛṣis* .

The word Graha was used in different sense in the Indian Astronomy

than the corresponding word planet is being used in the modern Astronomy. Since , I am dealing with the Indian Astronomical system, I am using the *word* planet as a translation of the word ***Graha*** , treating the Sun and the Moon as planets . In ancient India , the ***Grahas*** were considered to be seven i.e. the Sun, Moon, Mars, Mercury, Jupiter,Venus and Saturn. Presuming that the planets move around the earth , they were considered to be Geocentric . In 1543 , a heliocentric system had been introduced by the great astronomer Nicolaus copernicus, presuming that the planets move around the Sun . Therefore , the sun and the moon were excluded from the list of the planets and the Earth was included.

According to the Suryasiddhanta, the planets are stated to be revolving in Brahmand below the orbit of the *naksatras*(Asterisms).*Mandāmarejya bhūputra sūrya śukrendujendavaḥ paribhramantyadhodhaḥsthāḥ siddhāḥ vidyādharāghanāḥ*[13] . Their orbits lie in the following descending order: the Saturn, Jupiter, Mars, Sun, Venus, Mercury and moon while in the modern astronomy , the planets lie in the following successive order of distance from the Sun , Mercury , Venus , Earth , Mars , Jupiter and Saturn. The Moon as a satellite moves around the earth as well as around the sun alongwith the earth. The difference between the geocen -tric and the heliocentric system is shown in the following **diagrams:**

DIAGRAMS



Geocentric View (Indian Astronomy)

Heliocentric View (Modern Astronomy)

A comparison of the ancient Indian view with the modern one shows that the order of the Mars , Jupiter and Saturn is the same. The Moon's position also agrees with the view of the modern astronomy. Both are considering it to be nearest to the earth . The relative order of the Sun and the Earth also agrees . The position of the Venus and Mercury, however, differs . According to the Ancient Indian astronomy,

the Mercury is the nearest planet to the Earth, while according to the modern Astronomy, the Venus is the nearest planet to the Earth. Henc, the method of finding the names as well as order of the week-days i.e. Sunday ,Monday ,Tuesday ,Wednesday ,Thursday ,Friday and Saturday is based on the geocentric system of Suryasiddhanta (***Mandāmarejya bhūputra sūrya śukrendujendavaḥ paribhramantyadhodhaḥsthāḥ siddhāḥ vidyā dharā ghanāḥ***[14] and , ***mandādadhaḥ kramena syuścaturthāḥ divasādhipāḥ varṣādhipatayastadvat tṛtiyāḥ parikīrtitāḥ ,ūrddhvakrameṇa śaśino māsānāmadhipāḥ smṛtāḥ . horeśāḥ sūryatanayādadhodhaḥ kramaśastathā***[15] etc.). If we apply the heliocentric system then the order of the week-days comes out to be Sunday, Tuesday, Wednesday ,Thursday ,Friday , Sat- urday and Monday. The period of the day and night ahorartra is divided into 24 parts known as *horās* . Each *horā* is governed by the graha in succession . In the beginning of the creation the 1st *horā* belon-ged to the Sun , the 2nd *horā* in succession belonged to the Venus, the third to the Mercury , fourth to the Moon , fifth to the Saturn, sixth to the Jupiter and the seventh to the Mars .The cycle was repeated again and again.

Thus the 24th *horā* , the *horā* before the next sunrise, belonged to the Mercury . This can easily be known , dividing 24 by 7 the remainder is 3 , counting from the Sun in the order of the planets the third number comes to Mercury .Thus, at the beginning of the next sunrise , the next *horā* would belong to the Moon , the next graha in order. The day is designated after the *graha* occupying the 1st *horā* at the sunrise .It is known as the lord of the day . Thus , the 1st day of creation belon-ged to the Sun , the 2nd to the Moon, the 3rd to the Mars and so on. The process since then is continuing incessantly.The order of the week days is thus set and the cycle is repeated after a period of 7 days. If we calculate the names and the order of week days on the basis of the heliocentric view, then the order of the week-days comes out to be Sunday, Tuesday, Wednesday ,Thursday ,Friday , Saturday and Monday. hence , on the basis of these facts ,we can say that the ***nomenclature and order of weekdays is based on the order of the grahas in the sky as viewed by the Indian Ṛṣis.***

References :

1. Sūryasiddhānta , ch. 1 śloka . 10
2. Sūryasiddhānta , ch. 1 śloka . 10
3. Sūryasiddhānta , ch. 1 śloka 11
4. Sūryasiddhānta , ch. 1 śloka 11
5. Sūryasiddhānta , ch. 1 śloka 11
6. Sūryasiddhānta , ch. 1 śloka 11
7. Sūryasiddhānta , ch. 1 śloka 12
8. Sūryasiddhānta , ch. 1 śloka 13
9. Sūryasiddhānta , ch. 1 śloka 13
10. Sūryasiddhānta , ch. 1 śloka 13

11. Siddhantasiromani , Madhyamādhikāra, Kālamānādhyaya sh. 15
12. Sūryasiddhānta , ch. 1 śloka 52
13. Sūryasiddhānta , ch. 12 śloka 31
14. Sūryasiddhānta , ch. 12 śloka 31
15. Sūryasiddhānta , ch. 12 śloka 78

Bibliography

Sūryasiddhānta, kapileshwarshastri, chaukhamba sanskrit series office, Varanasi

Sūryasiddhānta, Mahabir Prasad Shrivastava, Ratnakumari Svādhyāya Sansthāna, Allahabad.

Prof. Sarvanarayan Jha
- Prof. in jyotiṣa,
Rashtriya Sanskrit Sansthan
Ganganath Jha (research) Campus
Chandrashekhar Azad Park
Allahabad, INDIA



Book Review

I.

The Grand Verse Compendium

महासुभाषितसङ्ग्रहः

Devarsi Kalanath Shastri

Maha-subhasita-saṅgraha, vol viii, compiled by Ludwick . Sternbach, Ed. Indra Dutt Uniyal, Vishveshvaranand Vedic Research Institute, Hoshiarpur,2007, PP 750, Price Rs. 1000/-.

The publication of Volume Eight of the late Prof Ludwick Sternbach's *Maha-subhasita-sangraha,* being issued serially by the Vishveshvaranand Vedic Research Institute, Hoshiarpur, over the last several years, is a welcome addition to the vast corpus of Reference Literature in Sanskrit. The collections of wise-sayings, variously called as *suktis, subhasitas* or *saduktis, have* a long and chequered history. The connoisseurs of Sanskrit poetry, fired with a zeal to transmit to posterity the best specimens of the instructive and elevating poetry, had, since quite early times, taken to collecting the plethora of winsome verses, which, embodying an array of values and norms, besides scenic beauties and an 'appraisal of abiding emotions, served to make life more purposeful and enjoyable. The Panditas of old prepared such *samgrrahas* -for their personal use, which they drew upon liberally in their writings and interactions with cultured people. After the printing press brought about a radical change in the concept of knowledge and ushered in a virtual renaissance in Sanskrit learning, a good number of *subhasita- sangrahas* were painstakingly prepared in India and abroad and were zealously patronized by reputed publishing houses. The preface to the volume under review brilliantly captures the history "of the origin and growth of the collections of wise-sayings that established themselves, over the years, as an independent genre of literature, simultaneously bringing into bold relief the proud saga of the Maha-*subhasita- sangrahā;* as conceived and executed by Prof. Sternbach. The monumental project was visualized to be completed in twenty burly volumes. It is, however, sad that the compiler could prepare only ten, ranging from the letter *a* to *du.* While five of them were brought out by -the VVRI in his life time, it is engaged in publishing the rest since his death in 1981.

The present volume, being the eighth in the series, comprises as many as 1635 verses from Number 13019 to 14653, beginning with the *Devanagari* letter *gu* to *che.The* verses included in the volume are marked by **the,** poetic excellence. A sizeable number of them

have didactic overtones. By and large, they have been picked up from monumental works that have established themselves as fountain-heads of knowledge, ethos and morals, over the ages. Every verse is distinguished by a pleasing diction, accordant metre and an abiding message. Since many of the verses have been quoted from the *Mahabharata, Pancatantra* and other works of their ilk, they may well serve as epigrams of moral value and human behaviour. Most of the other stanzas that focus on the depiction of *rasa* or scenic beauty are veritable gems of poetry. What, however, heightens the value of the *samgraha is* its format and the scheme of presentation. The volume has been edited in accordance with the highest standards of textual criticism and editorial skill. It is not a mere thesaurus of quotable verses. It invariably mentions the source/ sources of each verse along with the .name of the author of the text/texts from which it has been culled, variant readings if any, the name of the metre_ and such other features as merit attention. And to cap it all, each verse is followed by a delightful English translation.

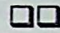
The four Appendices at the end, which well match the text in bulk, are a virtual mine of information. Appendix One, Abbreviations and Bibliography, dwells upon the abbreviations used in the volume for the source books, authors, publishers etc. and describes each in some detail. It bears testimony to the huge corpus of literature from which the verses have been collected, and the books that have been otherwise used. Books produced in India and abroad, and authors and compilers, both: indigenous and aliens, are indexed in the next Appendix, which also contains brief notes on the date of each author, nature of work and other relevant information along with the details of the verses taken in the volume from them. This is a valuable source material arranged in the *Devanagari* alphabetical order but printed in the Roman script. More valuable is the succeeding Appendix which sets forth the subjects that the different verses deal with. As the verses are alphabetically arranged, they are classified subject-wise which facilitates their quick location and identification. There is also an index- on Sanskrit metres in which the verses are couched. The metres have been broadly classified here as *Akasaracchandas* and *Maracchandas.* - The former doubtless stand here for the *Varnika* metres. But strictly speaking the ***Aksaracchandas*** refer to the Vedic metres(as one syllable or *aksara* stands there as a- unit irrespective of its being short or long - *laghu* or *guru);* whereas the *Varnika* metres refer to the metres used in classical Sanskrit since they rest on the *laghu- guru* scheme in the respective *ganas.*

By all accounts the volume is an immortal contribution of the V VRI to the world of letters.. While going through the 750 pages of the volume, one can appreciate the. strenuous labour, earnest devotion and consummate skill that have gone into preparing this publication of high order. It perfectly accords with the high standards of editing, printing and production for which the institute is known all over the world. It is borne out by more than one consideration. Generally Sanskrit classics do not escape printing errors these days, even correction of proofs is far from satisfactory; but in this volume both the *Devanagari* and Roman printing is almost faultless. The word 'almost' is used here only to be modest, as the very few errors that occur in the volume have been duly corrected in the Errata, and Corrigenda and Addenda, appended at the end.

The preface by Prof.. Indra Dutt Unlyal, the Editor of the volume, explains the backdrop of the compilation and the history of the project. The preface in Sanskrit has

been rendered into English by Prof. Satya Vrat Varma in lucid language and lively diction. It is a pleasure to know that the subhasitas included in the volume have been translated by Prof Satya Vrat Varma. The translation is enlivened by a pleasing fluency. The language and diction are natural and graceful. It makes as pleasant a reading as the original verses, and may well be quoted with the original. Prof Varma deserves warmest compliments from the Sanskrit world for the admirable job he has done. The VVRI and its Director, Prof Uniyal will be remembered by the posterity for long for having brought out this unique volume.

-Chair-person, Modern Sanskrit Chair, J.R. Rajasthan Sanskrit University; Chief Editor, Bharati Sanskrit Monthly; Ex-President Rajasthan Sanskrit Academy; Ex-Director. Sanskrit Education, Rajasthan.



II.

Book : रूमीपञ्चदशी of Persian poet Jalaluddin Rumi; Sanskrit Translation by Prof. Radhavallabh Tripathi; published by Sanskrit Bharati, Jhandewalan, New Delhi; pp. 8+104; Rs. 35=00; 2011

Without Translated Sanskrit Literature our contemporary Sanskrit literature is almost incomplete. They are available in almost all the disciplines of modern Sanskrit writings. In poetry, there are महाकाव्य-s, खण्डकाव्य-s and lyrics etc. (e.g. Prof. G. C. Pandey's अस्ताचलीयम्, Dr. Jagannatha Pathak's गालिब-काव्यम्, Prof. Trivikram Pati's दूरे तत्तीरे, Prof. Radhavallabh Tripathi's पञ्चवटी, Dr. Banamali Biswal's तारा अरुन्धती, Dr. Harekrishna Mehera's प्रणयवल्लरी, Dr. Narayan Dash's बाजिराउतः, Dr. Govindachandra Udgata's श्रीराधा etc.), whereas in prose there are stories, short stories (e.g Prof. Radhavallabh Tripathi's रुमीपञ्चदशी, Dr. Banamali Biswal's जन्मान्धस्य स्वप्नः, Dr. Narayan Dash's सृष्टिः, सप्तपदी), Novels (e.g H.V. Nagaraj Rao's सार्थः, Janardan Hegde's धर्मश्री, Shriram Dave's निर्मला, Dr. Bhagirathi Nanda's याज्ञसेनी etc.) along with travelogue and fine essays (Sumanta Chaudhuri's परनिन्दा etc.). Similarly, in dramas also there are plays, one-act-plays etc. For example, Manoranjan Das's अरण्य फसल (Sahitya Akadami awarded Oriya drama) translated into Sanskrit by Kshirod Chandra Dash as अरण्यशस्यम् (Published by Sahitya Akadami, Delhi in 2000), Shakespeare's Hamlet (the prince of Denmark) is originally in English and translated into Sanskrit by S. D. Joshi as चन्द्रसेनः दुर्गदेशस्य युवराज (published by CASS, University of Pune in 1980). Similarly, Rabindranatha's couple of dramas, namely, मुक्तधारा and डाकघर are translated into Sanskrit as मुक्तधारा and डाकघर by Dhyanesh Narayan Chakravarti and Banamali Biswal respectively.

रूमीपञ्चदशी is originally written by the Persian poet Jalaluddin Rumi which is translated into Sanskrit by Prof. Radhavallabh Tripathi and published by Sanskrit Bharati, New Delhi

in 2011 during the World Book Fair. Since prof. Tripathi himself is a critic and creative as well as recreative writer one cannot make out whether his 'रूमी-पञ्चदशी' is a translated work or an original one. Because, it has so much of poetic qualities related to prose compositions such as natural flow, compact language, appropriate vocabulary etc. which help the work to be tasted like an original prose creation.

It will not be out of context to recall here that very recently I have visited the face-book of Dr. Kaushal Kumar Tiwari and found some postings in the group of modern Sanskrit literature where a scholar has raised some objections on the issue of the principal character of *Vikramacaritam* of Prof. Radhavallabh Tripathi. The objection is raised to the statement of Kaushal Kumar Tiwari that in *vikramacaritam* the hero is not the king Vikrama but a boar. To this Dr. Arun Upadhyaya says that it is an insult to the great historical king. I must thank god that Dr. Upadhyaya has not gone through the description of love making of that boar in *Vikramacaritam*. In fact, this underlines the creative boldness of Prof. Tripathi.

Dr. Upadhyya has also made another remark that the prose composition proves the weakness of a creative writer. He has a point to say that those who are not efficient to write verses, do write stories etc. which cannot be accepted by non of the readers of literature in real sense. Had it been the case, the ancient scholars would not have made a statement in the context of prose composition : *Gadyaṃ kavīnām nikaṣam vadanti*. Hence, I would suggest dr. Upadhyaya that he must read the prose compositions of some established creative writers like prof. Radhavallabh Tripathi.

Coming to the present work, since is a type of रहस्यवाद composition, we can efficiently place it into रहस्यवाद category of Contemporary Sanskrit literature. The basic difference between छायावाद and रहस्यवाद is : In छायावाद the nature (animate, inanimate both) is humanized, whereas in रहस्यवाद, जीव is generally accepted as a beloved to its counter part ब्रह्मन् (परमात्मन्) as a lover. For example Gurudev Ravindranatha's गीताञ्जलि is a रहस्यवादी गीतिकाव्य. The concept of रहस्यवाद is closer to the sentiment of मधुरभक्ति or *ujjvala-bhakti* of वैष्णवs where the जीव is depicted as a beloved in separation who is always eager to meet his lover ईश्वर or परमात्मन्. It is also believed that the lover परमात्मा is also anxious to meet his beloved जीव. A point is to be noted here that the Advaitic Upanishadic concept is the base of most of the Vaishnavic concepts. However, the present work appears in a different style with philosophic back-ground.

In his recreation the translator poet has reformed the names of the characters according to Indian cultural tradition. For example he has changed many names like जाबालि, दिङ्नाथ, नूर, रामदीन, नसीरुद्दीन, कल्पवृक्ष, पारिजातवृक्ष etc. This shows his inclination to the Indian culture though he has a broad vision to adopt any culture of our world because like many other Sanskrit scholars he believes in the popular maxim : वसुधैव कुटुम्बकम्.

The first story : भारतीयः वृक्षः indicates towards the world famous spiritual popularity of our Nation. The think tank of the world looks forward towards our nation in the context of some unanswerable philosophical questions. A messenger called नसीरुद्दीन comes to India and while roaming here and there he asks people that though guided by the scholar

दिङ्नाग he could not find that tree in विन्ध्याटवी by eating the fruit of which a man becomes free from old age and death.

Finally the sage जाबालि answers his question by describing the tree as merely representing some philosophical truths and says that such tree cannot be found outside as it is in the inner sense of a man. In this type of stories the theme of story is mingled with the themes of philosophy in a mysterious style having a scope for the vice versa also

In the story : एकं न द्वे (one and not two) it is said that due to the discriminating thoughts the वासना-s are called as संस्कार-s. The story "मूर्खो हि शोभते तावत्" casts a satire on such people who point out the faults of others without noticing their own faults. The story "बुद्धिमान्" advises that one should not ignore an already tested real and natural friend. The original author Rumi has done a great job by joining these value-oriented lessons with a common man and day-to-day events in general contexts. In the story "लघु हरितं च दीपम्" through a cow roaming in हरितद्वीप represents the hungered class who lives in a very fearful and doubtful situations while the earth represents a source producing all sorts of prosperity.

In these Persian stories the original author has adopted the life values of Indian stories in general and that of पञ्चतन्त्र in particular. He has given new contexts to the world of literature even before eight hundred years when he lived in the light of the stories of पञ्चतन्त्र.

The story : स्यूत-द्वयम् teaches about the importance of balance in the life through a camel - rider (उष्ट्रचालक). The story : एकेन हस्तेन समुद्गकस्य वयनम्" teaches that only the will of god controls the different lines and lengths of human life. The story says that the god establishes friendship only with fearless people. A thief is illustrated in the story : चयनं च समर्पणं च.

When a man completely surrenders his everything to god then only he can be united with soul or god. These feelings are expressed in the story : शेबा सोलोमनश्च. In this story the character शेबा represents जीव and सोलोमन the soul.

The story : गुडविक्रेता मृद्भक्षकश्च describes some of the contradictory desires of human being. The story : प्रमत्त: सेवक: not only decides the best three elements of the world but it inspires for self assessment. Through the story : मजनुश्च तस्य उष्ट्री च the author establishes the fact that there is a distance of only two feet between the god and the living being. But the most paradox is even by walking for *yugas* together he is not able to reach him because the way he chooses to meet the god, takes him away in the opposite direction. The story : अब्दुलस्तस्य जीर्णवस्त्रखण्ड-पूरितमुण्णीषं च teaches that no one should be diverted by the outer attractions of the world and by the false greeds coming before in many worldly contexts. In the story : रयीश: पक्षी च three advises are mentioned for happy life. Those advises are : One should not believe in the words of untrustable people, one should not lament on the past and one should advise only such people who are ready to listen him.

The story : वृद्धाया: पाशान्मुक्तस्य राजकुमारस्य describes that how the people become detached to real happiness by being seriously attached to the worldly objects.

To sum up : in these stories very good styles have been adopted for the expressions of several situations. The mysterious vision of the original author well governs the theme of the stories. In fact, by such governances some new aspect of not only the themes but of the concept of mystery is also expressed. The specific qualities of the present author is : he presents the so called mysterism through his stories with a simple depiction of events.

The readers of modern Sanskrit literature can find here that there is a combination of seriousness and simplicity and a combination of animates and inanimates in these stories.

Here there is also a declaration of high spirit through deepest concept of mysterism reflected in simplest methods of stories. Here, in one hand there are simple expressions with natural flow of prose composition and on the other, the highest level of life-style leading towards eternal happiness as well as liberation through mysterious presentation.

Though these Sanskrit renderings of the stories of रूमीपञ्चदशी give a taste of original creations, Prof. Tripathi has not violated the sole aim of the original writer. Hope the present recreation of Persian stories will enrich the contemporary Sanskrit prose writings in general and the Translated Sanskrit prose literature in particular.

Banamali Biswal



गैर्वाणी-गौरव-ग्रन्थमाला - 29
गैर्वाणवाणी-गौरवभूत-प्रत्न-नूतन-लघु-ग्रन्थानां सङ्कलनम्
गङ्गानाथझापरिसरशोधपत्रिकायाः परिशिष्टम्

प्रधान-सम्पादकः

सर्वनारायण झा

अज्ञातकर्तृका

शाब्दबोधप्रक्रिया

सम्पादकः

ललितकुमारत्रिपाठी



राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्
गङ्गानाथझापरिसरः
चन्द्रशेखर-आजादोद्यानम्
प्रयागः 211002
2011

ISSN 0377-0575

Published under *Gairvāṇavāṇi-Gaurava-Granthamālā*
Series-29

Chief Editor
Sarva Narayan Jha

Śābdabodhaprakriyā

Edited by
LALIT KUMAR TRIPATHI



Rashtriya Sanskrit Sansthan
Ganganath Jha Campus
Chandrashekhar Azad Park
Allahaad - 211002
2011

प्रस्तावना

शाब्दबोधो नाम शब्दजन्यो अनुभवविशेषः। चक्षुरादीन्द्रियादिभिर्जायमानोऽनुभवः प्रत्यक्षम्, व्याप्तिज्ञानेन जायमानोऽनुभविशेषः अनुमितिः शब्दाज्जायमानोऽनुभवः शाब्दबोध उच्यते। भारतीयदर्शनस्य विविधासु शाखासु शाब्धबोधविषयिणी विचारणा कृताऽस्ति। तत्र मुख्यतो मीमांसादर्शने न्यायदर्शने व्याकरणदर्शने च शाब्दबोधविषयमधिकृत्य महान् विचारः प्रावर्तत। एतेषु शास्त्रेषु शाब्दबोधविषयका नैके ग्रन्थाः प्रणीताः।

शाब्दबोधविचारपरेषु ग्रन्थेषु शाब्धबोधकारणतत्स्वरूपविषये च विचारणा लभ्यते। भारतीयदर्शनेषु शाब्दबोधविषयमधिकृत्य प्रवर्तितानां विचारपरम्पराणां सङ्कलनात्मको विमर्शात्मकश्च महान् ग्रन्थः 'शाब्दबोधमीमांसा' आचार्यैः रामानुजताताचार्यैः प्रणीतो यश्च राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य संयुक्ततत्त्वावधाने प्रकाशितः। तस्मिन् ग्रन्थे प्रायेण अधिकाधिकाः शाब्दबोधपरा ग्रन्थाः तत्र समागताश्च विषयाः परिशीलिताः सन्ति। शाब्दबोधविषये जिज्ञासावद्भिरवश्यमध्येतव्योऽयं ग्रन्थः।

गङ्गानाथझापरिसरस्य सङ्ग्रहालये अज्ञातकर्तृकोऽयं 'शाब्दबोधप्रक्रिया' इत्याख्यो लघुग्रन्थो व्याकरण-न्यायशास्त्रदृष्ट्या विविधानां वाक्यानां शाब्दबोधसरणिं प्रदर्शयति। शाब्दबोधविषये प्रारम्भिकजिज्ञासूनां कृते अयं ग्रन्थः समुपयोगाय कल्पिष्यत इति धिया सम्पादितोऽयं ग्रन्थः साम्प्रतं प्रकाश्यते।

अस्मिन् लघुग्रन्थे एकमेकमुदाहरणवाक्यं स्वीकृत्य तद्घटकपदानां शक्तिं विमृश्य तस्य तस्य वाक्यस्य व्याकरणरीत्या न्यायरीत्या च बोधः प्रदर्शितः। अत्र प्रदर्शितेषु वाक्येषु सन्ति –

१. कृष्णो भक्तान् रक्षति	२. कृष्णस्तिष्ठति
३. विष्णुना प्रपञ्चः क्रियते	४. काष्ठेन चैत्रः तण्डुलं पचति
५. रामेण बाणेन हतो बाली	६. धनेन कुलम्
७. विद्यया यशः	८. पुत्रेण सहागतः पिता
९. दध्ना सहौदनो भुज्यते	१०. जटाभिस्तापसः
११. सितच्छत्रेण भूपः	१२. लक्ष्म्या विना न सुखम्
१३. ब्राह्मणाय गां ददाति	१४. वृक्षायोदकमासिञ्चति
१५. पत्ये शेते	१६. कृष्णाय नमः
१७. आयुष्मते स्वस्ति	१८. पितृभ्यः स्वधा
१९. विरोधायालम्	२०. वृक्षात् पर्णं पतति
२१. व्याघ्राद् बिभेति	२२. दस्युभ्यो रक्षति

२३. यवेभ्यो गां वारयति
२४. कूपादन्धं वारयति
२५. पण्डितात् पुराणं शृणोति
२६. गुरोरधीते
२७. मृत्पिण्डात् घटो जायते
२८. तन्तुभ्यः पटो जायते
२९. हिमवतो गङ्गा प्रभवति
३०. राज्ञः पुरुषः
३१. घटस्याभावः
३२. नराणां नरेषु वा क्षत्रियः शूरः
३३. अध्वगामिनां रथगामिनः शीघ्रतया
३४. गवां कृष्णा सम्पन्नक्षीरा
३५. भूतले घटोऽस्ति
३६. चर्मणि द्वीपितं हन्ति
३७. गोषु दुह्यमानासु गतः
३८. हे चैत्र त्वया साधु कृतम्

समस्तपदानां शाब्दबोधोदाहरणानि –

३९. ग्रामगतः
४०. धान्यार्थः
४१. यूपदारु
४२. चोरभयम्
४३. राजपुरुषः
४४. कर्मकुशलः
४५. कृष्णसर्पः
४६. शीतोष्णम्
४७. वैयाकरणखसूचिः
४८. मेघश्यामः

उक्तोदाहरणानां शाब्दबोधप्रदर्शनक्रमे प्रायेण कारकस्य समासस्य च शाब्दबोधविषयिणी विचारणाऽपि कृताऽस्ति। अन्ते शिष्यबुद्धिवैशद्याय समासार्था निरूपिताः सन्ति।

इत्थं चायं ग्रन्थः शाब्दबोधविषये सरलया गिरा कारक-समासप्रकरणयोः वाक्यानां शाब्दबोधप्रदर्शनपरो वर्तते। शाब्दबोधविषये प्रारम्भिकाध्ययनार्थमयं ग्रन्थो महते समुपकाराय कल्पिष्यत इति प्रतिभाति।

ग्रन्थस्यास्य प्रणेतुर्नाम नैव प्राप्तम्। राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य गङ्गानाथझापरिसरस्य संग्रहालये सुरक्षितस्य ग्रन्थस्यास्य हस्तलेखस्याधिगमसंख्या 16964 वर्तते यदाधारेणायं ग्रन्थः सम्पादितः। साम्प्रतमयं लघुकायो ग्रन्थः प्रकाश्यतामेति। ग्रन्थस्यास्य प्रकाशनं परिसरीयप्राचार्यवर्याणां प्रो. सर्वनारायणझामहोदयानां सत्प्रयत्नेन जायमानं वर्तते तदर्थं तान् प्रति कृतज्ञतां बिभर्मि। लघुग्रन्थोऽयं शाब्दबोधविषये अध्येतॄणां समुपकाराय कल्पेत इति कामयमानो विरमति।

सम्पादकः

शाब्दबोधप्रक्रिया

श्रीगणेशाय नमः

नत्वा श्रीहरिं देवं भक्ताभीष्टवरप्रदम्।
संक्षेपतः शाब्दबोधप्रक्रियां दर्शयाम्यहम्।।१।।

'कृष्णो भक्तान् रक्षति' इत्यत्र रक्ष पालने धातुः। तदुत्तरं कर्तरि शप्। तदुत्तरं लटः स्थानिकस्तिप् कर्तरि च शबुत्तरत्वात् कर्तृबोधकत्वमेव, न तु कर्मबोधत्वम्। अतः कर्तृवाचकपदात् 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' इति सूत्रेण प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा। अत एव च कर्मवाचकपदाद् 'अनभिहित' इत्यधिकारस्थ- 'कर्मणि द्वितीया' इति सूत्रेण वैयाकरणमते कर्मणि, नैयायिकमते कर्मत्वे द्वितीया।

अथ शक्तयः। तत्र कृष्णपदस्य परमात्मनि शक्तिः। भक्तपदस्य पूज्यत्वप्रकारकबुद्धिरूपभक्तिविशिष्टे। रक्षधातोश्च प्राचां मते जीवनरूपे फलव्यापारे च पृथक् शक्तिः।

फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः।
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्।।

इत्यनुशासनात्। तदर्थश्च वचनविपरिणामेन फले व्यापारे च। धातुः स्मृता इत्यत्रापि वचनविपरिणामो बोध्यः। फलव्यापारयोरित्यत्र वचनविपरिणामाभावे पुष्पवच्छब्दवत् सर्वत्र धातोः फलव्यापारोभयवाचित्वं सिध्येत्। तथा च पुष्पवच्छब्दार्थसूर्याचन्द्रमसोरिव फलव्यापारयोरपि विशेष्यविशेषणभावेन बोधो न स्यात्। आश्रये फलाश्रये व्यापाराश्रये चेत्यर्थः। कर्मप्रत्ययस्थले फलाश्रये, कर्तृप्रत्ययस्थले व्यापाराश्रये तिङ् स्मृत इति फलितोऽर्थः। शक्तिमुक्त्वा शाब्दबोधमाह। **फले प्रधानं व्यापार इति।** फलनिरूपितविशेष्यतावान् धात्वर्थ इत्यर्थः। तत्र फलान्विते व्यापारे तिङर्थो विशेषणमिति। नवीनमते फलावच्छिन्ने व्यापारे धातोरेकैव शक्तिः। लट्त्वेन वर्तमाने लडित्यनेन वर्तमानकाले एकवचनत्वेन द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचन इत्यनेन एकत्वसङ्ख्यायां शक्तिः। विभिन्नरूपैरेकस्यैव तिपस्त्रिषु शक्तिरिति फलितम्।

अथ वैयाकरणमतेन पदार्थाः प्रदर्श्यन्ते। परमात्मा कृष्णपदार्थः। कर्ताख्यातार्थः। वर्तमानकालो लडर्थः। एकत्वसङ्ख्या तिङैकवचनार्थः। जीवनं तत्तदनुकूलव्यापारश्च प्राचां मते धात्वर्थः। नवीनमते जीवनानुकूलव्यापार एक एवेति विशेषः। पूज्यत्वप्रकारकबुद्धिविशिष्टो भक्तपदार्थः। बहुत्वं कर्म च द्वितीयार्थः।

अथ यत्र यस्य यस्सम्बन्धस्स प्रदर्श्यते। परमात्मनः कृष्णस्याख्यातार्थे कर्तरि अभेदः। तत्रैव तिङैकवचनार्थस्यैकत्वस्य समवायः। एकत्वस्य गुणत्वात् कर्तुश्च गुणित्वाद् गुणिनोश्च समवायात् एवमग्रेऽपि। कर्तुश्च धात्वर्थे व्यापारे समवेतत्वं सम्बन्धः। तत्रैव च लडर्थस्य वर्तमानकालस्य कालिकसम्बन्धः। तत्रैव च प्राचीनमतेऽपरधात्वर्थस्य जीवनानुकूलतासम्बन्धः। फले च कर्मणः वृत्तित्वसम्बन्धः। कर्मणि भक्तस्याभेदः भक्ते बहुवचनार्थस्य बहुत्वसङ्ख्यायाः समवायः। तथा च बहुभक्ताभिन्नकर्मवृत्तिजीवनानुकूलो वर्तमानकालिकः परमात्माभिन्नैककर्तृसमवेतो बहुभक्ताभिन्नकर्मको जीवनानुकूलो वर्तमानकालिको यश्च कृष्णाभिन्नैककर्तृको वा व्यापार इति वाक्यार्थः।

अथ शाब्दबोधप्रक्रिया। भक्तस्याभेदेन द्वितीयार्थे कर्मणि विशेषणत्वात् तन्निष्ठाऽभेदसम्बन्धावच्छिन्ना प्रकारता वर्तते। यत्र प्रकारता वर्तते तत्रैव भक्तत्वमपि वर्तते इति सा प्रकारता भक्तत्वावच्छिन्नापि भवति। तत्रैव भक्ते समवायसम्बन्धावच्छिन्नबहुत्वावच्छिन्नबहुत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यताऽपि वर्तत इति तयोः प्रकारत्वविशेष्यत्वयोः सामानाधिरण्यं बोध्यम्। एवं कर्मणो वृत्तित्वसम्बन्धेन धात्वर्थजीवनरूपफले विशेणत्वाद् वृत्तित्वसम्बन्धावच्छिन्ना कर्मनिष्ठा प्रकारता सा च पूर्ववदेव स्वसमानाधिकरणेन कर्मत्वधर्मेणावच्छिन्ना। एवं च विभक्त्यर्थे कर्मण्यपि विषयताद्वयं भक्तिनिरूपिता विशेष्यताख्या फलनिरूपिता वृत्तित्वसम्बन्धावच्छिन्न-कर्म्मत्वावच्छिन्ना प्रकारता चेति तयोः मतविशेषे सामानाधिरण्यं मतविशेषे चाभेदः। एवमुत्तरोत्तरत्र ज्ञेयम्।

फलस्य जनकतासम्बन्धेन व्यापारे विशेषणत्वाज्जनकत्वसम्बन्धावच्छिन्ना फलनिष्ठा प्रकारता तादृशप्रकारतानिरूपिता एका व्यापारनिष्ठा विशेष्यता। अपरा चाख्यातार्थकर्तृनिष्ठ-समवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्न-कर्तृत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता विशेष्यता। एवं तत्रैव लडर्थवर्तमानकालनिष्ठकालिकसम्बन्धावच्छिन्न-वर्तमानत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यता। इत्थं च धात्वर्थव्यापारे विशेष्यतात्रयं तासां फलनिरूपितविशेष्यत्वकर्तृनिरूपितविशेष्यत्वयोर्मिथोऽच्छेद्यावच्छेदकभावो भासते विशिष्टबोधमर्यादया। अत एव न वाक्यभेदः। एवं कर्तरि अभेदसम्बन्धावच्छिन्नकृष्णत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता एका विशेष्यता, अपरा चाख्यातैकवचनार्थैकत्व-सङ्ख्यानिष्ठसमवायसम्बन्धावच्छिन्नैकत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता विशेष्यता। कृष्णे तु प्रकारतामात्रम्। तच्च कृष्णत्वावच्छिन्नमिति। एवं च समवायसम्बन्धावच्छिन्नबहुत्वावच्छिन्न-बहुत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासमानाधिकरणाभेदसम्बन्धावच्छिन्नभक्तत्वावच्छिन्नभक्तनिष्ठप्रकारता-निरूपितविशेष्यतासमानाधिकरणवृत्तित्वसम्बन्धावच्छिन्नकर्मत्वावच्छिन्नकर्मनिष्ठप्रकारताविशेष्यता-समानाधिकरणानुकूलत्वसम्बन्धावच्छिन्नजीवनत्वावच्छिन्नजीवननिष्ठप्रकारतानिपितविशेष्यतासमानाधिकरण-विशेष्यत्वावच्छिन्ना याऽभेदसम्बन्धावच्छिन्नकृष्णत्वावच्छिन्नकृष्णनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यता-समानाधिरणसमवायसम्बन्धावच्छिन्नैकत्वावच्छिन्नैकत्व निष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासमानाधिकरण-समवेतसम्बन्धावच्छिन्नकर्तृत्वावच्छिन्नकर्तृनिष्ठप्रकारतानिरूपिता व्यापारत्वावच्छिन्ना कालिकसम्बन्धावच्छिन्न-वर्तमानकालनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासमानाधिकरणा व्यापारनिष्ठा मुख्यविशेष्यता तादृशमुख्यतानिरूपित-मुख्यविशेष्यताशाली 'कृष्णो भक्तान् रक्षति' इत्यस्माच्छाब्दबोधः।

अथ नैयायिकमतेन पदार्थः। भक्तपदार्थः पूर्वोक्त एव, द्वितीयार्थः कर्मत्वं, बहुवचनार्थो बहुत्वं, धात्वर्थः पूर्वोक्त एव। तिबर्थः आख्यातेत्वेन कृतिः लट्त्वेन वर्तमानकालः एकचनैकत्वं चेति त्रयः।

अथैतन्मतेन शाब्दबोधप्रक्रिया। प्रकृत्यर्थः प्रत्ययार्थेऽन्वेति प्रत्ययार्थो धात्वर्थे, धात्वर्थः आख्यातार्थे,

आख्यातार्थः प्रथमार्थ इति। तत्र कर्तृप्रत्ययस्थले कर्मण आरभ्येयं शृङ्खलोत्थापनीया। कर्मप्रत्ययस्थले कर्तुरारभ्य इति बोध्यम्। 'कृष्णो भक्तान् रक्षति' इत्यस्य कर्तृप्रत्ययस्थलत्वात् द्वितीयाप्रकृत्यर्थः बहुवचनार्थबहुत्वविशिष्टो भक्तः द्वितीयार्थे आधेयत्वे निरूपितत्वसम्बन्धेनान्वेति। प्रत्ययार्थ आधेयत्वं प्राचां मते धात्वर्थरूपफले, नवीनमते धात्वर्थतावच्छेदके तस्मिन् व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् स्वरूपसम्बन्धेनान्वेति। प्राचां मते फलरूपधात्वर्थः व्यापाररूपापरधात्वर्थोऽनुकूलतासम्बन्धेनान्वेति। धात्वर्थे व्यापार आख्यातार्थे लडर्थकालविशिष्टकृतौ जनकतासम्बन्धेनान्वेति। आख्यातार्थः कृतिः प्रथमान्तार्थे कृष्णे समवायसम्बन्धेनान्वेति। तत्रैव च तिङैकवचनस्यैकत्वस्य समवायेनान्वयः। यं यं च भावनान्वेति तं तं सङ्ख्यानुधावतीत्यनुशासनात्। तथा च बहुभक्तवृत्ति-जीवनानुकूलव्यापारजनकवर्तमानकालिककृतिसमवायी एकः कृष्ण इति वाक्यार्थः।

इदानीमान्तरालिकविषयतानामभेदमाश्रित्य शाब्दबोधः प्रदर्श्यते शिष्यबुद्धिवैशद्याय। समवायसम्बन्धावच्छिन्नबहुत्वावच्छिन्नबहुत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासमानाधिकरण-निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नभक्तत्वावच्छिन्नभक्तनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वाभिन्नस्वरूप-सम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वावच्छिन्नवृत्तित्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वाभिन्नानुकूलत्वसम्बन्धावच्छिन्न-जीवनत्वावच्छिन्नजीवननिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वाभिन्नजनकत्वसम्बन्धावच्छिन्न-व्यापारत्वावच्छिन्नव्यापारनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वाभिन्नकालिकसम्बन्धावच्छिन्न-वर्तमानत्वावच्छिन्नवर्तमानकालनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासमानाधिकरणसमवायसम्बन्धा-वच्छिन्नैकत्वावच्छिन्नैकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासमानाधिकरणकृष्णत्वावच्छिन्नकृष्णनिष्ठमुख्यविशेष्यता-निरूपितमुख्यविशेष्यताशाली प्रथमान्तमुख्यविशेष्यकः शाब्दबोधः। प्रकारताशून्यत्वं मुख्यविशेष्यत्वम्। मुख्यविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्वं मुख्यप्रकारत्वं बोध्यम्। एवमन्येभ्यः सकर्मककर्तरि प्रयोगेभ्यः शाब्दबोधो द्रष्टव्यः।

अथाकर्मकप्रयोगः

'कृष्णस्तिष्ठति'। अत्र स्था धातुः। तस्य स्थाने "पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशद-सदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदा" इति सूत्रेण तिष्ठादेशो विशेषः। शेषं पूर्ववत्। फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम् फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वमकर्मकत्वम्। जीवनं फलं भक्तनिष्ठं व्यापारश्च कृष्णनिष्ठ इति फलव्यधिकरणो व्यापारस्तद्बोधकत्वं च रक्षधातोरेवं गतिनिवृत्तिरूपं फलं तदनुकूलव्यापारश्च कर्तर्येवेति फलसमानाधिकरणव्यापारबोधकत्वं स्थाधातोरिति सकर्मकाकर्मकत्व-समन्वयः।

अथ कर्मणि प्रयोगः।

'विष्णुना प्रपञ्चः क्रियते'। 'कृष्णेन भक्ता रक्ष्यन्ते'। अत्र कृधातूत्तरं "कर्मणि यक्" तदुत्तरं 'त' इत्याख्यातं, तस्य च "तङानावात्मनेपदम्" इति सूत्रेणात्मनेपदसञ्ज्ञा। तस्य यगुत्तरत्वात् कर्मबोधकत्वम्। अत एव कर्मवाचकपदात् प्रथमा। कर्तुश्चानभिहितत्वाद् "अनभिहित" इत्यधिकारस्थ- "कर्तरि तृतीया" इति सूत्रेण कर्तृवाचकविष्ण्वादिपदात् कर्तरि, नैयायिकमते कृतिरूपकर्तृत्वे तृतीया।

अथ पदार्थाः। विष्णुपदार्थः तृतीयार्थः। कर्ता समवेतत्वं वा तृतीयैकवचनार्थ एकत्वं, कृधात्वर्थः

कृतिः, विषयत्वं च, त आख्यातार्थः कर्म आश्रयत्वं वा, लडर्थः पूर्वोक्त एव। तिङैकवचनार्थ एकत्वं प्रपञ्चपदार्थः जगत्।

अथ सम्बन्धाः। एकत्वस्य समवायो विष्णौ विष्णोश्चाभेदो निरूपितत्वं वा सम्बन्धः। कर्तरि समवेतत्वे वा। कर्तुः समवेतत्वस्य वा समवेतत्वं स्वरूपो वा कृतौ सम्बन्धः, कृतेश्च विषयत्वे निरूपितत्वं सम्बन्धः, विषयत्वस्याश्रयत्वे निरूपितत्वसम्बन्धः। आश्रयत्वस्य प्रपञ्चे स्वरूपसम्बन्धः। तत्रैव च एकत्वस्य समवायः कृतौ वा कर्मणो विषयत्वं सम्बन्धः। कर्मणि प्रपञ्चस्याभेद इति।

प्राचीनवैयाकरणमते कर्मकर्तृप्रत्ययस्थले समानावेव वाक्यवाक्यार्थशाब्दबोधौ। नवीनवैयाकरणमते कर्मप्रत्ययस्थले प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकाविति भेदः। नैयायिकानां नवीनप्राचीनानामेकैव सर्वत्र प्रक्रियेति ध्येयम्। भावे प्रयोगस्थलीया सर्वापि प्रक्रिया स्वमूहनीया।

अथेदं तत्त्वम् अकर्मकधातूत्तरयगुत्तराख्या तस्य तस्य कर्तृवाचकत्वं नास्ति तस्य यगुत्तरत्वादेव कर्मणोरभावात् कर्मवाचकत्वमपि नेति भावः। धात्वर्थवाचकत्वं परिशेषाद् वक्तव्यं, तदपि न, उक्तार्थानामप्रयोगादतः सत्यां विवक्षायां कालमात्रवाचकत्वमिति भावे प्रयोग इति व्यवहारः। एवं चाकर्मकधातूत्तर-यगुत्तराख्यातस्यैव तत्त्वमिति फलितम्।

अकर्मकधातुगणश्च-

लज्जासत्तास्थितिजागरणं वृद्धिक्षयभयजीवितमरणम्।

शयनक्रीडारुचिदीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः।

इत्याद्यभियुक्तो ग्राह्यः।

अथ द्विकर्मकप्रयोगः। 'गां दोग्धि पयः', 'बलिं याचते वसुधाम्'। अत्र दुहधातुः। तदर्थः क्षरणं व्यापारश्च। तत्र धात्वर्थफलाश्रयत्वात् पयसो मुख्यकर्मत्वं गोस्तु गौणकर्मत्वम् तच्च "अकथितं च" इति सूत्रेण अतस्तदुत्तरं द्वितीया। तदर्थोऽङ्गुलिस्तनविभागः। तत्र गोर्निष्ठत्वसम्बन्धः। तस्य च जन्यत्वसम्बन्धः क्षरणे तत्रैव च पयोऽन्वितवृत्तित्वस्य स्वरूपसम्बन्धः। क्षरणस्य व्यापारेऽनुकूलत्वसम्बन्धः। शेषं पूर्ववत्।

दुह्याच्पच्दण्डरूधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथमुषाम्।

कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्।।

इति दुहादिगणः।

एवं "गतिबुद्धिप्रत्ययवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ" इति सूत्रेण अणौ कर्तुर्णौ कर्मसञ्ज्ञाविधानाद् 'गमयति मार्गं देवदत्तं विष्णुमित्रः', 'ज्ञापयति शास्त्रं शिष्यं गुरुः' इत्यादयो द्विकर्मकाः सन्तोऽपि न द्विकर्मकत्वेन तान्त्रिकैर्व्यवहृताः। तत्तत्त्वं तु 'गां दोग्धि' इत्यादौ यथा वैयाकरणमते गोपदोत्तरद्वितीयाया अपादानत्वाद्यविवक्षया कर्म नैयायिकमते चापादानत्वधात्वर्थफलाश्रयत्वरूपकर्मत्वाद्यन्यदेव कर्म्मत्वमर्थस्तथा गमयति मार्गं देवदत्तमित्यादौ देवदत्तादिपदोत्तरद्वितीयाया न गौणमपि कर्मत्वमर्थः किन्तु कर्तुः कर्मस ज्ञाविधानात् कर्ता तत्त्वं वार्थः इति ध्येयम्।

अथ प्रसङ्गात् करणादिविभक्त्यर्थाः सङ्क्षेपेण प्रदर्श्यन्ते। तत्र काष्ठेन चैत्रस्तण्डुलं पचति रामो

बाणेन वालिं हन्ति इत्यादौ 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इति सूत्रेण करणवाचककाष्ठ-बाणादौ तृतीया तदर्थश्च करणत्वं तच्च स्वभिन्नकर्तृव्यापाराधीनव्यापारवत्कारणत्वम्। स्वं करणत्वेनाभिमतं काष्ठादि तद्भिन्नो यः कर्ता चैत्रादिः तस्य यो व्यापारः काष्ठादीनां चुल्लिसंयोगानुकूलः क्रियारूपः। तादृशव्यापारवत्वं काष्ठे वर्तते। कारणत्वं चास्तीति काष्ठादौ कारणत्वसमन्वयः। केवलव्यापारवत्कारणत्वं करणत्वमित्युक्तौ कर्तर्यतिव्याप्तिरतः कर्तृव्यापाराधीनत्वं व्यापारे विशेषणम्। तथा च स्वस्य स्वाधीनत्वाभावान्नातिव्याप्तिः। कर्तुः क्रियारूपव्यापारस्य कर्तृकृतिरूपव्यापाराधीनत्वात् पुनस्तद्दोषतादवस्थ्यमतः कर्तुः स्वभिन्नत्वेति विशेषणम्। तथा चातिव्याप्तिदानावसरे करणत्वेनाभिमतात् चैत्रादेः कर्तुः स्वभिन्नत्वाभावान्नातिव्याप्तिः।

'धनेन कुलं', 'विद्यया यश' इत्यादौ ''हेतौ'' इति सूत्रेण धनादिपदोत्तरहेतुत्वे तृतीया तदर्थश्च ज्ञानज्ञाप्यत्वे तदैकदेशे ज्ञाने प्रकृत्यर्थस्य विषयत्वसम्बन्धेनान्वयः। इत्थं च धनविषयकज्ञानज्ञाप्यकुलमिति वाक्यार्थः।

'पुत्रेण सहागतः पिता' 'दध्ना सहौदनो भुज्यत' इत्यादौ ''सहयुक्तेऽप्रधाने'' इति सूत्रेण सहार्थयोगे तृतीया। सहार्थस्य सहार्थशब्दार्थस्वसमभिव्याहृतपदोपस्थाप्यक्रियाकालरूपस्य योगे कर्तृत्वादिरूपसम्बन्धे तृतीयेति योगार्थः। तथा च पुत्रादिपदोत्तरतृतीयायाः कर्तृत्वादिरूपोऽर्थः। तस्य च निरुक्तसहार्थैकदेशे क्रियायामन्वयः। सहार्थतादृशकालस्य प्रथमान्तार्थे, तत्रैव च कृदन्ताद्यर्थस्य क्रियाकर्तुरभेदः। तिङन्ताद्यर्थक्रियानुकुलकृतेश्च समवायः। एवं च पुत्रकर्तृकगमनक्रियाकालीनः गमनानुकूलकृत्याश्रयः पितेति दधिकर्मकभोजनकालीनः भोजनकर्मीभूत ओदन इति वाक्यार्थः। पुत्रकर्तृकगमनक्रियासमानकालीनगमनानुकूलकृत्याश्रय इति तूदीच्यो मानसो बोधः। 'जटाभिस्तापसः', 'सितच्छत्रेण भूप' इत्यादौ ''इत्थंभूतलक्षणे'' इति सूत्रेण तृतीया। तदर्थश्च विशेष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वं तत्रे प्रकृत्यर्थस्याधेयत्वसम्बन्धेनान्वयः।

इत्थं च जटावृत्तितापसत्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वनिरूपकाभाववांस्तापस इति वाक्यार्थः। इत्थं च क्वचिदविद्यमानं सद् व्यावर्तकमुपलक्षणलक्षणं भवति। यथा 'जटाभिस्तापस' इत्यत्र जटा। सा च तापसे विद्यमानकालेऽविद्यमाना सती अतापसेभ्यस्तापसं व्यावर्तयतीत्युपलक्षणमिति गीयते। क्वचित्तु विशेष्ये वर्तमानं सद् व्यावर्तकरूपं विशेषणं लक्षणं भवति। यथा 'रजतत्वेनेदं ज्ञायते' इत्यत्र रजतत्वम्। तच्च विशेष्ये रजते विद्यमानं सत् पुरोवर्त्यन्तरेभ्यः पुरोवर्तिभ्यश्च रजतं व्यावर्तयतीति विशेषणे तृतीया बोध्या। 'लक्ष्म्या विना न सुखम्' इत्यादौ तु ''पृथग् विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्'' इति सूत्रेण विनाशब्दयोगे तृतीया, तदर्थश्च प्रतियोगित्वं, तस्य विनाशब्दार्थेऽत्यन्ताभावे निरूपकत्वसम्बन्धेनान्वयः। तस्य च प्रयोज्यत्वसम्बन्धेन प्रतियोगितया सुखान्विते भावेऽन्वयः। तथा च लक्ष्मीवृत्तिप्रतियोगितानिरूपकाभाव-प्रयोज्यसुखाभाव इति वाक्यार्थः। एवमन्यत्रापि बोध्यम्।

''ब्राह्मणाय गां ददाति'' इत्यादौ ''चतुर्थी सम्प्रदाने'' इति सूत्रेण सम्प्रदानसञ्ज्ञकब्राह्मणादिपदाच्चतुर्थी। सम्प्रदानसञ्ज्ञा तु ''कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्'' इति सूत्रेण बोध्या। तत्त्वं तु क्रियाजन्यफलभागितया कर्तुरिच्छाविषयत्वम् अस्ति चेदं ब्राह्मणे। तथा हि दानजन्यं यत् फलं गवि ब्राह्मणस्य स्वत्वं तद्भागित्वं प्रकृते निरूपकत्वं तत्प्रकारिका या कर्तुरिच्छा ब्राह्मणो मत्कर्तृकदानक्रियाजन्यगोनिष्ठस्वत्वनिरूपको भवत्वित्याकारिकेच्छा तद्विषयत्वम्, तद्विशेष्यत्वं ब्राह्मणेऽस्तीति तत्र सम्प्रदानं सुसमन्वितम्। एवं च ब्राह्मणपदोत्तरचतुर्थ्यर्थः निरूपितत्वप्रकारकेच्छाविशष्यत्वमेव तस्य च स्वरूपसम्बन्धेन द्वितीयान्तार्थगोवृत्तित्वान्विते

धात्वर्थस्वत्वरूपफलेऽन्वयः। तस्य चापरधात्वर्थदानक्रियायां जनकतासम्बन्धेनान्वयः। इत्थं च ब्राह्मणनिरूपितत्वप्रकारिका या इच्छा मत्कर्तृकदानजन्यगोवृत्तिस्वत्वं ब्राह्मणनिरूपितं भवत्वितीच्छा तद्विशेष्यीभूतगोवृत्तिस्वत्वजनकदानकर्तेति वाक्यार्थः। एवं 'वृक्षायोदकमासिञ्चति' इत्यादौ स्वयमूहनीयम्। अकर्मकधातुसमभिव्याहारे 'पत्ये शेते' इत्यादिस्थले तु सम्प्रदानसञ्ज्ञाकाले मत्कर्तृकशयनजन्यप्रीतियुक्तः पतिर्भवत्वितीच्छा बोद्धव्या। वाक्यार्थावसरे तु मत्कर्तृकशयनजन्यप्रीतिः पतिनिरूपिता भवत्वितीच्छेति विशेषः।

एवं तत्र तत्र सम्प्रदानसञ्ज्ञा सूत्रान्तरेभ्यो द्रष्टव्या। ग्रन्थगौरवभयान्नेह प्रदर्शिता। 'कृष्णाय नमः', 'आयुष्मते स्वस्ति', सूर्याय स्वाहा, 'पितृभ्यः स्वधा' इत्यादौ तु केवलस्त्यागः स्वधाशब्दार्थ इति विशेषः। तथा च सूर्योद्देश्यकाग्निप्रक्षेपोपहितस्त्यागः पितृदेवतोद्देश्यकस्त्याग इति च वाक्यार्थः।

'विरोधायालम्' इत्यत्र पर्याप्तिरलं पदार्थः। चतुर्थ्यर्थः प्रतियोगित्वम्। विरोधप्रतियोगिकपर्याप्तिरिति वाक्यार्थः।

'वृक्षात् पर्णं पतति' इत्यादौ "अपादाने पञ्चमी" इति सूत्रेणापादानसञ्ज्ञकवृक्षपदात् पञ्चमी। अपादानसञ्ज्ञा चास्य "ध्रुवमपायेऽपादानम" इति सूत्रेण। तत्त्वं तु स्वनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकीभूतक्रियाजन्यविभागाश्रयत्वम्। स्वम् अपादानत्वेनाभिमतो वृक्षादिः तन्निष्ठो यो भेदः पतनक्रियावद्भेदः वृक्षः पतनक्रियावान्नेति प्रतीतिसाक्षिकः तादृशभेदस्य प्रतियोगी पतनक्रियावान् प्रतियोगितावच्छेदकं पतनक्रिया तज्जन्यो यो विभागः वृक्षपर्णविभागः तदाश्रयत्वं वृक्षेऽस्तीति वृक्षोऽपादानम्। भेदप्रतियोगितावच्छेदकं विभागजनकत्वं च तत्र पञ्चम्यर्थः। तदैकदेशे भेदे विभागे च प्रकृत्यर्थस्य निष्ठत्वसम्बन्धेनान्वयः। तयोश्च पतनक्रियायां स्वरूपसम्बन्धेनान्वय इति वृक्षनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदिका या च वृक्षनिष्ठविभागजनिका पतनक्रिया तदाश्रयः पर्णमिति वाक्यार्थः।

'व्याघ्राद् बिभेति', 'दस्युभ्यो रक्षति' इत्यादौ "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इत्यनेनापादानसञ्ज्ञा। तत्त्वं तूभयत्राप्यनिष्टजनकत्वम्। पञ्चम्यर्थः प्रयोज्यत्वं तस्य च धात्वर्थेऽनिष्टसम्भावनायां घटकानिष्टे प्रथमे द्वितीये तु अनिष्टनिवृत्त्यनुकूलव्यापाररूपधात्वर्थैकदेशेऽनिष्टेऽन्वयः। इत्थं च 'व्याघ्राद् बिभेति' इत्यस्माद् व्याघ्रप्रयोज्यानिष्टसम्भावनाश्रयः।

'दस्युभ्यो रक्षति' इत्यस्माच्च दस्युप्रयोज्यानिष्टनिवृत्त्यनुकूलव्यापारकर्तेति वाक्यार्थः।

'यवेभ्यो गां', 'कूपादन्धं वारयति' इत्यादौ "वारणार्थानामीप्सितः" इति सूत्रेण यवकूपादीनामपादानसञ्ज्ञा। तत्त्वं तु क्रियाप्रयोज्याभावप्रतियोगिकर्तृत्वनिरूपकक्रियाजन्यफलविशेष्यकेच्छीयप्रकारतानिरूपकत्वम्। क्रियाशब्देन वरणक्रिया तत्प्रयोज्यो योऽभावः गवान्धादिनिष्ठो भक्षणगमनादिक्रियाकर्तृत्वाभावः तत्प्रतियोगिगवान्धादिनिष्ठं कर्तृत्वं तन्निरूपिका या भक्षणगमनादिक्रिया तज्जन्यं यत्फलं संयोगोत्तरदेशसंयोगादिरूपं तद्विशेष्यिका या गवान्धादीनां गलाधःसंयोगः उत्तरदेशसंयोगादिः यवकूपगतो भवत्वितीच्छा तत्र प्रकारः। यवगतत्वं कूपगतत्वं च तन्निरूपकत्वं यवकूपादीनामस्तीति तयोः समन्वयः। एवं च यवादिपदोत्तरपञ्चम्याः वृत्तित्वप्रकारकेच्छा-विशेष्यफलजनकत्वमर्थः, तदैकदेशे वृत्तित्वे प्रकृत्यर्थस्य यवकूपादेर्निरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयः। क्रियाकर्तृत्वाभावो व्यापारश्च वारयतेरर्थः। तत्र क्रियायां पञ्चम्यर्थस्य स्वरूपसम्बन्धेनान्वयः। इत्थं च यववृत्तित्वप्रकारकेच्छा-विशेष्यगलाधःसंयोगजनकभक्षणक्रियानिरूपितगोवृत्तिकर्तृत्वाभावप्रयोजकव्यापारकर्तेति 'यवेभ्यो गां वारयति' इत्यस्मात् कूपवृत्तित्वप्रकारेच्छाविशेष्यसंयोगजनकगमनक्रियानिरूपितान्धवृत्तिकर्तृत्वाभावप्रयोजकव्यापारकर्तेति 'कूपादन्धं वारयति' इत्यादौ बोधः।

'पण्डितात् पुराणं शृणोति', 'गुरोरधीते' इत्यादौ "आख्यातोपयोग" इत्यनेनापादानसञ्ज्ञा। तत्त्वं तु प्रकृतधातूपात्त या क्रियाऽर्थविशेषपरत्वज्ञानादिक्रिया, तज्जनकक्रिया उच्चारणरूपा, तत्कर्तृत्वं पण्डितादावस्तीति पण्डितादेरपादानत्वम्। एवं च तदुत्तरपञ्चम्याः कृतिजन्योच्चारणाधीनत्वमर्थः। तदैकदेशे कृतौ प्रकृत्यर्थस्य समवेतत्वसम्बन्धेनान्वयः। तस्य च द्वितीयान्तार्थान्वितधात्वर्थे एवं च पण्डितसमवेतकृतिजन्योच्चारणाधीन-पुराणप्रतिपाद्यार्थविशेषपरत्वज्ञानादिमानिति वाक्यार्थः।

'मत्पिण्डाद् घटो जायते' 'तन्तुभ्यः पटो जायते' इत्यत्र "जनिकर्तुः प्रकृतिः" इत्यनेन मृत्पिण्डादेरपादानसञ्ज्ञा। तत्त्वं तु जनिकर्तृकारणत्वं, न तु जनिकर्तृपरिणामित्वरूपप्रकृतित्वम्। तथा सति अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेदो जात इत्यादौ तदनुपपत्तेः। न ह्यग्न्यादीनां जनिकर्तृ ऋग्वेदादिप्रकृतित्वमस्तीति। इत्थं च तत्र जन्यत्वं पञ्चम्यर्थः। तस्य च धात्वर्थ उत्पत्तावन्वयः। इत्थं च मृत्पिण्डाजन्योत्पत्त्याश्रयो घट इति वाक्यार्थः।

'हिमवतो गङ्गा प्रभवति' इत्यादौ "भुवः प्रभवः" इति सूत्रेण हिमवतोऽपादानसञ्ज्ञा तत्त्वं तु प्रथमप्रकाशप्रयोजकसम्बन्धप्रतियोगित्वम्। तथा च सम्बन्धाधीनत्वं पञ्चम्यर्थः। तदैकदेशे सम्बन्धे प्रकृत्यर्थस्य प्रतियोगित्वसम्बन्धः। पञ्चम्यर्थस्य धात्वर्थे स्वरूपसम्बन्धः। इत्थं च हिमवत्प्रतियोगिकसम्बन्धाधीन-प्रथमप्रकाशाश्रयो गङ्गेति वाक्यार्थः। एवमन्यत्रापि बोध्यम्।

'राज्ञः पुरुषः' इत्यादौ "शेषे" इति सूत्रेण राजपदोत्तरं शेषे षष्ठी। शेषो नाम कर्तृत्वकर्मत्वाद्यन्यः स्वत्वादिरूपः सम्बन्धः। एवं च प्रकृते स्वत्वं षष्ठ्यर्थः। तत्र प्रकृत्यर्थस्य निरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयः स्वत्वस्य स्वरूपसम्बन्धेनान्वयः। तथा च राजनिरूपितस्वत्ववान् पुरुष इति वाक्यार्थः।

घटस्याभाव इत्यत्र प्रतियोगित्वं घटस्य ज्ञानमिच्छा कृतिः संस्कार इत्यादौ विषयत्वं, घटस्याधिकरणताऽऽधेयतेत्यादौ निरूपितत्वं षष्ठ्यर्थः। एवमन्यत्रापि।

'नराणां नरेषु वा क्षत्रियः शूरः' इत्यादौ "यतश्च निर्धारणम्" इतिसूत्रेण निर्धारणे षष्ठी। निर्धारणं नाम जात्यादिविशेषणविशिष्टयद्धर्मावच्छिन्नस्य तादृशविशेषणशून्यतद्धर्मावच्छिन्नव्यावृत्तविशिष्ट-विधेयतावच्छेदकवत्तया प्रतिपादनम्। प्रकृते जात्यादीनां मध्ये क्षत्रियत्वरूपा जातिरेव विशेषणं क्षत्रिये वर्तते। तत्रैव नरत्वमिति सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन क्षत्रियत्वरूपजातिविशेषणविशिष्टो यद्धर्मः नरत्वं तदवच्छिन्नः क्षत्रियः। तस्य तादृशविशेषणं क्षत्रियत्वं तेन शून्यो यस्तद्धर्मावच्छिन्नः क्षत्रियान्यो नरः तद्व्यावृत्तं तत्रावर्तमानं यद्विधेयतावच्छेदकशौर्यं तद्वत्तया क्षत्रियस्य प्रतिपादनं भवतीति।

'अध्वगामिनां रथगामिनः शीघ्रतया' इत्यत्र रथगमनक्रियाविशेषणम्। शीघ्रमत्वं च विधेयतावच्छेदकम्।

'गवां कृष्णा सम्पन्नक्षीरा'। अत्र कृष्णगुणो विशेषणं सम्पन्नक्षीरत्वं च विधेयतावच्छेदकम्। शेषं पूर्ववत्। एवं च निर्धारणषष्ठ्या व्यावृत्तमर्थः। तच्च प्रायशोऽन्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वम्। तस्य विधेयतावच्छेदकेऽन्वयः। अन्योन्याभावे प्रकृत्यर्थस्योद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद-विशिष्टप्रकृत्यर्थतावच्छेदकव्यापकाधिकरणतानिरूपिताधेयत्वसम्बन्धेनान्वयः। इत्थं च क्षत्रियत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाधिकरणवृत्तिनरत्वव्यापकाधिरणतानिरूपिताधेयतावादन्योन्याभाव-प्रतियोगितावच्छेदकशौर्यवान् क्षत्रिय इति वाक्यार्थः सूक्ष्मदृष्ट्ययाऽवधातव्यः। प्रायश इत्यनेन 'नराणां क्षत्रिये शौर्यम्' अत्र अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपं व्यावृत्तं तस्य च विधेय एवान्वय इति सूचितम्।

'भूतले घटोऽस्ति' इत्यत्र "सप्तम्यधिकरणे च" इत्यनेन अधिकरणसञ्ज्ञकभूतलपदोत्तरं सप्तमी तस्याधिकरणसञ्ज्ञा च "आधारोऽधिकरणम्" इत्यनेन। तत्त्वं तु क्रियाकर्त्रधिकरणत्वम्। प्रकृते निरूपितत्वं सप्तम्यर्थः अस-धात्वर्थ आधेयत्वं, तदाश्रयो घट इति, तस्य धात्वर्थाश्रयत्वरूपं कर्तृत्वं तद्वानेव हि कर्ता तदधिकरणं भूतलमिति भूतलस्याधारसंज्ञा। एवं च प्रकृते तस्य धात्वर्थाधेयतायां तस्याश्च लाक्षणिकाख्यातार्थे आश्रयत्वे तस्य प्रथमान्तार्थे घटेऽन्वयः। तथा च भूतलनिरूपिताधेयताश्रयो घट इति वाक्यार्थः। 'भूतले पतति कङ्कणम्" इत्यादौ तु सप्तम्यर्थो भिन्न एवाधेयतारूपो बोध्यः। सा च स्वाश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्ना ग्राह्येति विशेषः। अथवा सर्वत्रैवैतत्सम्बन्धावच्छिन्नाधेयतायां निरुक्तसम्बन्धावच्छिन्नभूतलनिरूपिताधेयतासत्त्वे बाधकाभावात्।

"चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरं।
बालेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः"।

इत्यादौ "निमित्तात् कर्मयोगे" इत्यनेन निमित्तवाचकपदात् सप्तमी। चर्मादिनिष्ठं निमित्तत्वं च क्रियाजनकविनियोज्यत्वप्रकारिका या इच्छा तद्विशेष्यत्वम् अस्ति च चर्मादौ। तथा हि प्रथमं हन्तुरियमिच्छोदेति। व्याघ्रचर्म आसनादिविधेर्विनियोज्यं भवत्विति तया इच्छया किल व्याघ्रं हन्तीति। तद्धननं चर्मनिमित्तकम्। चर्म च हननक्रियाजनिका या इच्छा चर्मासनादिविधिविनियोज्यं भवत्विति चर्मविशेष्यिका तादृशविनियोज्यप्रकारकेच्छाधीनत्वमर्थः। तदेकदेशविषयतायां प्रकृत्यर्थस्य निष्ठत्वसम्बन्धेन तस्य च क्रियायामन्वयः। तथा च चर्मादिविशेष्यकविनियोज्यत्वप्रकारकेच्छाधीनद्वीपिकर्मकप्राणवियोगानुकूल-व्यापारकर्तेति बोधः।

'गोषु दुह्यमानासु गत' इत्यादौ "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" इत्यनेन सप्तमी। तदर्थश्च यद्विशेषणकृदन्तार्थविशेषणक्रियया क्रियान्तरस्य लक्षणं व्यावर्तनम्, ततः सप्तमीति यच्छब्देन सप्तमीप्रकृत्यर्थः गौः। तत्र विशेषणीभूतो यः कृदन्तार्थः दोहनकर्मरूपो दुह्यमानपदार्थः तत्र विशेषणीभूता या क्रिया दोहनक्रिया तया क्रियान्तरस्यैव चैत्रकर्तृकातीतकालीनगमनक्रियान्तरस्य व्यावर्तनं चैत्रः कदा गत इति प्रश्नानुत्थापकत्वमस्तीति समन्वयः। इत्थं च तत्र समभिव्याहृतपदोपस्थाप्यक्रियैव सप्तम्यर्थः। तस्याश्च क्रियान्तरे समान-कालीनत्वसम्बन्धः। एवं च वर्तमानकालीनगोकर्मकदोहनक्रियासमानकालीनातीतकालीनगमनकर्ता चैत्र इति वाक्यार्थः। विशेषणपदं तात्पर्यग्राहकं गत्यन्तराभावात्।

'हे चैत्र त्वया साधु कृतम्' इत्यत्र "सम्बोधने च" इति सूत्रेण चैत्रपदोत्तरं प्रथमा तदर्थश्च सम्बोधनम्। तच्च वक्तुः शब्दजन्यबोधाश्रयत्वप्रकारिका इच्छा तस्या विषयतासम्बन्धेन प्रकृत्यर्थेऽन्वयः। प्रयोजनं च युष्मदस्मदः शक्तिज्ञानमेवेति कृतं प्रसङ्गेन। **इति विभक्त्यर्थाः।**

अथ समासाः षड्विधाः। तत्र समासत्वं नाम सङ्क्षेपेण विग्रहवाक्यार्थबोधकत्वम् अस्ति च राजपुरुष इति वाक्ये। तथाहि प्रकृते 'राज्ञः पुरुषः' इति विग्रहवाक्यम्। तदर्थः राजस्वत्ववान् पुरुष इति तस्य सङ्क्षेपेण बोधकत्वं राजपुरुष इति वाक्ये। संक्षेपश्च विभक्तिलोपकृतो बोध्यः। अलुक्समासादावतिव्याप्तिवारण-प्रकारस्तूपरिष्टाद् वेदितव्यः। तस्य पुरुषस्ततपुरुष इत्येवंजातीयकः समासस्ततपुरुष इति स्वरूपलक्षणम्, व्यावर्तकं तु उत्तरपदार्थप्रधानत्वम्। प्रधानत्वमिह विशेष्यत्वमेव। विग्रहवाक्यं तु अर्द्धं पिप्पल्या इति। अत्र पूर्वपदार्थस्यार्धस्य विशेष्यत्वेऽपि समासेऽर्द्धपदस्य तात्पर्यग्राहकत्वं पिप्पलीपदस्यैव पिप्पल्यर्द्धमर्थ इति प्रथमा ततपुरुषे नाव्याप्तिः,

उत्तरपदार्थस्यैव प्रधानत्वात्। किमीयप्रधानत्वमिति चेदं ततो विभक्त्यर्थीयमिति गृहाण। अत एव प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वं प्रत्ययानामिति व्युत्पत्तिविरोधोऽपि न, सुविभक्तिप्रकृतिपिप्पलीपदार्थ-पिप्पल्यर्द्धान्वितैकत्वरूपस्वार्थबोधकत्वात्।

वैयाकरणमते तु तत्र समासरूपवृत्त्या तादृशार्थो वाक्यादुपस्थाप्यते। तिरस्क्रियते च तैर्मीमांसकमतम्। मीमांसका हि वाक्ये तात्पर्यरूपां वृत्तिमभ्युपगच्छन्ति। तेषामयमाशयः 'राजपुरुष' इति समासवाक्ये यदि तात्पर्यरूपा वृत्तिर्नाङ्गीक्रियते तदा राजपुरुष इति समासवाक्याद् राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरुष इति विशेषवपुः शाब्दबोधो न स्यात्, तच्छक्तपदाभावात्। न च तत्र राजपदस्य राजसम्बन्धिनि लक्षणा युक्ता। सति मुख्ये लक्षणाया अन्याय्यत्वात्। अतो राजसम्बन्ध्यभिन्नपुरुषे 'राजपुरुष' इति वाक्यस्य तात्पर्यरूपा वृत्तिः कल्पनीया। वाक्ये परमते शक्तेरभावेऽपि ईश्वरविद्वेषिणामस्माकं तत्कल्पने बाधकाभावात् इति। समासवाक्ये समासरूपवृत्तिसत्त्वे तात्पर्यरूपवृत्त्यन्तरकल्पनाया अनुपयोगित्वादिति शाब्दिकाः। नैयायिकास्तु तदुभयमपि न क्षमन्ते। तेषा चायमाशयः 'राजपुरुष' इत्यादिसमासवाक्ये वृत्तिकल्पनमुचितं वृत्त्या तत्पदैरुपस्थापितानां पदार्थानामाकाङ्क्षया परस्परमन्वयबोधे सम्भवति तादृशवाक्ये वृत्तिकल्पनायां गौरवात्। आकाङ्क्षायाः व्यासस्थलेऽन्वयबोधकत्वं सर्वमत एव सिद्धमिति नास्माकं समासस्थले तस्या अन्वयबोधकत्वकल्पनाप्रयुक्तं गौरवमिति मतविचारेण कृतम्।

प्रकृतमनुसरामः। यद्यपि तत्पुरुषे पूर्वपदे लक्षणेत्यभियुक्तोक्त्या प्रथमा तत्पुरुषे पूर्वपदे लक्षणोचिता, तथापि पिप्पलीपदोत्तरविभक्त्यर्थसङ्ख्यायाः तदप्रकृतिभूतार्थादिपदार्थे पिप्पल्यर्द्धेऽन्वयो न स्यात्। प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वमिति तु प्रागेवोक्तम्। शक्यसम्बन्धवति लक्षणा जायते, न तु शक्यवृत्तिसम्बन्ध-प्रतियोग्यन्विते स्वस्मिन्निति नार्द्धादिपदस्य लक्षणेत्यस्मद्गुरुभाऊशास्त्रिचरणाः। इत्थं च 'अर्द्धपिप्पली' इत्यस्मादेकं पिप्पल्यर्द्धमिति वाक्यार्थः। एवं पूर्वकाय इत्यस्मादपि बोध्यः।

'ग्रामगत' इति द्वितीयातत्पुरुषे ग्रामं गत इति विग्रहवाक्यम्। तत्र यथा द्वितीयार्थकर्मतायाः गतपदार्थैकदेशे गमने निरूपकत्वसम्बन्धेनान्वयः सम्भवति तथा 'ग्रामगतः' इति समासवाक्ये कर्मताबोधिका द्वितीया नास्तीति ग्रामपदार्थस्यैव गतपदार्थे गमनकर्तर्यन्वयो वाच्यः। स च न सम्भवति। तथा हि ग्रामपदार्थैकदेशे विशेषः गतपदार्थो गमनकर्तेति तयोर्भेदान्वयो न सम्भवति, तयोर्द्वयोरपि नामार्थत्वाद्, भेदान्वये नामार्थयोः साक्षाद् भेदेनान्वयस्याव्युत्पन्नत्वादिति व्युत्पत्तिविरोधः स्यादतो ग्रामपदस्य लक्षणया ग्रामनिष्ठकर्मतानिरूपकमर्थः। तस्य च गमिधात्वर्थेऽभेदेनान्वयः। धात्वर्थस्य गमनस्य कृत्प्रत्ययार्थे कर्तरि। एवं च ग्रामगत इत्यस्माद् ग्रामनिष्ठकर्मतानिरूपकगमनकर्तेति बोधः। इत्थं च सर्वत्र तत्पुरुषे विग्रहवाक्ये समासशास्त्रेण लुप्यमानविभक्तेरर्थस्य प्रकृत्यर्थान्वितस्य यादृशसम्बन्धेनान्वयः तादृशसम्बन्धाश्रयान्तं पूर्वपदस्य लक्षणा बोध्या। तथा 'ग्रामगत' इत्यत्र विग्रहवाक्ये 'ग्रामं गत' इत्यस्मिन् समासशास्त्रेण लुप्यमानविभक्तेः अं विभक्तेः अर्थस्य कर्मत्वस्य प्रकृत्यर्थान्वितस्य ग्रामान्वितस्य अर्थात् ग्रामनिष्ठकर्मत्वस्य यादृशसम्बन्धेन निरूपकतासम्बन्धेनान्वयो गमनेऽस्ति तादृशसम्बन्धाश्रयान्तं पूर्वपदस्य 'ग्रामगत' इति समासवाक्ये पूर्वपदं ग्रामपदं तस्य लक्षणा तथा सर्वत्र बोध्या। एवं 'सुखप्राप्तः' इत्यत्रापि बोध्यम्।

'धान्यार्थः' इत्यत्र धान्येनार्थ इति विग्रहवाक्यम्। तत्र तृतीयार्थः प्रयोज्यत्वम् अभेदो वा। वाक्यार्थशाब्दबोधौ स्वयमूहनीयौ। यूपदार्वित्यत्र विग्रहवाक्यं 'यूपाय दारु' इति। तत्र प्रकृतिकत्वं चतुर्थ्यर्थः। 'चोरभयम्' इत्यत्र

चोराद् भयमिति विग्रहवाक्यं जन्यत्वं पञ्चम्यर्थः। 'राजपुरुषः' इत्यत्र राज्ञः पुरुष इति विग्रहवाक्यं स्वत्वं षष्ठ्यर्थः। 'कर्मकुशलः' इत्यत्र कर्मणि कुशल इति विग्रहवाक्यं तत्र सप्तम्यर्थो विषयत्वम्, स च विशेषज्ञानाश्रयरूपविवेचकपदार्थैकदेशे विशेषज्ञानेऽन्वेति। न तत्पुरुष इति विशेषः। अब्राह्मण इत्यत्र न ब्राह्मण इति विग्रहवाक्यं तत्र नञर्थे भेदे ब्राह्मणस्य प्रतियोगितासम्बन्धेनान्वयः। ब्राह्मणप्रतियोगिको भेद इति वाक्यार्थः। समासे तु नञो भेदवान् लाक्षणिकोऽर्थः। तदैकदेशे भेदे ब्राह्मणस्यान्वयः। वाक्यार्थस्तु ब्राह्मणभिन्न इति।

इति तत्पुरुषः।

कर्माणि दधति ते कर्मधाः ते च तेऽरयेश्चेत्येवंजातीयकः समासः कर्मधारयः इति स्वरूपलक्षणन्तु व्यावर्तकन्तु अभेदविषयतानिरूपितविशेष्यताशालिबोधजनकत्वं संक्षेपत इत्युक्तमेव। तेन न विग्रहवाक्येऽतिव्याप्तिः। 'कृष्णसर्पः' इत्यत्र कृष्णः सर्प इति विग्रहवाक्यं तत्र जगदीशमते कृष्णपदोत्तरप्रथमाविभक्त्यर्थः। तादात्म्यं तत्र प्रकृत्यर्थस्य कृष्णपदार्थस्य कृष्णगुणविशिष्टस्य वृत्तित्वरूपतादात्म्यवान् सर्प इति वाक्यार्थः। 'कृष्णसर्पः' इति समासे तु विनैव लक्षणां तादात्म्यसम्बन्धेन कृष्णपदार्थस्य सर्पेऽन्वयः। कृष्णाभिन्नः सर्प इति वाक्यार्थः। भवानन्दमते कर्मधारयस्थले विग्रहसमासवाक्याभ्यां समानाकार एव वाक्यार्थः। विशेषणविभक्तेः पदसाधुत्वार्थकत्वात्। गदाधरस्तु तत्रापि न नो विद्वेष इत्युक्त्वा जगदीशमतमेवाङ्गीचकार। परन्तु कस्यापि कर्मधारयस्थले लक्षणा नास्तीति सिद्धम्। अत एव निषादस्थपत्यधिकरणे वेदानधिकरणो निषादस्य विध्यन्यथानुपपत्त्या यागाधिकार इति मीमांसकाः। तथा हि निषादस्थपतिं याजयेदिति विधिवाक्यं किं निषादानां यः स्थपतिः तस्याधिकारं वक्ति आहोस्वित् निषादश्चासौ यः स्थपतिस्तस्येति संशये पूर्वोक्तस्यैव निषादस्य वेदानधिकारित्वादिति पूर्वपक्षे उत्तरस्यैवेति सिद्धान्तः, कर्मधारये लक्षणाभावादित्युक्तम्। परन्त्वयं नियमो विशेषणपूर्वपदकर्मधारयस्थल एव, विशेष्यपूर्वपदकर्मधारयस्थले तु भवत्येव लक्षणा।

'वैयाकरणखसूचिः' इत्यादौ खसूचिपदं खसूच्यभिन्नवैयाकरणपरम्, अन्यथा खसूचिपदोत्तरविभक्त्यर्थ-सङ्ख्यान्वयप्रसङ्गात् प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वमिति व्युत्पत्तेः।

एवं 'शीतोष्णम्' इत्यत्र उष्णपदं मन्दोष्णपरं शीतपदं तात्पर्यग्राहकं शीतपदस्यैव वा मन्दे लक्षणा। 'मेघश्यामः' इत्यत्र मेघ इव श्याम इति विग्रहवाक्यं तत्र मेघस्य निरूपितत्वसम्बन्धेन श्यामत्वेन्वयः। एवं च मेघनिरूपितसादृश्यप्रयोजकश्यामत्ववानिति विग्रहवाक्यार्थः। समासे तु मेघपदस्य मेघसदृशोऽर्थः तस्याभेदेन श्यामेऽन्वयः। इत्थं च मेघसदृशाभिन्नः श्याम इति वाक्यार्थः। प्रयोज्यप्रयोजकभावस्तु विशिष्टवैशिष्ट्यमर्यादया लभ्यते। यथा धनवान् सुखीत्यत्र धनविशिष्टे सुखवैशिष्ट्यबोधमर्यादया धनप्रयोज्यसुखवानिति बोधो जायते। तथा श्यामत्वविशिष्टे मेघसदृशस्याभेदे भासमाने सादृश्यस्य वैशिष्ट्यं नियमतो भासत इति श्यामत्वप्रयोज्यमेघसादृश्यवान् मेघसादृश्यप्रयोजकश्यामत्ववान् इति वाक्यार्थः।

गुण इति बुद्धिः गुणबुद्धिरित्यत्र गुणत्वप्रकारिका गुणविशेष्यिका बुद्धिरिति वाक्यार्थः।

'विद्याधनम्' इत्यत्र विद्यैव धनमिति विग्रहवाक्यम्। तत्र एवकारस्य अन्ययोगव्यवच्छेदार्थः। तदैकदेशेऽन्यत्वे विद्यायाः प्रतियोगितासम्बन्धेनान्वयः। अन्ययोगे व्युत्पत्तिवैचित्र्याद् धनस्य निरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयः। अन्ययोगे व्युत्पत्तिवैचित्र्याद् धनस्य निरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयः। एवं विद्याया अभेदेन धनेऽन्वयः। एवं च विद्याभिन्नं धनं, न विद्या च धनमिति समूहालम्बनबोधः। विद्याधनमिति समासवाक्याच्च विद्याऽभिन्नं धनं विद्याभिन्नं

नेति विशेषः। एवं यशोधनमित्यादौ बोध्यम्।

बहवो व्रीहयो यस्मिन्नित्येवं जातीयकः समासो बहुव्रीहिः। व्यावर्तकं तु लक्षणम् अन्यपदार्थप्रधानत्वम्। समासघटकपदार्थभिन्नार्थबोधकत्वमित्यपि कश्चित्। विग्रहवाक्ये अन्यपदार्थबोधको यादृशविभक्त्यन्तो यच्छब्दार्थस्तादृशविभक्त्यन्तो बहुव्रीहिरिति गीयते। यथा 'चित्रगुः' इत्यादौ चित्रा गावो यस्येति विग्रहे यस्येति शब्दः षष्ठ्यन्त इति चित्रगुरिति षष्ठी बहुव्रीहिः समासः। एवमन्यत्र बहुव्रीहौ विग्रहवाक्याद् यादृशविशेष्यविशेषण-भावापन्नो बोधः समासवाक्यात् तद्विपरीतः। यथा चित्रा गावो यस्येत्यादौ गोपदार्थे चित्रापदार्थस्याभेदः तत्रैव च यच्छब्दार्थस्य बुद्धिविषयस्य कृष्णादर्विभक्त्यर्थस्वत्वद्वाराऽन्वयः। एवं च यत्स्वत्ववत्यो गावश्चित्राभिन्ना इति अन्यपदार्थसम्बन्धविशेष्यतावच्छेदकगोविशेष्यकाभेदसंसर्गकचित्राप्रकारकः शाब्दबोधः। सति तात्पर्ये चित्राविशेष्यतावच्छेदकगोविशेष्यकान्यपदार्थसम्बन्धप्रकारकोऽपि चित्राभिन्ना गावो यत्स्वत्ववत्य इति शाब्दबोधो भवत्येव।

चित्रगुरिति समासवाक्यात्तु चित्राभिन्नगोस्वामीति। तत्र गोपदस्य गोस्वामिनि लक्षणा। बहुव्रीहावुत्तरपदे लक्षणेति सिद्धान्तात्। अत एवोत्तरपदार्थप्रधानत्वमस्य।

'प्राप्तोदकः' इत्यत्र प्राप्तमुदकं यमिति विग्रहवाक्यम्। तत्र यमिति द्वितीयान्तार्थस्य यत्पदार्थग्रामनिष्ठकर्मत्वस्य निरूपकतासम्बन्धेन प्राप्तपदार्थैकदेशे प्राप्तावन्वयः। प्राप्तपदार्थस्य प्राप्त्याश्रय उदकमिति वाक्यार्थः। प्राप्तोदक इति समासे तु उदकमिति वाक्यार्थः। गत्यादिकर्त्राश्रयस्य यादृशक्रियानिरूपितं यादृशकारकत्वं समासवाक्ये तादृशक्रियानिरूपितं तादृशकारकत्वसम्बन्धेनोत्तरपदस्यान्यपदार्थे लक्षणां कृत्वा तत्र तत्र बोधोऽवसेयः। यथा भुक्तोदन इत्यत्र भुक्तम् ओदनं येनेति विग्रहवाक्यार्थेऽन्यपदार्थस्य भुजिक्रियानिरूपितं कर्तृत्वं प्रतीयते। समासे तु ओदनपदस्य स्ववाच्योऽर्थोदनकर्मभुजिक्रियानिरूपितकर्तृत्वसम्बन्धेन लक्षणां कृत्वा भुक्तोदनविशिष्ट इति वाक्यार्थः। एवं दत्तसूप उद्धृतधनमित्यादितः स्वयमूह्यम्।।

उभयपदार्थप्रधानत्वं द्वन्द्वसमासत्वं यथा रामकृष्णौ इत्यत्र रामस्य कृष्णस्य च विशेष्यत्वमस्तीति रामश्च कृष्णश्चेति विग्रहवाक्यं तस्मादेकत्वविशिष्टो राम एकत्वविशिष्टश्च कृष्ण इति समूहालम्बनबोधो भवतीति केचित्। रामो भिन्नः कृष्णो भिन्न इत्यपरे। यत्क्रियान्वितो रामस्तत्क्रियान्वितः कृष्ण इत्यन्ये। रामसमुच्चितः कृष्णः कृष्णसमुच्चितो राम इति तुराणकः सर्वोऽप्ययं मतभेदश्चात् विस्तरस्तु प्रकारान्तरेण समासनिरूपणे प्रदर्शयिष्यते। समासवाक्यात्तु द्वित्वविशिष्टौ रामकृष्णाविति बोधः।

द्वयोर्गवोः समाहारो द्विगुरित्येवं जातीयकः समासो द्विगुरिति। त्रयाणां शृङ्गाणां त्रिशृङ्गमित्युदाहार्यम्। तत्र विग्रहवाक्ये समाहारो विशेष्यः समाहारः समुदायः। समासे तु शृङ्गपदं शृङ्गसमुदायपरं तत्र त्रिशब्दार्थस्य त्रित्वसङ्ख्याविशिष्टस्याभेदेनान्वयः। अव्ययीभावो नाम विभक्त्याद्यर्थकाव्ययपदघटितत्वम् अस्ति च 'अधिहरि' इत्यादौ। हराविति सप्तम्यर्थबोधकपदघटितत्वम् विग्रहवाक्यं तु हरौ इति।

सामान्यतः समासार्थाः शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थं विशेषतो निरूप्यन्ते। तत्र तावत् तेषामेव हि पदानां समासो भवति यैश्च समस्यमानैर्विशिष्टबोधो जन्यते, "समर्थः पदविधि" इति सूत्रात्। अत एव 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' इत्यादौ समुच्चये ईश्वरगुर्विति न समासः। भजनक्रियायां तयोर्निरपेक्षत्वात् सामर्थ्याभावात्। नन्वेवं 'धवखदिरौ छिन्धि' इत्यादावपि समासो न स्यात्, तत्रापि छेदनक्रियायां धवखदिरयोर्निरपेक्षत्वादिति चेद् बाढम्। सर्वथैव ईश्वरगुरू भजस्वेति समासो न भवतीति न वदामः, किन्तु यदा क्रियायामीश्वर-

गुर्वोरीश्वरत्वगुरुत्वरूपप्रत्येकधर्मेणान्वयो विवक्षितस्तदा तयोर्निरपेक्षत्वादसमासः। यदा चेश्वरगुरूभयत्वेनान्वयो विवक्षितस्तदा तयोः परस्परं सापेक्षत्वात् समासो भवत्येव। अत एव 'धवखदिरौ' इति सर्वदैव समासो भवतीति न भ्रमितव्यम्, किन्तु द्वित्वेनान्वयविवक्षायामेव। तत्तद्रूपेणान्वयविवक्षायां तु धवं खदिरं च छिन्धीति वाक्यमेव। न चैवं धव पश्य खदिरं छिन्धीत्येतत्तात्पर्येण प्रयुक्तस्य 'धवखदिरौ पश्य छिन्धि' इत्यस्यासाधुतापत्तेः, न हि तत्र कस्यामपि क्रियायां द्वित्वावच्छिन्नान्वयस्य इति वाच्यम्, तत्रापि द्वित्वावच्छिन्ने द्वित्वावच्छिन्नान्वयस्य सुवचत्वात्। न चैवमन्वाचये 'भिक्षामट गां चानय' इत्यत्र समासः स्यात्, तत्रापि द्वित्वावच्छिन्नयोरटनानयनक्रिययोर्द्वित्वावच्छिन्नयोर्भिक्षागवोरन्वयस्याबाधादिति वाच्यम्, गुणप्रधानभावशून्यत्वेन विशेष्यस्य विवक्षिततत्वात्। इत्थं चेतरेतरसमाहारयोरेव चार्थयोर्द्वन्द्वसमासो नान्यत्र, "समर्थः पदविधिः" इति शास्त्रादिति सिद्धम्।

तत्र सामान्यतः **समासश्चतुर्विधः**। अव्ययीभावतत्पुरुषबहुव्रीहिद्वन्द्वभेदात्। तत्पुरुषस्त्रिविधः। समानाधिकरणविशेषणकोऽसमानाधिकरणविशेषणकः सङ्ख्यापूर्वकश्चेति भेदात्। बहुव्रीहिर्द्विविधः। तद्गुणसंविज्ञानातद्गुणसंविज्ञानभेदात्। इतरेतरसमाहारैकशेषभेदाद् द्वन्द्वस्त्रिविधः। केषाञ्चिन्मते कर्मधारयद्विगुतत्पुरुषाव्ययीभावबहुव्रीहिद्वन्द्वोपपदभेदात् सप्तविधः। यथाहुः –

स चायं षड्विधः कर्मधारयादिप्रभेदतः।
यश्चोपपदसञ्ज्ञोन्योस्तेनासौ सप्तधा मतः।।

इति। प्राचीनास्तु पूर्वमध्यान्त्यसर्वान्यपदप्राधान्यभेदात् प्रकारान्तरेण समासस्य पञ्चविधत्वमिच्छन्ति। वृद्धास्तु पुनरन्यथैव षड्विधत्वं प्राहुः। तथा च ते

सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाथ तिङां तिङा।
सुबन्तेनेति च ज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः।।

इति। सर्वेषामपि प्रोक्तेषु चतुर्विधेष्वेव यथान्तर्भावस्तथा तत्र तत्रोदाहरणे प्रदर्शयिष्यते। "अव्ययं विभक्ति वचनेषु" इदं सूत्रम् अव्ययीभावविधायकं तदर्थश्च विभक्त्याद्यर्थे विद्यमानमव्ययं सुपा समस्यत इति। अस्मिन् सूत्रे अव्ययमिति प्रथमान्तं वर्तते अतस्तस्योपसर्जनसञ्ज्ञा प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनमिति सूत्रात्। उपसर्जनसञ्ज्ञायाः फलं पूर्वनिपातः। यथा अधिहरीत्यत्र अधि शब्दः सप्तमीविभक्त्यर्थेऽधिकरणे वर्ततेऽतस्तेन समासः। अस्य लौकिकविग्रहवाक्यं तु हरावित्येव, न तु हरावधीति अस्वपदाविग्रहत्वात्। अत एव नित्यसमासोऽयम्। अयं भावः यथा 'राजपुरुषः' इत्यादिसमासोऽनित्यः राज्ञः पुरुष इति विग्रहवाक्यस्यापि सम्भवात्। तथा यदि हरौ अधीति 'अधिहरि' इत्यस्य विग्रहवाक्यं स्वीक्रियते तदा नित्यसमासो न स्यादिति। एवं चाव्ययीभावस्य नित्यसमासत्वम्। तत्त्वं तु अस्वपदघटितविग्रहत्वम्। इदं तु बोध्यम् "अव्ययं विभक्ति०" इत्यादिशास्त्रेण विहिताव्ययीभावसमासे सर्वत्रोत्तरपदार्थविशेषितपूर्वपदार्थे उत्तरपदार्थस्य लक्षणा। प्रत्ययानामिति व्युत्पत्यनुरोधादिति। एवं च 'अधिहरि' इत्यस्माद् हर्यधिकरणम् 'उपकृष्णम्' इत्यस्मात् कृष्णसमीपं सुमद्रमित्यस्मान्मद्रसमृद्धिर्दुर्यवनमित्यस्माद् यवनर्ध्यभावो निर्मक्षिकमित्यस्मान्मक्षिकाणामभाव इति बोधः। पूर्वोदाहरणे यवनानामृद्धेरभावः। इह तु समासघटकमक्षिकाणामभाव इति न पूर्वस्योत्तरेण गतार्थता। अत एव सूत्रे अर्थाभाव इत्यत्रार्थपदमपि सार्थकम्। अर्थपदस्य समासघटकार्थपरत्वात् अभावस्यात्यन्ताभावपरत्वाच्च न 'अतिहिमम्' इत्यस्य गतार्थत्वं तस्माद् हिमध्वंस इति बोधः। 'अतिनिद्रम्' इत्यतः संप्रति निद्रा न युज्यत

इति। 'इतिहरि' इत्यस्माद् हरिशब्दप्रकाश इति। 'अनुविष्णु' अस्माद् विष्ण्वनन्तरमिति बोधः। अनुरूपमित्यस्माद् रूपयोग्यमिति बोधः। प्रत्यर्थमस्मादर्थत्वव्यापकमिति नायं नित्यसमासः। अर्थम् अर्थं प्रतीत्यस्य स्वपदविग्रहस्य सत्त्वात्। अन्यथा द्वितीया न स्यात् 'यथाशक्ति' इत्यतः शक्तिमनतिक्रम्येति 'सहरि' इत्यत्र सादृश्यार्थकसहशब्देन समासे 'अव्ययीभावे चाकाले' इति सूत्रेण सहस्य सादेशो बोध्यः। शाब्दबोधस्तु हरिसादृश्यमिति। सर्वोऽप्ययं यथाशब्दस्य प्रपञ्चः। तदुक्तं योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्ति-सादृश्यानि यथार्था इति। 'अनुज्येष्ठम्' इत्यतो ज्येष्ठानुपूर्व्येणेति। 'सचक्रम्' इत्यतश्च चक्रेण युगपदिति। सख्या सदृशः 'ससखि' इत्यतः सखिसदृश इति बोधः। यद्यपि यथार्थत्वेनैवास्य चारितार्थ्यं तथापि गौणसादृश्येऽपि यथा स्यादित्येवमर्थं सूत्रे सादृश्यस्य पुनरुपादानमिति बोध्यम्। क्षत्राणां सम्पत्तिः 'सक्षत्रम्' इत्यतः क्षत्रसम्पत्तिरिति। 'सतृणम् अत्ति' इत्यतः सकलमत्तीति बोधः। न तु तृणमपरित्यज्येति तृणभक्षणे तात्पर्याभावात्। 'साग्नि' अधीते इत्यतोऽग्निग्रन्थपर्यन्तमिति बोधः।।



Under the Auspices of The Ministry of Human Resource Development Government of India



राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

गङ्गानाथझापरिसरः

चन्द्रशेखर-आजादोद्यानम्,

प्रयागः - 211002